हिन्दी और तेलुगु वैष्णव भक्ति साहित्य :

[त

(१५

श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी०
उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

लेखक
डा० के० रामनाथन् एम० ए०, पी-एच० डी०
हिन्दी विभाग—एस० वी० के० पी० कालेज
मार्कापुर (कर्नूल जिला)
आंध्रप्रदेश

विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा

इष्टयुगल

श्रीपद्मावती-श्रीवेंकटेश्वर

की सेवा में—
जिनके पवित्र सान्निध्य में
प्रस्तुत प्रबन्ध का अधिकांश भाग
रचा गया है,
भक्तिपूर्वक समर्पित

हमारी योजना

विभागीय शोध-कृतियों को प्रकाशित करने की हमारी प्रकाशन-योजना का यह षष्ठ पुष्प है। प्रस्तुत ग्रन्थ डा० के० रामनाथन् की पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध का यत्किंचित परिवर्द्धित मुद्रित स्वरूप है। इसका विषय है: "हिन्दी और तेलुगु वैष्णव भक्ति-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन।"

विभाग में होने वाले शोध-कार्य की तीन मुख्य दिशाएं हैं: सैद्धान्तिक शोध, तुलनात्मक शोध और रीतिकालीन साहित्य के पुनर्मूल्यांकन सम्बन्धी शोध। प्रस्तुत प्रबन्ध द्वितीय दिशा में द्वितीय चरण है। डा० रामनाथन् ने हिन्दी और तेलुगु वैष्णव साहित्य की तुलना वैज्ञानिक ढंग से की है। मुझे विश्वास है कि हिन्दी में हुए तुलनात्मक शोध-कार्य के क्षेत्र में प्रस्तुत प्रयास का भी महत्वपूर्ण स्थान होगा। इस शोध-प्रबन्ध का निर्देशक होने के कारण मुझे ज्ञात है कि डा० रामनाथन् ने इसके प्रस्तुत करने में अकथ परिश्रम किया है, अन्यथा यह प्रबन्ध इतने सुन्दर रूप में न बन पाता। इस सबके लिए डा० रामनाथन् बधाई के पात्र हैं।

विभाग के इस षष्ठ पुष्प के विकास में विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा का सहयोग स्तुत्य है। दक्षिण-भारत के नवोदित अनुसंधित्सुओं और लेखकों को प्रोत्साहन देने की दिशा में उनका योगदान अनुकरणीय है।

अन्त में प्रबन्ध-लेखक डा० रामनाथन् के प्रति मैं शुभ कामना प्रकट करता हूँ कि वे भविष्य में भी शोध-साधना में संलग्न रहें। इन शब्दों के साथ, पुस्तक विज्ञ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है।

—डा० विजयपाल सिंह
एम०ए० (हिन्दी), एम०ए० (संस्कृत),
पी-एच० डी०, डी०, लिट्०,
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति

भूमिका

यह ग्रन्थ डा० के० रामनाथन् का शोध-प्रबन्ध है। उन्होंने इसी ग्रन्थ पर श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की है।

हिन्दी में आज शोध का कार्य बड़ी ही द्रुतगति से चल रहा है। छः सौ से भी अधिक शोध-प्रबन्ध विभिन्न उपाधियों के लिए स्वीकृत हो चुके हैं तथा डेढ़ हजार से भी अधिक विषयों पर अनुसन्धाता कार्य कर रहे हैं। स्वीकृत तथा जिन पर कार्य हो रहा है, दोनों ही प्रकारों में ऐसे विषयों की संख्या पर्याप्त है जो तुलनात्मक अध्ययन से सम्बन्धित हैं। मेरी दृष्टि में हिन्दी के साथ अन्य भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता इससे पूर्व किसी भी काल में अनुभव नहीं की गई थी, जितनी आज की जा रही है। कुछ विघटनकारी तत्व भारतीय भाषाओं के साहित्य में वर्तमान मूलभूत एकता को नष्ट करने के प्रति सक्रिय हो उठे हैं। अतः साहित्यकारों का कर्तव्य केवल अपनी भाषा की विशेषताओं का प्रतिपादन करना ही नहीं है, अपितु विघटन को समाप्त करके संपूर्ण भारत की सांस्कृतिक एवं साहित्यिक एकता के तत्वों को प्रकाशित करना भी है। हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा है और तेलुगु दक्षिण भारत की एक प्रमुख भाषा है जिसमें प्रचुर साहित्य है। तेलुगु और हिन्दी के काल-विशेष में लिखे गए साहित्यों में भी अद्भुत क्षमता दिखाई देती है। उस साम्य का उद्घाटन ही तुलनात्मक अध्ययन का विषय हो सकता है। अनुसन्धाता ने तेलुगु और वैष्णव भक्ति-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

इस अध्ययन के लिए जो हिन्दी तथा तेलुगु के कवि चुने गए हैं, वे सभी वैष्णव भक्ति से सम्बन्धित हैं। जिन परिस्थितियों ने इन कवियों के व्यक्तित्व का निर्माण किया, उनके निरूपण के साथ ही उनकी रचनाओं के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। तत्पश्चात् भक्ति, दर्शन, भावपक्ष, कलापक्ष आदि के रूप में उनका साम्य-वैषम्य चित्रित किया गया है। हिन्दी और तेलुगु के वैष्णव-भक्ति-सम्बन्धी ग्रन्थों में प्रयुक्त काव्यरूपों का तुलनात्मक अध्ययन इस प्रकार के अध्ययनों को एक नई दिशा ही प्रदान करता है। विद्वान लेखक ने १२ काव्यरूप, जो दोनों ही में प्रचलित रहे, दिखाए हैं। साथ ही कुछ और रूप भी मिलते हैं जो हिन्दी और तेलुगु की अपनी-अपनी विशेषताओं को स्पष्ट करते हैं। उदाहरण के लिए, 'तेलुगु' में प्रचलित 'द्विपदा' का नाम लिया जा सकता है।

डा० रामनाथन् ने तुलनात्मक विषयों से सम्बन्धित चार तत्वों······ समता, अभेद, पार्थक्य एवं विषमता ... को स्वीकार करके अपने अध्ययन को उन्हीं के आधार पर प्रस्तुत किया है। तुलनीय तत्वों अथवा तथ्यों में स्थित समता अथवा विषमता को स्पष्ट करने के लिये उन्होंने तालिकाओं, चार्टों आदि का सहारा लिया है। यह उनकी, तथ्यों के विश्लेषण के प्रति, वैज्ञानिक प्रवृत्ति का परिचायक है। दो भाषाओं के साहित्यों के तुलनात्मक अध्ययन में यह भय बना रहता है कि अनुसन्धाता कहीं अपनी रुचि अथवा पूर्वाग्रहों के कारण निष्पक्ष न रह सके। मुझे प्रसन्नता है कि लेखक ने दोनों पक्षों के निष्पक्ष रहने का जो दावा किया है, उसका निर्वाह भी किया है। उनके जो भी निष्कर्ष हैं वह उनके अध्ययन के सहज परिणाम हैं। उन्होंने तेलुगु और हिन्दी के वैष्णव भक्ति-साहित्य में साम्य ही अधिक पाया है और इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि यह साम्य उनके सामीप्य का द्योतक है। हिन्दी में भाव का प्राधान्य है तो तेलुगु में शिल्प का। इस प्रकार ये एक दूसरे के पूरक हैं।

डा० के० रामनाथन् बड़े मैं अध्ययनशील एवं परिश्रमी व्यक्ति हैं। शोध-प्रबन्ध का निर्देशक होने के नाते मैं जानता हूँ कि डा० के० रामनाथन् को इस शोध-प्रबन्ध के पूर्ण करने के लिये कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। उसी परिश्रम का परिणाम आज विद्वज्जनों के समक्ष प्रस्तुत है।

मैं इस शोध-प्रबन्ध के प्रकाशन के सम्बन्ध में आश्वस्त हूँ। मुझे आशा ही नही अपितु विश्वास है कि हिन्दी जगत् में इस ग्रन्थ को उचित सम्मान मिलेगा। इसमें भावी शोध के जो बीज निहित हैं, वे आगे के अनुसन्धित्सुओं को शोध की नवीन दिशाएं प्रदान करेंगे।

—डा० विजयपाल सिंह
एम०ए० (हिन्दी), एम०ए० (संस्कृत),
पी-एच०डी०, डी० लिट्०
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति

दिनांक : २३-४-१९६८

दो शब्द

अपने लघु प्रयत्न को इस रूप में प्रकाशित देख कर मुझे एक सात्विक गर्व का अनुभव हो रहा है। तेलुग और हिन्दी की सांस्कृतिक देहली पर स्थित यह प्रयत्न कैसा बन पड़ा है, यह तो मैं नही कह सकता, किन्तु यह अवश्य कह सकता हूँ कि विविध मनःस्थितियों, विविध वातावरणों और विविध विद्वानों का सहयोग इसकी पीठिका में है।

जब मैं काशी विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर अध्ययन के पश्चात् लौट रहा था तो विशेष अध्ययन के कारण सन्त-काव्य की छाप मेरे मन पर कुछ गहरी थी, इस छाप को देखते हुए श्री पद्मनारायण आचार्य जी ने तेलुगु और हिन्दी सन्त-काव्य के तुलनात्मक अध्ययन की प्रेरणा दी। मैं इस प्रेरणा के लिए उनका आभारी हूं, साथ ही क्षमाप्रार्थी भी कि मैं इस विषय पर कार्य नहीं कर सका। मैं उनको विश्वास भी दिलाता हूं कि उनके सुझाए विषय पर आगे कुछ कार्य अवश्य करूंगा। जब मैं लौट कर तेलुगु क्षेत्र के विद्वानों से मिला तो उन्होंने वैष्णव भक्ति के तुलनात्मक अध्ययन की ही प्रेरणा दी। इन विद्वानों में 'सरस्वतीपुत्र' महाकवि पुट्टपर्ति नारायणाचार्य जी (कडपा) और तेलुगु साहित्य के मर्मज्ञ और प्रसिद्ध आलोचक राळ्ळपल्लि अनंतकृष्ण शर्मा जी (तिरुपति) विशेष रूप से स्मरणीय हैं। इन्होंने प्रेरणा ही नहीं, आवश्यक सुझाव भी दिए हैं। इस मनःस्थिति के निर्माण के लिए उनके प्रति मैं आभारी हूँ।

डा० विजयपाल सिंह (अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, श्रीवेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति) ने विषय को स्वीकृत किया और कार्य करने के लिए प्रोत्साहन भी दिया। मैं उनके प्रति हार्दिक रूप से कृतज्ञ हूं कि वे मेरे निर्देशक भी बने। निर्देशन के अमूल्य क्षण भुलाए नहीं जा सकते।

हिन्दी विभाग के अनुकूल वातावरण में जब मैं साधना-मग्न होता गया पद्धति तत्व और शोध की प्रक्रिया की कितनी ही समस्याएँ मेरे सामने व्यावहारिक रूप में आईं। डा० चन्द्रभान रावत (रीडर, हिन्दी विभाग, श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय) ने समय-समय पर इनका समाधान किया और सदा आगे बढ़ने के लिए मुझे प्रेरित करते रहे। मैं उनका ऋणी हूँ।

डा० एस० टी नरसिंहाचारी (रीडर, हिन्दी विभाग, श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय) ने दोनों ही भाषाओं में उपलब्ध प्रचुर साहित्य को देखते हुए विषय को एक

शाखा तक सीमित करने का सुझाव भी दिया था। यह सुझाव अत्यन्त व्यावहारिक और शोध की गहराई की दृष्टि से महत्वपूर्ण थी। पर वैष्णव साहित्य के अनुसंधान के प्रति मेरा मोह इतना अधिक रहा कि मैं उस प्रकार नहीं कर पाया। बहुत बार मैं यह सोच रहा था कि आचार्य जी के सुझाव को मान लेता तो अच्छा होता। समय समय पर उन्होंने शोध-कार्य में मेरी पर्याप्त सहायता की। मैं उनके प्रति कृतज्ञ हूँ।

तेलुगु और हिन्दी कवियों द्वारा प्रयुक्त काव्यरूपों के सम्बन्ध में एक पृथक अध्याय लिखने की प्रेरणा डा० रामबाबू शर्मा जी से मुझे मिली थी। प्रबन्ध के इस भाग के लेखन और संशोधन में उनका सहयोग स्मरणीय है। श्री ज्ञानप्प नायडू जी का भी मैं आभारी हूं जिन्होंने तेलुगु काव्य के दुरूह अंशों के बोध में मेरी सहायता की। हिन्दी विभाग के अन्य सम्मानीय प्राध्यापक भी किसी न किसी रूप में मुझे प्रेरणा, उन्साह और सुझाव देते रहे।

डा० नगय्या (तेलुगु विभाग, श्रीवेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति) ने द्विपदा साहित्य और छन्द को समझाने में और मूल्यांकन करने में मुझे सहायता दी। उनको मैं धन्यवाद देता हूँ।

श्री डी० वीरय्य (तेलुगु विभाग, श्री वेंकटेश्वर कालेज, तिरुपति) ने बहुत कुछ ऐसी सामग्री मेरे लिए जुटायी जो सामन्यत: पुस्तकालयों में नहीं मिलती। उनका ऋण मैं स्वीकार करता हूँ।

डा० बी० के० नारायण (रीडर, अर्थशास्त्रीय विभाग, श्रीवेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति), जो मेरे साथ ही रहते थे, मुझे कार्य के लिए पर्याप्त प्रोत्साहन देते रहे। इस प्रोत्साहन का भी इस प्रबन्ध के प्रस्तुतीकरण में महत्वपूर्ण स्थान है।

ओरियंटल पुस्तकालय के अधिकारियों के सहयोग के लिए मैं उन्हें हृदय से धन्यवाद देता हूँ।

इन शब्दों के साथ मैं अपना यह लघु प्रयत्न विज्ञ पाठकों के सामने प्रस्तुत कर रहा हूँ।

—डा० के० रामनाथन्

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

संकेत सूची

अ० म० क० = चिनतिरुवेंगळनाथ कृत अष्टमहिषीकल्याण:
आ० सं० की० = अन्नमाचारी कृत आध्यात्म संकीर्तनलु
ते० भा० = तेलुगु भागवत (बम्मेर पोतना का)
मो० रा० = मोल्लरामायण
शृं० सं० की० = अन्नमाचारी कृत शृंगार संकीर्तनलु
पृ० = पृष्ठ
वा० = वाल्यूम
√ = विधि
× या ० = निषेध

प्राक्कथन

साहित्य इतना व्यापक तत्व है कि वह देश और काल की सीमाओं से परे है। इसीलिये किसी साहित्य का अनुसंधान-कार्य तब तक अपूर्ण रहेगा जब तक उसमें सार्वदेशिक या सार्वकालिक रूप से विचार नहीं किया जायेगा—चाहे यह विचार आनुषंगिक ही क्यों न हो। उदाहरण के लिए, हिन्दी के भक्ति-काव्य का विश्लेषण भारत की अन्य प्रान्तीय भाषाओं के भक्ति-काव्य के विचार के बिना अपूर्ण ही माना जायेगा। यदि अनुसंधानकर्ता को पर्याप्त शक्ति और समय मिल जाय तो विश्व के विभिन्न भाषाओं के भक्ति-साहित्य से भी हिन्दी भक्ति साहित्य का तुलनात्मक अनुसंधान किया जाना चाहिये। अध्ययन को इतने व्यापक धरातल पर ले जाने पर भी अनुसंधान में उच्चकोटि की वैज्ञानिकता के द्वारा सीमाबद्धता लाना भी नितांत आवश्यक है।

ज्ञान की परिपुष्टि एवं संपुष्टि के लिए समीक्षात्मक विश्लेषण की आवश्यकता है ही, साथ ही तुलनात्मक अध्ययन भी कम आवश्यक तत्व नहीं है। पर अनुसंधानकर्ता या आलोचक को इस बात का सूक्ष्म विवेक रखना परम आवश्यक है कि किस बात की तुलना होनी चाहिये और किस बात का विश्लेषण—Mr. Eliot who has insisted that analysis and comparison are 'the two tools of the critic', has emphasized also that 'you must know what to compare and what to analyse'.[1] प्रस्तुत विषय का अन्य विषयों से तुलना करते समय निम्नलिखित चार तत्वों के प्रकाश में अध्ययन करना नितांत आवश्यक है जिससे कि प्रस्तुत विषय और तुलनीय विषयों के संबंध में सर्वांगीण तथा पूर्ण ज्ञान की उपलब्धि हो जाय। ये चार तत्व इस प्रकार हैं—(१) समता (Similarity), (२) अभेद (Identity), (३) पार्थक्य (Contrast) तथा (४) विषमता (Contradictory)। अनुसंधित्सु को केवल इन तत्वों का अध्ययन करके संतुष्ट नहीं रहना चाहिये, उन्हें तो इन तत्वों के मूल में निहित कारणों की भी खोज करना नितांत आवश्यक है। जैसा कि ऊपर बताया गया है ज्ञान का विस्तार देश और काल इन दो ही दिशाओं में व्याप्त रहता है। अतः तुलनात्मक अध्ययन करनेवाला शोध विद्यार्थी

---

१ *Comparative Literature*, Vol. I, essay by Craig Ladriere, p. 165.

इन दो में से किसी भी दशा को चुनकर उसे अपने अध्ययन का आधार बना सकता है। इस दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन के दो विभाग किये जा सकते हैं—(१) प्रस्तुत प्रस्थापना के तथ्यों के सदृश समानांतर तथ्य, उसी काल में विभिन्न भूभागों में मिल सकते हैं। इस प्रवृत्ति को आधार बनाकर विभिन्न भूभागों के समसामयिक तथ्यों की तुलना की जा सकती है। (२) विभिन्न कालों के सादृश्य तथ्यों से भी प्रस्तुत तथ्यों की तुलना की जा सकती है।

साधारण अनुसंधान की अपेक्षा तुलनात्मक अनुसंधान से विशेष लाभ यह होता है कि इसमें अनुसंधाता की दृष्टि सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होकर अतल गहराई में स्थित काव्य की अंतरात्मा का स्पर्श कर लेती है और इससे बहुत अमूल्य निष्कर्ष भी स्पष्ट होने लगते हैं। अतः इस पद्धति से किसी भी काव्य के सच्चे मूल्यांकन करने में विशेष सहायता प्राप्त होती है।[1] इतना ही नहीं, किसी विषय के एकांगी अध्ययन की अपेक्षा तुलनात्मक अध्ययन करने से ज्ञान की अनंत वृद्धि भी हो जाती है।[2]

साहित्य का आधार भावतत्व है। भाव मनुष्य मात्र के हृदयांतरालों में एकसमान हैं। अतः इस विश्वव्यापी भावसत्ता को देश, काल, जाति, भाषा आदि सीमाओं में संकीर्ण बनाकर देखना सचाई से दूर होना ही है। इसीलिये कुछ विद्वान भावसत्ता पर आश्रित साहित्य को उक्त संकीर्ण परिधियों में रखकर खंडित करने की चेष्टा को अवैज्ञानिक एवं अमानवीय मानते हैं। भावसत्ता विश्वव्यापी होकर मानव मात्र के हृदय में प्रतिष्ठित हो गई है, और इसीलिये भावाश्रित साहित्य भी विश्वव्यापी तथ्यों से युक्त होगा ही। अतः समस्त विश्व का एक ही साहित्य मानकर भाषा, देश आदि भेदक तत्वों को विदीर्ण करते हुये, उसका अध्ययन किया जाना मानव की सभ्यता और संस्कृति के उदात्तीकृत रूप का परिचायक है।[3] इस

---

१ "Professor Oppel" conjectures on the potential ability of the comparatist to achieve "deeper in-sight into the nature and function of literary art" in order to arrive at broader aesthetic criteria than can be obtained through the single discipline.
—*Ibid.*, essay by Anna Balkian, p. 237.

२ The study of a single literature would remain the apex and comparative literature would serve as a source of enrichment to the specialization. —*Ibid.*, p. 236.

३ Whatever the difficulties into which a conception of universal literary history may run, it is important to think of literature as a totality and to trace the growth and development of literature without regard to linguistics distinctions.
--*Theory of Literature*, Rene Wellek Jonathan Cape, Thirty Bedford Square London, 1955, Fourth Edition, p. 41.

दृष्टि से देखा जाय तो तुलनात्मक अध्ययन में निहित आदर्श-लक्ष्यसिद्धि का भी स्पष्टीकरण हो जाता है।

तुलनात्मक अध्ययन की इन विशेषताओं से प्रभावित होकर पीछे के कुछ काल से बड़े बड़े विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ है। परिणामतः देश और विदेशों में साहित्य, दर्शन, इतिहास, कलायें आदि विभिन्न क्षेत्रों में तुलनात्मक अध्ययन को प्रश्रय मिलने लगा है। जहाँ तक हिन्दी साहित्य का संबंध है, इस में भी तुलनात्मक अध्ययन का आकर्षण लगभग दस या बारह वर्ष से बढ़ने लगा है। जब इस प्रकार के अध्ययन से अधिक उपयोगिता सिद्ध होने लगी तो तुलनात्मक अध्ययन के प्रति आकर्षण उत्तरोत्तर बढ़ने लगा। आज तो तुलनात्मक अध्ययन करने की प्रवृत्ति हिन्दी में प्रबलतर दीखती है। अभी तुलनात्मक अध्ययन के क्षेत्र में जो शोध-कार्य हुआ है, उसे देखते हुये यह कहना अनुपयुक्त नहीं है कि अभी तुलनात्मक शोध का आरंभिक-काल ही है। पर निकट भविष्य में ही इस अध्ययन की प्रगति अपनी चरम पर रहने के चिह्न वर्तमानकाल में दृष्टिगत हो रहे हैं।

हिन्दी के वैष्णव-साहित्य से विभिन्न प्रदेशों के वैष्णव-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन हुआ है। गुजरात, बंगाल, केरल, मैसूर और मद्रास तक इस विषय में तुलनात्मक अध्ययन की सीमायें विस्तृत हो गई हैं। आंध्र-प्रदेश के वैष्णव-साहित्य का अध्ययन उक्त सूची की एक लुप्त कडी सी बनी हुई है। प्रस्तुत प्रबंध उक्त लुप्त कड़ी की खोज का ही प्रयास है। इसकी अध्याय-योजना निम्नलिखित प्रकार से है :

प्रथम अध्याय में दोनों क्षेत्रों की आलोच्य युगीन विभिन्न परिस्थितियों और तत्कालीन साहित्य—विशेष रूप से वैष्णव साहित्य—पर उनके प्रभावों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। परिस्थितियों में व्याप्त साहित्यिक प्रेरणा और संस्कारों का भी तुलनात्मक विवरण अंकित किया गया है। मोटे रूप से भक्तियुगीन विभिन्न परिस्थितियों के साम्य के साथ भिन्नता का भी निरूपण किया गया है। इस पृष्ठभूमि में कवि के व्यक्तित्व को रखकर उनके जीवन-क्रम और साधना-विधान को भी तुलनात्मक दृष्टि से देखा गया है। इन्हीं सूत्रों का संबंध आगे चलकर आलोच्ययुग के कवियों के भावविकास से जोड़ा गया है।

द्वितीय अध्याय में वैष्णव कवियों का परिचय दिया गया है। इसमें कुछ प्रमुख कवियों का विस्तृत परिचय दिया गया है और शेष कवियों के परिचय को तालिकाओं के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। कवि-परिचय में कवि की जीवन-रेखा, उसके प्रेरणा-स्रोत, आश्रयदाता, संप्रदाय, इष्टदेव, रचनायें आदि को सम्मिलित किया गया है। कवि-परिचय के पूर्व हिन्दी-तेलुगु के आलोच्यकाल के पूर्व के वैष्णव साहित्य का भी संक्षिप्त परिचय दिया गया है। इस परिचय से आलोच्य-साहित्य के आरंभिक स्वरूप का स्पष्टीकरण हो जाता है और आगे के अध्ययन के लिये इससे कुछ प्रकाश भी मिलता है। इस अध्याय के अंत में हिन्दी एवं तेलुगु वैष्णव कवियों के

व्यक्तित्व का सामान्य रूप से तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। कवियों के कृतित्व के पूर्व व्यक्तित्व का अध्ययन करना नितांत आवश्यक समझकर यह प्रयास किया गया है।

तृतीय अध्याय वैष्णवभक्ति पर प्रकाश डालता है। आलोच्ययुग में हिन्दी और तेलुगु क्षेत्र भक्ति की लहरों से धवल थे। भक्ति विविध रूपों में रस के साथ सामंजस्य स्थापित कर रहा था। दोनों क्षेत्रों के भक्ति-संप्रदायों की भिन्नता भाव से भी संबद्ध हो गई थी। इसीलिए भक्ति की परिभाषा और भक्ति का विकास दिखाकर तदुपरांत उभय क्षेत्रीय भक्ति-संप्रदायों का संक्षिप्त सर्वेक्षण प्रस्तुत किया गया है। इसके पश्चात् भक्ति के भाव का आलोच्ययुग के कवि के साथ काव्यगत संबंध, "भक्ति के मूल उपादान" शीर्षक में प्रस्तुत किया गया है। इस अध्ययन से यह सारांश व्यंजित होता है कि दोनों क्षेत्रों के कवियों में भक्ति की सामान्य समानतायें ही अधिक हैं और सांप्रदायिक विशेषतायें साहित्य में कम वैषम्य ला पाती हैं।

चतुर्थ अध्याय वैष्णव-दर्शन से संबंधित है। इसमें ब्रह्म, जगत, जीव, प्रारब्ध, माया आदि के संबंध में जो मन्तव्य दोनों क्षेत्रों के कवियों से प्रकट किये गये हैं, उनकी तुलना की गई है। यह मानी हुई बात है कि कवि का सम्बन्ध जिस संप्रदाय से है, उस संप्रदाय की विशिष्ट मान्यताओं ने उनके काव्य में स्थान पाया हो। इसलिए वहाँ समानता ढूँढ़ना अनावश्यक विस्तार के सिवा कुछ नहीं है। क्योंकि वहाँ समानता की अपेक्षा विषमतायें ही अधिक मिलेंगी। इस दृष्टि से दर्शन के संबंध में कवियों के सामान्य सिद्धांतों की ही तुलना की गई है। इस अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि सांप्रदायिक भेद-प्रभेदों से दोनों कवियों में कम वैषम्य आ पाया है। यह वैषम्य भी सिद्धांतों के सूक्ष्म विवरण में ही प्राप्त होता है। दर्शन की अभिव्यक्ति में सामान्य धरातल पर उभयक्षेत्रीय कवि आपस में मिले हुये ही दिखाई पड़ते हैं।

पंचम अध्याय आलोच्य युग के काव्यरूपों का तुलनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। काव्य-रूप दो प्रकार के प्राप्त होते हैं : कुछ परम्परागत और कुछ नवीन। एक विशिष्ट काव्यरूप की लोकप्रियता का तुलनात्मक रूप प्रस्तुत करके उसके भावपक्ष का भी निर्देश किया गया है। काव्यरूपों के चुनाव की प्रवृत्ति के साथ साथ प्राप्य काव्यरूपों की स्थूल रूपरेखा भी दी गई है।

षष्ठ अध्याय में दोनों क्षेत्रों के वैष्णव-साहित्य के भावपक्ष का तुलनात्मक अध्ययन है। भावपक्ष इष्ट की लीलाओं से संबद्ध है। इसीलिये, लीलाओं की स्थूल रूपरेखा का भी स्पष्टीकरण किया गया है। लीलायें अधिकांश स्रोतसम्मत हैं ही, पर कुछ विशिष्ट पात्रों तथा स्थलों का कवियों ने कम या अधिक भावात्मक विस्तार किया है। इसलिये भावसंदर्भ, आलंबन एवं भाव या रस इन तीनों का तुलनात्मक अध्ययन ही आवश्यक समझा गया है। इस प्रकार के अध्ययन से महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले गये हैं। भक्ति के दास्य और सख्य भावों तथा वात्सल्य और माधुर्य रसों

को अन्य साहित्यिक भाव या रसों की अपेक्षा अधिक महत्व दिया गया है। क्योंकि वैष्णवभक्त कवियों के ये ही केन्द्रीय भाव तथा रस हैं, शेष सब रस अवांतर रूप से ही आये हैं। भक्त-कवियों का इनके साथ पूर्ण तादात्म्य नहीं है, केवल प्रसंग के आग्रह से इनका समावेश हुआ है। तथापि इन भावों का भी हमने यथासंभव तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। लीलाओं का वर्गीकरण भावों के अनुसार किया गया है। दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य भावों के सर्वेक्षण में, इनकी अतल गहराइयों तक जाना पड़ा है और इसीलिये सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रवृत्तियों एवं विशेषताओं का प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त हो सका है। उक्त भावों के संदर्भ में आने वाले संचारी भावों का भी गहनतम अध्ययन किया गया है।

कलापक्ष का तुलनात्मक अध्ययन सप्तम अध्याय का विषय है। इसमें काव्य की भाषा, शैली, अर्थालंकार, शब्दालंकार, छंद, नगर-वर्णन, युद्ध-वर्णन और प्रकृति-चित्रण प्रस्तुत किया गया है। इस अध्याय में प्रवृत्तियों की तुलना ही विशेष रूप से की गई है। क्योंकि कलात्मक सूक्ष्मताओं का अध्ययन न संभव है और न आवश्यक। कारण यह है कि प्रबंध काव्यों के बाहुल्य के कारण तेलुगु में कलापक्षीय विस्तृति हिन्दी की अपेक्षा बहुत अधिक है। ऐसा होते हुये भी प्रवृत्तियों की दृष्टि से हिन्दी और तेलुगु वैष्णव-साहित्यों में साम्य ही अधिक मिलता है। शब्दालंकार, नगर-वर्णन, युद्ध-वर्णन, प्रकृति-चित्रण आदि के सन्दर्भ में यथासंभव कलात्मक सूक्ष्मताओं का भी हमने विवेचन किया है। कलापक्ष काव्य का बहिरंग है और काव्यरूप भी। इस दृष्टि से देखा जाय तो कलापक्ष और काव्यरूप से संबंधित अध्याय एक दूसरे के पूरक हो जाते हैं। पुनरुक्ति-दोष से बचने के लिये काव्यरूपवाले अध्याय में काव्य के बहिरंग के संबंध में हमने जिन विशेषताओं की चर्चा की है, उन्हें कलापक्ष के अध्याय में सप्रयत्न आने नहीं दिया।

अष्टम अध्याय उपसंहार का है। इसमें निष्कर्षों की संक्षिप्ति, साम्य और वैषम्य का सिंहावलोकन, इन दोनों के कारणों तथा प्राप्य साम्य और वैषम्यों के मूल्यांकन को सम्मिलित किया गया है। इसमें यह भी स्पष्ट किया गया है कि इन समानताओं के विस्तार की क्या उपयोगिता है।

हिन्दी और तेलुगु के वैष्णव-साहित्य परस्पर पूरक हैं। यदि इन दोनों का समग्र प्रभाव ग्रहण किया जाय तो लगेगा कि हिन्दी के भावोत्कर्ष से मिलकर तेलुगु का अभिव्यक्त-शिल्प कितना महान् बन जाता है। इस समग्र प्रभाव को युग-व्यापी परिस्थितियों और प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन ही प्रदान कर सकता है। प्रस्तुत प्रबन्ध इस आवश्यकता की पूर्ति करने का एक साधन है।

हिन्दी ने आलोच्ययुग में महान् प्रतिभाओं को जन्म दिया है। जहाँ तक साहित्य की भावात्मक ऊँचाइयों का प्रश्न है हिन्दी के सूर, तुलसी, मीरा आदि के समक्ष ये विनत रह जाती हैं। तेलुगु में भी आलोच्यकाल साहित्य के उत्कर्ष की दृष्टि से उल्लेखनीय है। इस काल ने पोतना, अन्नमाचारी जैसे महान् भक्तकवियों

को जन्म दिया और श्रीकृष्णदेवराय के विश्वकोशीय व्यक्तित्व तथा उनकी काव्य-प्रतिभा का संघटन भी इस युग में हुआ। एक ओर पुराण की धारा प्रबंधात्मक सौष्ठव और भक्ति-भाव से संगम करके एक व्यापक प्रभावभूमि उपस्थित कर रही थी। दूसरी ओर द्विपदा के रूप में एक लोकधारा भी प्रजा का ध्यान आकर्षित कर रही थी। शतकों के रूप में उच्चकोटि के मुक्तकों की परम्परा पर भी ये शताब्दियाँ गर्व कर सकती हैं। तात्पर्य यह है कि आलोच्ययुग तेलुगु-साहित्य के उत्कर्ष का निश्चित रूप से स्वर्ण-युग है। इतने समृद्ध और विविध भक्ति-साहित्य की धाराओं को लिये हुए यह युग हिन्दी के "स्वर्णयुग" से न्यूनाधिक रूप से तुलनीय है। आलोच्यकाल के हिन्दी एवं तेलुगु इन दोनों साहित्यों के अध्ययन से यह प्रेरणा मिलना स्वाभाविक था कि इन दोनों का तुलनात्मक अध्ययन करके दो साहित्य-धाराओं के संगम-पर्व में कुछ योगदान किया जाय।

हिन्दी और तेलुगु दोनों ही भारत की व्यापक भाषायें हैं। इन दोनों के सामीप्य का अपना महत्व है। आज इस बात की आवश्यकता है कि विघटन की शक्तियों को पराजित करके सांस्कृतिक और साहित्यिक एकता के सूत्रों की खोज की जाय। इस दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन में प्राप्त समानताओं का मूल्य और भी बढ़ जाता है। प्रस्तुत प्रबंध का उद्देश्य हिन्दी और तेलुगु साहित्यों में प्राप्त समानताओं का अनुसंधान करके भारतदेश की सांस्कृतिक और भावात्मक एकता का स्पष्टीकरण करना ही है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि प्रस्तुत प्रबंध उक्त उद्देश्य की पूर्ति करने में पूर्ण रूप से सहायक है।

प्रस्तुत प्रबंध में समानताओं को दिखाने के पूर्वाग्रह से खींचातानी नहीं की गयी है। दोनों साहित्यों के प्रति निष्पक्ष भाव रखते हुए आलोडन किया गया है। दोनों साहित्यों की विशेषताओं पर विचार करते हुये समानताओं की भूमियों का उद्घाटन करने में कई पद्धतियों का प्रयोग किया गया है। प्रस्तुत प्रबंध में आलोच्ययुग और उसमें प्रणीत साहित्य का समग्ररूप प्रस्तुत करने की दृष्टि से काव्य के समस्त पक्षों पर विचार किया गया है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत अध्ययन से प्राप्त समानताओं का अपना विशेष मूल्य है और इनमें भावी अध्ययन की प्रेरणा के बीज छिपे हुये हैं।

इस प्रबंध में साम्य और वैषम्य के संबंध में निष्कर्ष संभव कारणों के निरूपण के साथ दिये गये हैं। कहीं कहीं वैषम्य कुछ अधिक विचित्र-सुन्दर प्रतीत ये हैं। इन वैषम्यों में वह स्थानीय सजीवता व्यंजित है जो मूल एकता की विविध-सज्जा मात्र है। इन समताओं और विषमताओं को जन्म देने वाली परिस्थितियों का भी तुलनात्मक अध्ययन किया गया है।

प्रथम अध्याय

परिस्थितियाँ

१. क. प्रस्तावना

किसी भी देश का साहित्य क्यों न हो, वह अपने समय की विभिन्न परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना कदाचित नहीं रह सकता। आलोच्ययुगीन हिन्दी और तेलुगु वैष्णव-साहित्य के उत्पादन में किन-किन परिस्थितियों का सहयोग रहा, यह जानना नितांत आवश्यक है। इन तथ्यों को जाने बिना प्रस्तुत विषय का अध्ययन अधूरा ही रह जायेगा। उभय क्षेत्रीय वैष्णव साहित्य में जो प्रवृत्तिगत साम्य एवं वैषम्य हैं इनके मूल कारणों की खोज विभिन्न परिस्थितियों के प्रकाश में ही संभव है। इन कारणों के अनुसंधान द्वारा साहित्यकारों की जिज्ञासाओं को यथासंभव तृप्त करना ही हमारा अभीष्ट है। इसी दृष्टि से यहाँ पर आलोच्ययुगीन उभय क्षेत्रों की विभिन्न परिस्थितियों और साहित्य—विशेष रूप से वैष्णव साहित्य—पर उनके प्रभाव का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

१. ख. राजनैतिक

आलोच्य युग में समस्त उत्तर भारत की राज्य-सत्ता मुसलमान राजाओं के हाथ में थी। किन्तु दक्षिण में मुख्यतया हिन्दू राजा ही सत्तारूढ़ थे। उत्तर भारत में लोदी वंश का ह्रास और मुगल-साम्राज्य के उदय के कारण दोनों में संघर्ष चल रहे थे। बहलोल लोदी से लेकर अकबर तक संघर्ष भी बहुत रहा और अंत में एक सुदृढ़ केन्द्रीय शासन-व्यवस्था भी स्थापित हो गयी। तेलुगु क्षेत्र में बहमनी राज्य को छोड़कर मुस्लिम सत्ता के उल्लेखनीय स्थान नहीं थे। हिन्दू राज्यों में विजयनगर साम्राज्य एवं कोंडवीटि रेड्डियों का राज्य प्रमुख थे। इनमें परस्पर द्वन्द्व चलता रहा और अन्ततः विजयनगर साम्राज्य के हाथ विजयश्री रही। वैसे अन्य छोटे-छोटे राज्य भी इन दो शताब्दियों में थे पर साहित्य और संस्कृति के उन्नयन की दृष्टि से इनका महत्व नगण्य ही है।

उत्तर भारत में मुसलमानों के प्राबल्य को राजपुत्र-वीरों ने रोकने के लिये बहुत ही प्रयत्न किया था। किन्तु आपस का द्वेष, प्रतिशोध एवं संघर्ष के कारण

उनमें एकता की भावना तिरोहित हो गयी थी। इसका परिणाम यह हुआ कि मुसलमान शासन सत्ता ने उत्तर भारत को स्थिर रूप से अपने वश में कर लिया। सिकन्दरलोदी के राज्य-काल में हिन्दुओं पर अत्याचार करने का एक आन्दोलन-सा चल पड़ा था।[१]

उत्तर भारत में मुस्लिम-विजय के कारणों में से एक प्रमुख कारण हिन्दुओं का पारस्परिक सांप्रदायिक विद्वेष था। इसके विपरीत मुसलमानों में एकता की भावना थी एवं साथ ही अपने धर्म के प्रचार के लिये अगाध उत्साह भी था। सांप्रदायिक विद्वेष की भावना दक्षिण भारत के हिन्दुओं में भी थी। शैव एवं वैष्णवों का संघर्ष इसका प्रबल प्रमाण है। हिन्दू राजाओं में परस्पर युद्ध भी होते थे चाहे उत्तर की अपेक्षा कम ही क्यों न हो। किन्तु विजयनगर के कुशल राजनीतिज्ञ राजा एक ओर अपने राज्य का विस्तार करते हुए दूसरी ओर हिन्दुओं में एकता की भावना लाने के लिये सतत प्रयत्नशील हो रहे थे। विजयनगर के राजाओं ने अपनी सेना में मुसलमानों को भी संघटित करने की आवश्यकता को भली-भाँति समझा। इसी कारण श्री कृष्णदेवराय ने अपनी सेना में मुसलमानों को भी नियुक्त किया। दक्षिण भारत में मुसलमानों का बहमनी-साम्राज्य पाँच खंडों में विभाजित हो गया था और इन पाँचों खंडों के सुल्तान विजयनगर के लिये बगल की छुरी बन गये थे। किंचित भी अवसर मिल जाता तो वे विजयनगर साम्राज्य का ध्वंस करने के लिये षड्यंत्र रचते थे। इसीलिये विजयनगर साम्राज्य सैनिक शक्ति पर अधिक ध्यान देता था।[२]

दक्षिण भारत में मुसलमानों के द्वारा हिन्दुओं पर आक्रमण होते रहने पर भी हिन्दू राजाओं ने मुसलमानों के प्रति प्रायः शुद्ध राजतिनैक विरोध-भाव ही रखा, धार्मिक नहीं। इतिहास में इस के अनेक प्रमाण भी मिलते हैं।[३] उत्तर भारत के अकबर आदि कुछ मुसलमान राजाओं ने भी इसी प्रकार अपनी धार्मिक उदारता का परिचय दिया है।[४] वस्तुतः अकबर के समय के पूर्व उत्तर भारत की शासन सत्ता से हिन्दू प्रजा नितांत असंतुष्ट थी। इसका कारण मुसलमान शासकों की सांप्रदायिक दृष्टि ही थी। साथ ही हिन्दुओं के आंतरिक संघटन में स्थित सामाजिक कुरीतियाँ और अंध वर्ण-व्यवस्था भी इसके कारणभूत तथ्य थे।

संक्षेप में सारांश यह है कि जहाँ उत्तर भारत में हिन्दुओं के लिये राजनैतिक पराजय का काल था वहाँ दक्षिण में राजनैतिक विजय का। ई० १३४६ में

[१] हिस्टरी आफ़ मिडीवल इण्डिया, पृ० २६७

[२] कृष्णराय विजयम्, ३/२६

[३] विजयनगर सेक्सेंटेनरी कम्मेमोरेशन वाल्यूम, यन्० वेंकटराव, पृ० ४२ तथा एपिग्राफ़िया इण्डिया, पार्ट ४, पृ० १७

[४] हिस्टरी आफ़ मिडीवल इण्डिया, पृ० ३४३ तथा अकबर दि ग्रेट मोग़ल, पृ० १८२

स्थापित विजयनगर साम्राज्य ने ई० १६५० तक स्वतन्त्र रहकर मुसलमानों के आक्रमणों से हिन्दू-धर्म की रक्षा की थी। विशेष रूप से अकबर का शासन-काल उत्तर भारत में राजनैतिक शान्ति का काल था।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि दोनों ही क्षेत्रों में राजनैतिक परिस्थितियाँ हलचलपूर्ण थीं। पर अन्ततः दोनों ही क्षेत्रों में सशक्त केन्द्रीय शासन की स्थापना के पश्चात् शांतिमय वातावरण उपस्थित हो गया था। उक्त वातावरण में हिन्दी क्षेत्र में एक दीर्घकाल से चले आते हुए संघर्ष के फलस्वरूप जर्जर हिन्दू धर्म और दर्शन के सूत्रों का पुनर्नियोजन अनिवार्य हो गया और राजनैतिक परिस्थितियों के साथ ऊपरी समझौता करके संत और भक्तों की मनीषा आत्मनिरीक्षण और आस्तिकता की स्थापना में लगी। इन भक्त कवियों ने राजनैतिक क्षेत्र में चलते हुये धार्मिक राष्ट्रीयता से प्रेरित संघर्षों को स्पष्टतया न कोई समर्थन दिया और न मुसलमान सत्ता का व्यक्त विरोध ही किया, यद्यपि अव्यक्त रूप से इनका चित्रण मिलता है। इन कवियों का उद्देश्य गहरा था। वे मूल दौर्बल्य को ही समाप्त करने में लगे थे। उत्तर में केन्द्रीय सत्ता मुसलमानों के हाथ में थी, इसलिये इन भक्त कवियों ने उसकी उपेक्षा कर दी। अकबर के राज्य की व्यवस्था, उनकी उदारता, धार्मिक सहिष्णुता, साहित्य एवं कलाप्रियता के मूल में सन्निहित भावना को कुछ हिन्दू आचार्यों ने संदेह की दृष्टि से देखा। यही कारण है कि श्री बल्लभाचार्यजी ने तत्कालीन शासन की कटु आलोचना की थी।[१] बल्लभ की ही भाँति अन्य भक्त कवियों ने तत्कालीन परिस्थितियों का निराशापूर्ण चित्रण अपने काव्यों में प्रस्तुत किया।[२]

आलोच्य युग में उत्तर भारत में अमूल्य भक्ति-साहित्य की सृष्टि के लिये अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गयी थीं। मुसलमानों के उद्दंड शासन की प्रतिक्रिया के रूप में एवं दक्षिण के राघवानंद और बल्लभाचार्य आदि के प्रयत्नों के द्वारा उत्तर भारत में वैष्णव भक्ति-धारा प्रवाहित होने लगी। वस्तुतः यह एक पुरातन दार्शनिक धारा का पुनरुत्थान ही कहा जाना चाहिये जो परिस्थितियोंवश एक व्यापक सांस्कृतिक आन्दोलन के रूप में फूट पड़ा था। इस पुनरुत्थान का सूत्रपात दक्षिण के आचार्यों के द्वारा ही हुआ, पर इन सूत्रों ने एक दिन समस्त भारत के दिगंतों को छा लिया। उत्तर भारत में इसके प्रमुख आरम्भिक नेता रामानन्द ही थे। "भक्ति द्राविड ऊपजी लाये रामानन्द" का यही रहस्य है।

[१] आचार्य बल्लभ कृत षोडश ग्रथांतर्गत "कृष्णाश्रय" के २, ३, ५ श्लोक द्रष्टव्य हैं।

[२] उदाहरण के लिये तुलसी की यह उक्ति द्रष्टव्य है—

"गोंड गंवार नृपाल महि यमन महा-महिपाल।
साम न दाम न भेद कलि, केवल दण्ड कराल।।"

—दोहावली, छन्द ५५६

दक्षिण भारत में केन्द्रीय सत्ता हिन्दू—विशेषत: विजयनगर—राज्य में रही। इसलिये यहाँ के भक्त कवियों ने उत्तर भारत के भक्त कवियों की भाँति राजसत्ता से असहयोग नहीं किया। उसके आश्रय में रहकर उन्होंने अमर साहित्य की रचना की। पर एक और अन्तर राज्याश्रय के कारण साहित्य में आया। राज्याश्रय में पलने वाला भक्ति-साहित्य प्रमुखत: प्रबन्ध-शैली में ही है, उसमें प्रचुर मात्रा में शृंगार का गहरा रंग छाया हुआ है। मुक्तककारों को राजाओं ने प्राय: आश्रय नहीं दिया। हिन्दी वैष्णव साहित्य के मुक्तक और प्रबन्ध दोनों ही राज्याश्रय से मुक्त होकर पनपते रहे। हिन्दी के समानांतर तेलुगु में भक्ति साहित्य की एक ऐसी भी धारा है जो राज्याश्रय से निरपेक्ष होकर प्रगति पा रही थी।[1]

१. ग. धार्मिक

उत्तर भारत में मुसलमानों का शासन प्रतिष्ठित होने के उपरान्त हिन्दू जनता के हृदय में निराशा का सघन तिमिर छा गया। उनके समक्ष ही देव-मन्दिर ध्वंस किये जाते थे, देवमूर्तियाँ नष्ट भ्रष्ट की जाती थीं, धार्मिक पुस्तकालय जलाये जाते थे एवं पूज्य पुरुषों का अपमान होता था। हिन्दू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी-सी छायी रही।[2] किन्तु अकबर ने तो अपने समय में प्रचलित समस्त धार्मिक भावनाओं का समन्वय करने का प्रयत्न किया। इनका "दीन इलाही" धर्म इसके लिये ज्वलन्त प्रमाण है। अकबर के पूर्ण प्रयत्न करने पर भी मुसलमान और हिन्दुओं में उद्दिष्ट समन्वय स्थापित नहीं हो सका।

जहाँ तक हिन्दू धर्म के पुनरुद्धार का सम्बन्ध है उत्तर भारत का सामंत कुछ अपवादों को छोड़कर विधर्मियों के अधीन हो चुका था। वह साहित्य और कला का मर्मज्ञ और आश्रयदाता तो था, पर धार्मिक दृष्टि से वह अधिक जागरूक नहीं था।

दक्षिणापथ भी मुसलमानों के आक्रमणों से मुक्त नहीं था। फिर भी विजयनगर के राजाओं ने यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि मुसलमानों के आक्रमणों से दक्षिण भारत की रक्षा करके विशाल हिन्दू साम्राज्य की स्थापना करनी चाहिये। हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान के लिये उन्होंने तीन प्रमुख साधनों को अपनाया था—मन्दिरों का उद्धार, ब्राह्मणों का संरक्षण तथा विज्ञान का पोषण। तत्कालीन धार्मिक संघर्ष में सामंत और विद्वान्, दोनों ही शक्तियाँ संयुक्त होकर हिन्दू धर्म की जर्जर व्यवस्था को पुनर्जीवित कर रहे थे। दक्षिण में ब्राह्मण का राजाओं से जितना सम्पर्क था और जितने घनिष्ठ सहयोग के साथ ये दोनों शक्तियाँ स्वधर्मरक्षक बनी हुई थीं,

[1] पोतना का श्रीमदांध्रभागवत, आतुकूरि मोल्ल कृत मोल्लरामायण आदि अनेक काव्य इसके लिये प्रमाण हैं।

[2] हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६०

उतना सहयोग उत्तर भारत में संत और सामंत के बीच में नहीं था। इसका कारण यह है कि दक्षिण का सामंत उत्तर भारत के सामंत के समान विधर्मियों के शासन से अभिभूत और पराजित नहीं था।

उत्तर भारत में शैव और वैष्णवों में वैषम्य दृष्टिगोचर नहीं होता। किन्तु दक्षिण में इन दोनों के बीच में प्रबल संघर्ष परिलक्षित होता है।[१] विजयनगर साम्राज्य की स्थापना के पूर्व काकतीय राजाओं के युग में शैव-संप्रदाय की आन्ध्र में प्रतिष्ठा थी। विजयनगर साम्राज्य के प्रथम राजवंश के सभी राजा शैव थे। हंपी का विरूपाक्ष मन्दिर इन राजाओं की शिव-भक्ति का ज्वलन्त प्रमाण है। जब से विजयनगर का राजा विरूपाक्ष वैष्णव धर्मानुयायी हुआ तब से वैष्णवमत शक्ति संग्रहीत करने लगा। यहाँ तक कि राजधर्म हो जाने के कारण यह सबसे अधिक लोकप्रिय भी होने लगा। वैष्णव होते हुये भी इन राजाओं का अन्य हिन्दू मत-मतांतरों से विरोध नहीं था। इसीलिये आलोच्ययुग में आन्ध्र के शैव-वैष्णवों में परस्पर द्वेष उसके पूर्वकाल की अपेक्षा तो अवश्य कम हो गया था।

आलोच्ययुग में हिन्दी क्षेत्र में रामानन्द सम्प्रदाय की दो शाखायें पल्लवित हुई। परम्परागत योग और ज्ञान की धाराओं से संयुक्त होकर एक शाखा निर्गुणभक्त कवियों के रूप में परिणत हो गयी, और दूसरी धारा सगुणभक्त कवियों के रूप में। रामभक्ति शाखा में प्रचलित राम और हनुमान दोनों ही हिन्दी क्षेत्र में आरम्भ से ही मान्य रहे। सगुणभक्ति की दूसरी शाखा **तुलसी** की भाँति शास्त्रपरम्परा और मर्यादा का इतना समर्थक नहीं थी। दक्षिण के आळ्वार भक्तों में कुछ कृष्ण और राधा की प्रेम-पद्धति को आदर्श के रूप में मानते थे। फिर भी कृष्ण-भक्ति की धारा का संस्कार-परिष्कार विशेषतः पूर्वीभाग में ही हुआ। वल्लभाचार्यजी कृष्ण को उपास्यदेव स्वीकृत करके हिन्दी में इस धारा के प्रेरक और उन्नायक बने। पर पीछे बंगाल की भक्ति-धारा ने इस सम्प्रदाय को भी प्रभावित किया और वृन्दावन के राधावल्लभ सम्प्रदाय जैसे माधुर्याश्रित सम्प्रदायों को जन्म भी दिया। यही आलोच्य-युग में हिन्दी क्षेत्रीय भक्ति आन्दोलन की संक्षिप्त रूपरेखा है।

तेलुगु क्षेत्र में आलोच्य युग से बहुत पूर्व ही भक्ति आन्दोलन चल पड़ा था। आन्ध्र में पहले से सगुण भक्ति की ही मान्यता मुख्य रूप से रही। इस सगुणभक्ति की दो शाखायें थीं—शैव-भक्ति शाखा तथा वैष्णव-भक्ति शाखा। आन्ध्र में श्रीरामानुजाचार्य के वैष्णव धर्म को ही प्रजा में अधिक मान्यता प्राप्त हुई। इसीलिये तेलुगु क्षेत्र के उपास्य देवों में राम और कृष्ण के अतिरिक्त विष्णु को भी पर्याप्त सम्मान प्राप्त हुआ। कृष्ण के साथ राधा की उपासना की पद्धति हिन्दी क्षेत्र के

[१] ई० ११०४ में जो भयानक पल्नाटि-युद्ध था इसका मूल कारण शैव-वैष्णवों के बीच तीव्र मत-कलह ही थी। —तेलुगु कल्चर, पृ० ४४

समान तेलुगु क्षेत्र में नहीं थी । परन्तु राम के साथ हनुमानजी की उपासना हिन्दी क्षेत्र के समान तेलुगु क्षेत्र में भी प्रचलित थी ।

उत्तर भारत में जब मुस्लिम धर्म और संस्कृति देश में स्थापित हो गये तब संघर्ष के बीच समन्वय की ज्योति भी विकसित होने लगी । कुछ निर्गुण सन्त कवियों ने हिन्दू-मुस्लिम-एकता के लिए एक भूमिका तैयार करने का प्रयास किया । अकबर की धार्मिक उदारता के मूल में तत्कालीन निर्गुण सन्त परम्परा का पर्याप्त प्रभाव है। उनके समय में भी निर्गुण-भक्ति-साहित्य की धारा का प्रवाह पर्याप्त प्रबल था । इस धारा के प्रसिद्ध प्रचारक सन्त दादू ने चालीस दिन तक महासम्राट अकबर से भाषण करके, उनको पर्याप्त प्रभावित किया था ।[1]

दक्षिण में परिस्थिति कुछ भिन्न थी । यहाँ हिन्दुओं के स्वतन्त्र राज्य भी थे । हिन्दू राजाओं ने हिन्दू धर्म की रक्षा और पुनरुद्धार के लिए दीक्षा ली थी । जहाँ उत्तर भारत में हिन्दू और मुसलमान धर्मों का संघर्ष अंतर्मुख होकर चल रहा था, वहाँ दक्षिण में यह बहिर्मुख होकर । दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि उत्तर भारत में हिन्दू-मुसलिम संघर्ष धार्मिक धरातल पर चल रहा था और दक्षिण में यही, राजनैतिक क्षेत्र में अग्रसर था । अतः हिन्दू और मुसलमान धर्मों को समन्वय करने की जो चेष्टा दादू, कबीर आदि निर्गुण सन्त कवियों के द्वारा हिन्दी क्षेत्र में की गयी थी, ऐसी प्रवृत्ति का तेलुगु क्षेत्र में अभाव है ।

शैव-वैष्णव संघर्ष का तेलुगु साहित्य पर स्पष्ट प्रभाव आलोच्ययुग में देखा जा सकता है । "आमुक्तमाल्यदा" काव्य में भगवान श्रीरंगनाथ से कवि इस प्रकार कहलाता है—शैव राजा का पागलपन इतना बढ़ गया है कि अब वह मुझ पर विश्वास भी नहीं करता । हमारी मूर्तियों के प्रति वह कहता है कि एकमात्र शिव ही इसका आधारस्वरूप हैं । हमारे मन्दिरों के उत्सवों के प्रति भी वह अनादर प्रदर्शित कर रहा है......अनादिकाल के वैष्णव मन्दिर धराशायी हो गये हैं और उनके स्थान पर शैव मठों की स्थापना की जा रही है । जब कभी वह शैव संन्यासी को देखता है, तब वह भयभीत-सा हो जाता है । शिवलिंगधारी निषिद्ध कार्य करने पर भी वह मौन रहता है ।[2] ई० १६ वीं शताब्दी में रचित धूर्जटिकृत श्री कालहस्तीश्वर शतक विष्णु-निंदा से भरा हुआ है । यथा—

"श्रीलक्ष्मीपति सेवितांघ्रियुगलां श्रीकालहस्तीश्वरा ।"[3]

"श्रीरामार्चित पादपद्म युगलां श्रीकालहस्तीश्वरा ।"[4]

शैव कवियों की प्रतिक्रिया से वैष्णव कवियों ने भी शिव-निन्दा करना प्रारम्भ कर दिया । उदाहरणार्थ तल्लपाक चिनतिरुवेंगलनाथ ने "परमयोगी विलासमु" काव्य

[1] दीनइलाही, पृ० ४१

[2] आमुक्तमाल्यदा—४/४२,४३,४४ और भी दृष्टव्य है—वही, ४/४७

[3] श्रीकालहस्तीश्वर शतक, पद्य १७

[4] वही, पद्य १९

में शिव की पूर्णतः निन्दा की। उनका "उषाकल्याण" काव्य भी शैवमत-द्वेष से अछूता नहीं रहा।[१] विस्तार-भय से यहाँ अधिक उद्धरणों को न देकर केवल प्रवृत्ति-विशेष की ओर संकेत मात्र किया गया है। आलोच्ययुग में राजादरण की प्राप्ति के लिये कुछ शैव कवियों ने वैष्णव-धर्म को भी ग्रहण किया था। मत-परिवर्तन लोभ के कारण भी होता था और वैष्णव धर्म की उदारता तथा सौम्यता को देखकर भी। अल्लसानि पेद्दना और तेनालि रामकृष्ण कवियों ने भी कुछ ऐसे ही कारणों से शैव मार्ग को त्याग कर वैष्णव-धर्म में दीक्षा ली थी। आगे तेनालि रामकृष्ण के द्वारा प्रचुर वैष्णव साहित्य की रचना भी हो सकी। कविसार्वभौम श्रीनाथ जैसे शैव कवि भी वैष्णव-मत से प्रभावित हुए थे। यद्यपि पृथक रूप से उन्होंने वैष्णव काव्यों की रचना नहीं की, तथापि कहीं कहीं लक्ष्मीनारायण की स्तुति अवश्य की थी।[२] उत्तर भारत में शैव-वैष्णव-संघर्ष का आभास नहीं मिलता। पर तुलसी के "रामचरितमानस" से यह स्पष्ट अवश्य होता है कि इन दोनों में समन्वय की चेष्टा की गयी। इस समन्वय की आवश्यकता किसी छोटे-बड़े संघर्ष को देखकर हुई होगी। साथ ही शिव को विशेष रूप से रामभक्त के रूप में तुलसी ने चित्रित किया है। वैसे रामेश्वर में शिव की पूजा भी राम के द्वारा करायी गयी है। पर इस प्रसंग के अतिरिक्त राम को शिवभक्त के रूप में चित्रित नहीं किया गया। सर्वत्र यह दिखाने की चेष्टा की गयी कि राम शिव के विरोधी नहीं हैं और शिव का विरोध करनेवाले भी उन्हें भाते नहीं—

> सिव द्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहु मोहि न पावा॥
> संकर बिमुख भगति चह मोरी। सो नर की मूढ़ मति थोरी॥
> संकर प्रिय मम द्रोही, सिव द्रोही मम दास।
> ते नर करहिं कलप भरि, घोर नरक महुँ बास॥[३]

तेलुगु क्षेत्र में भी तुलसी की भाँति कुछ कवियों ने शिव और केशव में समन्वय करने की चेष्टा की थी। विवेच्ययुग के पूर्व "तिक्कना" ने स्वस्थ समन्वय की दृष्टि से इस विरोध को समाप्त करने का स्तुत्य प्रयास किया था। ई० १५वीं शताब्दी में पोतना ने भी शिव-केशव-अभेद की पूर्ण अभिव्यक्ति अपने काव्य में की।[४]

१ उदाहरण के लिये दृष्टव्य है "उषाकल्याणमु", पृ० ६६,७३,८१,८२,८३.

२ उदाहरण के लिये दृष्टव्य है "काशीखंड", १/२२

३ "तुलसी ग्रन्थावली", पृ० ३७१

४ उदाहरण के लिये दृष्टव्य है ते० भा० ४/२०७ तथा यह निम्नलिखित प्रसिद्ध पद्य भी दृष्टव्य है:

> चेतुलारंग शिवुनि बूजिपडेनि, नोरुनोव्वंग हरिकीर्ति नुडुवडेनि।
> दययु सत्यंबुलोनुगा दलपडेनि, कलुगनेटिकि दल्लुल कडुपुचेट्ट॥

इसके अतिरिक्त और भी कुछ ऐसे कवि हैं जिन्होंने समन्वय के इस आदर्श की अभिव्यक्ति अपने काव्यों में यत्र-तत्र की।[1]

पीछे यह देखा जा चुका है कि रामानन्द-सम्प्रदाय ने निर्गुण और सगुण-भक्ति सम्प्रदायों को जन्म दिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि एक ओर अमूल्य निर्गुण भक्ति-साहित्य का सृजन हो रहा था और दूसरी ओर अमर सगुण भक्ति साहित्य का। महाकवि तुलसीदास और अन्य रामभक्त कवियों का जो साहित्य हिन्दी में रचा गया था, उसके मूल में रामानन्द सम्प्रदाय की विशेष प्रेरणा अन्तर्निहित है। सगुणभक्ति की दूसरी शाखा कृष्णभक्ति की है। आलोच्ययुग में कृष्णभक्ति से सम्बन्धित जो विविध भक्ति सम्प्रदाय हिन्दी क्षेत्र को आभूषित कर रहे थे, उन सब में भावोपासना को ही प्रधानता दी जाती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दी के अधिकांश कवि उन सम्प्रदायों से आकर्षित होकर उनमें दीक्षित हुये और भावसमाधि की साधना में अपने को पूर्णतः समर्पित किया। आलोच्ययुग के उत्कृष्टतम कृष्णभक्ति साहित्य का सृजन इसी का परिणाम समझना चाहिये।

तेलुगु क्षेत्र में श्री रामानुज के श्रीसंप्रदाय के अतिरिक्त राम और कृष्ण से सम्बन्धित पृथक संप्रदाय नहीं मिलते। फिर भी राम और कृष्ण उपास्य देवों के रूप में आन्ध्र में बहुत ही लोकप्रिय हुये। जहाँ तक रामभक्ति साहित्य को प्रभावित करने का प्रश्न है, कोई मौलिक अन्तर हिन्दी और तेलुगु क्षेत्र में दृष्टिगत नहीं होता। परिमाण की दृष्टि से यह अवश्य कहा जा सकता है कि ई० १४वीं शताब्दी से ई० १६वीं शताब्दी के अन्त तक के काल में हिन्दी क्षेत्र की अपेक्षा तेलुगु क्षेत्र में रामसाहित्य की अधिक रचना हुई। पर केवल आलोच्ययुग को ही यदि दृष्टि में रखा जाय तो, उभय क्षेत्रीय रामकाव्यों के परिमाण में कोई अन्तर दृष्टिगत नहीं होता। जहाँ तक कृष्ण-भक्ति शाखा का सम्बन्ध है तेलुगु क्षेत्र में "भागवत" के साथ "महाभारत" की भी लोकप्रियता थी। यह प्रवृत्ति हिन्दी-भक्ति-आन्दोलन में नगण्य ही है। जहाँ उत्तर भारत में राधा को अधिक मान्यता दी गयी, वहाँ आन्ध्र में रुक्मिणी और सत्यभामा कृष्णवार्ता के अंतर्गत अधिक लोकप्रिय हुई। वैसे ई० १६वीं शताब्दी में सर्वप्रथम राधावार्ता भी इनके साथ गौण रूप से चलने लगी थी। चिंतलपूडि एल्लनार्युडु कृत "राधामाधव" राधाकृष्ण पर आश्रित एक प्रशस्त प्रबन्ध काव्य है। तेनालि रामकृष्ण ने अपने "पांडुरंगमाहात्म्य" काव्य में राधा के रूप-सौन्दर्य का कुछ पृष्ठों में रम्य वर्णन किया है। "गीतगोविन्दम्" का प्रभाव भी तेलुगु वैष्णव साहित्य पर पड़ने लगा था। लीलाशुक ने गीतगोविन्द से प्रभावित होकर "श्रीकृष्णामृत"

[1] आध्यात्मसंकीर्तनलु—वा० २, ताल्लपाक अन्नमाचारी, पद २४६ ; शतककवुल चरित्र, वंगूरिसुब्बाराव‌ु, पृ० २२७, २३० पर उद्धृत परमानंदयति कृत परमानंद शतक के पद्य ; चिंतलपूडि एल्लनार्युडु ने "राधामाधव" काव्य में हरि-हर के समन्वय की सुन्दर अभिव्यक्ति की है।

नामक संस्कृत काव्य को प्रस्तुत किया था। फिर इस काव्य का तेलुगु में भी रूपान्तर आलोच्य युग में हुआ। राधा के संबन्ध में एक वैषम्य हिन्दी और तेलुगु क्षेत्र में दृष्टिगत होता है। जहाँ हिन्दी क्षेत्र में राधा भक्ति का आलम्बन होकर साहित्य में प्रतिष्ठित हुई थी, वहाँ तेलुगु क्षेत्र में वही राधा केवल साहित्य का ही आलम्बन बनी रही। हिन्दी और तेलुगु दोनों ही क्षेत्रों में राम काव्य की अपेक्षा कृष्ण काव्य की ही (आलोच्यकाल में) अधिक व्यापकता बनी रही। तेलुगु की अपेक्षा हिन्दी में ही इस शाखा का बृहत साहित्य मिलता है। जहाँ हिन्दी क्षेत्र में ब्रज के कृष्ण के आधार पर कृष्ण-साहित्य की व्यापकता हुई वहाँ तेलुगु क्षेत्र में मथुरा और द्वारका कृष्ण के आधार पर। हिन्दी और तेलुगु के कृष्ण-साहित्य के बीच में जो यह तारतम्य है, इसका एकमात्र कारण यह है कि हिन्दी क्षेत्र में कृष्ण-भक्ति के विविध सम्प्रदाय थे जिनमें ब्रज के कृष्ण को ही प्रमुख महत्व प्रदान किया गया था। तेलुगु क्षेत्र में कृष्ण से सम्बन्धित पृथक सम्प्रदाय नहीं थे, अत: महाभारत और महाभागवत के सम्यक् प्रभाव से कृष्ण साहित्य का वहाँ प्रणयन होता रहा।

योग और ज्ञान की धाराओं में निर्गुण-निर्विशेष ब्रह्म की ही मान्यता रही थी। पर भक्ति-आन्दोलन में मुख्यतया सगुण का समर्थन किया गया। फलत: उत्तरभारत में रामानंद की शाखा से निर्गुण और सगुण दोनों ही धाराओं का सम्बन्ध मिलता है। निर्गुण और सगुण का विवाद सामाजिक धरातल पर प्रबल नहीं था। इसका सम्बन्ध दार्शनिक क्षेत्र के विचारों से ही रहा। यही कारण है कि जिस प्रकार दक्षिण में शैव-वैष्णव-संघर्ष उद्धत रूप ग्रहण करता गया, उस प्रकार निर्गुण-सगुण-सम्बन्ध नहीं। कबीर ने सगुण से खुले आम कोई समझौता नहीं किया। पर रामानन्द से गुरु-मंत्र के रूप में प्राप्त रामनाम सगुण की भावी सम्भावनाओं को सूचित करने लगा। जो ब्रह्म नाम, रूप आदि उपाधियों से परे है, उसकी नाम-उपाधि को स्वीकार करके कबीर जैसे संतों ने "रूप" उपाधि के लिये भूमिका प्रस्तुत कर दी। कालांतर में निर्गुण-सगुण का विरोध शिथिल होता गया और वैष्णव कवियों तक आते-आते सगुण की पूर्ण स्थापना हो गई। वैष्णव साहित्य में सगुण-निर्गुण के सम्बन्ध में दो प्रकार की विचारधारायें मिलती हैं। प्रथम विचारधारा निर्गुण का खंडन करती है। उदाहरण के लिये हिन्दी के वैष्णव-कवियों के द्वारा प्रस्तुत भ्रमरगीत-प्रसंग में गोपिकाओं के द्वारा निर्गुण का खंडन कराया गया है।[१] नन्ददास की गोपियाँ अधिक तर्क का सहारा लेकर उद्धव को अभिभूत करती हैं और सूर की गोपियाँ सामान्य जनोचित भावात्मक युक्तियों के द्वारा उद्धव के निर्गुण ज्ञान को ध्वंस कर देती हैं। सूर एवं नन्ददास आदि ने उद्धव की पराजय को बहुत

[१] जो मुख नाहिन हुतौ कहौ किन माखन खायौ।—नन्ददास
अपनी ज्ञानकथा यह ऊधौ मथुरा ही लै जाव।—सूरसागर
ऊधौ, ब्रज को गमन करौ। सूरसागर पद ४०४७

ही विशद रूप से चित्रित किया है। तुलसी ने भी निर्गुण का अवश्य खंडन किया है।[१] "अगुनहिं सगुनहिं कछु नहिं भेदा" आदि की उक्तियों से बड़े कौशल के साथ निर्गुण-सगुण में उन्होंने अभेद की स्थापना भी की। तेलुगु के भागवतों में गोपियाँ अंत में उद्धव के ज्ञान-मार्ग को स्वीकृत कर लेती हैं जिससे ये सूर और नन्ददास की गोपिकाओं से भिन्न प्रतीत होती हैं। जहाँ तक अन्नमाचारी का सम्बन्ध है, उन्होंने तुलसी की ही भाँति सीधे-सीधे निर्गुण का प्रबल खंडन यत्रतत्र किया है[२] और सगुण के सापेक्षिक महत्व को व्यक्त किया है।[३] पर उन्होंने कहीं-कहीं निर्गुण-सगुण के प्रति अपनी भेद-बुद्धि को अपराध बताकर भगवान के सम्मुख पश्चात्ताप प्रकट किया है।[४] तेलुगु क्षेत्र में यद्यपि विधि-विधान के साथ तुलसी की भाँति सुनिश्चित समन्वय नहीं किया गया, फिर भी अभेद की घोषणा पोतना जैसे दो-एक कवियों ने की थी।[५] इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि दार्शनिक क्षेत्र में निर्गुण-सगुण का संघर्ष हिन्दी क्षेत्र में तेलुगु क्षेत्र की अपेक्षा अधिक हुआ। इसी का प्रतिबिम्ब हिन्दी कवियों के भ्रमरगीत प्रसंग में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है। तेलुगु क्षेत्र में इस प्रकार का संघर्ष हिन्दी की अपेक्षा कम था। इसीलिये निर्गुण के खंडन की उक्तियाँ तेलुगु वैष्णव-साहित्य में कम मिलती हैं। निर्गुण-सगुण समन्वय का प्रयत्न दोनों ही कवियों ने किया है। परिस्थितिजन्य आवश्यकता से जागरूक होकर तुलसी ने ऐसा समन्वय किया है और पोतना आदि ने निरपेक्ष भाव से निर्गुण-सगुण के अभेद का स्पष्टीकरण किया है। हिन्दी और तेलुगु के साहित्य में जो अन्तर दृष्टिगोचर होता है इसका मूल कारण यह था कि हिन्दी क्षेत्र में निर्गुण और सगुण नाम से दो भक्ति सम्प्रदाय थे। तेलुगु क्षेत्र में वेमना आदि निर्गुणिया सन्त थे अवश्य, पर उनका सम्बन्ध योग से था, भक्ति से नहीं।

तेलुगु क्षेत्र में श्रीरामानुज के श्रीसंप्रदाय के कारण विष्णु भी उपास्य देव के रूप में अधिक मान्य हुये। इसीलिये तेलुगु साहित्य में राम और कृष्ण के अतिरिक्त विष्णु, और उसके विभिन्न विग्रहावतार (श्रीबालाजी, श्रीवरदराजस्वामी, श्रीरंगनाथ आदि) तथा अवतारों से सम्बन्धित भक्तिधारा स्वतंत्र रूप में प्रचलित थी। हिन्दी में यह प्रवृत्ति तेलुगु की अपेक्षा कम ही मिलती है। इष्ट देवों का जो स्थानीय वैविध्य

[१] हम लखि हमहिं हमार लखि हम हमार को बीच।
तुलसी अलखहिं का लखै रामनाम जप नीच॥—हिन्दी साहित्य का अतीत, प्रथम भाग, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ४८ पर उद्धृत।

[२] आ० सं० की० ८/६८

[३] वही, ताम्रपत्र ६

[३] वही ('अदि ना यपराध मिदि ना यपराध' शीर्षक पद दृष्टव्य है)।

[४] ते० भा० १०/११७७, ८/७३ आदि अनेक उदाहरण इसके लिये दृष्टव्य हैं।

तेलुगु क्षेत्र में श्रीबालाजी, श्रीरंगनाथ, श्रीवरदराजस्वामी की पूजा के रूप में मिलता है, उसका हिन्दी क्षेत्र में नितान्त अभाव है। हिन्दी क्षेत्र के लिये व्रजभूमि में खेलने वाले कृष्ण और सरयू के किनारे विचरनेवाले राम से अधिक कोई स्थानीय देवता नहीं हो सकता। जहाँ तेलुगु क्षेत्र में उक्त तीनों विग्रहों को विभिन्न आचार्यों ने महत्व प्रदान किया वहाँ हिन्दी क्षेत्र में आचार्यों ने राम और कृष्ण को ही विविध भावनाओं से संयुक्त करके अपने उपास्य देव बनाये। कुछ आचार्यों के विग्रह भी वृन्दावन-क्षेत्र में पूज्य रहे, जैसे श्रीवल्लभाचार्य के श्रीनाथजी, श्रीहितहरिवंश के राधावल्लभजी, श्री हरिदासजी के बाँकेबिहारी आदि। उनकी पूजा-पद्धति में भी कुछ भेद रहा, पर विष्णु के विविध रूपों के नाम से यह विभेद नहीं था। इसीलिये विष्णु के विग्रहावतारों से सम्बन्धित साहित्य तेलुगु में ही पनप सका, हिन्दी में नहीं। विष्णु के अन्य अवतार हिन्दी और तेलुगु दोनों ही क्षेत्रों में मान्य रहे। पर हिन्दी क्षेत्र में इनका उल्लेख दास्यभक्ति-साहित्य में भक्तवत्सलता जैसे वैष्णवजनोचित दिव्य अलौकिक गुणों के प्रदर्शन के लिये प्रायः हुआ है। उन पर स्वतन्त्र रूप से साहित्य की रचना नहीं हुई। इसके विपरीत तेलुगु क्षेत्र में अन्य अवतारों पर स्वतन्त्र रूप से भी कुछ साहित्य की रचना हुई। इसका कारण एक तो यह हो सकता है कि राम और कृष्ण अपने गुण और रूप के कारण सभी अवतारों से अधिक पूर्ण हो गये। दूसरा कारण यह हो सकता है कि तेलुगु क्षेत्र में राम और कृष्ण के अतिरिक्त अन्य अवतारों के चरित्रों पर आश्रित पुराण-साहित्य की भी मान्यता रही। साथ ही विष्णु के लगभग सभी अवतारों की मान्यता का तत्व उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में अधिक प्रबल रहा। हनुमान के सम्बन्ध में तेलुगु में एक रचना का उल्लेख मिलता है।[1] हिन्दी में भी तुलसी ने "हनुमानबाहुक" जैसी कृति की रचना की। साथ ही बलभद्र मिश्र कृत "हनुमन्नाटक" का भी उल्लेख मिलता है।

उपर्युक्त सर्वेक्षण से यह सिद्ध होता है कि आलोच्ययुग की धार्मिक परिस्थितियों का वैष्णव साहित्य पर पूर्ण रूप से प्रभाव पड़ा था।

१. घ. आर्थिक

कुछ अपवादों को छोड़कर उत्तर भारत के समस्त हिन्दू सामन्त शुद्ध भोग-विलास में ही रत रहते थे। दक्षिण के सामन्त को कभी-कभी पड़ोसी राज्यों से संघर्ष भी करना पड़ता था। पर मुग़लों की छत्रछाया में पलने वाले उत्तरी भारत के सामन्त को बहुधा इसकी भी आवश्यकता नहीं होती थी।

उत्तर भारत के उच्च वर्ग के लोगों में आभूषण, बनाव, ठनाव एवं भोगविलासिता का प्रचलन था।[2] वे मांस, पुलाव आदि अनेक स्वादिष्ट वस्तुओं से युक्त भोजन करते थे। उच्च वर्गीय मुसलमान और कुछ राजपूत लोग शराब

[1] चित्रकवि पैद्दना कृत "हनुमान शतक" अनुपलब्ध है।

[2] मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था, पृ० ४३

आदि उत्तेजक पदार्थों का भी अधिक सेवन करते थे।[१] विजयनगर साम्राज्य के उच्च वर्गीय लोग भी सजधज और ठाट-बाट से जीवन व्यतीत करते थे।[२] इस प्रकार एक सामन्तवादी और साम्राज्यशाही अर्थ-व्यवस्था में शोषणयुक्त उपभोक्ता की प्रवृत्ति दोनों क्षेत्रों के उच्च वर्गों और उनसे सम्बद्ध नौकरशाहों में थी।[३] उत्पादक के श्रम और उत्पादन पर विलासिता के ऊँचे भवन खड़े थे। एक ओर कला और साहित्य का इतना अधिक उन्नयन दिखाई पड़ता है तो दूसरी ओर सामान्यजन की आर्थिक दृष्टि से दयनीय दशा दृष्टिगत होती है। सामन्त और राजाओं के भारी बोझ को सामान्य जन कराह कराहकर ढो रहा था। यह स्थिति दोनों ही क्षेत्रों में थी।[४] गुलाम-प्रथा दोनों ही क्षेत्रों में व्याप्त हो गयी थी।[५] दोनों ही क्षेत्रों में सरदारों की यह मनोवृत्ति मिलती है कि वे राजाओं के द्वारा बनाये हुये कृषक हितकारी नियमों का पूर्णतः उल्लंघन करते थे।[६]

दोनों ही क्षेत्रों में वेश्यायें समस्त उच्च वर्ग की अतृप्त विलासिता को तृप्त करने की साधिका बन गयी थीं।[७] इनको इसीलिये प्रतिष्ठा भी प्राप्त थी।[८] इन वेश्याओं की आर्थिक परिस्थिति भी बहुत से सामन्तों से कम नहीं थी। इन्हें राजाओं की ओर से जागीरें भी प्राप्त थीं।[९]

तत्काल में उत्तर भारत का व्यापार एशिया के पूर्वी, पश्चिमी तथा मध्य भाग के देशों से होता था और उसके द्वारा भारत में अपार स्वर्ण भण्डार एकत्रित होता था।[१०] विजयनगर की राजधानी विद्यानगर में व्यापारी हीरे-जवाहिरातों को अरहर की सी ढेरी लगाकर विक्रय किया करते थे। व्यापार के द्वारा अपार सम्पत्ति विदेशों से देश में एकत्रित होती थी।[११]

१ मुग़लकालीन भारत, पृ० ५६६
२ आन्ध्रुलसान्घिक चरित्र, पृ० २७२
३ उत्तर भारत की स्थिति के लिए देखिये—मुग़लकालीन भारत, पृ० ५७१
४ सोशियल एण्ड पोलिटिकल लाइफ इन विजयनगर ऐंपैर, पृ० ६१
५ तरीखे फिरोजशाही, बरानी, पृ० ३८४; ए हिस्टरी आफ़ इण्डिया, पृ० १२१
सोशियल एण्ड पोलिटिकल लाइफ इन विजयनगर ऐंपैर, पृ० ११३
६ फ्रॉम अकबर टु औरंगजेब, डब्लू० हेच० मोलैंड, पृ० २०६ तथा विजयनगर सेक्सेंटेनरी कम्मेमोरेशन वाल्यूम, पृ० २२८
७ आन्ध्र की इस स्थिति के लिए द्रष्टव्य है "आन्ध्रुलसान्धिक चरित्र", पृ० २६८
८ सोशियल एण्ड पोलिटिकल लाइफ इन विजयनगर ऐंपैर, वा० २, पृ० १७१
९ आन्ध्रुलसान्धिक चरित्र, पृ० २६५ तथा कृष्णरायचरित्र, २/५
१० ट्रावल्स इन मोग़ल ऐंपैर, पृ० २०३, २०४
११ आन्ध्रुलसांधिकचरित्र, पृ० २३७

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि देश की आर्थिक स्थिति विशेष गिरी हुई नहीं थी। परन्तु सम्पत्ति के दोषपूर्ण वितरण और सरदारों तथा सामन्तों के फलस्वरूप वर्गगत वैषम्य बहुत बढ़ा हुआ था। राजा, कृषक और व्यापारियों के हित का ध्यान भी रखता था। पर अनियन्त्रित नौकरशाही राजा की हितैषिता का पूर्ण लाभ प्रजा को मिलने नहीं देती थी। दुर्भिक्ष आदि प्राकृतिक आपदाओं से पीड़ित जनता को राजा की ओर से विशेष सहायता प्राप्त नहीं होती थी।

उच्च वर्गीय विलासिता का प्रतिबिम्ब साहित्य पर भी पड़ा। ई० १५वीं शताब्दी तक जिस तेलुगु-भारती का शृंगार भक्ति साहित्य की उज्ज्वल मणियों से होता रहा वह ई० १६वीं शताब्दी से विलास के आवरण के कारण झिलमिल होने लगी। हिन्दी क्षेत्र में जो प्रवृत्ति ई० १७वीं शताब्दी के अन्त और ई० १८वीं शताब्दी में रीति या शृंगार के नाम से अभिहित होती रही, वह तेलुगु क्षेत्र में ई० १६वीं शताब्दी से ही परिलक्षित होने लगी। इस प्रवृत्ति के लक्षण आचार्य केशवदास से मिलने लगते हैं। किस प्रकार राधा-कृष्ण की मधुर-भक्ति केशव-काव्य के लक्ष्य-भाग से होती हुई रीतिकालीन शृंगार में परिणत हुई, यह हिन्दी साहित्य का विद्यार्थी भली भाँति जानता है। भाव की दृष्टि से माधुर्य और शृंगार और रूप की दृष्टि से अलंकरण की प्रवृत्तियाँ ई० १६वीं शताब्दी से ही तेलुगु साहित्य में मिलने लगती हैं। ई० १६वीं शताब्दी के हिन्दी कृष्णभक्त कवियों में सौन्दर्य और माधुर्य तो अपने समस्त वैभव के साथ मिलता है, पर अलंकरण को मुख्यता प्राप्त नहीं हुई। इसका कारण यह है कि हिन्दी का कृष्ण-भक्ति साहित्य राजवर्ग से सम्बन्धित नहीं था। इसीलिए स्रोत की दृष्टि से माधुर्य और शृंगार और राजरुचि की दृष्टि से बाह्यांगविधान का तिरस्कार हिन्दी के तत्कालीन साहित्य को ई० १६वीं शताब्दी के तेलुगु साहित्य से पृथक करते हैं। किन्तु ई० १५वीं शताब्दी के पोतना, अन्नमाचारी आदि का तेलुगु साहित्य हिन्दी के वैष्णव-साहित्य से बहुत अंश तक समानता रखता है। तेलुगु क्षेत्र में ई० १६वीं शताब्दी में भी पर्याप्त वैष्णव-साहित्य की उपलब्धि हुई है, किन्तु इसमें भक्ति-तत्व का स्तर पूर्वकाल की अपेक्षा कुछ शिथिल पड़ गया। क्योंकि काव्य के कलापक्ष, शृंगार रस इत्यादि लौकिक मान्यताओं की ओर, कुछ अपवादों को छोड़कर कवियों की दृष्टि अधिक पड़ी। ई० १६वीं शताब्दी में कुछ ऐसे वैष्णव-काव्य भी रचे गये थे जिनकी काव्य-नायिकायें वेश्यायें थीं, यथा—चदलवाडमल्लय कृत "वैजयंतिविलासमु" और सारंगुतम्मय कृत "विप्रनारायणचरित्रमु"। तत्कालीन उच्च वर्ग की वेश्यालोलुपता ही इस प्रवृत्ति के मूल में सन्निविष्ट है। उत्तर भारत की वेश्याओं का वहाँ के वैष्णव साहित्य पर कोई सीधा प्रभाव नहीं पड़ा। अब प्रश्न उठता है कि हिन्दी के वैष्णव काव्यों में जो नायिका भेद और शृंगार-रस के अनेक वर्णन उपलब्ध हैं, उनकी मूल-प्रेरणा क्या थी? नायिकाभेद, शृंगार-रस इत्यादि वर्णनों की समृद्धि अपभ्रंश साहित्य में अधिक है। "गाथासप्तशति" इसका प्रमाण है। अपभ्रंश के काव्यों में वात्स्यायन के

कामसूत्रों के तत्वों ने काव्य-रूप को धारण कर लिया। बंगाल के वैष्णव-संप्रदाय वालों ने परम्परागत श्रृंगार-रस तथा नायिकाभेद को ग्रहण करके उन्हें वैष्णव धर्म के तत्वों से परिवेष्ठित किया। "उज्ज्वलनीलमणि' और "भक्तिरसामृत सिंधु" ये दोनों ग्रन्थ इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। रूपगोस्वामी कुछ दिन तक ब्रजमण्डल में रह चुके थे। अतः बंगाल के इस माधुर्य-भक्ति का प्रभाव हिन्दी के कृष्णभक्त कवियों पर भी पड़ा होगा। नन्ददास ने तो नायिका भेद पर भी प्रकाश डाला है। उन्होंने "रसमंजरी" में यह लिखा है कि भक्ति-रस का वर्णन नायिकाभेद या श्रृगार के बिना किया ही नहीं जा सकता। स्पष्ट है कि उत्तर के कृष्णभक्त कवियों ने भक्ति-रस के वर्णन में श्रृंगार-रस की अनिवार्यता का अनुभव किया। या तो उन्होंने अपभ्रंश की काव्य परम्परा से प्रभाव ग्रहण किया होगा, या कामसूत्र से या बंगाल के वैष्णव सम्प्रदायों से अथवा निंबार्क सम्प्रदाय से। किन्तु तत्कालीन वेश्याओं एवं विलासिता का इन भक्त-कवियों पर किंचित भी प्रभाव नहीं पड़ा। यह प्रभाव तत्कालीन दरबारी साहित्य एवं सूफियों के प्रेमाख्यानक साहित्य पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। इसका कारण यह है कि हिन्दी के कृष्णभक्त कवि प्रायः लोकोन्मुख विलास आदि आसक्तियों से निरपेक्ष रहे। तेलुगु के वैष्णव साहित्य में जो श्रृंगार रस है, उसके बहुत प्रेरणा स्रोत हो सकते हैं, जैसे संस्कृत या अपभ्रंश काव्य-परम्पराओं में प्राप्त श्रृंगार, "काम सूत्रों" में निहित श्रृंगारपरक तथ्य या आल्वारों के साहित्य में प्राप्त माधुर्य-रस आदि। किन्तु इन सबके अतिरिक्त तत्कालीन वेश्यायें, देवदासियाँ, राजनर्तकियाँ एवं बहुपत्नी-विवाह की प्रथा, इन सबसे समाज में विलासिता का जो वातावरण व्याप्त था, इनसे भी इस काल के भक्त कवि किसी न किसी अंश तक अवश्य प्रभावित हुये। आलोच्ययुगीन विलासिता के कारण जहाँ हिन्दी क्षेत्र में प्रेमाख्यानक साहित्य की रचना हो रही थी, वहाँ तेलुगु क्षेत्र में "मनुचरित्र", "वसुचरित्र", "कला-पूर्णोदय", "श्रृंगारनैषध"—इत्यादि अनेक उत्कृष्ट लौकिक-श्रृंगार से युक्त काव्यों की सृष्टि।

अब तत्कालीन आर्थिक परिस्थितियों का साहित्य में प्रतिबिंब कैसे पड़ा, इसका विवेचन नीचे प्रस्तुत किया गया है। "आमुक्तमाल्यदा" में वर्णन है कि उच्च वर्गीय लोग गुलाबजल में चन्दन और कस्तूरी मिलाकर शरीर में लेप करते थे। उनके आभूषण और वस्त्र ऊँची कोटि के होते थे। ये सज-धज कर विनोदार्थ वेश्याओं के घर की ओर चलते थे।[१] धनी वर्ग अपने गृहों में मच्छरदानी-पलंग भी रखते थे। प्रायः झूला-पलंग भी पाये जाते थे। इन पलंगों पर खुदाई का सुन्दर काम होता था।[२] उच्च श्रेणी के लोग पालकियों में चलते थे।[३] उच्चवर्गीय समृद्धि एवं

[१] आमुक्तमाल्यदा, २/७५
[२] परमयोगीविलासमु, पृ० ४८२; उषाकल्याण, पृ० २०; अष्टमहिषी-कल्याण, पृ० १५८
[३] आमुक्तमाल्यदा, ४/४

सम्पन्नता का परिचय दहेज-प्रथा से भी प्राप्त होता है। दहेज में तो विविध प्रकार के अमूल्य आभूषण, कपड़े, पलंग, दासियाँ आदि विविध वस्तुयें दी जाती थीं।[१] "आमुक्तमाल्यदा" के एक प्रसंग से राजाओं की विलासमयी जीवनचर्या का हमें स्पष्ट आभास होता है।[२] इस संक्षिप्त झाँकी की एक एक रेखा से विलासिता की गन्ध आ रही है। इस प्रकार तेलुगु के भक्तिसाहित्य में उच्चवर्गीय जीवन के चित्र भी अनुस्यूत हैं। पर हिन्दी के भक्ति-साहित्य में प्राकृत-जन के विलासपूर्ण-चित्रों को कोई स्थान नहीं मिला। किन्तु मन्दिरों में विग्रह की दिनचर्या को उच्चवर्गीय जीवनक्रम ने अवश्य प्रभावित किया। भगवान के लिये भोगराग की समस्त व्यवस्था, राजसी ठाठ-बाट के साथ की गयी। मन्दिरों का वातावरण ऐसा हो गया जैसा किसी राजाधिराज के प्रासाद का वातावरण होता है। इस प्रकार इष्ट की सेवा-पद्धति को और उसकी चर्या को उच्चवर्गीय जीवन ने प्रभावित किया। यह प्रभाव दोनों स्थानों के मन्दिरों में समान रूप से मिलता है।

वेश्याओं एवं विलासिता के वातावरण का प्रभाव दोनों ही क्षेत्रों के साहित्य पर पड़ा। यहाँ तक कि राज्याश्रित कवि राजरुचि को समझते हुये विवश होकर या अपनी विलासिता से प्रेरित होकर उन पर कविता भी लिखते थे। इस प्रवृत्ति के चिह्न हमें केशवदास में मिलते हैं। इन्होंने प्रवीणराय के लिये भी कवितायें लिखी हैं। किन्तु यह साहित्य वैष्णव साहित्य के अन्तर्गत नहीं आता। दक्षिण में वैष्णव साहित्य भी इन वेश्याओं के चित्रण से मुक्त न रह सका। "आमुक्तमाल्यदा" में वेश्याओं का विस्तृत वर्णन मिलता है—अपने पास पधारा हुआ विटपुरुष चाहे कितना ही सुन्दर और कितना ही धनी क्यों न हो, उसके वंश के सम्बन्ध में जाने बिना वे उसके साथ रमण नहीं करती थीं। यदि अपना पुराना विट धनहीन हो भी जाय तो उसका आदर वे अवश्य करती थीं।[३] वे बहु-भाषाओं में काव्य रचना भी कर सकती थीं।[४] वे चाहे श्रीमानों की उपेक्षा कर दें, पर वैष्णव भक्तों के सम्मुख सादर नतमस्तक हो जाती थीं।[५] केशव ने भी नवरंगराय का ऐसा ही वर्णन किया है। वह संगीत और काव्य से ही युक्त नहीं थी, नवधाभक्ति भी उसकी चर्या में

[१] आमुक्तमाल्यदा, ५/१०१

[२] "कविप्रिया" में प्रवीणराय को केशव ने बहुत ऊँचा स्थान दिया है।
"रायप्रवीण की शारदा" (कविप्रिया, १/६१), "प्रवीणराय के बाग का वर्णन (वही, ७/६), राजा रामसिंह की "कामसेना" नामक वेश्या का वर्णन भी दृष्टव्य है (वही ११/३५)

[३] आमुक्तमाल्यदा, १/६०

[४] वही, १/६०

[५] वही, १/५६

सम्मिलित थी।[१] रायप्रवीण कविता भी करती थी। अन्य वेश्याओं से यही विशेष गुण उसमें था :

"नाचत गावत पढ़त सब, सबै बजावत वीण।
तिन में करत कवित्त इक रायप्रवीण प्रवीण ॥[२]

केशव ने "रामचन्द्रिका" में[३], मोल्लमांबा ने "मोल्लरामायण" में[४] वेश्याओं का वर्णन किया है। अय्यलराजु रामभद्र कवि ने अपने "रामाभ्युदय" काव्य में,[५] संकुसालनृसिंह कवि ने अपने "कविकर्णरसायनमु" में[६] वेश्याओं का विस्तृत वर्णन किया है। कुछ कवियों ने वारकांताओं की निन्दा भी की है।[७] ताल्ळपाक चिनतिरु-वेंगळनाथ ने अपने परमयोगीविलासमु में कनकांगि नामक अप्सरा के सौन्दर्य और प्रभाव का विस्तृत वर्णन किया है।[८] तुलसी ने "रामचरितमानस" में वेश्याओं का उल्लेख न करके अप्सराओं और किन्नरियों के नृत्य आदि की योजना की है :

"नभ दुन्दुभी बाजहीं बिपुल गन्धर्ब किंनर गावहीं।
नाचहिं अपछरा बृन्द परमानन्द सुर मुनि पावहीं ॥[९]

इस वर्णन में राम के अलौकिकत्व की छाया स्पष्ट है। पर जिन कवियों ने वेश्याओं की स्थिति का पृथक् रूप से वर्णन किया है, उनके ऊपर तत्कालीन विलासी जीवन की छाप निश्चित मानी जानी चाहिये। इस प्रकार दोनों ही क्षेत्रों में सामंतों एवं कवियों से वेश्याओं का घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया था। संगीत, काव्य और सौन्दर्य तीनों का कलात्मक समन्वय वेश्याओं में देखने के लिये राजवर्ग की आँखें मचल उठी थीं।

लौकिक-विलासिता के अनेक मांसलचित्र आलोच्ययुग के तेलुगु वैष्णव-साहित्य में मिलते हैं। हिन्दी वैष्णव-साहित्य में ऐसे वर्णन अप्राप्य हैं। अतः तेलुगु वैष्णव-साहित्य की इस प्रवृत्ति को स्पष्ट करने के लिये कुछ उदाहरण प्रस्तुत करना आवश्यक है। कृष्णदेवराय ने ऐसे अनेक कलात्मक विवरण दिये हैं जिन की पृष्ठ-भूमि में विलास-भावना ही है। उदाहरणार्थ ये विवरण लिये जा सकते हैं—

[१] कविप्रिया, १/४७
[२] वही, १/६०
[३] रामचन्द्रिका, १३/५१
[४] मोल्लरामायण, बालकाण्ड, पद्य १३
[५] रामाभ्युदयमु, २/६६ से १३८ तक; वही २/१०९ से १३८ तक।
[६] कविकर्णरसायनमु, १/२०; ४/९४ से १०९ तक; ४/११० से ११३ तक।
[७] वही, ४/११४। १२१; पाण्डुरंगमाहात्म्यमु, ३/४३
[८] परमयोगीविलासमु, पृ० ४३ से ५२ तक।
[९] रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड।

"मथुरा नगर के मेघमण्डल से भी ऊँचे प्रासादों के अग्रभागों में प्रेमी-प्रेमिकायें रति-क्रीड़ा करती हैं। तब उनकी मुक्तमालायें टूटकर मोती नीचे गिर पड़ते हैं। प्रातःकाल होने पर दासियाँ फूलों के साथ उनको भी झाड़ू देकर फेंक देती हैं। वे मोती मेघमंडल से होकर वर्षा के साथ-साथ पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं। इसीलिये मेघों का "मुक्ताकर" नाम सार्थक हुआ।"[1] यह विवरण शुद्ध शृंगार के सुरतांत पक्ष का है। इस प्रकार के शुद्ध शृंगार-वर्णन हिन्दी भक्ति-साहित्य में अप्राप्य हैं। कृष्णदेवराय ने इन शृंगार प्रसंगों को एक विशेष कौशल के साथ भी प्रस्तुत किया है। देव मंदिरों के वर्णन के अप्रस्तुत के रूप में लिखा हुआ यह वर्णन दृष्टव्य है—उस नगर के देवालय के ध्वज-स्तम्भों पर रहने वाले सुवर्ण के घुंघरू हवा से जब झंकृत हो उठते हैं तब उस प्राकार के आस-पास की चंपक लताओं पर रहने वाली चिड़ियाँ चहचहाने लगती हैं। यह ध्वनि सुनकर तब तक प्रणय-कोपवश मुँह मोड़ कर रहने वाले पति-पत्नियों को प्रातःकाल होने का भ्रम होता है। तत्क्षण वे अपने प्रणय-कलह का विस्मरण करके रतिकेलि में लीन हो जाते हैं।[2] विशेष रूप से ई० १६वीं शताब्दी के तेलुगु साहित्य में ऐसे वर्णनों का प्राचुर्य मिलता है[3] जिन सबका वर्णन देना अनावश्यक है।

तत्कालीन निम्नवर्ग की हीन-झाँकियाँ साहित्य में यत्र-तत्र मिल जाती हैं। नरोत्तमदास ने अपने "सुदामाचरित्र" में उच्च और निम्नवर्गों के सम्बन्धों पर प्रकाश डाला है। तुलसी-साहित्य में भी कलियुग तथा माया के असह्य त्रास के वर्णन मिलते हैं[4] जिनको शोषक वर्ग से ही सम्बन्धित समझना चाहिये। कबीर ने

[1] आमुक्तमाल्यदा, २/११

[2] वही, १/७४

[3] लौकिक प्रेमी-प्रेमिकाओं का सुरतांत वर्णन, आमुक्तमाल्यदा, ५/४०५ ;
लौकिक युवतियों के अंगांग-सौन्दर्य आदि का वर्णन—परमयोगीविलासमु, तिरुवेंगळनाथ, पृ० २६, २७, १५१, २८९, ३५८ ;
द्वारिकापुरी की सुन्दरियों का सौन्दर्य-वर्णन उषाकल्याणमु, पृ० ५, ६ ;
उषा का अंगांग-सौन्दर्य-वर्णन (पादों से लेकर शिर की ओर), पृ० ९१, ९२ ;
प्रकृति-वर्णन के अप्रस्तुत के रूप में स्त्री-सौन्दर्य का वर्णन (जैसे लताओं में स्थित बिम्ब फलों का आस्वाद शुक उसी प्रकार कर रहे थे जिस प्रकार रसिक पुरुष अपनी सतियों के अधरामृत का पान करते हैं) अष्टमहिषी-कल्याण, पृ० ४३ ; कविकर्णरसायनमु के ३, ४ आश्वास भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।

[4] खेती न किसान को भिखारी को न भीख, बलि।
बानिक को बनिज न चाकर को चाकरी॥
जीविका बिहीन लोग सीद्यमान सोच बस।
कहैं एक एकन सों कहाँ जाई, का करी॥ —कवितावली, उत्तरकाण्ड

दुःख और दीनता का उदात्तीकरण करते हुये उनके मूल्य को बढ़ाया है। पर आर्थिक उच्च वर्गों की अपेक्षा उनका रोष धार्मिक दृष्टि से शास्त्रीय नेताओं के प्रति विशेष व्यक्त हुआ। पोतना ने अपने भागवत में राजा और प्रजा के सम्बन्धों पर प्रकाश डाला है। सुदामा के मनोभाव का यह चित्र द्रष्टव्य है—"………… यहाँ के द्वारपाल मुझे कृष्ण से मिलने की अनुमति यदि नहीं देंगे तो उन्हें उत्कोच देकर अपनी कार्यसिद्धि करने के लिये भी मैं नितान्त असमर्थ हूँ………"[1] आन्ध्र के कबीर "वेमना" में वर्ग-विरोध क्रान्ति की स्थिति तक पहुँच गया था। उन्होंने लिखा है कि द्रोह, चोरी, कपट, साहस या अन्य किसी भी उपाय से क्यों न हो, धनिक वर्ग से धन का संग्रह करके दरिद्र व्यक्तियों की सहायता करना सराहनीय कार्य है।[2] कवि चौडप्पा ने उत्पादक एवं उपभोक्ता के बीच की खाई को दूर करने के लिये "दान" पर जोर देते हुये व्यंग्योक्तियाँ कहीं जैसे "दान देने वाला या दान दिलाने वाला व्यक्ति ही मूँछ रखने योग्य है।"[3]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि आर्थिक परिस्थितियों ने उभय क्षेत्रीय साहित्यों को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया है। पर जहाँ हिन्दी का वैष्णव-भक्ति-साहित्य इन परिस्थितियों से कम ही प्रभावित हुआ, वहाँ तेलुगु का वैष्णव-भक्ति-साहित्य प्रबल रूप से।

१. ङ. सामाजिक

आलोच्ययुग को वर्ण-व्यवस्था के पुनरुद्धार का युग कहा जा सकता है। उत्तर में निर्गुण संतों की और दक्षिण में वेमना जैसे संतों की वर्ण-विरोधी क्रांति वाणियाँ पुनरुत्थान की तीव्रगति के सामने लुप्त होती जा रही थीं। दोनों ही स्थानों पर वैष्णव-मंदिरों में शूद्रों का प्रवेश निषिद्ध माना जाता था।

उत्तर भारत में ब्राह्मण हिन्दू-जनता में अंध-विश्वासों का प्रचार करते थे।[4] उत्तर भारत में मुसलमान सामंत के प्रबल होने के कारण ब्राह्मणों को या उनकी ब्रह्म-विद्या को विशेष प्रश्रय नहीं मिला। अकबर ने ब्राह्मण के विज्ञान का मूल्य

---

[1] ते० भा० १०३/९७६
श्रीमद्भागवत में इस प्रसंग में केवल इतना ही कहा गया है—"कृष्ण संदर्शनं मह्यं कथं स्यादिति चिन्तयन्"—श्रीमद्भागवत, १०/८०/१५

[2] द्रोहबुद्धिनैन दोंगरिकमुननैन
सटलनैन साहसमुननैन
संपदधिकुवलन संधिंचि धनमुनु
बडुगुनकु नोसग बागु वेमा।
—वेमनशतक

[3] शतककवुल चरित्र, पृ० २१३ पर उद्धृत कवि चौडप्पा के शतक का पद्य।

[4] ट्रावल्स इन मोग़ल ऐंपैर, बेर्नियर, पृ० ३०३ से ३०६ तक।

किया, पर उनको उच्च वर्ण के व्यक्ति के रूप में पूज्य नहीं माना। हिन्दू राजदरबारों में भी साहित्य और कला का सम्मान ही विशेष हुआ, ब्राह्मण का सर्वश्रेष्ठ वर्ण के रूप में कम। फलतः ब्राह्मण की आर्थिक स्थिति संकट में पड़ी। उसके लिये केवल एक ही मार्ग था कि दुर्बल विश्वासी जनता का धर्म के नाम पर शोषण करके अपने अर्थ तथा काम-पिपासा को शान्त करें। फलतः वे उत्तर में धर्म और मंदिरों की आड़ लेकर अपने पतन का मार्ग प्रशस्त कर रहे थे।

दक्षिण में स्थिति कुछ भिन्न थी। वहाँ हिन्दू राजा ब्राह्मणों का सम्मान करते थे और उनको बौद्धिक विकास के लिये अवसर प्रदान करते थे। इतिहासकारों ने भी विजयनगर-साम्राज्य में स्थित ब्राह्मणों की समुन्नत तथा उदात्त स्थिति का परिचय दिया है। शलेटोर ने इसके सम्बन्ध में विस्तृत विवरण दिया है।[1]

अन्य वर्गों में क्षत्रिय वर्ग ब्राह्मणों के पश्चात् आता है। आन्ध्र में क्षत्रियों के अतिरिक्त "रेड्डियों" को भी क्षात्र-प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई थी। हिन्दी क्षेत्र में केवल राजपूत जातियाँ इस रूप में प्रतिष्ठित थीं। ये तो शासनप्रिय और युद्धप्रिय जातियाँ थीं।

दोनों ही स्थानों पर वैश्य-वर्ग व्यापार-व्यवसाय से सम्बद्ध था। समाज की अधिकांश आर्थिक व्यवस्था का सन्तुलन इस वर्ग के हाथ में था।[2] सम्भवतः सभी वर्गों में वैश्य-वर्ग समृद्ध भी था[3] यद्यपि सामाजिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से उसे तृतीय स्थान ही प्राप्त था।

निम्न वर्ग की दोनों ही क्षेत्रों में दयनीय अवस्था थी। उसके शोषण पर ही विलासिता की उच्च प्राचीरें खड़ी हुई थीं। फिर भी उन्हें समाज में कोई सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं था। शिक्षा, संस्कार, और सामाजिक अधिकार सभी दृष्टियों से निम्न जातियाँ पिछड़ी हुई थीं।

नारियों की स्थिति समाज में विलास और शृंगार पर आँकी जाती थी, अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व के आधार पर उनको कोई सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं हुआ था। यहाँ तक कि दोनों ही क्षेत्रों में स्त्रियों का व्यवसाय भी होता था।[4] उत्तर भारत में मुसलमान सामन्तों की कुदृष्टि से बचने के लिये हिन्दू स्त्रियों को पर्दे का आश्रय लेना पड़ा।[5] किन्तु उत्तर की अपेक्षा निरापद दक्षिणभारत में

---

१ सोशियल एण्ड पोलिटिकल लाइफ इन विजयनगर ऐंपैर, शलेटोर, पृ० १२५

२ विजयनगर के वैश्यों की स्थिति के लिए देखिये—सोशियल एण्ड पोलिटिकल लाइफ इन वि ऐंपैर, पृ० ३४

वही

४ उत्तर भारत की स्थिति के लिए देखिये —तारीखे फिरोजशाही, बरानी, पृ० ३८४

५ मिडीवल इण्डिया, भाग ३, हविड, पृ० ३३७, ३३८

इस प्रथा से स्त्रियाँ मुक्त थीं। खुरान में यह संकेत है कि विवाहिता स्त्रियों का उपभोग करना महापाप है। धार्मिक विश्वास के अनुसार चलने वाले मुसलमानों की कुदृष्टि से आत्मरक्षा करने के लिये ही उत्तर भारत के हिन्दुओं में बाल-विवाह की प्रथा चल पड़ी।[1] दक्षिण में भी हिन्दुओं में यह प्रथा अवश्य थी। यहाँ विशेष रूप से शास्त्रों की अनुज्ञा और भावात्मक कारण थे। बहुविवाह की प्रथा विशेष रूप से दोनों क्षेत्रों के उच्च वर्ग में प्रचलित थी। सती-प्रथा हिन्दी क्षेत्र की अपेक्षा तेलुगु क्षेत्र में प्रबलतर थी। इसका कारण यह है कि उत्तर-भारत में मुसलमान शासक इसके निषेधार्थ पर्याप्त प्रयत्न करते रहे।[2] राजकीय निषेध के रहते हुये भी कुछ सतियाँ होती अवश्य थीं। राजपूत वर्ग में यह प्रथा कुछ विशेष रही। सामूहिक रूप से सती होने की सूचना "जौहर" से मिलती है। पर यह प्रथा भक्तिकाल के पूर्व ही विशेष रूप से रही। पीछे यह सती की आत्मगत उच्चता का प्रतीक न रहकर एक बलात सम्पन्न कराई जाने वाली कुप्रथा के रूप में रह गई जिसका निषेध होना आवश्यक था। क्योंकि इसके भीतर नारी के व्यक्तित्व का तिरस्कार ही अन्तर्निहित था। दक्षिण में इस प्रथा के प्रति राजा एवं प्रजा में आदर की दृष्टि बनी रही। विजयनगर-साम्राज्य में एक या दो वर्ग के लोगों को सती-प्रथा का निषेध भी था। यहाँ कुछ वर्ग-भेद के कारण सतियों में आनुष्ठानिक भेद भी मिलता था। साथ ही एक राजा की एक से अधिक पत्नियाँ होने पर सामूहिक रूप से सती होने का मार्मिक दृश्य भी घटित होता था।[3] हो सकता है कि यह विवरण कुछ विशिष्ट सतियों से सम्बन्धित हो, पीछे इसका सम्बन्ध अन्धविश्वास से हो गया और सुधारवादियों को इस प्रथा के विरोध में खड़ा होना पड़ा।[4] नारी सम्बन्धी इन कुप्रथाओं के विवेचन से नारी का अवमूल्यन स्पष्ट हो जाता है। वैसे कुछ गौरवपूर्ण अपवाद भी नारी की सामान्य स्थिति के बीच मिल जाते हैं। पर इन अपवादों के आधार पर नारी की सामान्य स्थिति को उच्च नहीं कहा जा सकता। दोनों क्षेत्रों में कवयित्रियाँ भी हुईं; किन्तु अन्तर इतना है कि उत्तर की परिस्थितियों ने वीरांगनाओं को अधिक जन्म दिया और आन्ध्र में विदुषियों एवं

---

[1] "भारतीय समाज पर मध्यकालीन तुर्किस्तान का प्रभाव" नामक निबन्ध, सैनिक दीपावली अंक, अक्तोबर, ई० १९५२

[2] ट्रावेल्स इन मोग़ल ऐंपैर, पृ० ३०७, ३०८
इण्डिया थ्रू दि एजेस, जदुनाथ सरकार, पृ० ४१, ४२
तथा
ईलियट हिस्टरी ऑफ इण्डिया, भाग ३
फातुहत-ए-फिरोज, पृ० ३७०-३८०

[3] सोशियल एण्ड पोलिटिकल लाइफ इन विजयनगर ऐंपैर, पृ० ७३, ७५

[4] मुग़लकालीन भारत, पृ० ५६८ तथा आंध्रुलसान्घिकचरित्र, पृ० ३०२

कवयित्रियों की संख्या अधिक रही। इतिहासकारों ने आन्ध्र की विदुषियों का वर्णन मुक्तकंठ से किया।[१]

"मुगलकालीन भारत" ग्रन्थ से यह स्पष्ट होता है कि उत्तर में हिन्दू और मुसलमान दोनों के ही अनेक उत्सव तथा मेले होते थे। आन्ध्र में दशहरा, होली[२] आदि हिन्दू त्यौहार विशेष रूप से मनाये जाते थे। उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में हिन्दू उत्सवों को अधिक राज्याश्रय प्राप्त होता था, क्योंकि यहाँ के राजा हिन्दू थे। दोनों क्षेत्रों में प्रचलित विभिन्न मनोरंजनों का उल्लेख इतिहास में मिलता है।[3]

तुलसीदासजी ने लिखा है उस समय पुण्यक्षेत्र तथा तीर्थ-स्थान अनाचार के केन्द्र हो रहे थे मानों कलियुग अपने दलबल के साथ यहाँ मूर्तिमान हो गया हो।[४] अधिकांश ब्राह्मण चरित्रहीन हो गये थे। वे अपने जीविकोपार्जन के लिए विद्या का विक्रय करते थे।[५] इस प्रकार तत्कालीन ब्राह्मणों की स्थिति का साहित्य में भी प्रतिबिम्ब मिलता है। किन्तु दक्षिण में ब्राह्मणों का चरित्र गिरा हुआ नहीं था। इसीलिये तत्कालीन साहित्य में ब्राह्मणों की उदात्त और समुन्नत स्थिति के अनेक उल्लेख मिलते हैं। श्रीकृष्णदेवराय ने "आमुक्तमाल्यदा" में ब्राह्मणों को सम्मानपूर्ण स्थान देने के सम्बन्ध में लिखा है।[६] कृष्णदेवराय की राजनीति यह थी कि अधिकांश ब्राह्मणों को उच्च पदवियों पर नियुक्त कर दें, क्योंकि संकट आने पर ब्राह्मण ही अपनी कर्तव्यनिष्ठा एवं विश्वासपात्रता का परिचय देता है।[७] अल्लसानि पेद्दना ने भी अपने काव्य में ब्राह्मणों का वेद, वेदांग, मीमांसा, न्याय, पुराण, धर्म-शास्त्र, तर्क-शास्त्र आदि अनेक विद्याओं में बहुत ही पारंगत होने की बात का उल्लेख किया है।[८] विजयनगर के ब्रह्मणों को इतना आदर-सम्मान था

[१] मैसूर आर्कलाजिकल रिपोर्ट्स फ़ार १९२०, पृ० ३८

[२] होली त्यौहार के आँखों देखा वर्णन के लिए देखिये—आन्ध्रुलसान्धिकचरित्र, पृ० २८८

[3] मुग़लकालीन भारत, पृ० ५६७ ; आन्ध्रुलसान्धिकचरित्र, पृ० २२९

[४] दोहावली, छन्द ५५८

[५] तिन्ह की मति रिस-राग-मोह-मद-लोभ-लालची लीलि लई है।
द्विज श्रुति-बेचक भूप प्रजासन।
कोउ नहिं मान निगम अनुसासन।।—रामचरितमानस—उ.

[६] आमुक्तमाल्यदा, ५/२०७

[७] वही, ५/२१७

[८] मनुचरित्र, ३/१२९

कि उनके लिये राजाओं की ओर से धर्मशालाएँ भी खोली गईं जहाँ उन्हें बिना पैसे के भोजन मिलता था।[1] तत्काल दक्षिण में उत्तर भारत के समान शोषक ब्राह्मणों की भी कमी नहीं थी। ऐसे ब्राह्मणों के चित्र भी साहित्य में यत्रतत्र मिलते हैं। अल्लसानि पेद्दना ने लिखा है कि ब्राह्मण कर्जदार बनने पर भी जमीन-जायदाद धरोहर के रूप में रखकर अपना काम चलाते थे। परन्तु ये मेहनत-मजदूरी का नाम नहीं लेते थे।[2] वे अपनी विद्वत्ता या पूजा-पाठ से जीविका-निर्वाह करते थे। पूजा, व्रत आदि में अनेक दान-धर्म पाने के अधिकारी ये ही थे। ग्रहण-संक्रमण आदि अवसरों पर वे दान लेते थे। "आमुक्तमाल्यदा" में ऐसे ब्राह्मणों का उपहास भी किया गया है। कहीं किसी का देहान्त हो जाय तो ब्राह्मण बिना बुलाये ही यमदूत के समान वहाँ पधारता था। आदर-अनादर का ध्यान न देकर उदर पूजा करने वाले ब्राह्मण भी उस समय थे। ऐसे अनाचारी ब्राह्मण के प्रति जनता को कुछ असन्तोष और अविश्वास का होना भी स्वाभाविक था। ब्राह्मण ने अपनी रक्षा करना भी आवश्यक समझा। "विप्रनारायण चरित्र" काव्य में एक ब्राह्मण अपने मुँह से अपनी व्यंग्यपूर्ण स्थिति के समर्थन में बड़े सजीव शब्द कहता है—"यदि मन्दिर से हम दिया-बत्ती का कुछ तेल लाकर अपने घर में जलाते हैं तो कौन-सा अपराध हुआ ? इतना ही होगा कि मन्दिर के दिये बुझ जायेंगे। क्रोध मत कीजिये। मन्दिर से कुछ भोग सामग्री ही तो ले जायेंगे। धोखा देगें तो बस दो चार पसेरी चावल ही उड़ा ले जायेंगे........."[3] जहाँ तक क्षत्रिय वर्ग का सम्बन्ध है, इन्होंने दोनों क्षेत्रों में साहित्य को प्रोत्साहन एवं संरक्षण दिया। दोनों क्षेत्रों में वैश्य वर्ग देश विदेश से विविध रत्न, आभूषण आदि का संकलन करके क्रय-विक्रय की व्यवस्था करता था। राजवर्ग इनको बड़े चाव से धारण करता था। साहित्य में भी इन रत्नाभूषणों का वर्णन राजकीय वर्णनों के साथ संलग्न मिलता है। निम्नवर्ग की स्थिति समाज में दोनों क्षेत्रों में दयनीय थी। साहित्य की विषयवस्तु से भी इनका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं था। इस प्रकार निम्नवर्ग की स्थिति में क्रान्ति की चिनगारियों की पूर्ण सम्भावना थी। निम्न वर्ग के निरक्षर, पर निर्भय और अक्खड़ नेताओं का यह विश्वास था कि इस अवस्था के लिये शास्त्रीय धर्मव्यवस्था और ब्राह्मण वर्ग उत्तरदायी हैं। इनके नेता सन्त कवियों के रूप में प्रादुर्भूत हुये जिन्होंने ब्राह्मण और वर्ग-भेद पर टिकी हुई वर्णव्यवस्था का घोर विरोध किया। उत्तर में कबीर, दादू, रैदास जैसे सन्त नेता प्रादुर्भूत हुये और दक्षिण में वेमना की वाणी

[1] राधामाधवमु, ३/८५

[2] मनुचरित्र, ३/१२६

[3] विप्रनारायण चरित्र, ५/१६

उद्बुद्ध हुई।[1] कबीर और वेमना दोनों ने विग्रहाराधना का खण्डन किया जिसकी शरण में केवल उच्च वर्ग ही जा सकता था। इसी प्रकार तीर्थ यात्रा आदि पाखंडों, अवतारवाद, जातिगत दुरभिमान आदि का दोनों ने तीव्र रूप से खण्डन किया है।

नारी-व्यवसाय का संकेत तेलुगु के एक वैष्णय काव्य में मिलता है।[2] बहु विवाह की प्रथा का तत्कालीन साहित्य पर स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगत नहीं होता। हिन्दी के कृष्ण-साहित्य में दक्षिण-नायकत्व की जो कल्पना है यह इस प्रथा का प्रभाव नहीं है। इसका सम्बन्ध तो पौराणिक और काव्य-शास्त्र-परम्परा की स्वीकृति के परम्परागत स्वरूप से है। तेलुगु क्षेत्र में राज्याश्रय के कारण दक्षिण-नायकत्व में राजाओं के बहु विवाह का अव्यक्त प्रतिबिम्ब माना जा सकता है। मुक्कुतिम्मना कृत "पारिजातापहरण" इसके लिए प्रमाण है। अन्नमाचारी स्वयं दो सतियों के पति थे। वेंकटेश्वर भगवान के दक्षिणनायकत्व के निरूपण में उनके स्वयं के दक्षिणनायकत्व का अव्यक्त प्रतिबिम्ब माना जा सकता है। परकीयाओं, वेश्याओं और सपत्नियों के कारण कभी-कभी ऐसा होता था कि पति प्रेम की प्राप्ति के लिये स्त्री उद्योग करती थी। संमोहन, उच्चाटन जैसी तांत्रिक क्रियाओं का प्रयोग भी प्रचलित था। इसी के सहारे तथाकथित सिद्ध और तांत्रिक अंतःपुरों में प्रविष्ट हो गये थे। इनक बड़ा सम्मान भी था और अन्तःपुरों के आंतरिक षड्यंत्रों में भी इनका हाथ रहता था। इसका उल्लेख तेलुगु साहित्य में यत्र-तत्र मिलता है।[3] इस प्रकार की प्रथायें उत्तर में भी रही होंगी, पर साहित्य में इनका विशेष उल्लेख नहीं मिलता। पर राधा का मोहिनी नाम और कृष्ण का मोहन नाम तन्त्र साहित्य के सम्मोहन से अवश्य सम्बन्धित हैं। इस सम्मोहन की साहित्यिक परिणति नायिका के रूप और उसके वस्त्राभूषणों की सज्जा के सम्मोहक प्रभाव में हो गई। दोनों ही क्षेत्रों में भक्ति-साहित्य इन प्रक्रियाओं से असंपृक्त रहा। सती-प्रथा का भी साहित्य पर प्रभाव परिलक्षित होता है। सती का आदर्श प्रायः सभी भक्त-कवियों ने स्वीकार किया। सती और सूरमा का साथ-साथ उल्लेख हमें कबीर में भी मिलता है। इस प्रकार सती के समाप्त या शिथिल हो जाने पर भी साहित्य में सती के आदर्श की अनुगूंज सुनाई पड़ती रही। आलोच्ययुग में दोनों ही क्षेत्रों में कुछ कवयित्रियाँ भी उत्पन्न हुईं और उन्होंने साहित्य के सृजन में पर्याप्त योगदान दिया।[4]

[1] वंगूरि सुब्बा राव ने वेमना का जीवन-काल ई० १४१२-१४८० माना है (शतककयुल चरित्रमु, पृ० १०८) डाक्टर रामकुमार वर्मा के अनुसार कबीर का जीवन काल ई० १३९८-१४९४ था। (हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २४६) इससे स्पष्ट होता है कि वेमना और कबीर समकालीन थे।

[2] परमयोगीविलासमु, ताल्ळपाक चिनतिरुवेंगळनाथ, पृ० ४८६, ४८७

[3] आमुक्तमाल्यदा, ३/२३९

[4] विशेष विवरण के लिये देखिये :—मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ—सावित्री सिन्हा ; आंध्र कवियित्रुलु—ऊटुकूरि लक्ष्मीकांतम्म ।

तत्कालीन उत्सव, त्यौहार आदि का भी साहित्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। हिन्दी के कीर्तन-काव्यों में सभी प्रमुख ऋतु-उत्सवों तथा त्यौहारों के सम्बन्ध में साहित्य प्राप्त होता है। अष्टछाप के कवियों में ऐसे वर्णन भरे पड़े हैं।[१] तेलुगु साहित्य में भी ऐसे वर्णन मिलते हैं, किन्तु हिन्दी की अपेक्षा कम। तत्कालीन प्रचलित मनोरंजनों का भी उभय क्षेत्रीय काव्यों में पर्याप्त वर्णन मिलता है।

इस प्रकार उभय क्षेत्रीय साहित्य तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों से पर्याप्त प्रभावित हुआ है और इस प्रभाव से वैष्णव साहित्य मुक्त नहीं रह सका।

१. च. ललित कलाएँ

जहाँ तक वास्तुकला का सम्बन्ध है उत्तर भारत में मुस्लिम और हिन्दू दोनों कलाओं का मिश्रण भी हुआ और दोनों कलायें स्वतंत्र रूप से भी पनपती रहीं। इलियट ने अकबर के पूर्व की वास्तुकला की स्थिति का परिचय इस प्रकार कराया है—लोदी काल में सिकन्दर का मकबरा, बड़े खाँ और छोटे खाँ के गुम्बद, बड़ा गुम्बद, शाह गुंबद, शाहबुद्दीन ताजखाँ गुम्बद, मकबरा तथा मस्जिद आदि का निर्माण हुआ। बाबर और हुमायूँ निर्माण-कार्यों पर ध्यान नहीं दे सके। तत्काल में बने शेरशाह का मकबरा सबसे सुन्दर था। मुग़लों का काल वास्तुकला की उन्नति का चरम सोपान था।[२] अकबर ने भी आगरे, दिल्ली आदि स्थलों में अनेक भवनों का निर्माण कराया और दोनों ही कला-पद्धतियों को आश्रय दिया। आगरे के किले में जोधाबाई का महल शुद्ध हिन्दू कला के आदर्श पर बनाया गया है। फतेहपुर सीकरी की दरगाह में मुस्लिम कला और हिन्दू-कला समानांतर चलती हुई मिलती हैं।[३] मुसलमान बुतपरस्ती के विरुद्ध थे। अतः मूर्तिकला को विशेष प्रोत्साहन उत्तर में नहीं मिला। पर कुछ मूर्तियाँ इस काल की अवश्य मिलती हैं।[४] हिन्दू मन्दिरों में देवताओं के विग्रह हिन्दू प्रणाली से ही बनाये जाते रहे।

दक्षिण में हिन्दू और मुस्लिम कला का मिश्रण नहीं हुआ था। इसीलिये मन्दिरों और महलों के निर्माण में शुद्ध हिन्दूकला की पद्धति ही अपनायी गयी है। एक विशेष बात यह है कि दक्षिण में मूर्तिकला की उन्नति वास्तुकला के साथ-साथ होती रही। विजयनगर के राजाओं ने अमूल्य शिल्पों से युक्त देव-मन्दिरों का निर्माण कराया। हजारारामालय, अनंतशयन आलय, विट्ठलालय आदि अनेक मन्दिर इस बात के लिये ज्वलन्त प्रमाण हैं। हंपी स्थित "भुवनविजय" आदि राजभवन शिल्प के

[१] अष्टछाप-काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन, पृ० २६८, २८९, २९२, २९७, ३४३
[२] हिस्टरी आफ़ इण्डिया, पार्ट ४, ईलियट, पृ० ४१९
[३] वही
[४] मुग़लकालीन भारत, पृ० ५८३

लिए बहुत ही प्रसिद्ध हैं। विजयनगर के शिल्पों में रामायण, भागवत, महाभारत आदि अनेक पौराणिक घटनायें, स्त्रियों की प्रसाधन क्रियायें, नर्तकियाँ, हिन्दू देवताओं के विग्रह इत्यादि अनेक प्रकार के शिल्प हैं।

चित्रकला को मुग़ल बादशाहों ने पूर्ण-प्रोत्साहन दिया। "आइने अकबरी" के अनुसार सौ से अधिक चित्रकार अकबर के दरबार में रहते थे।[१] चित्रकला में भी मुस्लिम और हिन्दू, दोनों ही शैलियों को अकबर ने प्रश्रय दिया। फतेहपुर सीकरी की भित्तियों में दोनों ही शैलियों का उपयोग किया गया है।[२] मुग़लकालीन चित्रकला की मुख्यत: तीन शैलियाँ मिलती हैं—मुग़लशैली, राजपूत शैली और पहाड़ी शैली। इन तीनों शैलियों में मुख्यत: तीन अभिप्रायों के चित्र मिलते हैं:—कृष्ण और राधा से सम्बन्धित, रागरागिनियों के चित्र और नायिका भेद से सम्बन्धित चित्र। इनके अतिरिक्त महलों की रानियों के चित्र भी हैं। इस प्रकार चाहे मूर्तिकला में पर्याप्त उन्नति न हुई हो, चित्रकला का विकास होता रहा।

दक्षिण में विजयनगर राजाओं के काल में शिल्प के समान, चित्रकला की भी पर्याप्त प्रगति हुई। विजयनगर के राजाओं ने देवमन्दिरों और भवनों की भित्तियों पर चित्रों की रचना कराई थी। अनंतपुरम ज़िला के लेपाक्षी मन्दिर एवं तंजाऊर के बृहदीश्वरालय में जो चित्र हैं उनकी रचना विजयनगर के राजाओं के आश्रय में ही सम्पन्न हुई।[३]

मुग़ल सम्राट गानविद्या के परम भक्त थे। अकबर ने संगीत के क्षेत्र में भी सहिष्णुता और समन्वय का आदर्श स्थापित किया। प्रख्यात गायक तानसेन अकबर के दरबारी-गायक थे। बाबा रामदास, बाजबहादुर, सूरदास (ये हमारे प्रसिद्ध सूरदास से भिन्न थे) आदि अनेक संगीतकार अकबर के दरबार की शोभा बढ़ा रहे थे।[४] राज दरबारों से मुक्त होकर भी संगीत की एक स्वच्छंद धारा भक्त कवियों में प्रवाहित हो रही थी। या तो इनका सम्बन्ध किसी मन्दिर से था, या ये स्वच्छंद साधक थे। सूर आदि अष्टछाप के कवि श्रीनाथजी के मंदिर से सम्बद्ध थे। हरिदासजी जो तानसेन के गुरु बताये जाते हैं, बृन्दावन के स्वतन्त्र साधक थे।

कृष्णदेवराय की दरबारी गायिकाओं का वर्णन इतिहासकारों ने किया है।[५] वेश्यायें संगीत के लिये नियुक्त होती ही थीं, अन्य संगीतज्ञों को भी राज्याश्रय प्राप्त होता था। यही नहीं, संगीतशास्त्र पर राज्याश्रय में प्रचुर साहित्य की भी रचना

[१] आइने अकबरी, पृ० १०७

[२] मुग़लकालीन भारत, पृ० ५८३

[३] आंध्रुलसांधिक चरित्र, पृ० २९५

[४] मुग़लकालीन भारत, पृ० ५८८, ५८९

[५] हिस्टरी आफ़ इण्डिया, पार्ट ४, ईलियट, पृ० ११८

हुई। दक्षिण में "कर्णाटक संगीत" नामक शास्त्रीय संगीत का भी जन्म हुआ। उत्तर के समान दक्षिण में भी राज्याश्रय और राज्याश्रय से मुक्त दोनों रूपों में संगीत की धारा प्रवाहित हो रही थी। दक्षिण में अन्नमाचारी एवं उनके वंशज श्री वेंकटेश्वर के मन्दिर से सम्बद्ध थे।

आलोच्य युग में इस प्रकार दोनों ही क्षेत्रों में ललित कलायें उन्नति पा रही थीं। उत्तर में शिल्पकला को प्रोत्साहन इसलिये न मिला कि यहाँ के शासक मुसलमान थे। शेष कलाओं में जहाँ उत्तर में हिन्दू-मुस्लिम की मिश्रित प्रणाली मिलती है, वहाँ दक्षिण में सभी ललित कलायें इस मिश्रण से मुक्त थीं। दोनों ही क्षेत्रों में संगीत राज्याश्रय एवं स्वतन्त्र दोनों ही रूपों में प्रगति पा रहा था। संगीत कृष्णभक्त कवियों की भावोपासना की अभिव्यक्ति का सुन्दर साधन बना और तेलुगु क्षेत्र में अन्नमाचारी ने इसी को अपनी भक्तिभाव की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया था।

१. छ. साहित्यिक

ऊपर विभिन्न परिस्थितियों का साहित्य पर प्रभाव दिखाते समय उभय क्षेत्रों के आलोच्ययुगीन साहित्यिक परिस्थितियों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। अतः यहाँ पर विस्तार में न जाकर संक्षेप में ही उभय क्षेत्रीय साहित्यिक परिस्थितियों का तुलनात्मक सर्वेक्षण किया जा रहा है।

आलोच्य युग के हिन्दी में वैष्णव-साहित्य के अतिरिक्त साहित्य की दो और धारायें प्राप्त होती हैं :—एक निर्गुण सन्तों की और दूसरी सूफियों की। तेलुगु में भी वैष्णव-साहित्य के अतिरिक्त शैव एवं शृंगार-रसात्मक साहित्य की उपलब्धि होती है। हिन्दी के वैष्णव-साहित्य में रामभक्ति शाखा और कृष्णभक्ति शाखा नाम से दो शाखायें प्राप्त होती हैं। रामभक्ति शाखा का सम्बन्ध रामानन्द सम्प्रदाय से और कृष्णभक्ति शाखा का सम्बन्ध वल्लभ, राधावल्लभ आदि कृष्णभक्ति सम्प्रदाओं से माना जा सकता है। आन्ध्र में राम और कृष्ण को लेकर पृथक् भक्ति सम्प्रदायों की स्थापना नहीं हुई। यहाँ तो श्रीरामानुज का श्रीसम्प्रदाय ही प्रचार में था। इसीलिये तेलुगु में विष्णु, उसके विग्रहावतार और अवतारों से सम्बन्धित स्वतन्त्र साहित्य की भी उपलब्धि होती है। पर विष्णु सम्बन्धी साहित्य भी राम और कृष्ण के प्रसंगों से मुक्त नहीं है। उदाहरण के लिये वेन्नेलकन्टि सूरनार्युडु कृत विष्णु पुराण में श्रीकृष्ण की समस्त लीलाओं का सरस वर्णन मिलता है। श्री विष्णु का विग्रहावतार श्री वेंकटेश्वर के सम्बन्ध में अन्नमाचारी ने जिस साहित्य की रचना की है उसमें राम और कृष्ण को भी पर्याप्त महत्व दिया गया है। उनके शृंगार-संकीर्तनों का आलम्बन अधिक स्थलों पर कृष्ण ही प्रतीत होते हैं। पर कवि राम और कृष्ण को श्री वेंकटेश्वर से अभिन्न मानकर भक्तिगत अनुभूतियों की काव्यात्मक अभिव्यक्ति में प्रवृत्त होते हैं। श्री विष्णु की समस्त अवतारों में

राम और कृष्ण ऐसे अवतार हैं जो अपने आप में पूर्ण हैं। इसीलिये समस्त भारतीय भाषाओं में वैष्णव साहित्य के अन्तर्गत राम और कृष्ण के काव्यों को बहुत ही प्रधानता दी गयी। तेलुगु में भी हिन्दी के समान राम और कृष्ण से सम्बन्धित विस्तृत साहित्य की रचना हो रही थी। जहाँ तक राम-साहित्य का सम्बन्ध है ई० १४वीं शताब्दी में ही रंगनाथ, भास्कर और निर्वचनोत्तर रामायणों की रचना हो चुकी थी, इसलिये आलोच्य युग में राम साहित्य की गति कृष्ण साहित्य की अपेक्षा बहुत मन्द पड़ गयी। इस युग में "रामाभ्युदय" और "मोल्ल-रामायण" के अतिरिक्त उल्लेखनीय रामकाव्य नहीं मिलते। तुलसी के रामचरित-मानस के समक्ष इनका कोई मूल्य नहीं है। इस प्रकार आलोच्य युग के हिन्दी और तेलुगु में राम-काव्य का परिमाणगत साम्य होने पर भी, काव्योत्कर्ष का साम्य नहीं मिलता है। जहाँ तक कृष्णभक्ति साहित्य का सम्बन्ध है, हिन्दी और तेलुगु में परिमाण और काव्यसौष्ठव दोनों का साम्य मिलता है। पर हिन्दी और तेलुगु के कृष्ण साहित्य में एक स्पष्ट अन्तर भी परिलक्षित होता है। कृष्ण के विभिन्न सम्प्रदायों के प्रभाव के कारण हिन्दी कृष्णभक्ति साहित्य में ब्रज के कृष्ण को ही प्रमुख स्थान दिया गया है। किन्तु तेलुगु कृष्ण-साहित्य में ब्रज के कृष्ण की अपेक्षा मथुरा और द्वारका के कृष्ण को अधिक महत्व दिया गया था। इसका कारण यह है कि आलोच्ययुग के पूर्व ही "कवित्रय" नाम के तीन महाकवियों ने तेलुगु में सम्पूर्ण महाभारत की रचना कर दी थी जो जन जन के हृदय में लोकप्रिय हो चुकी थी। इसलिए महाभारत की प्रवृत्ति ने तेलुगु कवियों को विशेष आकर्षित किया था। तेलुगु के कृष्ण साहित्य में महाभारत की प्रवृत्ति अधिक मिलने का यही कारण है। जहाँ तक पोतना और चिनतिरुवेंगळनाथ का सम्बन्ध है, इन्होंने कृष्ण की ब्रजलीलाओं को भी तन्मयता के साथ हिन्दी कृष्णभक्त कवियों के समान वर्णन करके तेलुगु-साहित्य की श्रीवृद्धि की।

विद्यापति और केशव को छोड़कर आलोच्ययुग के समस्त हिन्दी वैष्णव-भक्त कवि राज्याश्रय से मुक्त होकर भक्ति-काव्य की रचना में निरत रहे। किन्तु तेलुगु का वैष्णव साहित्य एक ओर राज्याश्रय में पलता रहा तो दूसरी ओर स्वतन्त्र रूप से।

रामभक्ति शाखा को छोड़कर हिन्दी का समस्त वैष्णव-साहित्य मुक्तक परम्परा के अन्तर्गत ही आता है। मुक्तक में भी कीर्तनों को ही हिन्दी वैष्णव-साहित्य में विशेष महत्व प्राप्त हुआ। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि हिन्दी वैष्णव-साहित्य की प्रवृत्ति अधिकतर कीर्तन-काव्य की ओर है। तुलसी जैसे रामभक्त कवियों ने भी "विनयपत्रिका" आदि की रचना करके कीर्तन-काव्य की ओर निहित अपने झुकाव का परिचय दिया। राम-कथा प्रबन्ध काव्य के ही अनुकूल है, इसीलिये हिन्दी के राम साहित्य में प्रबन्ध काव्यों की रचना हुई। अन्यथा

हिन्दी वैष्णव-काव्य की प्रवृत्ति मुक्तक की ही है और विशेष रूप से कीर्तन की। तेलुगु में अन्नमाचारी और कुछ शतककारों को छोड़कर समस्त वैष्णव-साहित्य की रचना प्रबन्ध काव्यों के रूप में ही हुई है। तेलुगु वैष्णव कवियों का प्रबन्ध की ओर अधिक झुकाव के मूल में राज्याश्रय भी एक प्रमुख कारण है। यह देखकर आश्चर्य होता है कि जहाँ हिन्दी के अधिकांश कृष्ण-साहित्य की रचना पद या कीर्तनों के रूप में हो रही थी, वहाँ तेलुगु का कृष्ण-साहित्य प्रबन्ध के रूप में। इस जिज्ञासा का एक उचित समाधान भी है। हिन्दी के कृष्णभक्त कवियों ने ब्रज-कृष्ण को आत्मसातकर मथुरा और द्वारका के कृष्ण की एक प्रकार से अवहेलना की। ब्रज-कृष्ण का सम्बन्ध अधिकतर मुक्तक से ही है। कृष्ण की ब्रज-लीलाओं के संदर्भ में भी एक कथा-सूत्र अवश्य है, किन्तु यह उन भावुक प्रसंगों के सामने एक प्रकार से अदृश्य सा हो जाता है। तेलुगु के कृष्ण कवियों ने तो ब्रज, मथुरा और द्वारका तीनों कृष्णों को समान महत्व दिया है। इसलिये उनके काव्य का साधन प्रबन्ध ही हो सका।

१. ज. निष्कर्ष

मुसलमान शासन-सत्ता के कारण हिन्दी के वैष्णव-भक्त कवि राज्याश्रय से मुक्त होकर अपनी भाव-भक्ति में तल्लीन हो रहे थे, किन्तु तेलुगु क्षेत्र के हिन्दू राजा और सामंतों ने हिन्दू धर्म के पुनरुद्धार की दीक्षा ली थी। उन्होंने अनेक कवियों को धार्मिक साहित्य के प्रणयन की प्रेरणा दी। इस प्रकार तेलुगु के वैष्णव साहित्य का जहाँ एक ओर स्वतंत्र रूप से सृजन हो रहा था, वहाँ दूसरी ओर इसके उन्नयन में राजाओं का भी विशेष सहयोग रहा। हिन्दी क्षेत्र में श्री राघवानन्द के माध्यम से श्रीरामानुज के मत का प्रचार हुआ। श्रीरामानन्द ने इस प्रभाव को ग्रहण करके निर्गुण और सगुण भक्ति-सम्प्रदायों को जन्म दिया। निर्गुण सम्प्रदाय ने निर्गुण-भक्ति-साहित्य के उत्पादन द्वारा हिन्दी साहित्य को समुन्नत करने में योगदान दिया। सगुणभक्ति की एक शाखा रामभक्ति की है जिसके प्रवर्तक तुलसीदास हुये। इस शाखा ने रामभक्ति के एक अमूल्य साहित्य का प्रणयन किया। सगुणभक्ति की दूसरी शाखा कृष्ण-भक्ति की है। इस शाखा के अन्तर्गत वल्लभ, राधावल्लभ आदि संप्रदाय प्रतिष्ठित हुये। इसी के परिणामस्वरूप कृष्णभक्ति का एक अमर साहित्य हिन्दी को सम्पन्न करने लगा। उत्तर भारत में मुसलमानों के अन्तर्गत भारतीय वेदांत से प्रभावित सूफी सम्प्रदाय भी था। इस सम्प्रदाय के कवियों ने अपने प्रेममार्गी काव्यों से हिन्दी-भारती का शृंगार किया। दक्षिण में श्रीरामानुज, उन्हीं की परम्परा में आने वाले वेदांतदेशिक, आदिवनशठकोपस्वामी आदि के प्रयत्नों के द्वारा श्रीसंप्रदाय जन-जन को प्रभावित कर रहा था। शैव सम्प्रदाय की शक्ति वैष्णव संप्रदाय की लोक प्रियता के समक्ष क्षीण हो गयी थी। इसका परिणाम यह हुआ कि विष्णु, राम और कृष्ण से सम्बन्धित अपार एवं अमूल्य साहित्य का तेलुगु में उन्नयन होने लगा। एक ओर धूर्जटि आदि शैवावलम्बी कवि वैष्णव साहित्य की स्पर्धा करते हुये शैव-

साहित्य की रचना में संलग्न हो गये थे तो दूसरी ओर श्रीकृष्णदेवराय आदि राजाओं के नेतृत्व में कुछ कवि प्रशस्त लौकिक शृंगार-रस से युक्त मनुचरित्र आदि काव्यों की रचना में प्रवृत्त हो रहे थे। दोनों क्षेत्रों में उच्च वर्ग की आर्थिक स्थिति विलासिता की सीमा तक पहुँची हुई थी। हिन्दी के राज्याश्रित साहित्य में उच्च वर्गीय विलासिता के प्रतिबिम्ब पड़ने लगे। परन्तु राज्याश्रय से निरपेक्ष हिन्दी भक्त कवियों पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। तेलुगु क्षेत्र में शृंगार-रस काव्य के प्रणेता कवियों के साहित्य में उच्चवर्गीय उद्दाम विलासिता के चिह्न हैं ही, साथ ही राज्याश्रित वैष्णव कवियों के साहित्य में भी इस प्रकार की लौकिक विलासिता के अनेक प्रतिबिम्ब पड़ने लगे। उच्चवर्गीय शोषण की प्रतिक्रिया स्वरूप तेलुगु क्षेत्र में समाज-सुधारक कवि वेमना की वाणी मुखरित हुई। उत्तर भारत के संत कवियों में भी इस प्रकार की प्रवृत्ति के हमें दर्शन होते हैं। तेलुगु के वेमना और हिन्दी के कबीर, दादू आदि निर्गुण संत कवियों ने वर्णाश्रम धर्म, धार्मिक पाखंडता, एवं धार्मिक कुरीतियों के विरुद्ध भी तीव्र क्रांति मचाई। इस प्रकार एक नवीन प्रवृत्ति से भी दोनों क्षेत्रों के साहित्य प्रोद्भासित हो उठे। त्यौहार, उत्सव, मेले, मनोरंजन आदि का दोनों क्षेत्रों के साहित्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ने लगा। तत्कालीन वास्तु, शिल्प, चित्रकला आदि का भी हिन्दी और तेलुगु के राज्याश्रित साहित्य में यत्रतत्र प्रतिबिम्ब पड़ने लगा। संगीत ने आलोच्ययुग के हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों को और तेलुगु के अन्नमाचारी को भक्ति भाव की अभिव्यक्ति का एक साधन प्रदान किया। हिन्दी क्षेत्र की लोकनृत्य-शैली ने "रासलीला" को जन्म दिया और रासलीला के लिये कृष्णभक्त कवि नवीन पदों की रचना में प्रवृत्त होते रहे। तेलुगु क्षेत्र की शास्त्रीय नृत्य-शैली ने यक्षगानों को जन्म दिया और कवियों को यक्षगानों की रचना के लिये बाध्य करता रहा। इस प्रकार दोनों क्षेत्रों की साहित्यिक गतिविधियों के सूक्ष्म से सूक्ष्म सूत्र भी तत्कालीन परिस्थितियों से व्यक्त या अव्यक्त रूप से बँधे हुये मिलते हैं।

द्वितीय अध्याय

वैष्णव कवि

२.१. पृष्ठभूमि

हिन्दी और तेलुगु के प्रारम्भिक काल (ई० ११वीं और १२वीं शताब्दियों) में दोनों ही क्षेत्रों में वीर-काव्य के प्रति रुचि थी। पर इस रुचि की साहित्यिक परिणति दो दिशाओं में उन्मुख हुई। तेलुगु क्षेत्र में "महाभारत" और हिन्दी क्षेत्र में लौकिक पुरुषों के शौर्य का चित्रण हुआ। इसके पश्चात् ईसा की तेरहवीं शताब्दी में तेलुगु में भक्ति तत्वों से समन्वित वीरशैव-धर्म और साहित्य विकसित हुआ जो औद्धत्य और असहिष्णुता के कारण परवर्ती शताब्दियों में वैष्णव-शक्तियों से पराजित हुआ और आगे अपनी सुनिश्चित परम्परा नहीं बना सका। हिन्दी क्षेत्र में इसी समय शैव-तत्वों से युक्त नाथ-संप्रदाय चला। पर स्वभाव की भिन्नता के कारण आगे की शताब्दियों में यह निर्गुण-धारा के रूप में परिणत हुआ। तेलुगु क्षेत्र में ईसा की चौदहवीं शताब्दी में जहाँ शुद्ध वैष्णव भक्ति के बीज का विकास होने लगा, वहाँ हिन्दी क्षेत्र में वैष्णव तत्वों से युक्त योगपरक भक्ति का। कहने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दी की निर्गुण-धारा में भी योग की अपेक्षा वैष्णव-भक्ति के तत्व ही प्रबलतर थे। आलोच्ययुग में हिन्दी और तेलुगु दोनों ही क्षेत्रों में पूर्व-परम्परा के विकसित-रूप में अमूल्य वैष्णव साहित्य का प्रणयन हुआ।

परिस्थितियों की भिन्नता के कारण शुद्ध वैष्णव-साहित्य के बीजों के वपन होने में हिन्दी में तेलुगु की अपेक्षा पर्याप्त विलम्ब हुआ। फिर भी आलोच्ययुग के पूर्व हिन्दी में वैष्णव-साहित्य का कुछ आभास हमें अवश्य मिलता है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने श्री कृष्ण के लीला-पदों का आलोच्ययुग के बहुत पूर्व से मौखिक रूप में प्रचार में रहने का उल्लेख किया है।[1] कृष्णलीलाओं का उत्तरोत्तर वर्णन पदों के अतिरिक्त अन्य छंदों में भी होने लगा था। ईसा की चौदहवीं शताब्दी

[1] हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० १०९

में संकलित प्राकृतपैंगलम में निम्नलिखित छंद में लीला-काव्य का कुछ आभास मिलता है—

"अरेरे जाहहि काण्ह णाव छोड़ि डगमग कुगति न देहि।
तइ हत्थि गाहहि संतार देहि जो चाहइ सो लेहि॥[१]

उक्त छंद में नौका-लीला-प्रसंग के कृष्ण-गोपी-सम्वाद की योजना है। विद्यापति ने ईसा की चौदहवीं शताब्दी से ही मैथिल भाषा में पदों की रचना प्रारम्भ कर दी थी।[२] उनसे रचित पदावली कृष्ण-काव्य की प्रथम रचना कही जा सकती है। "पदावली" विद्यापति का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है। उनकी बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक के भिन्न-भिन्न अवसरों पर लिखे गये पदों का यह संग्रह है। इसमें से केवल राधा-कृष्ण सम्बन्धी पद ही वैष्णव साहित्य के अन्तर्गत आते हैं। इनके अतिरिक्त इस शताब्दी में विष्णुदास से प्रणीत सनेहलीला[३] (उद्धव-गोपी-प्रसग) आदि कुछ वैष्णव काव्यों का भी हमें आभास मिलता है।

जहाँ तक तेलुगु का सम्बन्ध है ई० ११वी शताब्दी में नन्नया ने महाभारत के आदिपर्व, सभापर्व और अरण्यपर्व में कुछ भाग का तेलुगु में रूपान्तर प्रस्तुत किया। ई० १४वीं शताब्दी में तिक्कना एवं एर्रना ने नन्नया से आरम्भ किया हुआ महाभारत के तेलुगु-रूपान्तर को सफलता के साथ पूर्ण किया। इन तीनों महाकवियों को "कवित्रय" की उपाधि दी गयी है। तिक्कना ने निर्वचनोत्तररामायण और एर्रांप्रेगडा ने "हरिवंश" एवं "नृसिंह" पुराणों की रचना भी की। साथ ही इस शताब्दी में गोनबुद्धारेड्डि ने "रंगनाथरामायण" और भास्कर ने "भास्कर-रामायण" की रचना की।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि ईसा की चौदहवीं शताब्दी से ही तेलुगु में स्वस्थ वैष्णव-साहित्य का प्रणयन होने लगा था। हिन्दी में कुछ स्थानीय परिस्थितियों के कारण स्वस्थ वैष्णव-साहित्य के प्रणयन में कुछ विलम्ब हो गया।

२.२. वैष्णव कवि

२.२१ **प्रस्तावना**—हिन्दी कवियों का विस्तृत परिचय देना पिष्टपेषण मात्र है। इसलिये यहाँ केवल तालिका के द्वारा इन पर प्रकाश डाला जा रहा है :—

[१] प्राकृतपैंगलम, छंद ९, पृ० १२

[२] विद्यापति का जीवनकाल ई० १३६८–१४७५ था—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ५०३

[३] हिन्दी काव्य रूपों का अध्ययन, डा० रामबाबू शर्मा का अमुद्रित शोध प्रबन्ध, पृ० ३८६

२.२२. **तालिका (हिन्दी कवि)**

संख्या	कवियों के शुभ नाम	जाति जन्म-स्थान आदि	कवियों द्वारा प्रणीत केवल वैष्णव-काव्य	इष्टदेव	गुरु एवं संप्रदाय
१.	विद्यापति	मिथिला के निवासी, राज्याश्रित कवि, जीवन-काल ई० १३६७-१४७५	राधा-कृष्ण सम्बन्धी पद	शक्ति और शिव	
२.	कुंभनदास	शूद्र, अष्टछाप के प्रथम कवि, जीवन-काल ई० १४७८-१५८२	राधा-कृष्ण सम्बन्धी स्फुट पद	कृष्ण एवं राधा	वल्लभाचार्य, वल्लभ संप्रदाय
३.	सूरदास	सारस्वत ब्राह्मण, अष्टछापीय कवि, जीवन-काल सं० १५३५-१६४०	सूरसागर	कृष्ण एवं राधा	वल्लभाचार्य, वल्लभ संप्रदाय
४.	मीरा	मेडता के राजा रत्नसिंह की पुत्री, जीवन-काल सं० १५५५-१६३०	श्रीकृष्ण सम्बन्धी स्फुट पद	श्रीकृष्ण	रैदास
५.	तुलसीदास	ब्राह्मण, जन्म ई० १५३२	रामचरितमानस, रामललानहछू, जानकीमंगल, पार्वतीमंगल, कवितावली, गीतावली, कृष्णगीतावली, बरवै रामायण, वैराग्य संदीपिनी	श्रीराम	
६.	परमानन्ददास	कान्यकुब्ज ब्राह्मण, अष्टछापीय कवि, जीवन-काल ई० १५५०-१६४०	ध्रुवचरित्र, दानलीला, परमानन्दसागर (पद-संग्रह)	कृष्ण एवं राधा	वल्लभाचार्य, वल्लभ संप्रदाय
७.	केशव	भरद्वाज गोत्रीय सनाढ्य ब्राह्मण, ओरछा नरेश इन्द्रजीतसिंह के	रामचन्द्रिका	श्रीरामजी	

संख्या	कवियों के शुभ नाम	जाति जन्म-स्थान आदि	कवियों द्वारा प्रणीत केवल वैष्णव-काव्य	इष्टदेव	गुरु एवं संप्रदाय
		दरबारी कवि, जीवन-काल ई० १५६१-१६२३			
८.	चक्रपाणि व्यास		रुक्मिणी-हरण	श्रीकृष्ण	
९.	परमानन्द		उषाहरण	श्रीकृष्ण	
१०.	अग्रदास	ब्राह्मण, नाभादास के गुरु	रामचरित्र के पद, रामभजन मंजरी	श्रीराम-चन्द्र	पयहारी कृष्णदास
११.	कृष्णदास[१]	अष्टछाप के कवि शूद्र[२]	स्फुट पद ; भ्रमर गीत	श्रीकृष्ण एवं राधा	वल्लभाचार्य वल्लभ संप्रदाय
१२.	कृष्णदास चालक		कृष्ण-रुक्मिणी केली ; रास-पंचाध्यायी	श्रीकृष्ण	
१३.	गोकुलनाथ गोस्वामी	ब्राह्मण, विट्ठलनाथ के पुत्र	चौरासी वैष्णवों की वार्ता ; दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता	श्रीकृष्ण एवं राधा	वल्लभ संप्रदाय
१४.	गोविन्ददास[३]		एकान्तपद (पद-संग्रह) ; स्फुट पद	श्रीकृष्ण	
१५.	गोविन्द स्वामी[४]	ये अष्टछाप के कवि, सनाढ्य ब्राह्मण, आँतरी ग्राम के निवासी[५]	स्फुट पद	श्रीकृष्ण एवं राधा	विट्ठल-नाथजी, वल्लभ संप्रदाय
१६.	गोस्वामी वनचन्द्रजी		स्फुट पद	श्रीकृष्ण	

१ नाभादास ने इनका उल्लेख किया है, भक्तमाल, हिन्दी पृ० ५८१, छंद ८१

२ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १६३

३ इनका जन्म ई० १५०४ में हुआ था—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ७१३

४ नाभादास ने इनका उल्लेख किया था—हिन्दी भक्तमाल, पृ० ६५७

५ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १६६

संख्या	कवियों के शुभ नाम	जाति जन्म-स्थान आदि	कवियों द्वारा प्रणीत केवल वैष्णव-काव्य	इष्टदेव	गुरु एवं संप्रदाय
१७.	चतुर्भुजदास	अष्टछाप के एक कवि ; कुंभनदास के पुत्र ; शूद्र[1]	स्फुट पद	श्रीकृष्ण एवं राधा	विट्ठलनाथजी ; वल्लभ संप्रदाय
१८.	छीतस्वामी	मथुरा के सम्पन्न पंडा एवं बीरबल के पुरोहित[3]	स्फुट पद	श्रीकृष्ण एवं राधा	विट्ठलनाथजी ; वल्लभ संप्रदाय
१९.	जनगोपाल		स्फुट पद	श्रीकृष्ण	
२०.	दामोदरचन्द्र गोस्वामी		ब्याहलौ	श्रीकृष्ण	
२१.	नरहरि		रुक्मिणीमंगल	श्रीकृष्ण	
२२.	पृथ्वीराज राठौड़	जोधपुर के राजा[4]	दशम भागवत दूहा	श्रीकृष्ण	
२३.	बलभद्र मिश्रा[5]	ओरछा के सनाढ्य ब्राह्मण	हनुमंनाटक (अनुपलब्ध)	हनुमानजी	
२४.	रसिक[6]		स्फुट पद	श्रीकृष्ण एवं राधा	वल्लभाचार्य ; वल्लभ संप्रदाय
२५.	रघुवरदास		मूल गोसाई चरित्र (इसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है)	श्रीरामचंद्र	तुलसीदास
२६.	लालदास स्वामी		मंगल	श्रीकृष्ण	

[1] हिन्दी साहित्य, पृ० १९१, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ।

[2] इनका जन्म ई० १५१० में एवं मृत्यु विट्ठलनाथजी की मृत्यु के उपरान्त हुआ था। अष्टछाप एवं वल्लभ संप्रदाय, पृ० २७२–२७८, डा० दीनदयालु गुप्त ।

[3] हिन्दी साहित्य, पृ० १९१, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी।

[4] हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २१३

[5] ये प्रसिद्ध कवि केशवदास के बड़े भाई थे—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १९०

[6] मिश्रबन्धु के अनुसार इनका रचना-काल वि० सं० १६३१ है— मिश्रबन्धु विनोद, पृ० ३२२

संख्या	कवियों के शुभ नाम	जाति जन्म-स्थान आदि	कवियों द्वारा प्रणीत केवल वैष्णव-काव्य	इष्टदेव	गुरु एवं संप्रदाय
२७.	लालचदास	रायबरेली के क हलवाई	हरिचरित्र (दोहे-चौपाइयों में अवधी मिली भाषा में यह रचित है)[1]	श्रीकृष्ण	
२८.	विट्ठलनाथजी[2]	वल्लभाचार्य के पुत्र ; अष्टछाप के संस्थापक	स्फुट पद (इस व्यक्ति के नाम से उपलब्ध पदों को कुछ विद्वान् अन्य कवि की रचना मानते हैं ।	श्रीकृष्ण एवं राधा	वल्लभ संप्रदाय
२९.	विठ्ठल विपुल	नाभादास कृत हिन्दी भक्तमाल में इनका उल्लेख है (छंद ९४, पृ० ६१८)	स्फुट पद	श्रीकृष्ण एवं राधा	वल्लभ संप्रदाय
३०.	व्यासजी या हरिराम व्यास[3]	ओरछा के राजा मधुकर शाह के गुरु, बुन्देलखंड के लोकप्रिय[4] कवि ; सनाढ्य ब्राह्मण	व्यासजी की बानी	श्रीकृष्ण एवं राधा	हितहरिवंश, राधावल्लभ संप्रदाय ; हरिव्यासजी संप्रदाय की इन्होंने स्वयं स्थापना की थी ।

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० १८३

[2] इन्होंने वल्लभाचार्य के चार शिष्यों—सूरदास, कुम्भनदास, परमानन्ददास तथा [illegible] तथा चतुर्भुजदास—को श्रीकृष्ण-लीलागान करने के लिये निर्वाचित किया। इन आठ कवियों को "अष्टछाप" के नाम से अभिहित किया जाता है।
—हिन्दी साहित्य का अतीत, प्रथम भाग, पृ० १९१

[3] नाभादास ने इनका उल्लेख किया है—हिन्दी भक्तमाल, छं० ९२, पृ० ६०९

[4] हिन्दी साहित्य, पृ० २००—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ।

संख्या	कवियों के शुभ नाम	जाति जन्म-स्थान आदि	कवियों द्वारा प्रणीत केवल वैष्णव-काव्य	इष्टदेव	गुरु एवं संप्रदाय
३१.	श्रीभट्ट	नाभादास ने इनका उल्लेख किया है । (हिन्दी भक्तमाल छं० ७६, पृ० ५७०)	युगल शतक (१०० पदों का ग्रन्थ ; कृष्णभक्तों में यह बहुत ही आदर की दृष्टि से देखा जाता है) ; आदिबानी (यह छोटी-सी पुस्तक है।)	श्रीकृष्ण एवं राधा	निम्बार्क संप्रदाय के प्रसिद्ध विद्वान केशव कश्मीरी के प्रधान शिष्य
३२.	सगुनदास		स्फुट पद	श्रीकृष्ण एवं राधा	वल्लभाचार्य ; वल्लभ-संप्रदाय
३३.	सूरदास मदनमोहन	ब्राह्मण, संडीले के अमीन	स्फुट पद	श्रीकृष्ण राधा	गौडीय संप्रदाय
३४.	हरिदास		"बानी" में सग्रहोत केवल रस के पद	श्रीकृष्ण	
३५.	हरिदास स्वामी	तानसेन के संगीत गुरु और सिद्ध भक्त	स्फुट पद	श्रीकृष्ण एवं राधा	टट्टी संप्रदाय की इन्होंने स्वयं स्थापना की थी
३६.	हरिराय		आचार्य श्रीमहाप्रभून की द्वादस निजवार्ता ; श्री आचार्य महाप्रभून की वार्ता ; वर्षोत्सव (पदों का संग्रह)	श्रीकृष्ण एव राधा	वल्लभ संप्रदाय
३७.	सरदास बारहट		गरुडपुराण		
३८.	हितरूपलाल		बानी ; समयप्रबन्ध	श्रीकृष्ण एवं राधा	हितहरिवंश की शिष्य-परम्परा में थे ; राधा-वल्लभी संप्रदाय

संख्या	कवियों के शुभ नाम	जाति जन्म-स्थान आदि	कवियों द्वारा प्रणीत केवल वैष्णव काव्य	इष्टदेव	गुरु एवं संप्रदाय
३९.	हितहरिवंश	राधावल्लभी संप्रदाय के प्रवर्तक; गौड़ ब्राह्मण; मथुरा के निकटस्थ, बादगाँव के निवासी[1]	हित चौरासी (८४ पदों का ग्रन्थ)	श्रीकृष्ण एवं राधा	पहले ये माध्वानुयायी गोपाल भट्ट के शिष्य थे; पीछे इन्होंने अपना एक अलग संप्रदाय "राधावल्लभी संप्रदाय" चलाया
४०.	हितकृष्णचंद्र गोस्वामी		आशा शतक; राधानुनय विनोद	श्रीकृष्ण एवं राधा	

२.२३. **तेलुगु के कवि**

बम्मेर पोतना—पोतना का जन्म ई० १४२० में हुआ था।[2] उनके देहान्त समय के सम्बन्ध में स्पष्ट निर्णय नहीं दिया जा सकता। इतना जानना पर्याप्त है कि ये ई० १५वीं शताब्दी के कवि थे।[3] इनके पिता केसना, माता लक्कमांबा, भाई तिप्पना, पुत्र मल्लना, पौत्र सरस्वती एवं प्रपौत्र केसना तथा मल्लना थे। पोतना नियोगी ब्राह्मण, कौंडिन्य गोत्री एवं परम भक्ताग्रगण्य थे। ये वोरुगल्लु के निवासी थे। इनके पिता एवं पितामह शैव सम्प्रदाय में दीक्षित थे।

पोतना एक दरिद्र परिवार में उत्पन्न हुये थे। ये स्वयं कृषि कर्म करके अपने कुटुम्ब का पालन-पोषण करते थे। न कभी वे प्रलोभनों के वश में हुये, न भय के ही। पोतना की मनोवृत्ति लौकिक भोग उपभोग से सदा उदासीन रही। वे गृहस्थ होकर भी मन से सर्वसंग परित्यागी थे। पोतना स्वयं कहते हैं कि प्रिय काव्य-कन्या मनुजेश्वराधमों को समर्पित करके, अग्रहार, वाहन, आभरण इत्यादि विविध सम्पत्तियों को पाकर उच्च भोगपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुये अन्त में नरक

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १६६

[2] विज्ञान सर्वस्वमु, तेलुगु संस्कृति, वाल्यूम ३, गडियारमु वेंकटशेष शास्त्री द्वारा "पोतना" नामक निबन्ध, पृ० ९३२

[3] श्रीमदांध्र भागवतमु, भूमिका, पृ० २१

में अवर्णनीय, दुःसह यातनाओं को भोगने के अतिरिक्त मैं भक्तिपूर्वक अपना "भागवत" श्री हरि को ही समर्पित करके शाश्वत यश पाऊँगा।[१] पोतना पर एक महत्वपूर्ण अनुश्रुति आन्ध्र में प्रचलित है जो पोतना के व्यक्तित्व के एक महत्वपूर्ण तत्व पर प्रकाश डालनेवाली है। महाकवि श्रीनाथ पोतना के साले थे। अपनी दरिद्र बहन के कुटुम्ब की समस्या के परिष्कारार्थ श्रीनाथ ने अपने बहनोई पोतना के 'भागवत" को अपने आश्रयदाता कर्णाटक-राजा को समर्पित कराने का निश्चय किया। एक दिन पालकी पर आसीन होकर पोतना के ग्राम की ओर श्रीनाथ ने प्रस्थान किया। ग्राम के समीप में जब वे आये तब उन्होंने देखा कि पोतना अपने पुत्र से हल में बैल जोत करके कृषि-कर्म करवाते थे। श्रीनाथ ने अपनी महिमा के प्रदर्शनार्थ अपनी पालकी के एक पार्श्व के ढोनेवालों से हटने की आज्ञा दी। उनके हट जाने पर भी पालकी पूर्ववत ही जाती रही। पोतना ने अपने पुत्र को आश्चर्यमग्न देखकर हल में जोते हुये एक बैल को हटा देने की आज्ञा दी। हल यथाप्रकार ही आगे बढ़ रहा था। इस घटना को देखकर श्रीनाथ ने अपनी पालकी के दूसरे पार्श्व के बोइयों से भी हट जाने की आज्ञा दी। ऐसा होने पर भी पालकी निर्विघ्न आगे बढ़ने लगी। तब पोतना ने अपने पुत्र से दूसरे बैल को भी हटाने का आदेश दिया। ऐसा किये जाने पर भी हल सुनायास आगे बढ़ता ही रहा। इसे देखकर श्रीनाथ का गर्व चूर-चूर होने लगा। श्रीनाथ ने पोतना के समीप आकर उनसे व्यंग्यात्मक कुशल-प्रश्न पूछा—"किसान-महाराज सकुशल हैं न।" इस व्यंग्य वाण से पोतना ने उद्विग्न होकर पद्य में ही इस प्रकार प्रत्युत्तर दिया—"बालरसालसाल-नवपल्लव कोमल काव्य-कन्या" का दुष्ट राजाओं को समर्पित करके उस महापाप से पूर्ण अन्न का भक्षण करने की अपेक्षा सत्कवि यदि कृषि-कर्म करके अथवा अरण्य-सीमाओं में अनायास उपलब्ध कंद-मूल इत्यादि पर निर्भर रहकर अपनी पत्नी एवं पुत्रों का पोषण करें तो क्या दोष है?[२] श्रीनाथ ने तब पोतना का आलिंगन करके कहा—मैंने आपसे परिहास के लिये कहा तो आप बुरा मान गये, बहनोई जी! आप से मेरी एक विनय है। आप अपने किसी सुन्दर काव्य को किसी राजा को यदि समर्पित करेंगे तो क्या वे कनक से आपका महासत्कार नहीं करते? आप जैसे महाकवि के लिये यह शुष्क कृषि-कर्म शोभा नहीं देता।[३] आमुष्मिक सुख की आशा से ऐहिक सुख-भोगों को क्यों त्यागा जाय?" इस प्रकार अनेक तर्कों से श्रीनाथ ने उनके मन में परिवर्तन लाना चाहा। पोतना के समक्ष एकान्त में सरस्वती देवी दुःखपूर्ण-अश्रुओं से दिखाई पड़ी। पोतना भारती देवी के दुःख के कारण को समझ गये एवं उन्होंने उसे आश्वासन देते हुये कहा कि[४]

[१] भागवत, पीठिका, पद्य १३
[२] श्रीमदान्ध्रभागवत, पीठिका, पद्य १६
[३] वही
[४] वही, पद्य १७

"अंजन-मिश्रित अश्रुओं को अपने पयोधरों पर स्थित कंचुकी पर गिराती हुई तुम रोती क्यों हो माता ! कैटभ दैत्य का बध करने वाले विष्णु की प्रिय बहू ! ब्रह्म देव की राणी ! मैं अपने तुच्छ उदरपोषण के लिये तुम्हें उन कर्णाटिक दुष्ट राजा-रूपी राक्षसों को विक्रय कदाचित नहीं करूँगा। मैं त्रिकरणशुद्धि से इस बात की प्रतिज्ञा करता हूँ। हे भारती ! तुम मुझ पर विश्वास करके सधैर्य रहो।" उक्त अनुश्रुति से ही नहीं, वरन् "भागवत" के अनेक प्रसंगों के अध्ययन करने से श्री पोतना के वैरागी, निरासक्त एवं निस्संग व्यक्तित्व का परिचय प्राप्त होता है। पोतना के व्यक्तित्व का सार पोतना के ही शब्दों में सक्षेप में इस प्रकार है—(कवि भगवान से प्रार्थना करता है कि) हे भगवान ! तुम्हारे चरण-कमलों की सेवा, तुम्हारे आंतरंगिक भक्तों के साथ सांगत्य, समस्त भूतिकोटि के प्रति अपार एवं अनन्त दया—इन तीनों का मुझे वरदान दीजिये।"[1] पोतना आदर्शार्थ समस्त ऐहिक भोगों को तिनके के समान देखने वाले हैं। उनका यह निम्नलिखित पद्य इस बात के प्रमाण में दिया जा सकता है—

"(बलिचक्रवर्ती अपने गुरु शुक्राचार्य से कहते हैं) कितने ही अगणित राजा पृथ्वी पर उत्पन्न हुये। उन्होंने अनेकों राज्यों की प्राप्ति की एवं भोगलिप्सा मे मग्न रहकर गर्वोन्मत्तता से जोवन व्यतीत किया। वे सभी महाराजा शरीर त्याग के पश्चात अपने बड़े-बड़े राज्य सम्पत्ति ऐश्वर्य, भोग-वैभव इत्यादि में किसी भी वस्तु को क्या अपने साथ ले जा सके हैं ? यह बात तो दूर रही, इस पृथ्वी पर उनका नाम-निशान तक अवशिष्ट नहीं रह गया। शिबि आदि महात्माओं ने यशःकाम होकर सप्रेम आत्म-बलिदान किया है। हे भार्गव ! ऐसे महात्माओं को आज भी जनता ने क्या विस्मृत कर दिया है ? (अर्थात नहीं)"[2]

पोतना ने अपने "भागवत" में यह उक्ति कही थी कि विष्णुभक्त कभी कृशीभूत शरीरवाला हो ही नहीं सकता।[3] इससे यह अनुमान होता है कि विष्णुभक्ताग्रेसर पोतना सम्पूर्ण देह-दारुढ्य से युक्त व्यक्ति थे।

पोतना की भक्ति शिव-केशव या राम-कृष्ण आदि भेदों से रहित अद्वैतमूलक थी। किन्तु ऐसा होते हुये भी उन्होंने श्रीरामचन्द्रजी को ही अपना इष्टदेव माना। इसीलिये अपने "श्रीमदान्ध्रभागवत" को उन्होंने उन्हीं के नाम से समर्पित किया था। पोतना को रामायण लिखने की प्रबल इच्छा थी, किन्तु तब तक "रंगनाथ रामायण" एवं "भास्कर रामायण" की रचना समाप्त हो चुकी थी। कहा जाता है कि पोतना ने यह उक्ति कही—"भास्कर ने तो रामायण की रचना कर ही दी। अन्यथा मैंने लिख-लिखकर रामायण को बैल गाड़ियों पर लाद दिया होता।"[4]

[1] श्रीमदांध्रभागवत, अष्ठम स्कंध, पद्य ५६०
[2] वही, अष्ठम स्कंध, पद्य ५६०
[3] वही, तृतीय स्कंध, पद्य ७७२
[4] बदिरेनु भास्करुडु लेदा रामायणमु बंड्लकेक्किंपना—"आन्ध्रकवि तरंगिणि" वाल्यूम ६, पृ० २००

"भागवत" लिखने की प्रेरणा—इसके सम्बन्ध में कवि ने स्वयं कुछ विवरणों को "भागवत" ग्रन्थारम्भ में प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार पोतना चन्द्रग्रहण के पुण्य दिन में गोदावरी नदी में स्नान करने गये। स्नान करने के उपरान्त वे वहाँ बालू पर आसीन होकर महेश्वरजी के ध्यान में मग्न रह गये।[1] तब उन्हें श्रीराम-चन्द्रजी के दर्शन हुये।[2] उन्होंने पोतना को यह आदेश दिया कि तुम "श्रीमद् भागवत" का आंध्रीकरण करके उसे मुझे समर्पित कर दो। यह पवित्र कार्य करोगे तो तुम्हें सांसारिक बन्धनों से मुक्ति मिल जायगी। यह कहकर श्रीरामजी अन्तर्धान हो गये।[3] तत्क्षण पोतना ने भावविभोर होकर इस प्रकार कहा—"मेरे द्वारा कविता की धारा प्रवाहित कराने वाले श्रीरामचन्द्र भगवान ठहरे। मेरे मुँह से फूटी हुई कविता भागवत का रूप धारण करने वाली है। यदि मैं इस पुनीत कर्तव्य का निर्वाह कर लूँ, तो श्रीरामचन्द्रजी भव-बन्धनों से निश्चित ही मेरा उद्धार करेंगे। अत: मैं एकमात्र "भागवत" की ही रचना करूँगा; अन्य कथाओं की रचना करने से प्रयोजन ही क्या है?"[4] पोतना कहते हैं कि "नन्नया एवं तिक्कना ने मेरे पूर्वजन्म-संचित भाग्य के फलस्वरूप "भागवत" का तेलुगु में रूपान्तर नहीं किया। इस परम-पावन कर्तव्य का निर्वाह करके जन्म-मरण-रूपी चक्र से मुक्त होकर अपने जन्म को सफल एवं सार्थक बनाऊँगा।"[5]

पोतना की रचनायें : (१) **भोगिनी दण्डकमु**—इसके कर्तृत्व के सम्बन्ध में आलोचक सहमत नहीं हैं। परम भागवतोत्तम, दुस्सह दरिद्रता में भी कृषि-कर्म पर ही निर्भर रहकर प्राकृत जनों के आश्रय में नहीं जाने वाले एवं आत्मगौरव के रक्षार्थ निर्भीक रूप से राजाज्ञा की भी अवहेलना करने वाले उदात्त आदर्शों से युक्त पोतना, किसी राजा को प्रसन्न करने के लिये वेश्यावर्णन से आपूर्ण उक्त ग्रंथ की रचना कदाचित नहीं कर सकता। अत: यह कहना कि "श्रीमदांध्रभागवत" की रचना के पूर्व ही पोतना ने "भोगिनी दण्डक" की रचना की, सर्वथा असत्य है।

(२) **वीरभद्र विजयमु**—इस शैव काव्य को पोतना ने "श्रीमदांध्रभागवत" की रचना के पूर्व ही लिखा था। पोतना के द्वारा इस शैव-काव्य के लिखे जाने के तीन कारण हैं—१. पोतना शैव परिवार में उत्पन्न हुये थे। २. पोतना उस प्रान्त के वासी थे जहाँ शैवमत का अधिक प्रचार होता था। ३. तब तक पोतना का मन वैष्णव-सम्प्रदाय की ओर उन्मुख नहीं हुआ था।

[1] श्रीमदांध्रभागवत, पीठिका, छंद १५
[2] वही, पद्य १६
[3] वही, छंद १७
[4] वही, पद्य १८
[5] वही, पद्य २१

(३) **नारायण शतकमु**—कुछ काल पूर्व इसके कर्तृत्व के सम्बन्ध में संदिग्ध विचार थे।[१] पर अब निश्चित रूप से ज्ञात हुआ कि यह काव्य कदाचित पोतना का नहीं है।

(४) **श्रीमदांध्रभागवत**—इसके रचना-विधान पर एक महत्वपूर्ण अनुश्रुति है। सर्वज्ञसिंगभूपाल ने पोतना को अपने आस्थान में आमंत्रित करके उनसे "भागवत" का पाठ सुना। राजा ने प्रलोभ में पड़कर वह ग्रन्थ अपने को समर्पित करने के लिये कहा। पोतना ने निर्भीक होकर कहा कि मैं अपना काव्य प्राकृत-जनों को समर्पित नहीं कर सकता। राजा ने क्रुद्ध होकर उस ग्रन्थ को ज़मीन में गढ़वा दिया। श्रीरामचन्द्र ने उस राजा की पत्नी को स्वप्न में आदेश दिया कि पति से कहकर "भागवत" का लोक में प्रचार करो। रानी ने राजा से स्वप्न-वृत्तान्त कह कर "भागवत" को ज़मीन से बाहर निकलवाया। तब तक उस ग्रन्थ के कुछ पृष्ठ क्रिमियों से विनष्ट हो गये थे। इन विनष्ट भागों को पोतना के शिष्य गंगना आदि कवियों ने पूर्ण कर दिया। इस अनुश्रुति का मूलस्रोत कूचिमंचि तिम्मकवि का रचा हुआ एक पद्य है।[२] इस प्रकार "भागवत" के पूर्ण होने में पोतना के अतिरिक्त चार अन्य कवियों का भी योगदान है। "भागवत" में गद्य एवं पद्यों की संख्या ६००५ है। इनमें से इन चार कवियों ने मिलकर १०६१ गद्य-पद्यों की रचना की है। विस्तार की दृष्टि से ही नहीं, प्रत्युत् कविता की उत्कृष्टता की दृष्टि से भी इन चार कवियों की अपेक्षा पोतना का स्थान सर्वोपरि है। 'श्रीमदांध्रभागवत" के रचना-विधान पर स्पष्ट प्रकाश डालने के लिये यहाँ एक तालिका[३] प्रस्तुत की जा रही है—

२·२१४१ "श्रीमदांध्रभागवत" के रचना-विधान से सम्बन्धित तालिका

स्कंध		गद्य एवं पद्यों की संख्या	कवियों के नाम
प्रथम		५२९	पोतना
द्वितीय		२८९	,,
तृतीय		१०५५	,,
चतुर्थ		९७७	,,
पंचम	१. प्रथम आश्वास	१८३	गंगन
	२. द्वितीय ,,	१६८	,,

[१] '*Pothana and His Works*' by V. Rajeswari, p. 596

[२] "सर्वलक्षणार संग्रहमु", आश्वास ३, पद्य २६६

[३] "श्रीमदांध्रभागवत की भूमिका", पृ० ८८, लेखक : निडदवोलु वेंकट राव।

स्कंध		गद्य एवं पद्यों की सख्या	कवियों के नाम
षष्ठ		५३०	सिंगन
सप्तम		४८२	पोतना
अष्टम		७१४	,,
नवम		७३६	,,
दशम	१. पूर्व भाग	१७६०	,,
	२. उत्तर भाग	१३४२	,,
एकादश		१२७	वेलिगंदल-नारय
द्वादश		५३	,,
कुल १२		कुल ६००५	कुल ४

तेलुगु में "कवित्रय" के उपरान्त प्रजा के आदरण को अधिक रूप से प्राप्त करने वाले केवल पोतना ही हैं। इसीलिये एक आलोचक ने यह उक्ति कही कि आंध्र-वांङ्मय के साहित्याकाश में तिक्कना सूर्य हैं एवं पोतना चद्र।[१]

आन्ध्रवेद कहने योग्य अपने दो ग्रन्थ ("आंध्र भारत" एवं "आंध्र भागवत") आंध्र प्रजा को देने वाले ये दोनों आचार्यमूर्ति एवं प्रवक्ता हैं। कहा जाता है कि भक्तिकाव्य की दृष्टि से पोतना का "भागवत" समस्त आंध्र-सारस्वत में सर्वोत्तम है।[२] "कविब्रह्मा" कहलाने वाले तिक्कना की रचना में नाटकीय-विन्यास कदम-कदम पर जितनी पुष्कलता से दृष्टिगोचर होता है उतनी ही तीव्रता से पोतना की कविता में भाव कवितास्फूर्ति का हमें आभास होता है। भक्ति एव शृंगार के वर्णन में पोतना अपने ऊपर नियन्त्रण खो बैठते हैं। इसी भावलोलता के कारण ही उनका "भागवत" संस्कृत भागवत की अपेक्षा अधिक विस्तृत हुआ है।

ताल्ळपाक अन्नमाचारी

इस महानुभाव का जीवनकाल ई० १४०८-१५०२ था। इन्होंने १६ वर्ष की आयु में ही संकीर्तनों की रचना करना आरम्भ कर दिया था।[३] इस कवि के जीवन-काल में देवरायलु, मल्लिकार्जुन रायलु, विरूपाक्षरायलु, सालुवनरसिंहरायलु, तुळुव

[१] पिंगळि लक्ष्मीकांतमु, निबंध "प्रबन्ध पूर्व युग" विज्ञान सर्वस्वमु, तेलुगु संस्कृति, वा० ३, पृ० ६०२

[२] "The Bhagavatham of the latter (i.e., Pothana) stands unrivalled in devotional Literature"—*Telugu Culture*, p. 64.

[३] "आन्ध्रकवि सप्तशति", पृ० १—लेखक : बुलुसु वेंकटरमणय्य।

नरसरायलु एवं वीरनरसिंह रायलु—इन राजाओं ने विजयनगर साम्राज्य का शासन किया था।[१] ये नंदवरीक ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुए। ये भरद्वाज गोत्री तथा ऋग्वेद के आश्वलायन सूत्र के अनुयायी थे।[२]

अन्नमाचारी की बाल्यावस्था सुखपूर्वक नहीं व्यतीत हुई। उन्हें माता-पिता, भाभी भाई, कृषिकर्म इत्यादि अनेक कौटुम्बिक कार्य करने के लिये बाध्य करते थे। इससे अन्नमाचारी बहुत ही दुःखित होते थे।[३]

एक दिन की बात है। वे हँसिया से घास काटते थे। उनके हाथ पर चोट आयी एवं रक्त की धारा बहने लगी। उन्होंने यह अनुभव किया कि शरीर अस्थिर एवं बुद्बुद्प्राय है।[४] तुरन्त वे उसे फेंक कर अपना ग्राम[५] त्याग करके महापुण्य क्षेत्र तिरुपति की ओर पैदल जाने लगे। इस प्रकार उन्हें साठ या सत्तर मील की सुदीर्घ यात्रा करनी पड़ी। तिरुपति में भगवान श्री वेंकटेश्वर का मन्दिर एक उन्नत पर्वत पर स्थित है। वहाँ तक जाने के लिये सीढ़ियों के मार्ग से सात मील जाना है। अन्नमाचार्य ने तिरुपति तक की यात्रा समाप्त कर ली थी। कुछ यात्री लोगों के मिलने से[६] तिरुपति तक की यात्रा उन्हें सुखपूर्वक प्रतीत हुई। अब ये सीढ़ियों के मार्ग से पहाड़ पर चढ़ने लगे। चढ़ते-चढ़ते वे थक गये एव "भाष्यकारपाद" नामक स्थान पर बेहोश गिर पड़े। कहा जाता है कि किसी समय उक्त स्थान पर वैष्णवाचार्य भाष्यकारजी को भगवान का साक्षात्कार हुआ था। आज भी वहाँ भगवान के श्रीपाद-चिह्न पत्थर में अंकित मिलते हैं। बालक अन्नमय्या का उन्माद सुख निद्रा में परिणत हुआ। तब जगन्माता पद्मावती का उन्हें स्वप्न में साक्षात्कार हुआ। उन्होंने अन्नमाचारी से सप्रेम कहा—"पुत्र! चप्पल पहन कर इस पवित्र-पर्वत पर चढ़ना उचित नहीं है। नंगे पाँव जाने से तुम्हें चढ़ाव सुगम होगा।"[७] अन्नमाचार्य सचेत हो गये और उनकी वाणी से जगन्माता की स्तुति में शतक के रूप में आशु-कविता अमृत की धारा की भाँति बहने लगी।[८] उसके उपरान्त हर्ष से गद्गद् होकर वे पर्वत पर सरलता से चढ़ गये।

पहाड़ पर पहुँचते ही मन्दिर के गोपुर-द्वार के समीप भाष्यकारजी से उनकी भेंट हुई। उन्होंने अन्नमय्या में एक महान भक्त का आभास पाया। भाष्यकारजी से

---

[१] आन्ध्रकवि तरंगिणि, वाल्यूम ६, पृ० २३—लेखक : चागंटि शेषय्य।

[२] अन्नमाचार्य चरित्रमु, पृ० २

[३] अन्नमाचार्य चरित्र, पीठिका, पृ० ११, १२—लेखक : वेटूरि प्रभाकर शास्त्री।

[४] अन्नमाचार्य चरित्रमु, पृ० १२

[५] कडपा मंडल, राजंपेट तालूक में स्थित "ताळ्ळपाक" उनका ग्राम था।

[६] अन्नमाचार्य चरित्रमु, पृ० १३

[७] वही, पृ० १३

[८] वही, पृ० १८

इन्हें बहुत ही सुविधायें प्राप्त हुईं। अन्नमय्या ने स्वामीजी की पुष्करणी में स्नान किया।[१] तदुपरान्त अन्य देवी-देवताओं के दर्शन करके वे अन्त में भगवान बालाजी के सान्निध्य में पहुँचे। वे स्वामी के दिव्य-विग्रह को देखकर आनन्दमग्न हो गये और उनकी स्तुति करने लगे।[२] भगवान बालाजी ने साक्षात्कार होकर अभय प्रदान किया। अन्नमाचारी ने उनके करकमल का भक्तिपूर्वक गुणगान इस प्रकार किया—"यह हाथ कितने ही जीवों को अभय प्रदान करने वाला है। यह अमूल्य वेदों से खोजा जाकर प्रत्यक्ष होने वाला हाथ है। यह वह हाथ है जिसने भूदेवी का आलिंगन किया है। यह वही हाथ है जिसने बलि-चक्रवर्ती से प्रेमपूर्वक दान की याचना की थी। यह वही हाथ है जिसने हिरण्याक्ष से भूदेवी की रक्षा की थी। यह वही हाथ है जिसने पुरसतियों (गोपिकाओं) के साथ रमण किया है। यह मोक्ष प्राप्ति के मार्ग को समस्त प्राणियों को ज्ञात कराने वाला श्री बालाजी का हाथ है।"[३] जब वे तीर्थ-प्रसाद लिये मन्दिर से बाहर आये, तब भाष्यकारजी ने उनका सुस्वागत किया। उन्होंने अन्नमाचारी को विशिष्टाद्वैत-संप्रदाय में दीक्षित कराया एवं बहुतकाल तक उन्हें अपने यहाँ रहने दिया। अन्नमाचारी ने अहोबिळम जाकर वहाँ शठगोप यतीन्द्र से गुरुमंत्र लिया एवं कुछ दिनों तक वहीं निवास करते रहे।[४] खोजने के निमित्त आये हुये माता-पिताओं के प्रेमपूर्वक आग्रह एव गुरुदेव के आदेश के अनुसार वे अपने स्वग्राम चले गये।[५] वहाँ "तिरुमळम्मा" (तिम्मक्का) एवं अक्कलम्मा नामक दो कन्याओं के साथ उनका परिणय कराया गया।[६]

गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करते हुये उन्होंने अहोबिळमु, श्रीरंगम, विद्यानगर इत्यादि पुण्यक्षेत्रों के दर्शन किये। जिस किसी भी मन्दिर में गये, जिस किसी मूर्ति के सम्मुख पद गाया, उस मन्दिर को तिरुमला पर स्थित श्रीबालाजी का मन्दिर एवं उस मूर्ति को श्रीबालाजी की ही मूर्ति मानकर उन्होंने अभेद भाव से भगवान के प्रति भक्ति-प्रदर्शन किया। इनकी महान् प्रशंसा सुनकर साळुव नरसिंह रायलु[७] उनका स्वागत करके अपने यहाँ ले गये। उनके आशीर्वाद के फलस्वरूप उस राजा ने शत्रुओं को पराजित किया और ई० १४८७ में पट्टाभिषिक्त भी हुये। राजा इनके भक्तियुक्त

---

[१] अन्नमाचार्य चरित्रमु, पृ० १८

[२] वही, पृ० २२

[३] आध्यात्म-संकीर्तनलु, वाल्यूम २, पद ३१६

[४] अन्नमाचार्य चरित्रमु, पीठिका, पृ० ४१ ; शठगोप यतीन्द्र से ही अन्नमाचारी ने सकल वेदान्त शास्त्रों का अध्ययन किया।

[५] वही, पीठिका, पृ० ३६

[६] वही, पृ० ३०

[७] ई० १४५० के लगभग टंगुटूर में पालक के रूप में रहनेवाला राजा।

संकीर्तन सुनकर मुग्ध हो गये एवं अग्रहार देकर उन्हें अनेक बार अपने यहाँ आमन्त्रित किया। इस प्रकार राजा ने अपना सम्मान तथा श्रद्धाभाव इस अपूर्व भक्त के प्रति प्रदर्शित किया।[1] किन्तु अन्नमाचार्य के स्वभाव में आत्म-सम्मान एवं स्वतन्त्रता-प्रेम उच्छलित थे। वे श्रद्धा से लिपटे हुये बन्धन को भली प्रकार समझते थे। प्राकृत-जन के गुणगान से मुक्त होकर उनको अपनी वाणी के नैवेद्य से इष्टार्चन ही अभीष्ट था। एक दिन राजा ने श्रीनिवास भगवान पर लिखे गये संकीर्तन-पदों को सुनने की उत्कट इच्छा प्रकट की। तब उन्होंने इस कीर्तन का गान किया—"पद्मावती के अधर-प्रवाल पर चर्चित कस्तूरी उनके सौन्दर्य की अभिवृद्धि कर रही है। हे सखियों! क्या यह भामिनी का अपने प्राणवल्लभ श्रीवालाजी को लिखा हुआ प्रेम-पत्र तो नहीं है? हे सखियों! इस पद्मावती-सुन्दरी के स्तनद्वय के प्रकाश-पुंज आँचल के ऊपर भी देदीप्यमान होकर बिखरे हुये हैं। इस शोभा को तुम देखो तो सही! अतृप्त प्रेम के कारण प्रिय ने सुन्दरी के स्तनों पर अपने नखशशिरेखाओं के जो चिह्न बनाये हैं, उनकी छटा ग्रीष्म ऋतु के ताप को दूर करने वाली चाँदनी तो नहीं है? इस लतांगी के सुन्दर कपोलों पर मोतियों के प्रकाश-पुंजों के सदृश जो रमणीय आभा बिखरी हुई है, यह क्या है सखियों? तुम इसकी कल्पना करो तो सही। सुरत के समय में पद्मावती को अपने आलिंगन में भरकर उनके अधरामृत का पान करते समय श्रीवालाजी ने अपने मुखमण्डल के सौन्दर्य को देवीजी के कपोलों पर अंकित तो नहीं किया?"[2] इसे सुनकर मद में चूर्ण राजा ने उसी प्रकार की रचनायें अपने विषय में करने के लिये अन्नमाचारी से कहा। तब अन्नमाचारी ने उन्हें अमर्षपूर्वक प्रत्युत्तर दिया—"केवल भगवान पर आश्रित होकर भक्तिपूर्वक उसकी स्तुति करते हुये कीर्तनों का गान करना ही हमारा जीवन-सर्वस्व है। नरहरि के संकीर्तनों से अभिसिंचित मेरी वाणी को प्राकृतजनों का गुणगान सह्य एवं स्वीकार्य नहीं हो सकता। नरहरि के चरणों में विनत रहने वाला यह मस्तक किसी मानव के सम्मुख नत नहीं हो सकता। हमारा यह स्वभाव जानकर भी लोग क्यों व्यर्थ ही ऐसा हठ करते हैं? श्रीपति की पूजा करने वाले मेरे हाथ कभी किसी से याचना के लिये आगे नहीं बढ़ सकते। भक्तिपूर्वक हरि के यहाँ जाने वाले ये पैर पापियों के घरों में प्रवेश नहीं करते। श्रीबालाजी का स्मरण करने वाला मेरा मन अन्यों के सम्बन्ध में सोच भी नहीं सकता। भगवान के अधीन रहने वाला यह शरीर किसी अन्य के अधीन हो ही नहीं सकता।"[3] "हम हरिदास पृथ्वी पर जन्मतः भोगी एवं संपन्न हैं। बीच में राजा बनने वाले इन लोगों से मुझे कुछ भी लेने की आवश्यकता नहीं है। समस्त भोग, सम्पत्ति, वैभव इत्यादि का मूलस्वरूप लक्ष्मीदेवी

[1] अन्नमाचार्य चरित्रमु, पृ० ३५

[2] शृंगार-संकीर्तनलु, ताम्र-पत्र १४

[3] आध्यात्म संकीर्तनलु, ताम्रपत्र १३५

एवं उसके वल्लभ श्रीबालाजी को इष्टदेव के रूप में पूजा करता हूँ। मुझे सम्पत्ति अन्यों से लेने की क्या आवश्यकता है ? समस्त ब्रह्माण्ड तथा ब्रह्माओं के पिता श्रीबालाजी ने हमें सब कुछ दिया है, अब अन्य लोग हमें दे ही क्या सकते हैं ?"[१] राजा ने क्रुद्ध होकर अन्नमाचार्य को "मूरुरायर गंड" नामक शृंखलाओं से जकड़वाकर कारागार में बन्द करा दिया।[२] तब अन्नमाचारी ने यह कीर्तन गाकर भगवान से प्रार्थना की—"क्या तुम अपने दासों का अपमान सहन कर सकते हो ? तुम सर्वज्ञ हो और समस्त के द्रष्टा हो। ऐसे तुमको मेरी सूचना देने की क्या आवश्यकता है ? जिस प्रकार द्वारका-नगर में रहते समय महासंकट में स्थित द्रौपदी ने आर्त होकर तुम्हारे लिये विलाप किया था उसी भाँति घोर राज-सभा में बंधीकृत होकर मैंने भी तुम से आर्त पुकार की। फिर भी तुम मौन क्यों हो ? मेरी रक्षा क्यों नहीं करते ? वैकुण्ठ में लक्ष्मी के साथ विलास में मग्न तुम से गजेन्द्र ने जिस प्रकार प्रार्थना की थी उसी प्रकार मैं भी आत्मीयता से आपका आह्वान कर रहा हूँ। मेरे आर्तनादों को सुनकर हे श्री वेंकटेश्वर ! शीघ्र मेरी रक्षा करो न !"[३] तत्क्षण समस्त बेड़ियाँ स्वतः टूट गईं। उसी समय राजा की आँखें खुल गईं और उन्होंने अन्नमाचारी से क्षमा याचना की।[४]

उनकी महिमा के सम्बन्ध में अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाओं की अनुश्रुतियाँ भी प्रचलित हैं। एक समय चोर उनकी श्रीवेंकटेश्वरजी की अर्चामूर्ति को चुराकर ले गये। तब वे बहुत ही विलाप करने लगे।[५] तुरन्त भगवदनुग्रह से उन्होंने उस मूर्ति को प्राप्त कर लिया। उनकी कृपा से किसी का कोढ़ रोग दूर हुआ, किसी का नष्ट द्रव्य पुनः प्राप्त हुआ एवं खट्टे आम मीठे हो गये।[६]

अन्नमाचार्य अपने अवसान-काल में तिरुपति एवं तिरुमलै, स्थलों पर गृहादि का प्रबन्ध करवाकर सकुटुम्ब रहने लगे। उन्हीं दिनों में तिरुमलै के मन्दिर में "संकीर्तनभांडारमु" की स्थापना हुई और उसमें संकीर्तनों को सुरक्षित रूप से रखा जाने लगा। ई० १५०३ (फाल्गुणबहुल द्वादशि के दिन) में वे संकीर्तनों का गान करते हुये श्रीबालाजी में लय हो गये। अन्नमाचारी के पुत्र, पौत्र तथा अन्य गायक मंदिर में नित्यप्रति उनके संकीर्तनों का गायन करते थे। कुछ काल के उपरान्त यह कीर्तन-परम्परा समाप्त हो गई। किन्तु भजन गोष्ठियों में तो आरम्भ में ताल्ळपाक वंशियों के सकीर्तनों को गाने की परम्परा दक्षिण में,

[१] आध्यात्म संकीर्तनलु, ताम्रपत्र ३१६
[२] अन्नमाचार्य चरित्रमु, पृ० ३७
[३] आध्यात्म-संकीर्तनलु, ताम्रपत्र २४७
[४] अन्नमाचार्य चरित्रमु, पृ० ३९,४०
[५] वही, पृ० ३७
[६] वही, पृ० ४३, ४४

विशेष रूप से आन्ध्र में, आज भी विद्यमान है। दो कन्याओं के साथ अन्नमाचार्य का विवाह उन्हें कौटुम्बिक बंधनों में जकड़ने के लिये ही किया गया था। इसी कारण से अन्नमाचार्य के दक्षिणनायकत्व का अनुभव अनेक प्रसंगों में वेंकटेश्वर भगवान के दक्षिण-नायकत्व को निरूपित करने में सहायक सिद्ध हुआ। उनके आध्यात्मिक संकीर्तनों में प्राय: "काम पुरुषार्थ की ओर मेरा मन आकर्षित हो रहा है, समस्त लौकिक जीवन के बंधनों से तथा इन्द्रियों के प्रबल विद्रोह से मेरा उद्धार करो"—इस प्रकार उन्होंने भगवान से प्रार्थना की थी। प्रत्येक दिन कम से कम एक संकीर्तन की रचना करने का व्रत लेकर आजीवन संकीर्तनों की रचना-करने वाले ये यदि अपनी रचनाओं में अपने जीवन की स्वानुभूति को अविरल रूप से नहीं ढाले होते तो इतना उत्कृष्ट एवं संख्या में अधिक पदों का प्रणयन कभी भी संभव नहीं होता।

अन्नमाचारी की रचनाओं की सूची[1] निम्नलिखित प्रकार से है :—
१. शृंगार कीर्तनलु २. आध्यात्मिक कीर्तनलु ३. शृंगार मंजरी ४. संकीर्तन लक्षणग्रन्थमु, (यह संस्कृत ग्रन्थ अनुपलब्ध है।) ५. वेंकटाचलमाहात्म्यमु ६. द्विपद-रामायण (अनुपलब्ध) एवं ७. श्रीवेंकटेश्वर शतकमु।

इनके समस्त संकीर्तनों की संख्या ३२,००० है। इनमें यत्र-तत्र कुछ संस्कृत के संकीर्तन भी विद्यमान हैं। इन कीर्तनों से युक्त ताम्रपत्र आज भी तिरुपति के ओरियंटल-रिसर्च-इन्स्टिट्यूट में सुरक्षित हैं। इनमें से अभी बहुत कम पद प्रकाशित हो पाये हैं। इनके इष्टदेव भगवान श्री वेंकटेश्वर थे एवं इष्टदेवी जगन्माता अलिवेलि मंगम्मा थीं। "मार्गकवितालोक में बम्मेर पोतना महाकवि का जो स्थान है, गेयकविताvाङ्मयलोक में अन्नमाचारी का भी वही स्थान है।"[2] ये ही तेलुगु के प्रथम संकीर्तनाचार्य हैं। परवर्तीकाल के गीतिकार क्षेत्रय्या, रामदास एवं त्यागराज स्वामी अन्नमाचार्य के ऋणी हैं। कन्नड़ के संकीर्तनकर्ता पुरंदरदास पर भी इनका थोड़ा-सा प्रभाव दर्शनीय है। इस महानुभाव को दो उपाधियाँ प्राप्त हुई थीं—

१. आंध्र पद-कविता पितामह २. संकीर्तनाचार्य

[1] अन्नमाचार्य चरित्रमु, पृ० ४५,४६

[2] पिंगळि लक्ष्मीकांतमुजी का निबन्ध "प्रबन्धपूर्वयुगमु", "विज्ञानसर्वस्वमु"—तेलुगु संस्कृति, वाल्यम ३, पृ० ६०६

ताल्ळपाक कवियों का वंशवृक्ष[1] द्रष्टव्य है :–

ताल्ळपाक अन्नमाचारी[2]
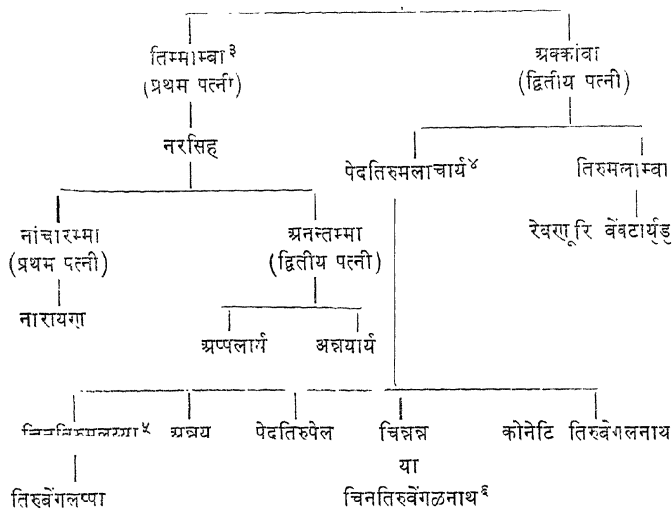
अन्नमाचारी की कीर्तन-परम्परा उनके कुटुम्ब वालों से भी आगे बढ़ सकी। पेदतिरुमलाचारी एवं चिनतिरुमलय्या संगीत एवं साहित्य-कला-कोविद थे। चिन्नन्न द्विपद-कविता लिखने वाले अग्रगण्य कवियों में से एक थे। अन्नमाचारी की स्वपत्नी तिम्माम्बा भी कवयित्री थीं, जिन्होंने "सुभद्रा-कल्याण" नामक द्विपद काव्य की रचना की। ताल्ळपाक वंशीय भक्त पहले और कवि बाद में थे। रामानुज-मत में दीक्षित ये परमवैष्णव भक्त तन, मन एवं धन से अपने आराध्यदेव श्रीवेंकटेश्वर का कैंकर्य करके कृतकृत्य हुये। कहा जाता है कि अन्नमाचारी को तीन पुस्त तक देवसाक्षात्कार एवं सात पुस्त तक मोक्षाधिकार का वरदान श्रीबालाजी से प्राप्त हुआ था। तेलुगु वैष्णव साहित्य ताल्ळपाक कवियों का अधिक ऋणी है।

ताल्ळपाक पेदतिरुमलाचार्य

ये ताल्ळपाक अन्नमाचारी के पुत्र थे। इनका जीवनकाल ई० १४७३-१५५६ था।[7]

[1] आध्यात्मिक संकीर्तनलु, वाल्यूम २, भूमिका, पृ० १

[2], [3],[4],[5],[6]—ये सब प्रख्यात वैष्णव-साहित्यकार हैं।

[7] वाग्गेयकार चरित्रमु, पृ० १३१—लेखक : बी० रजनीकांत राव

पिता के समान ये भी महान भक्त थे। ये तिरुमला में भगवान श्रीबालाजी की मूर्ति के सम्मुख स्वयं रचित कीर्तनों का गान करते थे। कहा जाता है कि ये नित्य भगवान का साक्षात्कार पाते थे। इनकी महिमा के सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध घटना उल्लेखनीय है। एक समय जब ये मंडेमुकोटा में गये तब वहाँ के मंडलाधिपति नरसराय ने इन पर छुरी फेंकी। किन्तु तत्क्षरण वह फूल-माला में परिरणत हो गयी। इस बात का स्वयं कवि ने इस प्रकार उल्लेख किया है—"हे जगन्नाटक के सूत्रधारी ! तेरी लीलायें नित्य नवीन होती हैं। रुक्मांगदा की तलवार पूर्वकाल में धर्मांगदा के लिये फूलमाला हुई थी। हे हरि ! इसी प्रकार तेरी कृपा के कारण शत्रु का खड्ग मेरे लिये सुन्दर फूलमाला हुई। पूर्व हरिश्चन्द्र की तलवार चंद्रमति के लिये पुष्पमाला हुई थी। हे वनजाक्ष ! तेरी कृपा से शत्रु से उठाया हुआ भयंकर खड्ग मेरे लिये सुगन्धित माला हुई।"[1]

ये महान दानी व्यक्ति थे। इन्होंने विजयनगर के विठलेश्वरस्वामी के कैंकर्यार्थ अपनी कुछ ज़मीन दान में दे दी थी। इन्होंने बालाजी की पुष्करणी का जीर्णोद्धार कराया एवं उसके लिये सीढ़ियाँ तथा मण्डप का भी निर्माण कराया। तिरुमला पर अपने निवास-स्थान के सम्मुख भी इनके द्वारा निर्मित मण्डप है। इन्होंने श्रीबालाजी के मंदिर में दीपाराधना, संकीर्तनों का गान इत्यादि करने के लिये कुछ वैष्णव पुरोहितों की नियुक्ति की थी। इन्होंने तिरुपति के आळ्वार-तीर्थ के यहाँ लक्ष्मी-नारायण मूर्तियों की स्थापना करायी। इन्होंने श्रीबालाजी के मंदिर के नाम से १३ ग्रामों को दान में दिया था एव श्रीभंडार के लिये अधिकाधिक स्वर्ण एवं धन भी दिया। तिरुमला के वराहस्वामी के मन्दिर का प्राकार एवं श्रीबालाजी के आलय के पूर्वी-गोपुर का भी निर्माण कराने का श्रेय इन्हीं को है। इस प्रकार महान दाता होने के कारण इस महात्मा का नाम अनेकों शासनों पर प्रतिष्ठित किया गया था। इनकी तो अनेक उपाधियाँ थीं जैसे "श्रीमद्वेदमार्ग-प्रतिष्ठापनाचार्य", "श्रीरामानुज-सिद्धान्त-स्थापनाचार्य", "वेदान्ताचार्य", "कविता-केसरि", तथा "शरणागतवज्रपंजरा" इत्यादि।

इनके उपदेश-गुरु कंदाड अप्पलाचार्युडु थे।[2] इन्होंने अपने पिताजी अन्नमाचारी के संकीर्तनों को ताम्रपत्रों पर खुदवाया एवं उन्हें श्रीबालाजी के मंदिर में स्थित "संकीर्तन भंडारमु" में छिपा दिया था।[3] लगभग ३० वर्ष पूर्व ही देवस्थानमवालों को इन ताम्रपत्रों का पता चला।

इनकी रचनाओं की सूची इस प्रकार है:—१. शृंगार कीर्तनलु, २. शृंगार ३. शृंगारवृत्त शतकमु, ४. वैराग्यवचन गीतमुल, ५. चक्रवाळ मंजरी,

[1] पेदतिरुमलाचारी का कीर्तन, "अन्नमाचार्य चरित्र पीठिका", पृ० ८५-८६

[2] शैवकवि तेनालिरामकृष्ण को वैष्णव मत में दीक्षित करने वाले गुरु ये ही थे अन्नमाचार्य चरित्रमु, पीठिका, पृ० ९०

६. वेंकटेश्वरोदाहरणमु, ७. सुदर्शनरगडा, ८. रेफाकारनिर्णयमु, ९. मेल्कोळ्पु, १०. भगवद्गीतावचनमुलु, ११. संकीर्तन लक्षणमु (लक्षण ग्रन्थ), १२. आन्ध्र वेदांतमु, १३. आन्ध्र हरिवंशमु, १४. श्रीवेंकटेश्वर-नीति-शतकमु, १५. श्रीवेंकटेश्वर-वचनमुलु। इन्होंने अपने इन समस्त सुन्दर रचनाओं को अपने इष्टदेव श्रीबालाजी को ही समर्पित कर दिया था।

चिन्तलपूडि एँल्लनार्युडु

इस कवि का जीवनकाल ई० १४८०-१५५० था।[1] ये श्रीवत्सगोत्री एवं नियोगी ब्राह्मण थे। इन्होंने निम्नोद्धृत तीन काव्यों की रचना की थी—

१. **राधामाधवमु**—उनके तीन काव्यों में यही सर्वप्रथम एव सर्वश्रेष्ठ काव्य है। उन्होंने स्वयं लिखा है कि श्रीकृष्णभगवान राधा-सहित सौम्य एवं रम्य आकृति में हृदयसौध में प्रत्यक्ष होकर "राधामाधव" काव्य की रचना करने की आज्ञा दी।[2] इसी से प्रेरित होकर कवि ने इस काव्य की रचना की। इन्होंने श्रीकृष्णदेवरायलु के "भुवन विजय" में इस काव्य का पाठ किया। राजा ने परम प्रसन्न होकर अमूल्य भूषण-श्रेणियों से इनका सत्कार किया, एवं उन्हें "राधामाधव" की उपाधि भी दी।[3] इस काव्य को कवि ने मदनगोपाल को ही समर्पित किया। २. तारकब्रह्मराजीयमु एवं ३. विष्णुमाया नाटक।

यह कवि अपनी कविता की स्तुति नहीं करना चाहता। उनका यह पूर्ण विश्वास था कि "यदि मेरी कविता में मनोहरता है तो समस्त संसार मेरा सत्कार अवश्य करेगा। मकरन्द से शोभित फल भ्रमरों का आमन्त्रण देने के लिये कहीं नहीं जाते।

ताळ्ळपाक चिनतिरुवेंगळनाथ

ये ताल्ळपाक पेदतिरुमलाचार्य के सुपुत्र थे। ये भारद्वाजगोत्री, रामानुजीय सम्प्रदाय में दीक्षित व्यक्ति एवं तिरुपति के निवासी थे। इनका जीवन-काल ई० १४९८ १५६१ था।[4]

ये बालाजी के परम भक्त थे। कहा जाता है कि "जब ये संकीर्तन गाते थे तब श्रीबालाजी के साक्षात्कार होते थे। वे इनके कीर्तनों का श्रवण करके आनन्दविभोर हो नाट्य करने लगते थे।"[6]

---

[1] आन्ध्रकवितरंगिणि, वाल्यूम ९, लेखक :—चागंटि शेषय्या, पृ० ८

[2] राधामाधवमु, कवि-चिन्तलपूडि एँल्लनार्युडु, प्रथम अश्वास, पद्य २६

[3] वही, पद्य ३०

[4] वही, पद्य १६

[5] आन्ध्रकवितरंगिणि, वाल्यूम ८, पृ० १४६, लेखक : चागंटि शेषय्या

[6] अन्नमाचार्य चरित्र, पीठिका, पृ० ९२

ये द्विपद-कविता के विख्यात कवि हैं। किन्तु उनके परवर्ती काल के अनेकों व्यक्तियों ने उन्हें संकीर्तनाचार्य के रूप में भी उल्लेख किया है। इनका एक भी संकीर्तन प्राप्त नहीं हुआ। स्वयं कवि ने भी कहीं अपने संकीर्तनों का उल्लेख नहीं किया। एक दिन में एक सहस्र द्विपदाओं की रचना करने की क्षमता ये रखते थे। इस तथ्य की कवि ने स्वयं सूचना दी।[1] सुमधुर तेलुगु शब्दों के द्वारा द्विपदाओं की रचना करने में ये अत्यधिक निपुण थे। द्विपद-कविता वाङ्मय में इन्हें पर्याप्त यश-प्राप्ति हुई। इनकी रचनाओं की सूची द्रष्टव्य है :—१. परमयोगीविलासमु, २. अष्टमहिषीकल्याणमु, ३. उषापरिणय, तथा ४. अन्नमाचार्य-चरित्र। इन्होंने अपने प्रथम काव्य श्रीबालाजी एवं पद्मावती को, एवं द्वितीय काव्य पद्मावती को समर्पित किया था।[2] द्विपदाओं की रचना करने में ये परम निपुण थे।

तेनाली रामकृष्ण कवि

इनका जीवन-काल ई० १५०५-१५८० था।[3] जन्मत: ये शैव थे, किन्तु कुछ काल के उपरान्त ये वैष्णव-धर्म में दीक्षित हुये। जब ये शैव थे तब इनका नाम "रामलिंग" था, जब ये वैष्णव हुये तब इनका नाम "रामकृष्ण" हो गया।[4] ये "विकटकवि"[5] के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके हास्यपूर्ण व्यक्तित्व के कारण ही इन्हें यह उपाधि प्राप्त हुई होगी। इनके संबंध में अनेक जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं। कुछ तो नितान्त अश्लील भी हैं। ऐसी असह्य कथाओं की कुछ पुस्तकें भी प्रकाशित हुई हैं। वस्तुत: बात यह है कि यदि कोई किसी अश्लील कथा को कहना चाहता है तो वह इन्हें उस कथा का नायक बना देता है। अत: ऐसी अश्लील कथाओं पर विश्वास नहीं करना चाहिये। ये हास्यरस के पोषक पद्यों को आशुकविता के रूप में कहने में बड़े निपुण थे। इसके संबंध में कुछ मुख्य अनुश्रुतियाँ इस प्रकार हैं।

एक समय कृष्णदेवराय ने अष्टदिग्गज के अधिवेशन में महाकवि धूर्जटि की प्रशंसा करते हुये चंपक छंद में दो चरण कहे—"स्तुतिपात्र आन्ध्रकवि धूर्जटि के वचनों में यह अतुलित-माधुर्य की महिमा सम्पन्न कैसे हुई ?" तुरन्त तेनालि रामकृष्ण ने उत्तिष्ठ होकर उक्त पद्य के अन्तिम दो चरणों की पूर्ति इस प्रकार की—"हाँ, इसका रहस्य मुझे ज्ञात है। भुवनेक, मोहनोद्धत, सुकुमार एवं घनतापहारिणी वारवनिताजनों के मधुराधरों की सुधारस-धाराओं का इन्होंने जी भर पान

[1] आन्ध्रकवितरंगिणि, वाल्यूम ८, पृ० १४३, लेखक —चागंटि शेषय्या

[2] आन्ध्रकवि सप्तशति, पृ० ८९

[3] आन्ध्रकवितरंगिणी, वाल्यूम ८, पृ० १

[4] वही

[5] यह नाम उल्टा करके पढ़ने पर भी अपरिवर्तित ही रहता है।

किया है ।"[१] यह कहकर सभी सभासदों को इन्होंने हास्य-रस में डुबो दिया। धूर्जटि ने इस पद्य को अपने काव्य में उद्धृत भी किया है ।

एक बार कुछ कवियों ने मिलकर रामकृष्ण का अपमान करना चाहा। उन्होंने एक द्वारपाल को उत्कोच देकर रामकृष्ण से "कुंजर-समूह मच्छर के कंठ में प्रविष्ट हुआ" यह समस्या-पंक्ति पूर्ण करने के लिये कहलवाया। सूक्ष्म बुद्धिवाले रामकृष्ण द्वारपाल से उक्त प्रश्न सुनकर, उस घटना के पीछे की भूमिका से अवगत हो गये। उन्होंने अमर्षपूर्वक पद्य में ही उसकी कठोर निन्दा इस प्रकार की—'भंगी पीकर, मुसलमान गुण्डाओं के संग में रहकर क्या तुमने शराब तो नहीं पी ? अरे रंडी का बेटा ! कहाँ का कुंजर-समूह मच्छर के कंठ में प्रविष्ट हुआ, कहो तो सही।" द्वारपाल ने इन निन्दास्पद शब्दों से आहत होकर राजा से इसकी शिकायत की। राजा ने हँसकर उसे भेज दिया। दूसरे दिन विद्वत्गोष्ठि में राजा ने रामकृष्ण को पूर्वोक्त समस्या ही देकर उसे पूर्ण करने का आदेश दिया। तब रामकृष्ण कवि ने इस प्रकार समस्या का उचित समाधान प्रस्तुत किया—"पांडव, दुर्योधन आदियों की कपट-नीति के कारण, समस्त ऐश्वर्य से हाथ धोकर विराट-जैसे अत्यल्प राजा की सेवा करने के लिये सन्नद्ध हो गये। हे संजय ! इस क्रूर विधि को मैं क्या कहूँ ? कुंजर-समूह मच्छर के कंठ में प्रविष्ट हुआ !"[२] यह प्रत्युत्तर सुनकर राजा नितान्त संतुष्ट हुये। रामकृष्ण से द्वेष करने वाले कवि पराजित होकर मन ही मन में लज्जित हुये।

एक अन्य अवसर पर कविगोष्ठी के समय अल्लसानि पेद्दना ने कृष्णदेवरायलु की प्रशंसा करते हुये यह पद्य कहा—"शरसधान में अर्जुन बड़े चतुर एवं शूरवीर हैं, किन्तु उनमें नपुंसकत्व का दोष है। शक्ति एवं बल में सिंह निस्संदेह-पूर्वक श्रेष्ठ है, किन्तु उसमें बिल-प्रवेश करने का दोष है। क्षमा में धरती सर्वोत्तम है ही, किन्तु उसमें चांचल्य का दोष है। शिव विविध ऐश्वर्यों से संपन्न भगवान हैं, किन्तु उनमें ब्रह्महत्या का दोष है। हे नरसिंह क्षितिमंडलेश्वर के सुपुत्र श्री कृष्णदेवराय ! हे राजकंठीरव ! यदि पार्थ, मृगराज, क्षिति एवं शिव उक्त दोषों से पूर्णतः मुक्त हो जायेंगे तो केवल तभी वे क्रमशः शरसन्धान, बल, क्षमा एवं विविध ऐश्वर्यों में आपकी समानता कर सकते हैं, अन्यथा नहीं।[३] यह पद्य सुनकर रामकृष्ण ने तत्क्षण यह आक्षेप किया—"हे कविता-पितामह ! सिंह बिल-प्रवेश के कारण राजा से बल में

[१] आन्ध्रकवितरंगिणि, वाल्यूम ८, पृ० ३७
'The Telugu Poets' by Gurujada Sree Ramamoorthy p. 213.

[२] वही, वाल्यूम ८, पृ० ३४, ३५
The Telugu Poets by Gurujada Sree Rama noorthy, p. 171

[३] कविजीवितमुलु, गुरुजाड श्रीराममूर्ति, पृ० २११

समानता नहीं कर सकता, ऐसा कहते हुये आपने राजा की तुलना "राजकंठीरव" कह कर सिंह से क्यों की ?" पेद्दना ने अपने दोष को स्वीकार करते हुये रामकृष्ण की सूक्ष्मनिरीक्षण शक्ति की प्रशंसा की। तब राजा ने रामकृष्ण से एक स्तुति-पद्य कहने की विनती की। रामकृष्ण का यह पद्य द्रष्टव्य है—"रणभूमि में आपके खड्ग से खंडित शत्रुराजा आकाश-मण्डल का भेद करते हुये प्रस्थान करते समय तन्मध्य उन्हें हार-कुंडल-केयूर-किरीट-भूषित श्रीमन्नारायण के दर्शन हुए। हे कृष्णारायाधिप ! वह इस शंका से कि आप अभी उसका पीछा कर रहे हैं, मन ही मन अत्यन्त भयभीत होते हुये वहाँ से सवेग पलायन करने लगा।[1] राजा ने रामकृष्ण की कवि-प्रतिभा से मुग्ध होकर उन्हें अमूल्य पुरस्कार दिये।

रचनायें—१. उद्भटाराध्य चरित्रमु :—यह शैव-काव्य है। वैष्णव-सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पूर्व रामकृष्ण ने इस ग्रन्थ की रचना की।

२. लिंग पुराणमु :—कहा जाता है कि वैष्णव-सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पूर्व रामकृष्ण ने इसकी रचना की। यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है।

३. घटिकाचल महात्म्यमु :—यह वैष्णव काव्य है।

४. पाडुरंग महात्म्यमु :—यह काव्य कवि ने विरुरि-वेदाद्रि-मंत्री को समर्पित किया था। इनके समस्त ग्रन्थों में यही सर्वोत्तम है। यह उच्चकोटि का वैष्णवकाव्य है। कवि ने इसमें शिव-स्तुति भी की है।

५. हरिलीलाविलासमु :—यह अनुपलब्ध है।

नंदि तिम्मना

ये कृष्णदेवरायलु के अष्टदिग्गजों में से एक थे। अतः स्पष्ट है कि ये ई० १६वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के कवि थे। ये आर्वेल नियोगी ब्राह्मण, कौशिक गोत्री एवं आपस्तंब सूत्र थे। इनके इष्टदेव शिव थे। इस कवि को 'मुक्कु तिम्मना" नाम से भी अभिहित किया जाता है। "मुक्कु" शब्द का हिन्दी में अर्थ "नासिका" है। एक अनुश्रुति के अनुसार इस कवि ने एक समय नाक का सुन्दर वर्णन करते हुये एक पद्य की रचना की। भट्टुमूर्ति ने इस पद्य को धन देकर क्रय किया एवं उसे अपने "वसुचरित्र" काव्य में जोड़ा। इस पद्य का भावार्थ इस प्रकार है—"विभिन्न पुष्पों के मकरन्द-सौरभ से आनन्द-विभोर होने वाले सारंगों ने मेरा तिरस्कार क्यों किया, इस प्रकार सोच-विचार कर चंपक पुष्प शोकग्रस्त हुआ। उन्होंने अपने मनोरथ की पूर्ति के लिए प्रचंड तपस्या की एवं तत्फलस्वरूप एक तन्वी की नासिका के रूप में परिणत हुआ तथा समस्त पुष्पों की सुगन्धि से मंडित हुआ। तब उस नासिका-रूपी चंपक के सौरभ की प्राप्ति करने के उत्कट प्रलोभ से नयनों की पुतलियाँ-रूपी दो भ्रमर उसके

[1] कविजीवितमुलु, गुरुजाड श्रीराममूर्ति, पृ० २११

दोनों पार्श्वों में सतत मँडराते ही रहे।[१] इस अद्भुत नासिका-वर्णन के कारण ही उन्हें "मुक्कुतिम्मना" का नाम सार्थक हुआ।

इन्होंने "पारिजातापहरण" नाम के सुन्दर प्रबन्ध काव्य की रचना करके उसे श्रीकृष्णदेवरायलु को समर्पित किया। इस काव्य की रचना करने के कारण के संबंध में एक महत्वपूर्ण अनुश्रुति है। तत्कालीन सम्प्रदायों के अनुसार श्रीकृष्णदेवरायलु की नववधू तिरुमल देवी को अपने मैकेवालों ने इस कवि को दहेज के रूप में समर्पित किया था। तत्काल राजान्त:पुरों में एक शिष्टाचार प्रचलित था। उसके अनुसार शयनागार में राजा से भी पूर्व राणी ही प्रवेश करती थी। राजा के आगमन के पूर्व ही यदि उन्हें लेटने की इच्छा हो तो, तब राणी उस शय्या पर राजा के चरणों के रखने के स्थल पर अपना सिर रखकर विश्राम कर सकती थी। जब राजा अन्त:पुर में पधारते हैं तब राणी उसका सुस्वागत करती थी एवं शैय्या पर उसके अभिमुख होकर सोया करती थी। एक दिन राणी तिरुमलदेवी राजागमन के पूर्व ही शयन मंदिर में गयी एवं राजा के आने में बहुत विलम्ब होने के कारण उक्त प्रथा के अनुसार विश्राम करती हुई सो गई। राजा कृष्णदेवरायलु ने तदुपरान्त शयनागार में प्रविष्ठ होकर राणी को जागृत करना विस्मृत कर दिया तथा यथाप्रकार सो गये। निद्रा में परवश तिरुमलादेवी की सुवर्ण-पायलों से सुशोभित पैर राजा के सिर पर जा पड़ा। राजा सचेत हो गये। वे यह समझकर कि राणी ने ऐच्छिक रूप से ऐसा व्यवहार किया, नितान्त क्रुद्ध हो गये एवं बहुत काल तक उसके अन्त:पुर में कदाचित नहीं गये। राणी ने अनेक बार उनके यहाँ जाकर अपने निर्दोषत्व को प्रकट कर, क्षमा-याचना की किन्तु इससे कोई प्रयोजन नहीं रहा। इस राणी से प्रेरित होकर नन्दितिम्मना ने "पारिजातापहरण" काव्य की रचना की। "भुवन विजय" में कवि ने राजा के सम्मुख इस काव्य का पाठ किया। इस काव्य की नायिका बड़ी मानिनी सत्यभामा कोपोद्दीपित होकर अपने को मनाने के लिये आये हुये श्रीकृष्ण के सिर का अपने वाम-पाद से प्रहार करती है। कृष्ण इसे अपना सौभाग्य समझ लेते हैं एवं उनको संतृप्त करने के लिये स्वर्ग से पारिजात वृक्ष का आनयन करते हैं। राजा ने तन्मयता से काव्य-पाठ का श्रवण किया। राजाभिप्राय का अनुमान करके कवि ने तिरुमलदेवी को यह संदेश भेजा कि राजा इस रात आपके भवन में प्रवेश करेंगे। उनका उचित स्वागत करके, उनके हृदय का अपहरण कर लेना। उस दिन से राजा एवं राणी परस्पर पूर्ववत ही प्रेम करने लगे।[२] "पारिजातापहरण" काव्य की कथा को कवि ने

[१] भट्टुमूर्ति का "वसुचरित्र", गुरुजाड श्रीराममूर्ति के द्वारा "कविजीवितमुलु" ग्रन्थ में उद्धृत, पृ० १८५

[२] आन्ध्रकवितरंगिणि, वाल्यूम ७, पृ० २२८-२२६, पुट्टपर्ति नारायणाचारी कृत निबंध "नंदि तिम्मना" विज्ञान सर्वस्वमु, वाल्यूम ३, पृ० ८२० में भी इसका उल्लेख है।

"हरिवंशपुराण" से अपनाया है। इसमें सत्यभामा का कृष्ण के सिर पर अपने वाम-पाद-प्रहार करने का संकेत भी नहीं है। राणी एवं राजा के प्रणय-कलह को दूर करने के संकल्प से ही कवि ने उक्त प्रसंग की मौलिक उद्भावना की। "हरिवंशपुराण" के अनुसार श्रीकृष्ण पारिजातवृक्ष के लिये तपस्या करके शिव से वरदान पाते हैं। देवेन्द्र एवं श्रीकृष्ण में जब भयानक युद्ध होने लगा तब समस्त ब्रह्मांड हिलने डुलने लगे। तब कश्यप आदि महर्षियों के आदेश से इन्द्र कृष्ण को पारिजातवृक्ष समर्पित कर देते हैं। किन्तु इस काव्य में कृष्ण अनायास इन्द्र को पराजित करके पारिजातवृक्ष का आनयन करते हैं। इस प्रकार कवि कृष्ण के पराक्रम और शौर्य की अतिशयता के प्रकाशन द्वारा व्यंजना से कृष्णदेवराय के गुणों की महिमा को ही सूचित करना चाहते हैं। इस काव्य में शृंगार-रस की ही प्रधानता है। किन्तु यत्र तत्र कृष्ण की अलौकिकता का भी इस काव्य में आभास होता है।

श्रीकृष्णदेवरायलु

इनका जीवन-काल ई० १५०६-१५२६ था।[1] ये विजयनगर-साम्राज्य के चक्रवर्ती तुळुवनरसराय की द्वितीय पत्नी नागाम्बिका के पुत्र थे। श्रीकृष्णदेवरायलु की तीन पत्नियाँ थीं—१. तिरुमल देवी (पट्टमहिषी), २. अन्नपूर्णा देवी एवं ३. चिन्ना देवी।

कृष्णदेवराय ने १८ वर्षों की आयु समाप्त होने के पूर्व ही संस्कृत, आन्ध्र, कन्नड़ एवं फारसी भाषाओं में महान पांडित्य का आर्जन किया था। रायलु बीस वर्ष की आयु में ही विजयनगर साम्राज्य के सिंहासन पर अधिष्ठित हुये। धनुर्वेद, अश्वारोहण, राजनीति एवं दण्डनीति में ये महान् चतुर थे। रायलु की दिनचर्या में व्यायाम[2] एवं विज्ञान का समुपार्जन, इन दोनों का मणिकांचन समन्वय हुआ था। व्यायाम, तलवार चलाना, घुड़सवारी, देवार्चना एवं विभिन्न विद्याओं की साधना—यही उनकी दैनिक-चर्या थी।

रायलु परिपालनादक्ष एवं न्यायपक्षपाती थे। युद्धों में वे स्वयं सैन्याधिपत्य को स्वीकार करते थे। ये रणरंग में धूप के रवि के समान एवं प्रजापालन करने में शरत् रात्रि की शशि की भाँति भासित होते थे। इन्होंने अनेक नगर, ग्राम, तालाब, मंदिर, महल, उत्कृष्ट शिल्प इत्यादि का निर्माण कराया। हंपी में विरुपाक्ष मंदिर[3] कृष्णस्वामी का मन्दिर एवं हजारा रामालय का निर्माण इन्हीं ने कराया था। ये स्वयं वैष्णव-संप्रदाय में दीक्षित होने पर भी अन्य सम्प्रदायों एवं धर्मों के प्रति भी उदार भाव रखते थे। उनके द्वारा निर्मित शिव मन्दिर "विरुपाक्षालय" एवं अनेकों मस्जिदें भी इस तथ्य की ओर इंगित करते हैं।

[1] संग्रहान्ध्रकोशमु, वाल्यूम, २, पृ० ७८५ सुब्रह्मण्यमु कृत "कृष्णदेवरायलु" निबन्ध।
[2] "व्यायाम स्थिर बंधिबंध", अल्लसानि पेद्दना कृत "मनुचरित्र", ६/१२३
[3] यह शैव मंदिर है।

इनके "भुवन-विजय" में "अष्टदिग्गज" नाम से आठ प्रख्यात आन्ध्रकवि विद्यमान थे। रायलु ने तेलुगु कवियों को ही नहीं वरन् कन्नड़, तमिल एवं संस्कृत कवि-पंडितों को भी अपने भुवनविजय में आश्रय देकर साहित्य की अभिवृद्धि की।

रचनायें—इन्होंने पाँच संस्कृत काव्यों की रचना की थी जो आज अनुपलब्ध हैं। इन काव्यों का संकेत स्वयं कवि ने अपने "आमुक्तमाल्यदा" के काव्यारंभ में प्रस्तुत किया है। इन काव्यों की सूची इस प्रकार है:—

१. मदालस-चरित्र, २. सत्यवधू प्रीणनमु, ३. सकलकथासार संग्रहमु, ४. ज्ञान चिन्तामणि एवं ५. रसमंजरि। इस कवि का उपलब्ध काव्य केवल "आमुक्तमाल्यदा" मात्र है।

आमुक्तमाल्यदा—यह आन्ध्र वाङ्मय के पंच-महाकाव्यों में से एक माना जाता है।[१] कृष्णदेवरायलु ने आधुनिक आन्ध्र की उत्तरी सीमा में स्थित श्रीकाकुळम में प्रस्थान करके आन्ध्र-विष्णु मन्दिर के दर्शन किये एवं हरिवासरोवास व्रत का आचरण किया। उसी दिन रात्रि के समय राजा को लक्ष्मी-विष्णुओं का स्वप्नदर्शन हुआ।[२] विष्णु ने उनको इस प्रकार आदेश दिया—"कृष्णावतार के समय मैंने एक पुरुष से समर्पित फूलमाला को अनिच्छापूर्वक स्वीकार किया। उस पुरुषदत्त फूलमाला के धारण से हम अप्रसन्न हुये। अतः हमारे संतोषार्थ फूलमालाओं को पहले स्वयं धारण करके, उसके उपरान्त उन्हें मुझे समर्पित करने वाली सुन्दरी चूडिकुडुत्त नाच्चियार (गोदा देवी) का, जिसने अन्त में मेरे ही साथ विवाह किया था, उसकी कथा का वर्णन करो।[३] इतने संस्कृत ग्रन्थों के रचयिता मुझसे तेलुगु में उक्त कथा की रचना करने के लिये क्यों कह रहे हैं, इस प्रकार का तुम्हें संशय होगा। इसका एक प्रबल कारण है। मैं आन्ध्र देश के वासी ही नहीं, अपितु आन्ध्र प्रजा का इष्टदेव भी हूँ। तेलुगु नवीन भाषा तो नहीं है। विभिन्न भाषा-भाषी तुम्हारे सामन्त तुम से विविध भाषाओं में भाषण करते रहते हैं। तुम्हें अब तक पूर्णतः अनुभव हुआ होगा कि समस्त भाषाओं में तेलुगु ही श्रेष्ठ, अत्युत्तम एवं सुन्दर भाषा है।[४] अतः तुम मेरे आदेशानुसार काव्य की रचना करके उसे श्री बालाजी भगवान को समर्पित कर दो। बालाजी और मैं एक दूसरे से अभिन्न हैं, हम दोनों में नाम-मात्र का भेद है।"[५] भगवान की सप्रेम आज्ञा के अनुसार ही कवि ने तेलुगु में उक्त काव्य की रचना करके उसे श्री बालाजी को ही समर्पित कर दिया।

---

[१] संग्रहान्ध्र विज्ञान कोशमु, वाल्यूम २, पृ० ७६०

[२] आमुक्तमाल्यदा, पीठिका, पद्य १२

[३] वही, पद्य १४

[४] तेलुगदेलयन्न देशंबु देलुगेनु } ऐल्लनृपुलु गोलुव नेरुंगवे बासाडि
देलुगुवल्लभुंड देलुगोकंडे } देशभाषलंदु देलुगे लेस्स
—वही, पद्य १५

[५] वही, पद्य १७

आतुकूरि मोल्ल

ये ई० १६ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में रहने वाली आन्ध्र कवयित्री थीं।[1] ये कुम्हार जाति की स्त्री आतुकूरि केसनसेट्टि की कन्या एवं नेल्लूर जिला गोपवरमु ग्राम की निवासिनी थीं। श्रीमती ऊटुकूरि लक्ष्मीकान्तम्मा के अनुसार ये विधवा स्त्री थीं।[2] तेलुगु-वाङ्मय में संग्रह-रामायणों की रचना करने वालों में मोल्ल का स्थान सर्वोपरि है।

इनके नाम से केवल "मोल्लरामायण" काव्य उपलब्ध हुआ है। इस काव्य में उत्तररामायण की कथा का उल्लेख नहीं है। ये अनन्य राम-भक्त होने के कारण सीता-राम के अनन्य वियोग से युक्त उत्तर रामायण की कथा का वर्णन नहीं कर पाई। क्योंकि इष्ट देवों का यह दुस्सह वियोग वे कदाचित् सहन नहीं कर सकती थीं। मोल्ल के पूर्व ही तेलुगु-साहित्य में "रंगनाथ रामायण", "भास्कर रामायण" आदि प्रसिद्ध रामायणों की रचना हो चुकी थी। तो इन्होने पुनः रामायण की रचना क्यों की ? इसका समाधान कवयित्री ने स्वयं प्रस्तुत किया है—"भक्ति एवं मुक्ति-प्रदाता भगवान श्रीरामचन्द्रजी की कितने ही बार स्तुति क्यों न की जाय, इसमें दोष क्या है ?"[3] प्राकृतजनों की स्तुति करने में इनकी वाणी सदा मूक रही, वे स्वयं कहती हैं कि "श्रीरामचन्द्रजी जैसे नरपालक की स्तुति के लिये अभ्यस्त यह जिह्वा क्या कभी फुटकल राजाओं की स्तुति कर सकती है।"[4] पोतना की ही भाँति इस काव्य के कर्तृत्व का गौरव और श्रेय श्रीरामचन्द्रजी को ही प्रदान करके कवयित्री ने अपने निरहंकार तथा भक्ति-पूर्ण व्यक्तित्व का परिचय दिया है— "भगवान श्रीरामचन्द्रजी ने स्वयं मेरी वाणी के द्वारा ऐहिक एव पारलौकिक सुखों के साधन-स्वरूप इस पुण्य-कथा को कहलाया है। अतः हे कवियो ! इस काव्य का छिद्रान्वेषण मत करना।"[5] इन्होंने स्पष्ट रूप से अपने काव्य लक्षणों की अनभिज्ञता की घोषणा करके अपने निराडम्बर स्वभाव का परिचय भी प्रस्तुत किया है। यह पांडित्य, वेदान्तज्ञान और अलंकार-शास्त्र के बृहत् ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को ही प्रमुखता देने वाली श्रीरामचन्द्रजी की अनन्य उपासिका

[1] आन्ध्रकवयितृलु-कवित्व लक्षणमु, निबन्ध, लेखक—रावूरि चिट्टिवेंकट सुब्रह्मण्यमुगारु, "भारती" सितम्बर, १९२४, पृ० २८
"आन्ध्र कवितरंगिणि", वाल्यूम ८, पृ० २२४

[2] कवियत्री ने अपने काव्य में अपने पति का किंचित परिचय भी नहीं दिया है, इसी के आधार पर लक्ष्मीकांतम्मा ने उक्त निष्कर्ष निकाला है।
—आन्ध्र कवयित्रुलु, पृ० १७

[3] मोल्लरामायणमु, पीठिका, पद्य २१

[4] वही, पद्य १३

[5] वही, पीठिका, पद्य २१

थी—"महान विद्वान एवं पंडित ही नहीं अपितु विद्याविहीन व्यक्ति भी भगवान का गुणगान करते हैं। इन दोनों में भगवान के कृपापात्र वे ही होंगे जिनमें वस्तुतः अनन्य भक्ति है। केवल विद्या, पांडित्य, इत्यादियों से क्या भगवान को प्रसन्न किया जा सकता है? (अर्थात् नहीं)"[1] इस ग्रन्थ की रचना करने में उन्होंने भास्कर, पोतना एवं श्रीनाथ से कुछ प्रभाव भी ग्रहण किया है।

ऊपर कुछ प्रमुख कवियों का परिचय प्रस्तुत किया गया है। विस्तार के भय से शेष कवियों का परिचय निम्नलिखित तालिका के माध्यम से प्रस्तुत किया जा रहा है:—

संख्या	कवियों के शुभनाम	जाति, जन्मस्थान आदि	कवियों द्वारा प्रणीत केवल वैष्णव-काव्य	इष्टदेव	गुरु एवं संप्रदाय
१.	अय्यलराजु त्रिपुरांतकुडु[2]	आर्वेल नियोगी ब्राह्मण, आपस्तंब सूत्र, कड़पा जिले में स्थित बोंटिमिट्ट ग्राम के निवासी	रघुवीरशतक	वोंट्टिमिट्ट ग्राम में स्थित श्री रामचंद्रजी	श्रीसंप्रदाय
२.	आन्ध्रकवि रामय्य		विष्णुकांची महात्म्यमु (अनुपलब्ध) प्रबन्ध रत्नावली में इसके कुछ पद्य संकलित हैं।	विष्णु	श्रीसंप्रदाय
३.	चरिगोंड धर्मनकवि	नियोगी ब्राह्मण, कौंडिन्य गोत्री	चित्र भारत (यह अनुमलपल्लि पेद्दनामात्य को समर्पित किया था।)	श्रीकृष्ण	श्रीसंप्रदाय

---

[1] मोल्लरामायण, पद्य २३

[2] ये बम्मेर पोतना के समकालीन थे, शतककवुलचरित्रमु, लेखक—वंगूरिसुब्बाराव पंतुलु, पृ० १४६

संख्या	कवियों के शुभनाम	जाति, जन्मस्थान आदि	कवियों द्वारा प्रणीत केवल वैष्णवकाव्य	इष्टदेव	गुरु एवं संप्रदाय
४.	ताल्लपाक तिम्मक्क (ताल्लपाक अन्नमाचार्य की पत्नी)	ब्राह्मण स्त्री	सुभद्राकल्याणमु	श्रीबालाजी एवं पद्मावती	श्रीसंप्रदाय
५.	नंदिमल्लय एवं घंट सिंगय्य	ये दोनों नियोगी ब्राह्मण थे।[1]	वराह पुराण (यह श्रीकृष्णदेव राय के पिता तुलुवनरसराय को समर्पित किया गया था।)	शिवजी	नंदि मल्लय्या के गुरु दक्षिणा-मूर्ति ; घंट सिंगय्य के गुरु अघोरशिव
६.	पिल्ललमर्रि पिनवीरभद्र	नियोगी ब्राह्मण, भरद्वाज गोत्री	जैमिनी भारत (यह नरसिंहराय को समर्पित किया गया था।)	शिव	शैव संप्रदाय
७.	प्रोलुगंटि[2] चिन्न शौरि	आर्वेल नियोगी ब्राह्मण, वशिष्ट गोत्री, प्रोलुगंटी के निवासी	नृसिंह पुराण; बाल भारत; सौभरी चरित, (ये तीनों अनुपलब्ध)	नृसिंह[3]	श्रीसंप्रदाय
८.	भैरव कवि	नियोगी ब्राह्मण, निजाम राष्ट्र के निवासी	श्रीरंग महात्म्य (यह राघवामात्य को समर्पित किया गया था।)[4]	श्रीरंगनाथ (विष्णु)	श्रीसंप्रदाय

[1] मल्लयकवि कौशिक गोत्री एवं सिंगनामात्य के पुत्र थे। सिंगय्य कवि भरद्वाज गोत्री एवं नांगयामात्य के पुत्र थे। इन्हें "मलयमारुतकवि" की उपाधि है—"आन्ध्रकवि तरंगिणि", वाल्यूम ६, पृ० ११३—लेखक : चागंटि शेषय्य।

[2] ये साल्लव नरसिंह राय के आश्रित कवि थे—"आन्ध्र वाग्गेयकार चरित्र", पृ० १६५

[3] कवि ने अहोबिल-नृसिंह भगवान को नृसिंह पुराण समर्पित किया था—"आन्ध्र कवि सप्तशति", पृ० ७०, लेखक : बुलुसु वेंकटरमणय्य

[4] "तेलुगु पोएट्स", पार्ट १, लेखक : बी० एल० पन्तुलु, पृ० ६१४

संख्या	कवियों के शुभनाम	जाति, जन्म-स्थान आदि	कवियों द्वारा प्रणीत केवल वैष्णव-काव्य	इष्टदेव	गुरु एवं संप्रदाय
९.	मडिकि अनंतय्य	नियोगी ब्राह्मण, भरद्वाजगोत्री, राजमहेन्द्रवरम के समीपस्थ मडिकि ग्राम के निवासी[1]	विष्णुमाया नाटक (कवि ने इसे चितलपल्लि एल्लयामात्य को समर्पित किया था)	श्रीकृष्ण[2]	श्रीसंप्रदाय
१०.	मडिकि सिंगना (ये मम्मडि भूपति के दरबारी-कवि थे।)	नियोगी ब्राह्मण	पद्मपुराणोत्तरखंड; भागवत का दशम स्कंध; ज्ञानवासिष्ठ रामायण; रुक्मिणी कल्याण; (हस्तलिखित प्रति)	श्रीकृष्ण	श्रीसंप्रदाय
११.	रायकवि तिप्पय्य[3]	कौंडिन्य गोत्री	वोंटिमिट्टरघुवीर-शतक	श्रीराम-चन्द्रजी	श्रीसंप्रदाय
१२.	वेन्नेलकंटि जन्नमंत्रि	आर्वेल नियोगी ब्राह्मण, हरितस गोत्री	देवकीनंदन शतक	श्रीकृष्ण	श्रीसंप्रदाय
१३.	संकुसाल नृसिंहकवि[4]	कडपा मंडल के निवासी ब्राह्मण	कविकर्ण रसायन	श्रीरंगनाथ (विष्णु)	भट्ट पाराशर; श्रीसंप्रदाय

---

[1] "आन्ध्र कवि तरंगिणि" वाल्यूम ४, पृ० २०३

[2] इन्होंने विष्णु-माया-नाटक को अपने ग्राम में प्रतिष्ठित वेणुगोपाल भगवान को ही समर्पित किया था। कवि ने अपने ग्रन्थ में "इतिश्री मदनगोपालवरप्रसादलब्ध कविताविलास" इस प्रकार संकेत किया है। इतना ही नहीं अपने ग्रन्थ में "नवकामगोपाल" "कंदर्प गोपाल" आदि शब्दों का यत्र-तत्र प्रयोग भी किया है। इन बातों से इस कवि का इष्टदेव श्रीकृष्ण होने का अनुमान किया जा सकता है। —आन्ध्र कवि तरंगिणि, वाल्यूम, ४, पृ० २०५

[3] ये कर्नाटक राजा रेंडवदेव राय के दरबारी कवि थे, "आंध्र कवितरंगिणि", पृष्ठ ७९

[4] श्री वेटूरि प्रभाकर शास्त्रीजी के अनुसार ये ताल्लपाक अन्नमाचारी के पुत्र थे एवं ई० १५ वीं शताब्दी के कवि। "अन्नमाचार्य चरित्र", पीठिका, पृ० ८३

संख्या	कवियों के शुभनाम	जाति, जन्म-स्थान आदि	कवियों द्वारा प्रणीत केवल वैष्णव-काव्य	इष्टदेव	गुरु एवं संप्रदाय
१४.	अय्यलराजु रामभद्र	आर्वेल नियोगी ब्राह्मण, आपस्तंब सूत्र[१]	रामाभ्युदय (कवि ने इसे गोब्बूरि नरसराजु को समर्पित किया था)[२]	श्रीराम-चन्द्रजी	श्रीसंप्रदाय
१५.	अल्लसानि पेद्दना	नंदवरिक नियोगी ब्राह्मण	हरिकथासार (अनुपलब्ध)	विष्णु	शठगोपयति ; श्रीसंप्रदाय
१६.	एलकूचि बाल-सरस्वती (ये अलिय रामराजु के दरबारी कवि थे)	वैदिक ब्राह्मण ; कौण्डिन्य गोत्री	राघवयादवपांडवीय (यह तेलुगु का सर्वप्रथम त्रयर्थि काव्य है) ; वामनपुराण ; भ्रमरगीत	श्रीबाला-जी (विष्णु)	श्रीसंप्रदाय
१७.	कदलिढि भाव-नारायण[3]	नियोगी ब्राह्मण ; सालंकायन गोत्री ; कृष्णा ज़िला के कैंकलूर तालूक के निवासी	विष्णुपुराण (ये काव्यों को प्राकृत-जनों को समर्पित करने के पक्ष में नहीं थे। इसीलिये इस ग्रन्थ को उन्होंने जगन्नाथ-स्वामी को समर्पित किया) ; पुरुषोत्तम खंड	विष्णु	श्रीसंप्रदाय

[१] ये कडपा ज़िला ओंटिमिट्टा ग्राम के निवासी थे—"आन्ध्र कवितरंगिणि", वाल्यूम १, पृ० २

[२] इस ग्रन्थ का रचना-काल लगभग ई० १५५० होगा—"आन्ध्र कवितरंगिणि", वाल्यूम १, पृ० २

[3] ये ई० १५४५ के लगभग रहते थे—आंध्र कवितरंगिणि, वाल्यूम ६, पृ० १४३

संख्या	कवियों के शुभनाम	जाति, जन्म-स्थान आदि,	कवियों द्वारा प्रणीत केवल वैष्णव-काव्य	इष्टदेव	गुरु एवं संप्रदाय
१८.	कंदकूरि रुद्रकवि	विश्वब्राह्मण	सुग्रीव विजय ; बलबदरीशतक[१]; कुछ अष्टक[२];	कंदुकूरि जनार्दन (विष्णु)[३]	आत्रेयाचार्य ; अद्वैत संप्रदाय
१९.	काकमानि गंगाधर		बालभारत (अनुपलब्ध)	विष्णु	श्रीसंप्रदाय
२०.	कामिनेनि मल्लारेड्डी	हैदराबाद मंडल के बिक्कनवोलु ज़िला भूभाग के ये राजा थे।	पद्मपुराण	शिवजी[४]	शैव-संप्रदाय
२१.	कोटिकेल-पूडि सोमनाथ[५]	नियोगी ब्राह्मण, कोटिकेलपूडि ग्राम के निवासी	विष्णु मित्रोपाख्यान (यह गाटेपल्लि तिप्पमंत्री को समर्पित किया गया था)	विष्णु	श्रीसंप्रदाय
२२.	घट्टप्रभुवु या शेषकवि	ब्राह्मण ; नेल्लूरि प्रान्त के निवासी[६]	कुचेलोपाख्यान ; सत्यभामा विजय ;	श्रीकृष्ण	श्रीसंप्रदाय
२३.	चक्रपुरि राघवाचार्य		विप्रनारायणचरित्र	श्रीरंगनाथ	श्रीसंप्रदाय

[१] यह पूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं है।

[२] एक अष्टक मुद्रित हो गया है, उसका नाम है "जनार्दनाष्टक"।

[३] यद्यपि ये कंदुकूरि-जनार्दन (विष्णु) के परमभक्त थे, तथापि अपने "निरंकुशोपाख्यान" काव्य इन्होंने शिवजी को समर्पित करके अपने शिव-केशव-अभेद भावना को व्यक्त किया।

—शतककवुलचरित्रमु, पं० वंगूरिसुब्बारावुपंतुलु, पृ० २०३

[४] इन्होंने पद्मपुराण एवं अन्य ग्रन्थों को भगवान शिव को ही समर्पित किया था।
—आंन्ध्रकवितरंगिणि, वाल्यूम ११, पृ० ३२

[५] इन्हें शारदाभरणांक की उपाधि थी—आंध्रकवितरंगिणि, वा० १, पृ० १३२

[६] आंध्रकवितरंगिणि, पृ० ६५

संख्या	कवियों के शुभनाम	जाति, जन्म-स्थान आदि	कवियों द्वारा प्रणीत केवल वैष्णव-काव्य	इष्टदेव	गुरु एवं संप्रदाय
२४.	चित्रकवि पेद्दना	प्रथम शाखा ब्राह्मण भरद्वाज गोत्री	हनुमान शतक (अनुपलब्ध)	हनुमान	कंदाल अण्ण ; श्रीसंप्रदाय
२५.	चिरुमूरि गंगराजु		कुशलवोपाख्यान (अनुपलब्ध)	श्रीराम-चंद्रजी	श्रीसंप्रदाय
२६.	ताल्लपाक चिनतिरु-मलाचार्य	नंदवरीक ब्राह्मण	आध्यात्मसंकीर्तन ; शृंगार संकीर्तन ; अष्टभाषादंडक	श्रीबाला जी एवं पद्मावती	श्रीसंप्रदाय
२७.	चेदलवाड मल्लना[1]	आर्वेल नियोगी ब्राह्मण, आपस्तंब सूत्र, एवं श्रीवत्स गोत्री	विप्रनारायण चरित्र[2]	श्रीरंगनाथ	श्रीसंप्रदाय
२८.	ताल्लपाक श्रीनिवासुडु	ब्राह्मण	लक्ष्मीवेंकटेश्वर-सीसपद्यमुलशतकमु (अमुद्रित)	श्रीबाला-जी एवं पद्मावती	श्रीसंप्रदाय
२९.	परमानंदयति	कावेरी प्रान्त के निवासी[3]	संपगिमन्नशतक ; परमानंदशतक ; दत्तात्रेयशतक	हरिहर-मूर्ति	दत्तात्रेय शिवाद्वैत संप्रदाय
३०.	दोनूरि कोनेरुकवि	नियोगी ब्राह्मण, श्रीवत्स गोत्री, आश्वलायन सूत्र	बालभागवत (पद्य-काव्य) बालभागवत (द्विपदा)[4]	श्रीकृष्ण	श्रीसंप्रदाय

[1] ये ई० १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के सारंगुतम्मय्या कवि के समकालीन कवि थे —"दि तेलुगु पोएट्स" गुरुजाड श्रीराममूर्ति, पृ० १७

[2] यह कार्वेटिनगर के संस्थानाधिपति तिरुमलराजु को समर्पित किया गया था— —आंध्रकवितरंगिणि, वाल्यूम १०, पृ० ६२

[3] शतककवुलचरित्रमु, पृ० २२८, २२६

[4] उक्त ग्रन्थों को कवि ने क्रमश: आर्वीटि तिम्मराजु एवं चिनतिम्मराजु को समर्पित किया था—आंध्रकवि सप्तशति, पृ० ५०, ५१

संख्या	कवियों के शुभनाम	जाति, जन्म-स्थान आदि	कवियों द्वारा प्रणीत केवल वैष्णव-काव्य	इष्टदेव	गुरु एवं संप्रदाय
३१.	नामयोगि		श्रीबालाजी के नाम पर ४० पंचचामरों की रचना (अप्रकाशित)	श्रीबाला जी	श्रीसंप्रदाय
३२.	नादेंड्ल गोपमंत्रि (कोंडवीडु के राजा)	आर्वेल नियोगि ब्राह्मण कौशिक गोत्री	कृष्णार्जुन संवाद (कवि ने इसे कोंडवीडु के राघवेश्वर स्वामी को समर्पित किया था)	श्रीराम-चंद्रजी	श्रीसंप्रदाय
३३.	नेल्लूरि मुत्तराजु		पद्मावती कल्याण (अनुपलब्ध)	श्रीबाला जीं एवं पद्मावती	श्रीसंप्रदाय
३४.	पिंगलि सूरना[१]	नियोगी ब्राह्मण, गौतम गोत्री	गरुड पुराण (यह अनुपलब्ध है) राघवपांडवीय	शिवजी[२]	शैवसंप्रदाय
३५.	पोन्नगतोट औबल कवि		वामन पुराण (अनुपलब्ध)[३]	विष्णु	श्रीरंगाचारी ; श्रीसंप्रदाय
३६.	बम्मेर केसना एवं बम्मेर मल्लना[४]	नियोगी ब्राह्मण ; निजाम राष्ट्र के बम्मेरा ग्राम के निवासी	विष्णु भजनानंद (यह पेनुमेत्स राजा को कवि ने समर्पित किया था)	शिव एवं विष्णु[५]	अद्वैत संप्रदाय

[१] इनका रचनाकाल ई० १५४०-१५७० था।—"विज्ञान सर्वस्वमु", तेलुगु संस्कृति २, वाल्यूम ४, पृ० १२१२

[२] कवि ने अपना "राघवपांडवीय" काव्य विरुपाक्ष (शिव) को ही समर्पित किया था।—आंध्रकवितरंगिणि, वाल्यूम १०, पृ० १००

[३] यह राणाजगदेव भूपति को समर्पित किया गया था।—आंध्रकवि सप्तशति, पृ० २८

[४] ये दोनों युगलकवि थे। ये दोनों बम्मेर पोतनामात्य के पोते थे।—आन्ध्रकवि सप्तशती, पृ० ४५

[५] इन्होंने दाक्षायणीपरिणय काव्य की रचना करके अपनी शिव-भक्ति का भी परिचय दिया है।

संख्या	कवियों के शुभनाम	जाति, जन्म-स्थान आदि	कवियों द्वारा प्रणीत केवल वैष्णव-काव्य	इष्टदेव	गुरु एवं संप्रदाय
३७.	मुकुंदयोगी		श्रीरंग महात्म्यमु (अमुद्रित)[1] यह श्रीरंगनाथ भगवान को समर्पित किया गया था।	श्रीरंगनाथ	कंदाळ अप्पलाचार्य ; श्रीसंप्रदाय
३८.	मुम्मडि मल्लन्न	नियोगी ब्राह्मण, शांडिल्य गोत्री[2], कृष्णाज़िला कोप्पुरावू के निवासी	श्रीरामस्तवराज (अप्रकाशित), यह श्रीकृष्ण को समर्पित किया गया था।[3] कृष्णसचिवुनिमल्ला शतक ; मुक्तिकांताप्रिय शतक	श्रीकृष्ण	धेनुवुकोंड तिम्मय ; श्रीसंप्रदाय
३९.	माडय कवि	नियोगी ब्राह्मण श्रीवत्स गोत्री, कृष्णा ज़िला गुडिवाडा के निवासी	मैरावणचरित्र (कवि ने इसे अब्बयामात्य के पुत्र गोपमंत्री को समर्पित किया था)	शिवजी	शैवसंप्रदाय
४०.	रायसमु वेंकटपति	नियोगी ब्राह्मण, वसिष्ठ गोत्री एवं पेनुगोंडा के निवासी	लक्ष्मीविलास (यह श्रीबालाजी को समर्पित किया गया था)	श्रीबालाजी एवं पद्मावती	श्रीसंप्रदाय

[1] प्राच्यलिखित पुस्तक भांडारमु, मद्रास की हस्तलिखित प्रति की संख्या १०१७ (दि) ; तंजाऊर के सरस्वती महल-पुस्तकालय में भी उक्त प्रकार की प्रति उपलब्ध है, हस्तलिखित प्रति की संख्या ३६२, ३६३. यह वैष्णव तत्वप्रतिपादक ग्रन्थ है। इसका मूलस्रोत ब्रह्मांड पुराण है।

[2] चागंटि शेषय्या ने उपलब्ध साधनों के आधार पर यह अनुमान किया कि इस काव्य का रचनां काल ई० १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में होगा।—आंध्रकवितरंगिणि, वा० १०, पृ० १९६

[3] यह वेदान्तविषयक काव्य है।

संख्या	कवियों के शुभनाम	जाति, जन्म-स्थान आदि	कवियों द्वारा प्रणीत केवल वैष्णव-काव्य	इष्टदेव	गुरु एवं संप्रदाय
४१.	रामराजु-रंगपराजु	चंद्र वंशीय क्षत्रिय, आत्रेय गोत्री	सांवोपाख्यान (यह श्रीरंगेश-भगवान को समर्पित किया गया था)	श्रीरंगनाथ (विष्णु)	श्रीसंप्रदाय
४२.	रेड्डिपल्लि मुद्दमराजु		अष्टमहिषी-कल्याण (अनुपलब्ध) इस काव्य के दो पद्य "प्रबन्ध रत्नावली" में संकलित हैं।	श्रीकृष्ण	श्रीसप्रदाय
४३.	रेवणूरि वेंकटार्य (अन्नमाचारी के दौहित्र)	नंदवरीक वैदिक ब्राह्मण, श्रीवत्स गोत्री, कोयलकंट्ल तालूक के रेवणूरि ग्राम के निवासी	रामचन्द्रोपाख्यान ; श्रीपादवरेण्य-महात्म्य	श्रीबाला जी	श्रीसंप्रदाय
४४.	लिंगमकुंट रामकवि	प्रथम शाखा नियोगी ब्राह्मण, कात्यान सूत्र, कास्यप गोत्री, नेलूर जिला लिंगमकुटा के निवासी	वेंकटेश्वर माहात्म्य; मत्स्य-पुराण; वामन पुराण; (ये तीनों अनुपलब्ध हैं)	श्रीबाला जी	चिक्कना-चार्य ; श्रीसंप्रदाय
४५.	वेन्नेलकंटि सूरनार्य	नियोगी ब्राह्मण, आपस्तंब सूत्र, हरितस गोत्री[१]	विष्णु पुराण का पूर्वार्द्ध (यह ग्रन्थ नेल्लूरि मंडल के गुड्लूरि ग्राम के प्रभु राघवरेड्डि को समर्पित किया गया था।[२])	विष्णु	श्रीसंप्रदाय

[१] ये नेल्लूरि जिला गुड्लूरि ग्राम के निवासी थे।—आन्ध्र कवि सप्तशति, पृ० ३००

[२] आन्ध्रकवितरंगिणि वा० ८, पृ० २१० ; विज्ञान सर्वस्वमु, तेलुगु संस्कृति २, वाल्यूम ४, पृ० १२१७

संख्या	कवियों के शुभनाम	जाति, जन्म-स्थान आदि	कवियों द्वारा प्रणीत केवल वैष्णव-काव्य	इष्टदेव	गुरु एवं संप्रदाय
४६.	वेलगपूडि वेंगनार्युडु	आर्वेल नियोगी ब्राह्मण	कृष्णकर्णामृत (लीलाशुक के कृष्णामृत का तेलुगु रूपांतर)	श्रीकृष्ण	श्रीसंप्रदाय
४७.	श्रीनारायण तीर्थुलु[1]	ब्राह्मण	पारिजातापहरण (यक्षगान)	श्रीकृष्ण	श्रीसंप्रदाय
४८.	सारंगु तम्मय	ये गोलकोंडा के व्यापारी ब्राह्मण, भरद्वाज गोत्री	वैजयन्ती विलास (यह श्रीरामचंद्रजी को समर्पित किया गया था।)[2]	श्रीरामचंद्र	श्रीसंप्रदाय
४९.	सिद्धराजु तिम्मराजु[3] (कोंडवीडु के राजा)	चंद्रवंशीय क्षत्रिय, हरितस गोत्री, आपस्तंब सूत्र, यजुश्शाखीय	परमयोगी विलास (यह मंगलगिरि नृसिंह भगवान को समर्पित किया गया था)	नृसिंह	श्रीसंप्रदाय
५०.	हरिभट्ट	वैदिक ब्राह्मण, यजुर्वेदीय भरद्वाज गोत्री, आपस्तंब सूत्र कंभमुमेट्टु के निवासी	नरसिंह पुराण ; वराह पुराण (अप्रकाशित) ; मत्स्यपुराण ; भागवत के ७, ११, १२ स्कंध (अप्रकाशित)[3]	हनुमानजी	श्रीसंप्रदाय

[1] इन्होंने संस्कृत में "कृष्णलीलातरंगिणि" की रचना की थी। इन्हें जयदेव का अपरावतार होने का यश प्राप्त हुआ—आन्ध्र कवि सप्तशती, पृ० २७८

[2] इसका रचनाकाल ई० १५६० है—आन्ध्रकवितरंगिणि, वा० ८, पृ० ८६

[3] "भागवत" के षष्टम स्कंध जगन्नाथ में स्थित जगन्नाथ भगवान को एवं एकादश तथा द्वादश स्कंध अपने इष्टदेव हनुमान को इन्होंने समर्पित किया।
—आन्ध्रकवि तरंगिणि, वा० ८, पृ० १७२, १७३

२.३. **निष्कर्ष**

दोनों ही क्षेत्रों में आलोच्ययुग में अनेकों वैष्णवसाहित्यकार हुये। तेलुगु क्षेत्र में राजा या सामंतों पर आश्रित वैष्णव कवि भी अनेक मिलते हैं। किन्तु हिन्दी में विद्यापति, केशव जैसे कुछ अपवादों को छोड़कर समस्त कवि राज्याश्रय से निरपेक्ष रहे। हिन्दी एवं तेलुगु के शुद्ध वैष्णव-भक्त कवियों में प्रायः व्यक्तित्व की समानता प्राप्त होती है। राजा सालुवरनसिंह रायलु के आग्रह करने पर अन्नमाचारी ने इष्टदेव के यश को छोड़कर राजा के यश को अपने गीतों का विषय नहीं बनाया। सूर ने भी अकबर जैसे सम्राट के स्वयशगान के अनुरोध पर अपनी पूर्ण अस्वीकृति की घोषणा की। पोतना को दारिद्र्य का सामना करना पड़ा। साथ ही अपने कुटुंब का पालनपोषण करने का भार भी उनके कंधों पर पड़ा। राज्याश्रय के आकर्षक प्रलोभन भी उनके सामने उपस्थित हुये। उन्हें राजा के क्रोध और दण्ड का भी शिकार होना पड़ा। ऐसे संकटकाल में भी उन्होंने धनार्जन के लिये अपनी काव्य-कन्या का विक्रय नहीं किया। बाबा तुलसीदासजी का व्यक्तित्व भी पोतना से भिन्न नहीं है। इसीलिये उन्होंने स्पष्ट रूप से यह घोषणा की थी—

"कीन्हें प्राकृत-जन गुनगाना। सिरधुनि गिरा लगत पछिताना।।
हृदयसिंधु मति सीप समाना। स्वाति सारदा कहहिं सुजाना।।
जौं बरषइ बर बारि बिचारू। होहिं कबित मकुतामनि चारू।।"[१]

मीराबाई को भक्ति-पथ से विचलित करने के लिये विष का प्याला दिया जाना आदि अनेक विघ्न प्रस्तुत किये गये। किन्तु वह अबला होती हुई भी परिस्थितियों से पराजित नहीं हुई। कुछ अनुश्रुतियों के अनुसार मोल्लमांबा को भी समाज की ओर से बहुत ही यातनायें प्राप्त हुईं। किन्तु राम की भक्ति-साधना में उन्होंने किंचित भी उपेक्षा नहीं की। स्वामी हरिदास के संगीत को सुनने के लिये महासम्राट अकबर को भी गुप्तवेष में उनके पास आना पड़ा। इस प्रकार प्राकृत-जन का गुणगान आदि के प्रति उभय क्षेत्रीय भक्त कवि प्रायः उदासीन रहे। इन्होंने अपनी प्रातिभ-साधना को निश्शेष भाव से केवल भगवान को समर्पित कर दिया था। दोनों ही क्षेत्रों के भक्त कवियों के सम्बन्ध में भगवत्साक्षात्कार सम्बन्धी अनुश्रुतियाँ हैं एवं स्वयं इन कवियों ने भी साक्षात्कार के अनुभव को स्वीकार कर लिया।

विशेष रूप से तुलसीदास एवं पोतना में कुछ साम्य प्राप्त होते हैं। दोनों ही के इष्टदेव श्री रामचन्द्रजी थे। इसीलिये दोनों ने दास्यभाव की भक्ति को प्रमुख रूप से अपनाया। तुलसी ने "सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि" कहकर इस बात की घोषणा की। पोतना ने गजेन्द्र मोक्ष एवं प्रह्लादचरित्र में इसी भाव की अभिव्यक्ति की। तुलसी ने श्रीरामचन्द्रजी की भक्ति की प्राप्ति के लिये सीताजी, शिवजी, गणेशजी, हनुमानजी आदि अनेकों देवी-देवताओं से प्रार्थना भी की। पोतना

[१] रामचरितमानस, बाल० १० / ४,५

रामभक्त होकर भी राम की आज्ञा का प्रेमपूर्वक पालन करने के लिये "भागवत" की रचना करने में उत्साह के साथ प्रवृत्त हुये थे।

इसी प्रकार सूर एव अन्नमाचारी के जीवन की परिस्थितियों एवं उनके संस्कारों में भी बहुत साम्य मिलता है। दोनों ही दरिद्र ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुये थे। दोनों को ही अपने अपने गृहों में तिरस्कार एवं उपेक्षा का कठोर अनुभव हुआ था। सूर को दारिद्र्य के साथ अंधत्व भी प्राप्त हुआ था। दोनों ने ही बाल्यावस्था में गृह-त्याग करके अनिश्चित भविष्य की ओर प्रस्थान किया। दोनों ही गुरुकृपा से भगवान की संकीर्तन सेवा में निरत हुये। इस प्रकार भगवद्भक्ति के माध्यम के रूप में दोनों ही ने काव्य-संगीत के माध्यम को अपनाया।

तेलुगु और हिन्दी के वैष्णव कवियों में एक अंतर भी है। तेलुगु के प्रसिद्ध वैष्णव कवि अन्नमाचारी और पोतना दोनों गृहस्थ थे। अधिकांश अन्य कवि भी सपत्नीवाले थे। किन्तु हिन्दी के अधिकांश वैष्णव कवि सन्यासी थे। तुलसी[1], सूर जैसे प्रख्यात वैष्णव-कवि इस बात के लिये प्रमाण हैं। इस तारतम्य का साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा। तेलुगु के शुद्ध वैष्णव भक्त कवियों के काव्यों में भी लौकिक शृंगार का व्यक्त या अव्यक्त रूप से आग्रह यत्रतत्र देखने को मिलता है। यह प्रवृत्ति हिन्दी और तेलुगु के शुद्ध वैष्णव भक्त कवियों को कुछ पृथक करती है।

सारांश यह है कि उभय क्षेत्रीय कवियों के व्यक्तित्व में साम्य के स्थल ही अधिक हैं, किन्तु बाह्य रूप से उनमें कुछ तारतम्य अवश्य मिलते हैं। दोनों ही क्षेत्रों के कवियों के साहित्य पर भी उनके जीवन की परिस्थितियों का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है।

[1] वैराग्य के उपरान्त इन्होंने सदा के लिये अपनी पत्नी को त्याग दिया था।

तृतीय अध्याय

वैष्णव भक्ति

३.१. प्रस्तावना

आलोच्ययुग में वैष्णवभक्ति के सशक्त आन्दोलन का प्रभाव जीवन की गतिविधि और सामाजिक संस्थाओं पर था ही। इसके अतिरिक्त इस आन्दोलन ने तत्कालीन साहित्य पर भी अपनी अमिट निशानी छोड़ी है। वास्तव में भक्ति और काव्य में बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। क्योंकि भक्ति जो धार्मिक विश्वास की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति है, भाव पर आश्रित है। भाव अनंत हैं, अतः इन भावों पर आश्रित भक्ति की भी कोई सीमा नहीं है। काव्यगत चेतना की जड़ भी भावों में ही निहित है। इस प्रकार भक्ति और काव्य दोनों भावों पर आश्रित होने के कारण, इनमें अनन्य मैत्री की प्रतिष्ठा हुई। काव्य के साथ भक्ति तत्व के जुड़ने से काव्य में जो सौन्दर्य और अमूल्यता प्रोद्भासित होते हैं, इनका तो वर्णन किया ही नहीं जा सकता। हिन्दी के सूर, तुलसी, मीरा और तेलुगु के पोतना, अन्नमाचारी आदि का अमर साहित्य इसके लिये ज्वलंत प्रमाण है। भक्ति वह सूत्र है जो आलोच्ययुग के विभिन्न भारत की प्रान्तीय भाषाओं के वैष्णव साहित्य को अपने में समेट लेता है। आलोच्यकाल के हिन्दी और तेलुगु दोनों वैष्णव-साहित्यों में अव्यक्त रूप से प्राप्त इस वैष्णव भक्ति के सूत्र से अवगत होने के लिये निम्नलिखित अनेक प्रश्नों की खोज की जानी चाहिये जिससे आलोच्यकालीन वैष्णव-साहित्य का "अध्ययन सुगम हो जाय।

हमारे आलोच्यकाल के उभयक्षेत्रीय वैष्णव साहित्य को वैष्णव भक्ति आन्दोलन ने कैसे प्रभावित किया? इस भक्ति का क्या स्वरूप है और इसकी क्या पृष्ठभूमि है? आलोच्यकाल में किन किन वैष्णव संप्रदायों ने साहित्य को प्रभावित किया? इस प्रभाव से साहित्य में किस प्रकार की परिणति आयी? भक्ति के मूल उपादानों के सम्बन्ध में आलोच्यकाल के वैष्णव भक्त कवियों ने किस प्रकार के विचार प्रकट किये? इन विचारों का मूल स्रोत क्या है? आदि। इसी दृष्टि से यहाँ पर वैष्णव भक्ति के सम्बन्ध में अनुसंधान के द्वारा प्राप्त ज्ञान को प्रस्तुत किया जा रहा है।

३.२. भक्ति की परिभाषा

भक्ति शब्द "भज" धातु से बना। भाष्यकारों ने उपासना के नैरंतर्य के अर्थ में इस धातु की व्याख्या की। उपासना शब्द का शब्दार्थ है समीप में निवास। भगवान के प्रेमभावजन्य नैकट्य का नाम ही भक्ति है। भक्ति दर्शन के सूत्र तो वेदांत के साथ भी अनुस्यून हैं। पर इसका तत्व-निरूपण नादर और शाँडिल्य के भक्ति-सूत्रों में प्रामाणिक रूप से हुआ है। रामायण-महाभारत और अन्य पुराणों में भक्ति का काव्यात्मक और धार्मिक स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। भक्ति के आचार्यो ने इन सभी स्रोतों के आधार पर भक्ति-तत्व का पुनराख्यान करके आलोच्ययुग की दार्शनिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की। नीचे संक्षेप में कुछ सूत्रों से भक्ति तत्व का परिचय आयसित है।

भगवान एक परम आकर्षण का केन्द्र है। किन्तु जीव और ब्रह्म के बीच माया का कलुष आ जाता है जो जीव को ब्रह्म की ओर आकर्षित होने में बाधक वन जाता है। कुछ ज्ञान होने पर जीव को पश्चात्ताप होता है, और उसके मायाजन्य कलुष धुल जाता है। तब आकर्षण का मार्ग अनवरुद्ध हो जाता है।[१] माया के कलुष को धोने का एक मात्र उपाय भक्ति का रसायनिक द्रव्य है। भक्ति की यह परिभाषा जीव और ब्रह्म के तात्विक चिंतन पर आधारित है। श्रीमद्भागवत के अनुसार भक्ति मन की एक स्वाभाविक भावधारा है।[२] जब इस भावधारा का सम्बन्ध विष्णु से हो जाता है तब एक विशिष्ट आत्मधर्म की उपलब्धि होती है। इसमें स्वार्थ की गंध भी नहीं रहती, अतः बुद्धि भी मृदुल होकर आनन्दमय हो जाती है।[3] नारद ने समस्त कर्मों के अशेष समर्पण को भक्ति कहा है। इसके विस्मृत हो जाने पर जीव व्याकुल हो जाता है।[४] मधुसूदन सरस्वती के अनुसार मन की समग्र वृत्तियों का भगवान की ओर छटपटा कर प्रवाहित होना ही भक्ति है।[५] भक्ति वह अवस्था है जब ज्ञान और कर्म का बंधन छूट जाता है और कृष्ण के अनुशीलन के साथ वृत्तियाँ अनुकूल हो जाती हैं।[६] भक्ति में सबसे पहले श्रद्धा या विश्वास की आवश्यकता

[१] Thus spake Sri Ramakrishna, p. 13.

[२] भागवत, ३/२५/३२,३३

[3] सर्वै पुंसा परोधर्मो यतो भक्ति रधोक्षजे।
अहैतुक्य प्रतिहता ययाऽऽत्मा सुप्रसीदति ॥ —भागवत
नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारिता परम व्याकुलतेति।
—नारद-भक्ति सूत्र

भक्तिरसायन, १/३

[६] अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्मद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा। —भक्ति रसामृतसिंधु

होती है और साधुसंग से वह विश्वास क्रमशः प्रेम या भक्ति के रूप में परिणत हो जाता है। रूप गोस्वामी के अनुसार इस विकास की स्थितियाँ इस प्रकार हैं—

आदौ श्रद्धा ततः साधुसंगोथ भजन क्रिया।
ततोऽनर्थ निवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥
अथाशक्ति स्ततो भाव स्ततः प्रेमाभ्युदंचति।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रदुर्भावे भवेत् क्रमः॥[१]

यद्यपि शंकराचार्य अद्वैतवाद के पोषक थे, तो भी उन्होंने भक्ति के सम्बन्ध में भी अपने स्पष्ट विचार व्यक्त किये हैं। उनके अनुसार भक्ति की तीन स्थितियाँ हैं। प्रथम स्थिति में जीव ब्रह्म के पार्थक्य से उत्पन्न पीड़ा का अनुभव करता है। द्वितीय स्थिति में उसकी प्रेमसाधना ब्रह्म के सामीप्य की सिद्धि करती है। तृतीय स्थिति तन्मय संयोग की है। फिर वह उसी प्रकार भगवान के सान्निध्य में रहता है जिस प्रकार पतिव्रता पति के साथ, लता वृक्ष के साथ और सरिता अपने प्रिय समुद्र के साथ। इसी प्रकार की वृत्ति भक्ति है।[२] संयोग में पार्थक्यजन्य क्लांति पूर्ण रूप से समाप्त हो जाती है। नारद ने संक्षेप में इन सबकी संक्षिप्ति इस प्रकार दी है—भक्ति गुण रहित होती है, उसमें स्वार्थ की गंध नहीं होती। इसमें शैथिल्य कभी नहीं आता, आवेश परिवर्धित ही होता रहता है और भक्ति की भावना सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती जाती है।[३] तब उसी एक अनन्त प्रियतम का ही श्रवण-चिंतन ही होता रहता है। किसी अन्य के लिये भक्त निरवकाश हो जाता है।[४] चैतन्य के अनुसार प्रेम ही सबसे बड़ा धर्म है। अहेतुकी प्रेम सर्वोच्च तत्व है।[५] भक्त मोक्ष की कामना न करके इसी प्रेम-रूप महातत्व की कामना करता है। आचार्यों ने भक्ति के तीन पक्ष माने हैं: शारीरिक वाचिक, मानसिक। भक्ति का एक अनिवार्य तत्व अनन्यता है। समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ उस एक प्रिय के अतिरिक्त किसी अन्य का अनुभव न करें यही अनन्यता की परिभाषा है। उक्त विवेचन के आधार पर भक्ति के निम्नलिखित तत्व स्थिर होते हैं:—

१. भगवदोन्मुख हृदय की वृत्तियाँ २. स्थितियाँ: पार्थक्य→सान्निध्य→सयोग ३. अनन्यता ४. अशेष आत्मसमर्पण।

[१] भक्तिरसामृतसिंधु, पूर्व भाग, ५ वीं लहरी

[२] अंङ्कोलं निजबीजसन्ततिरस्यकान्तोपलं सूचिका
साध्वी नैजविभुं लता क्षितिरुह सिंधुः सरिद्वल्लभम्
प्राप्तोतीह यथा तथा पशुपते: पादारविंदद्वयम्
चेतोवृत्ति रूपेत्व तिष्ठति सदा सा भक्ति रित्युच्यते। —शिवानंद लहरी

[३] गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षण वर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरम्—नारद भक्ति सूत्र

[४] नारद भक्ति सूत्र—५४, ५५

[५] न धनं न जनं सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भगवद्भक्ति रहैतुकीत्वयि॥

एक वाक्य में कह सकते हैं कि भक्ति जीव की भगवदोन्मुख उदात्तीकृत और निःस्वार्थ भावधारा है जो अनन्यता और आत्म समर्पण के अनिवार्य तत्वों से समन्वित होती हुई प्रिय-संयोग के परम समुद्र में प्रविष्ट हो जाती है। कुछ मनीषी ज्ञान की पृष्ठभूमि के अवांतर तत्व की भी आवश्यकता समझते हैं पर इस पर सभी एकमत नहीं हैं।

३.३ भक्ति का विकास

भक्ति की परम्परा दीर्घकालीन है।[१] मानव की उद्‌बुद्ध भावात्मक सत्ता से भक्ति का प्रादुर्भाव होता है। भारत में मोहिंजदाडो की सभ्यता से लेकर आज तक यह प्रवाह अक्षुण्ण रूप से चला आ रहा है। सिंधु-सभ्यता के महिष्मुंड और परमदेव के प्रति सिंधु सभ्यता के जन का भावात्मक सम्बन्ध था।[२] साथ ही मंत्र और तोदे के तथ्य भी विद्यमान थे जिनका उद्देश्य प्राकृतिक शक्तियों पर नियंत्रण प्राप्त करना था। वेदों में महिष्मुंड का स्थान रुद्र ले लेता है और रुद्र की भयंकर शक्तियों का पर्यवसान शिव में होता है। इसके साथ साथ इन्द्र, वरुण आदि प्राकृतिक दिव्य शक्तियों के प्रति भी भावात्मक उद्‌गार समर्पित दिखलाई देते हैं।[३] इन्द्र का स्थान विष्णु ग्रहण करता है। इस प्रकार भारतीय जन का मानस भावात्मक विकास निरन्तर करता हुआ विष्णु की शक्ति लक्ष्मी तथा उनके अवतरित रूप दशावतारों तक पहुँचता है। शिव और विष्णु के उपासकों में पहले संघर्ष दृष्टिगत होता है। उदाहरण के लिये रावण आदि असुर और राक्षस शैव ही थे जिनसे विष्णु और वैष्णव शक्तियाँ संघर्ष भी करती हैं और पीछे समन्वय भी होता है।

यद्यपि उपनिषदों में मुख्य स्वर ब्रह्मवादी है, तथापि उनमें भक्ति तत्व की भी कमी नहीं है।[४] आगे पुराण और महाकाव्यों ने विष्णु और शिव पर आधारित भक्ति को विस्तृत अवतारवादी तत्वों से समन्वित करके उसे नवजीवन दिया। नारायणीय संप्रदाय का उल्लेख "महाभारत" में और अन्य पुराणों में है। पौराणिक अवतारवाद की यह धारा इतनी जीवन्त थी कि लोकमानस के मृतकण भी सजीव और उर्वर हो उठे। शास्त्रीय दृष्टि से जहाँ ब्रह्मसूत्रों ने ब्रह्मवादी दर्शन को स्पष्ट और पुष्ट किया वहाँ नारद और शांडिल्य के भक्ति-सूत्रों ने भक्ति की धारा को सैद्धां-

---

[१] कल्चरल हेरिटेज आफ़ इण्डिया, वा० २, पृ० ४८

[२] एक्सकवेषन्स एट मोहेंजदाडो, मेके फरदर, भाग दो
रिलिजियन आफ़ दि मोहेंजदाडो पीपल, ऐट्सेट्रा, हेरस

[३] हिस्ट्री आफ़ इण्डियन्, फ़िलासफी, वा० २, पृ० ४०६

[४] जर्नल आफ़ श्री वेंकटेश्वरा युनिवर्सिटी, तिरुपति, जूलै-दिसम्बर, १९५०
पृ० १६८ तथा दि कल्चुरल हेरिटेज आफ इण्डिया, वा० २, स० अविनाशानंद, पृ० ४८, ४६

तिक आधार-भूमि प्रदान की और लोकाश्रित भाव-धारा को एक निश्चित गति और दिशा पौराणिक साहित्य ने प्रदान की।

आलोच्ययुग की भूमिका में शंकराचार्य के ब्रह्मवाद की सबल प्रतिक्रिया हुई। शंकर ने अपने अपूर्व पांडित्य से वेदांत का पुनरुत्थान तो किया ही, सामाजिक दृष्टि से बौद्धधर्म के निराकरण की स्थिति भी उत्पन्न कर दी। पर शकर के उपरान्त भक्ति सूत्रों और पौराणिक साहित्य की लोकधारा को भक्ति के आचार्यों ने फिर से नवीन शक्ति और समृद्धि प्रदान की। शंकर-वेदांत को इन आचार्यों के समाजोन्मुख दार्शनिक सिद्धान्तों ने एक ऐसी ठेस पहुँचाई कि आज तक भक्ति की धारा समस्त भारत के मानस को आप्लावित कर रही है।

जब भक्ति के आचार्यों ने कर्मकांड की शुष्कता और ज्ञानकांड की दुरूहता के स्थान पर भक्ति की रसमयता की स्थापना नवीन परिवेश में करना चाहा तो लोक-संपदा ने भी अपना योगदान दिया। दक्षिण में आल्वार-दर्शन की मूल भाव-भूमिका लोकाश्रित भावावेश और प्रेमोद्रेक से बनी।[१] उत्तर में अभीर आदि जातियों के साहित्य और जीवन से संप्रक्त भावधारा ने कृष्णवार्ता को ओतप्रोत कर दिया। श्रीरामानुजाचार्य ने भक्ति के नवीन उद्घोष के साथ आल्वारों की लोकवाणी के स्वर को गूँथ दिया। श्रीरामानुज संप्रदाय की एक शाखा श्रीराघवानंद के द्वारा उत्तर भारत में पहुँची।[२] उसने वाराणसी से लेकर राजस्थान में गलताजी तक अपनी प्रशाखायें फैला दीं। श्रीराघवानंद श्रीरामानुजाचार्य की तेरहवीं पीढ़ी में माने जाते हैं।[3] राघवानंद आचार और धर्म में अंधरूढ़ता के समर्थक नहीं थे। अपने गुरु श्रीहरियाचार्य के आदेश को पाकर ये उत्तर में भक्ति के प्रचार करने के लिये पहुँचे। जब लौटकर दक्षिण पहुँचे तो अपने गुरु-भाई को गद्दी पर बैठा पाया। किन्तु इनको वैष्णवों की पंगत में स्थान नहीं मिला। क्योंकि ये आचार-व्यवहार में वैष्णवमात्र में अभेद मानते थे।[४] इस व्यवहार से वे खिन्न तो हुये पर वे अपने सिद्धांत से विचलित होने वाले नहीं थे। वे काशी चले आये और यहाँ आजन्म भक्ति का प्रचार करते रहे। राघवानंद के साथ वैष्णव-धर्म में दीक्षित भक्तों में तीन तत्व संबद्ध हो गये थे :— प्रथम जाति-पाँति-भेद का विरोध, द्वितीय योग का तत्व[५] और तृतीय राम की उपासना। आरंभ में श्रीसंप्रदाय के इष्टदेव लक्ष्मीनारायण थे। पीछे कुछ आचार्यों

[१] दि कल्चरल हेरिटेज आफ़ इण्डिया, वा० २, पृ० ७३, उदाहरण के लिये कुलशेखर आल्वार कृत मुकुंदमाला के ५, ७ श्लोक द्रष्टव्य हैं।

[२] हिंदीभक्तमाल, छप्पय ३५

[3] रामार्चनपद्धति, श्रीरामानंद, श्लोक ३ से ५ तक

[४] रसिकप्रकाश भक्तमाल, जीवरामयुगलप्रिया

[५] रामभक्ति में रसिक-संप्रदाय, डा० भगवतीप्रसाद सिंह, पृ० ६३; रामभक्ति शाखा, रामनिरंजन पांडेय, प्रथम संस्करण, पृ० ४१; तथा भागवत संप्रदाय, पृ० २४३

ने सीता-राम को लक्ष्मीनारायण के स्थान पर प्रतिष्ठित किया। श्रीराघवानंद का सम्बन्ध इसी रामाश्रित भक्ति से था। श्रीरामानंदजी ने अपने गुरु श्रीराघवानंदजी के भक्ति धर्म को उत्तर भारत में प्रचार करने के कार्य को बहुत आगे बढ़ाया। चारों वर्णों में भक्ति का प्रचार राघवानंद और रामानंद ने किया।[1]

श्रीरामानुजाचार्य के स्वर्ग सिधारने के उपरांत दक्षिण में श्रीसंप्रदाय के अंतर्गत "वेडकलै" (उत्तरादि शाखा) और "तेन्कलै" (दक्षिणात्य शाखा) नामक दो उपशाखायें उत्पन्न हुई। वेडकले शाखा के प्रवर्तक श्रीवेदांतदेशिक (ई० १२६६-१३६६) के वेदांत और चिंतन तथा रामानुजाचार्य के आल्वारभाव समन्वित भक्ति-दर्शन के बीच एक खाई सी उत्पन्न हो गई थी। श्री आदिवन शठकोपस्वामी ने इस खाई को पाटने की चेष्टा की और भावात्मक तत्वों को भी वेदांत के समान मान्यता प्रदान की।[2] इनके द्वारा स्थापित सभी मठों में श्रीरामानुजाचार्य और श्रीवेदांतदेशिक दोनों के ग्रंथों का पाठ होने लगा। श्रीशठकोपाचार्य की इसी भावसंकुल पद्धति में श्री अन्नमाचारी दीक्षित हुये थे। तेंकलै शाखा का प्रमुख केन्द्र श्रीरंगम था। यहाँ पर आळ्वारों के प्रेमतत्व और "नालायिर दिव्य प्रबंधम्" का विशेष महत्व बना रहा। इस शाखा के प्रवर्तक श्री पिल्ळै लोकाचार्य हुये। पर तेलुगु-वैष्णव-भक्ति साहित्य पर उत्तरादि शाखा का प्रभाव ही विशेष रूप से रहा। वैसे आळ्वार भक्तों की प्रेम भावना को शास्त्रीय शृंगार का रूप देकर तेलुगु में अपनाया गया और कुछ आल्वार भक्तों के चरित्रों को लेकर काव्यों की रचना हुई। किन्तु इस प्रवृत्ति की मूल प्रेरणा श्रीरामानुजाचार्य और श्री आदिवन शठकोपस्वामी के आळ्वार-भाव-समन्वित उदार भक्ति-दर्शन में निहित है। श्री अन्नमाचारी ने अहोबिळ के निवास-काल में कुछ नृसिंह सम्बन्धी संकीर्तनों की रचना की और वे श्री वेंकटेश्वर और नृसिंह में अभेद मानकर चले थे। साथ ही उनके मधुर रस के संकीर्तनों की पृष्ठभूमि में आळ्वारों की प्रेमपद्धति का प्रभाव परिलक्षित होता है। यह प्रभाव श्री आदिवन शठकोपस्वामी के द्वारा किये गये समन्वयों का परिणाम ही कहा जा सकता है। श्री वेदांतदेशिक के उच्च बौद्धिक और जनमन के लिये दुरूह दर्शन के कारण निराश जनता संभवतः फिर वेमना जैसे संतों के दर्शन की ओर अथवा लोकाचार्य की तेंकलै शाखा की ओर मुड़ी। इससे वैष्णव धर्म का प्रचार बाधित हुआ। उदाहरण के लिये वेदांतदेशिक की शाखा के "ब्रह्मतंत्रस्वतंत्र" नामक वैष्णव नेता का सामान्य जन से संपर्क ही छूट गया और प्रतिवादिभयंकर अण्णे इस शाखा को छोड़कर श्रीरंगम में स्थित लोकाचार्य की शाखा से संलग्न हो गये।[3] ऐसी परिस्थिति में आदिवन

[1] भक्तमाल, सटीक (रूपकला), पृ० २८७

[2] दि कल्चरल हैरिटेज आफ इण्डिया, वा० २, पृ० ६८, ६६

[3] वही, वा० २, पृ० ६८

शठकोपस्वामी ने एक ओर औपचारिक रूप से देवराय-द्वितीय[१] को अपने संप्रदाय में दीक्षित किया और दूसरी ओर निम्नजातियों को धार्मिक स्वातंत्र्य प्रदान कर, उनके उद्धार के लिये भी उद्योग किया।[२] इस प्रकार उन्होने वैष्णव-धर्म का पुनःसंघटन किया।

श्री राघवानंदस्वामी भक्ति और योग के मिश्रण को लेकर चल रहे थे, जैसा कि ऊपर हमने कहा है। दक्षिण भारत में योग और शैव दार्शनिकों को पराजित करना भी वैष्णव आचार्यों का कार्य था। अतः उनका प्रसार क्षेत्र दक्षिण भारत नहीं हो सकता था। इसीलिये उन्हें उत्तर भारत की ओर प्रस्थान करना पड़ा। हिन्दी क्षेत्र में इस समन्वित रूप का संपर्क श्रीरामानंदजी (ई० १२९९-१४१८) से हुआ और इन्होंने ई० चौदहवीं शताब्दी के अन्त में उसे क्रांतिकारी आन्दोलन बना दिया। एक ओर उन्होंने कबीर जैसे निर्गुण संत भक्त कवियों को जन्म दिया और दूसरी ओर सगुण भक्त कवियों को भी।[३] ई० पन्द्रहवीं शताब्दी के हिन्दी-साहित्य में निर्गुण-भक्ति-परंपरा का ही प्राधान्य है। सगुण भक्ति की परंपरा ई० सोलहवीं शताब्दी के मध्य तक नरहरि के शिष्य सोतीजी और कृष्णदास पयहारी के १६ शिष्यों के द्वारा दूर तक विकसित हो चली थी। तुलसीदास जी की रचनाओं में इस सगुणभक्ति का निर्वाह स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होता है। इस प्रकार श्रीरामानुजाचार्य की भक्ति की प्रथम लहर उत्तर में श्री राघवानंद[४] और श्रीरामानंद के माध्यम से आयी।

श्री रामानुज के पश्चात् दक्षिण के द्वितीय आचार्य श्री निंवार्काचार्य थे। श्री भंडारकर ने इनका जन्म ई० ११६२ के लगभग माना है।[५] इस कथन से यह सिद्ध होता है कि इनका जन्म श्रीरामानुज के पश्चात् ही हुआ था। इन्होने द्वैताद्वैत-वाद का सूत्रपात किया था। किन्तु ये भी हिन्दी क्षेत्र की ओर ही अग्रसर हुये। इनका मुख्य स्थान गोवर्द्धन के पास नींव ग्राम बना। तत्पश्चात् इन्होंने बृन्दावन में निवास किया और वहाँ भी एक मठ की स्थापना की। आज भी बृन्दावन से निंबार्क-संप्रदाय सम्बन्धी साहित्य का प्रकाशन होता है। पीछे श्री परशुरामदेवाचार्य जी ने सलैमाबाद में इस सम्प्रदाय की गद्दी की स्थापना की। इस प्रकार राजस्थान और ब्रज

[१] ये विजयनगर साम्राज्य के शासक (ई० १४२३-१४४६) थे।

[२] दि कल्चरल हेरिटेज आफ इंडिया, वा० २, पृ० ९९

[३] मध्य भारती (शोधपत्रिका) सागर विश्वविद्यालय, १९५९ में प्रकाशित रामरतन भटनागर कृत 'भक्तमाल और वैष्णव भक्ति आन्दोलन" नामक निबंध, पृ० १२८

[४] भागवतसंप्रदाय, पृ० २४३

[५] वैष्णविज्म एण्ड शैविज्म एण्ड अदर मैनर रिलिजियस सिस्टम्स, पृ० ८७

में निंबार्क संप्रदाय की व्याप्ति हुई[१] और बंगाल में भी इस मत का विशेष प्रचार हुआ।[२]

श्री निंबार्काचारी के पश्चात् आन्ध्र में शुद्धाद्वैतवाद के प्रवर्तक श्री विष्णु-स्वामी का उदय हुआ। किन्तु इस शाखा का प्रचार-प्रसार भी तेलुगु क्षेत्र में नहीं हो सका। इस शाखा के प्रभाव से महाराष्ट्र में ज्ञानदेव (ई० १२७५-१२९६), नामदेव, त्रिलोचन जैसे सन्त कवि उत्पन्न हुये। इनमें निर्गुण तत्वों का भी समन्वय था। शुद्धाद्वैतवाद को लेकर श्रीवल्लभाचारी ने भी उत्तरापथ की यात्रा की। समस्त गुजरात, राजस्थान का कुछ भाग और ब्रजक्षेत्र श्रीवल्लभाचारी का प्रभाव क्षेत्र बन गया। आन्ध्रप्रदेशीय यह शाखा आलोच्य युग में हिन्दी के अष्टछाप आदि महान भक्त कवियों को अपने में समेट सकी।

मध्वसंप्रदाय दक्षिण से सीधे रूप में हिन्दी क्षेत्र में प्रविष्ट नहीं हुआ। बंगाल के गौड संप्रदाय से युक्त होकर इस दर्शन का नाम मध्वगौड हुआ। "प्रेमरत्नावली" में मध्व मत की गुरुपरम्परा इस प्रकार दी गयी है[3]—मध्व—पद्मनाभ—नरहरि—माधव—अक्षोभ्य—जयतीर्थ—ज्ञानसिंधु—दयानिधि—विद्यानिधि—राजेन्द्र—जय-धर्म—पुरुषोत्तम—ब्रह्मण्य—व्यासतीर्थ—लक्ष्मीपति—माधवेन्द्र[४]—ईश्वरपुरी[५]—श्रीचैतन्य[६]। यह मध्वगौड़ संप्रदाय बंगाल से वृन्दावन पहुँचा। श्री गदाधर भट्ट जैसे कवि इसी संप्रदाय से संबद्ध हुये। वृन्दावन में आज भी यह शाखा है। स्वयं मध्वाचार्य माधुर्यभाव के उपासक नहीं थे। चैतन्य के संपर्क में आकर इस संप्रदाय में माधुर्यभाव ने प्रवेश किया। मध्वमत के मानने वाले अधिकतर कन्नड प्रदेश और दक्षिणी महाराष्ट्र में हैं। उत्तरी भारत में इनकी संख्या अधिक नहीं है।[७]

इसी प्रकार दक्षिण के तमिल, आन्ध्र और कन्नड प्रदेशों में उत्पन्न वैष्णव भक्ति संप्रदायों ने हिन्दी क्षेत्र को बहुत व्यापक रूप से प्रभावित किया।

इन सम्प्रदायों के अतिरिक्त आलोच्य-युग में अन्य संप्रदाय भी ब्रजक्षेत्र में पन-पते रहे। भाव की दृष्टि से ये सम्प्रदाय माधुर्य भक्ति से युक्त थे। इनमें प्रमुख सप्रदाय श्री हितहरिवंशजी का राधावल्लभ संप्रदाय है। इसे एक स्वतंत्र संप्रदाय माना जा

[१] विस्तृत परिचय के लिये देखिये "निंबार्क संप्रदाय और हिन्दी कवि"
—डा० नारायणदत्त शर्मा

[२] हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ३५०

[3] भागवत संप्रदाय, पृ० २२८, २२९

[४], [५], [६], "Madhavendra is described as the seed, Iswaripuri as the sprout, Sri Chaitanya as the trunk."
—*The Cultural Heritage of India*, Vol. II, p. 152.

[७] सूर और उनका साहित्य, संशोधित संस्करण, पृ० ९१

सकता है।[१] इस संप्रदाय का मुख्य केन्द्र बृन्दावन ही है। श्री व्यासजी के कारण बुंदेलखंड में भी इस मत का प्रचार हुआ। कुंजकेलिगत शृंगारमूलक भक्ति के द्वारा इस संप्रदाय के कवियों ने हिन्दी साहित्य को एक अपूर्ण देन दी।[२]

दूसरा संप्रदाय "हरिदासी संप्रदाय" (टट्टी संप्रदाय या सखी संप्रदाय) है। डा० सत्येन्द्रजी ने श्री "निंबार्क संप्रदाय के हिन्दी कवि" नामक निबंध में इस संप्रदाय को श्री निंबार्क संप्रदाय की एक शाखा कहा है।[३] पर इस संप्रदाय वाले इसे एक स्वतंत्र संप्रदाय मानते हैं। इस संप्रदाय के प्रवर्तक स्वामी हरिदासजी थे। इनके इष्टदेव श्री बाँकेविहारी थे। इनका जन्म भी बृन्दावन के पास एक ग्राम में हुआ था। इस संप्रदाय में श्री हरिदासजी उच्च कोटि के पद-संगीतकार हुये। इस संप्रदाय से सम्बद्ध कुछ कवि भी हैं।

बृन्दावन में चैतन्य संप्रदाय के रूप-गोस्वामी, जीवगोस्वामी और सनातन गोस्वामी जैसे महाभक्त बस गये थे।[४] बृन्दावन के निर्माण में गौडीय भक्तों का भारी हाथ था। इससे सम्बद्ध कवियों की परम्परा भी आलोच्य-युग में मिलती है।[५]

इस प्रकार हिन्दी क्षेत्र में प्रायः सभी भक्ति-संप्रदायों की स्थिति आलोच्य युग में मिलती है। तेलुगु क्षेत्र में विभिन्न वैष्णव संप्रदायों का इस प्रकार मिश्रण कदा-चित नहीं हुआ।

श्रीसंप्रदाय की शाखा ने हिन्दी को निर्गुण और रामभक्ति प्रदान की। निंबार्क संप्रदाय ने राधा, गोपियाँ और कृष्ण को लेकर शृंगारमूलक भक्ति की प्रतिष्ठा की। श्री वल्लभाचारी ने सांप्रदायिक दृष्टि से वात्सल्य को ही प्रोत्साहित किया, तथापि उनके पुत्र श्री विट्ठलनाथ जी के समय से माधुर्य भक्ति भी इस संप्रदाय में विशेप रूप से समाविष्ट हुई। मध्व संप्रदाय ने विशेष रूप से दास्य और वात्सल्य को प्रतिष्ठित किया। पीछे चैतन्य के संपर्क में आकर इसमें माधुर्य भक्ति की भी मान्यता होने लगी। ब्रजक्षेत्र के राधाबल्लभ संप्रदाय और सखी संप्रदाय तो शुद्ध माधुर्य भक्ति से ओत-प्रोत हैं। रूपगोस्वामी, जीवगोस्वामी और सनातनगोस्वामी ने भी माधुर्य भक्ति की प्रतिष्ठा में अपने अमूल्य सैद्धान्तिक ग्रन्थों के द्वारा अपूर्व योगदान दिया है।

१ राधावल्लभ संप्रदाय, सिद्धान्त और साहित्य, पृ० ६८; हिन्दी साहित्य, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० १६६; नाभादास ने भी इनकी गुरुपरम्परा का संकेत नहीं किया है। केवल इनको कुंजकेलि और दांपत्यरस से संबद्ध भक्त माना (भक्तमाल, छप्पय—१२४)

२ विस्तृत परिचय के लिये देखिये "राधावल्लभ सप्रदाय, सिद्धांत और साहित्य"

३ पोद्दार अभिनंदन ग्रन्थ, पृ० ३८६

४ दि कल्चरल हेरिटेज आफ़ इंडिया, पृ० १३३

५ विस्तृत परिचय के लिये देखिये, "चैतन्य संप्रदाय के हिन्दी कवि"
—श्रीप्रभुदयाल मीतल

सारांश यह है कि भक्ति के सूत्र मानवमात्र के हृदय में निहित हैं। इसीलिये मानव सभ्यता के आरंभिक काल से लेकर आज तक भक्ति की धारा कभी व्यक्त रूप से और कभी अव्यक्त रूप से निरंतर प्रवाहित होती आ रही है। भक्तिधारा का यह प्रवाह शाश्वत और चिरंतन है। भक्ति की यह धारा देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार अनेक रूपों में व्यक्त होती है, यद्यपि इस धारा की अन्तरात्मा अपरिवर्तनीय है। जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है भक्ति के सूत्र इसके प्रत्येक खण्ड से उद्बुद्ध होकर एक स्वस्थजनवादी दर्शन के रूप में संघटित हुये। आलोच्य युग से पूर्व इस भक्ति की क्षीणधारा को वेगवती बनाने का उद्योग दक्षिण से ही आरंभ हुआ। आलोच्य युग में यह भक्ति धारा इतनी तीव्र और बलवती हुई कि वह समस्त भारत की जन जन की हृदयांतर्भूमियों में अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित होकर उसे सींचकर उर्वर बनाने लगी।

३.३. अ. बौद्ध और जैन धर्मों का वैष्णव भक्ति संप्रदाय पर प्रभाव

सामान्यतः यह धारणा बनी हुई है कि शंकराचार्य ने बौद्ध धर्म को बाहर निकाल दिया। किन्तु इतिहास की परवर्ती खोजों ने यह सिद्ध कर दिया कि बौद्ध धर्म भारत में किसी न किसी रूप में १८ वीं शताब्दी तक बना रहा। विशेष रूप से पूर्वी भारत में बौद्ध धर्म अधिक दिनों तक चलता रहा।[१] चाहे वह अपने निजी रूप में यहाँ न रह पाया हो, हिन्दू धर्म के साथ घुलमिल कर बहुत दिनों तक उसकी आत्मा अपना विकास करती रही। डा० राधाकृष्णन ने भी यह स्वीकार किया है कि बौद्ध धर्म का एक बार लोप तो अवश्य हुआ, पर पीछे वह शुद्ध ब्राह्मण धर्म के रूप में प्रकट हो गया।[२] पूर्वी भारत में अनेक रूपों में इसकी स्थिति मिलती है। उदाहरण के लिये धर्मठाकुर की पूजा वास्तव में बौद्ध धर्म का ही अवशिष्ट अंश माना जाता है।[३] उड़ीसा के महिमा धर्म में भी बौद्ध तत्वों का समावेश माना जाता है। महिमा धर्म आन्ध्र प्रदेश तक फैल गया था।[४] धर्म ठाकुर के सम्प्रदायों में पूजा और आचार की भक्तिपरक पद्धति प्रचलित थी। बौद्ध धर्म के इन अवशिष्टों से वैष्णव भक्ति ने सीधे सीधे कुछ ग्रहण किए हों, यह सम्भावना तो नहीं होती। इन सम्प्रदायों में भी आगे चलकर विष्णु के अवतारों की भाँति बुद्ध के अवतारों का विश्वास मिलता है। कुछ विद्वानों का मत है कि अवतारवाद की कल्पना बौद्धों से ही वैष्णवों ने ग्रहण की। बौद्धों की मूर्तियों का पूजा-विधान भी मिलता है। इसलिये

[१] नगेन्द्रनाथ वसु, दि माडर्न बुद्धिज्म एण्ड इट्स फालोयर्स इन औरिस्सा

[२] डा० एस० राधाकृष्णन्, इंडियन फिलासफी, वाल्यूम १, पृ० ६०६

[३] बौद्ध गान और दोहा—महामहोपाध्याय शास्त्री, वंगीय साहित्य परिषद्, (कलकत्ता), पृ० २-४

[४] कपिलेश्वर प्रसाद, महिमा धर्म और भक्त कवि भीमबोई, भारतीय साहित्य, भटनागर अभिनन्दन ग्रन्थ, आगरा विश्वविद्यालय, पृ० ८३-१००

हो सकता है कि विष्णु या विष्णु के अवतारों के विग्रहों की प्रेरणा बौद्धों से ही मिली हो। बौद्ध धर्म का जाल पूर्वी भारत और दक्षिण में बहुत दिनों तक फैला रहा। अतः व्यक्त-अव्यक्त प्रभाव भक्ति-साहित्य की भूमिका में स्वीकार किया जा सकता है। अपने ह्रास के युग में बौद्ध धर्म ने हिन्दू धर्म की अनेक मान्यताओं को स्वीकार कर लिया था। साथ ही उन्होंने अनेक ऐसे संप्रदायों को जन्म दिया था जो बौद्धधर्म और हिन्दू धर्म के समन्वय को लेकर चले थे। इन संप्रदायों ने निर्गुण भक्ति-साहित्य को तो बहुत अधिक प्रभावित किया, सगुण भक्ति-साहित्य भी पूर्णतः अछूता न रह सका।

बौद्ध धर्म महायान, हीनयान, वज्रयान, मन्त्रयान और सहजयान जैसी शाखाओं में विभक्त हो गया था। बंगाल में जो मधुर भक्ति-साधना प्रचलित हुई और जिसका उन्नत रूप चैतन्य के सिद्धान्तों, जयदेव, चण्डीदास और विद्यापति के पदों में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है उस पर सहजिया सम्प्रदाय का प्रभाव सभी विद्वान स्वीकार करते हैं। भक्ति की भावात्मक साधना निश्चित रूप से तन्त्र और बौद्ध धर्म की मिली जुली परम्परा से प्रभावित हुई थी। आन्ध्र में बौद्धों के प्रति प्रबल प्रतिक्रिया बहुत पहले से ही हो चुकी थी। फिर भी समाज के निचले स्तरों में इस धर्म के अवशेष बने हुए थे। उनसे भक्ति-साहित्य का थोड़ा बहुत प्रभावित होना स्वाभाविक था। फिर भी प्रभाव इतना गहरा नहीं था, जितना कि बंगाल की शृंगार परक भक्ति-साधना का। इतना निश्चित है कि परवर्ती बौद्ध धर्म स्वयं भक्ति-परक मूल्यों में अधिक विश्वास करने लगा था। बुद्ध आदि की पूजा के जो बीज परम्परा से चले आ रहे थे, उनका विकास अब हो चला था।

बौद्ध धर्म की भाँति जैन धर्म भी भारतीय जीवन और चिन्तन के कुछ स्तरों में बना हुआ था। जिस प्रकार बौद्ध धर्म का भक्ति-परक रूप प्रकट हो रहा था, उसी प्रकार जैन धर्म में भी भक्ति के संस्कार प्रकट हो रहे थे। चित्त की शुद्धि पर जैन साधु विशेष बल देते थे। बाह्य आडम्बरों का खण्डन भी जैन साधु करते रहे। कुछ रहस्यात्मक संकेत भी जैन-साहित्य में मिल जाते हैं। आधुनिक शोधों ने इस प्रकार का पर्याप्त-जैन साहित्य प्रकट किया है। इन सब बातों से ऐसा प्रतीत होता है कि भक्ति-साहित्य पर जैन साहित्य का प्रभाव भी पड़ा था। तेलुगु क्षेत्र में इस प्रभाव की सीमा हिन्दी क्षेत्र से कम ही मानी जानी चाहिए। संक्षेप में भारतीय चिन्तन ने १००० ई० के पश्चात् भक्ति-परक मोड़ लिया, जिससे सभी धर्म-सम्प्रदाय प्रभावित हुए थे। और सभी ने भावात्मक जीवन-मूल्य को भी स्वीकार कर लिया था। भक्ति-आन्दोलन इन्हीं नवोदित जीवन-मूल्यों का आन्दोलन था जिसने सभी धर्म-सम्प्रदायों को प्रभावित किया।

३.४. वैष्णव भक्ति के विभिन्न संप्रदाय

श्री संप्रदाय—रामानुजाचार्य और उनके श्री सम्प्रदाय ने भारतीय आध्यात्मिकता के पुनरुत्थान-काल में भक्ति का प्रथम निर्घोष किया। इन्होंने ही सर्वप्रथम

शंकर के मायावाद का खडन किया, जीवात्माओं का स्वतंत्र अस्तित्व माना और भगवत् भक्ति को ही जीवन का परम पुरुषार्थ कहा। सामान्यतः इन्ही सूत्रों का अनुगमन निम्बार्क, विष्णुस्वामी, वल्लभाचार्य, मध्वाचारी, चैतन्यदेव, रामानंद आदि परवर्ती आचार्यों ने किया।

ब्रह्म—श्री शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म ही एक मात्र सत्ता है। वह निर्गुण निर्विशेष और सजातीय, विजातीय भेदों से अतीत है। जीव की पृथक स्थिति और सत्ता नहीं है। उनके अद्वैतवाद के अनुसार निरुपाधिजीव ब्रह्म ही है। इसी प्रकार जगत को भी ब्रह्म से अद्वैत माना गया है। जगत की प्रतीति अविद्यामायाजन्य है जो मिथ्या है।[१] यह ब्रह्म-जगत दर्शन इतना सूक्ष्म था कि जनमानस को इसमें तुष्टि नहीं मिल सकती थी। उसे अपनी भावनाओं को अमूर्त प्रतीक के प्रति समर्पित करना संभव नहीं दीखता था। उसे सूक्ष्म की अभिव्यक्ति चाहिये और सूक्ष्म की अभिव्यक्ति स्थूल के आधार पर ही संभव है। इसी प्रतिक्रिया ने श्री रामानुजाचारी को प्रेरित किया कि वे निर्विशेष ब्रह्म की धारणा में वैशिष्ठ्य उत्पन्न करें। ब्रह्म के साथ वैशिष्ठ्य की भावना के कारण ही इस दर्शन का नाम "विशिष्टाद्वैत" पड़ा। इस वैशिष्ठ्य का वहन आळ्वारों के भावसंकुल "प्रबंधम्" ने किया। वेद और वेदान्त दोनों की अपेक्षा यह साहित्य जनमन को अधिक प्रिय और आत्मीयता से युक्त था।[२] आळ्वारों की परम्परा पैतृक संस्कारों के रूप में श्री रामानुज को प्राप्त हुई थी।[3] कहने की आवश्यकता नहीं कि रामानुज की ब्रह्म-सम्बन्धी विचारधारा ने इस सबल भावधारा से संबल ग्रहण किया था।

रामानुजाचार्य ने सर्वप्रथम ब्रह्म और माया के सम्बन्ध में विचार किया। उसको माया से नियंत्रित भी नहीं माना जा सकता क्योंकि ऐसा करने से ब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता बाधित होती है। यदि ब्रह्म को उससे मुक्त माना जाय और जीव को ही उससे बद्ध, तो भी बाधा उपस्थित होती है, क्योंकि जीव अविद्या माया के प्रभाव से ही ससीम

[१] *'The Cultural Heritage of India'* Vol. I, p. 556, 557. *The Philosophy of Sankara* by Surenranath Bhattacharya, Edition 1937.

न तु ब्रह्म जातिमदतो न सदादिशब्दवाच्यम् नापि।
गुणवद् येन गुणशब्देनोच्यते निर्गुण त्वात्॥
—गीतायाम् शंकर-भाष्यम्, १३/१२.

[२] *'Tamil Literature'*, M.S. Purnalingam Pillai, p. 181.

[3] श्री रंगनाथ मुनि ने आळ्वारों के ४००० पदों का "नालायिर दिव्य प्रबंधम्" के नाम से संकलन किया। इनके पौत्र यामुनाचार्य थे और यामुनाचार्य के पौत्र रामानुज।

है ।[१] इसलिये रामानुजाचार्य को ब्रह्म, जीव और जगत के संबन्ध में नया सिद्धांत रखना पड़ा : परमात्मा, चित् (जीव) एवं अचित् (प्रकृति) स्वतन्त्र एवं शाश्वत हैं ।[२]

ब्रह्म चित् और अचित् में व्याप्त अवश्य है, पर उनका वैशिष्ठ्य यह है कि स्वयं अपरिवर्तनीय होने पर भी इन परिवर्तनीय तत्वों में वह परिव्याप्त होता है, फिर भी वह अपने स्वभाव में कोई विकार नहीं लाता । चित्-अचित् में संकोच-विकास संभव है, पर ब्रह्म में नहीं । यही परमपुरुष के सत्य और विशिष्ट होने का रहस्य हैं ।[3] ब्रह्म ही जीव और प्रकृति के नियन्ता हैं । उसी के कारण इनका अस्तित्व है । चित् एवं अचित् में व्याप्त भगवद्तत्व भगवान का चौथा भाग मात्र है, किन्तु उनके शेष तीन भाग बैकुंठ में सुरक्षित हैं ।

सृष्टि का निर्माण, रक्षण और संहार ब्रह्म की लीला के अंग हैं ।[४] भगवान अपने भक्त-जनों को प्रसन्न करने और जगत का उद्धार करने के लिये अवतार भी लेता है ।[५] ब्रह्म की इसी अवतरित की स्थापना में अपार आशा और विश्वास का किरणजाल अंतर्हित है । विधिवत कारण उपस्थित होने पर ब्रह्मांड के किसी भाग में तथा किसी काल-खंड में भगवान का आविर्भाव संभव है ।

अवतरित रूप में निरुपाधि-ब्रह्म नाम और रूप से युक्त होता है । वह निखिल-सौंदर्याधिष्ठान होता है । इस सौंदर्य से ही भक्त की सौंदर्यवृत्तियाँ भगवान के अवतरित रूप में केन्द्रित हो जाती हैं । इसीलिये साहित्य के क्षेत्र में भगवान के अनुपम सौंदर्य के चित्र मिलते हैं । रामानुज ने भी अनेक स्थलों पर इस प्रकार के सौंदर्य-चित्र प्रस्तुत किये हैं ।[६]

निर्गुण के प्रति इस संप्रदाय में स्पष्ट विरोध है । इनकी दृष्टि से समस्त पदार्थ गुणविशिष्ट ही है । निर्विकल्प प्रत्यक्ष के अवसर पर भी गुणविशिष्ट वस्तु की ही प्रतीति होती है ।[७] ईश्वर निश्चित रूप से इनकी दृष्टि में सगुण ही है । पर उसके गुण प्राकृत गुण नहीं, अलौकिक गुणों से अभिमंडित है । सजातीय और विजातीय भेदों से शून्य होते हुये भी वह स्वगत-भेदयुक्त हैं । ईश्वर के चित्त तथा अचित्त शरीर हैं । इसी से स्वगत-भेद सिद्ध हो जाता है । आत्मा और शरीर में जो

[१] वेदार्थ संग्रह, पृ० ८०

[२] वही, पृ० १४०

[3] श्री भाष्यम्, ३/२/२१

[४] वही, २/१/३३

[५] वही, १/१/२१ तथा गीतायाम् रामानुज भाष्यम्, ४/८

[६] वेदार्थ संग्रह, पृ० २४४–२४८

[७] सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ४३

सम्बन्ध विद्यमान है[1] वही सम्बन्ध ईश्वर तथा चित्त एवं अचित्त में रहता है। ईश्वर विशेष्य है और उससे नियम्य जीवजगत विशेषण हैं। विशेषण, विशेष्य के साथ संबद्ध हैं। अतः विशेषण की प्रथम रूप से सिद्धि असंभव है। ईश्वर जगत के निमित्त और उपादान का कारण है। उसकी लीला से ही जगत उत्पन्न होता है। ईश्वर दो प्रकार का होता है—कारणावस्थ और कार्यावस्थ। प्रलयकाल में जीव तथा जगत स्थूलता को छोड़कर सूक्ष्म हो जाते हैं। इस अवस्था में ब्रह्म कारणावस्थ होता है। सृष्टिकाल में यही "कार्यब्रह्म" कहलाता है।

यही सगुण ईश्वर भक्तों पर कृपा करने के लिये पाँच रूप धारण करता है :—पर, व्यूह[2], विभव[3], अन्तर्यामी[4], तथा अर्चावतार[5]।

नारायण ही इस संप्रदाय के उपासक हैं। नारायण इस समस्त प्रपंच के निमित्त तथा उपादान कारण हैं। सृष्टि-काल में भगवान ही प्रपंच-रूप में प्रकट होते हैं। इसी सिद्धान्त को ब्रह्मपरिणामवाद कहते है। २५ तत्व इस जगत में हैं—पंचभूत पंचतनमात्रायें, दस इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार, प्रकृति तथा जीव। ये तत्व नर से ही उत्पन्न हुये हैं। अतः ये "नार" कहलाते हैं। भगवान का इन सब में निवास है। इसी कारण उनका नाम "नारायण" है।[1] भक्त-जीव का लक्ष्य अपने स्वामी श्री नारायण के चर में अशेष आत्मसमर्पण ही है। यह शरणागति ही "प्रपत्ति" कहलाती है।

प्रपत्ति के तीन रूप हैं :—अनन्यशेषत्व, अनन्यसाधनत्व तथा अनन्यभोग्यत्व। इन तीनों से विशिष्ट होने पर प्रपत्ति पूर्ण होती है। पर कुछ न्यूनता आने पर भी भगवदनुकंपा से फलप्राप्ति में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती।[2] इस प्रकार प्रपत्ति अथवा भक्ति की भावना के साथ भगवान की कृपा का तत्व भी अनिवार्य रूप से भक्ति-साधना का अंग बन जाता है। सभी भक्ति-संप्रदायों में इस तत्व पर बहुत बल दिया गया है। वल्लभ ने तो अपने संप्रदाय का नाम ही "पुष्टिमार्ग" रखा।

[1] श्रीभाष्य, २/१/९

[2] व्यूह तीन हैं। ज्ञान तथा बल से युक्त संकर्षण, ऐश्वर्य तथा वीरगुणों से युक्त प्रद्युम्न, शक्ति तथा तेज गुणों से युक्त अनिरुद्ध। वासुदेव को मिलाकर यह "चतुर्व्यूह" कहलाता है।

[3] "विभव" का अर्थ "अवतार" है।

[4] अन्तर्यामी का रूप "बृहदारण्यक" में इस प्रकार बतलाया गया है :—
य : पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथ्वी न वेद, यस्य पृथ्वी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति, एष ते आत्मा अन्तर्याम्यमृतः।
—बृहदारण्यकोपनिषद्, ३/७/३

[5] पूजन के निमित्त उपादेय विग्रह चित्रादि अर्चावतार कहलाते हैं।

प्रपत्ति और भगवान की कृपा के अतिरिक्त साधना में तीसरा तत्व गुरु का है। नारायण के चरणों का सामीप्य गुरु के माध्यम से ही प्राप्त होता है। आचार्य-पुरस्कृत जीव ही नारायण को स्वीकार्य है।

श्रीवेदान्तदेशिक के अनुसार रामायण की कथा का तात्पर्य ही गुरु की गाथा गाना है। सीतारूप जीव राक्षसादि सांसारिक विकारों से परिवेष्ठित था। उसका कल्याण तभी होता है जब हनुमान रूप आचार्य उसको भगवान का सन्देश सुनाते हैं :—

दर्पोदग्र दशेन्द्रियानन मनो—नक्तंचराधिष्ठते देहेऽस्मिन् भावसिन्धुना परिवृते दीनां दशामाश्रितः। अद्यत्वे हनुमत्समान—गुरुणा प्रख्यापितार्थः पुमान् लंकारुद्ध—विदेहराजतनया—न्यायेन लालप्यते।

संक्षेप में श्रीसंप्रदाय की साधना-पद्धति में चार सूत्र हुये। जीव और ब्रह्म में शेष-शेषी भावना पर आधारित संबंध, कैंकर्यभाव से अशेष प्रपत्ति, भगवदनुकंपा में पूर्ण विश्वास तथा आचार्य के द्वारा जीव का पुरस्करण।

माया—लक्ष्मी विष्णु की शक्ति है। वह विष्णु से अभिन्न है। भक्तों के रंजनार्थ ही स्वयं विष्णु दो रूपों में अभिव्यक्त हुये। अवतरित रूप में विष्णु के साथ लक्ष्मी भी अवतीर्ण होती है।[1] जहाँ शंकराचार्य माया, अविद्या और अज्ञान को एकार्थक मानते हैं, वहाँ श्रीरामानुज ने माया और अविद्या को भिन्नार्थक माना है। उनके अनुसार माया भगवान की शक्ति है और ब्रह्म में आश्रित रहती है। इसी शक्ति को लक्ष्मीस्वरूपा माना जा सकता है। अविद्या में ज्ञान का सर्वथा अभाव है और वह जीवाश्रित है। इसी से जीव संसार के साथ बँधा रहता है।

जगत—जैसा कि पहले कहा गया है जगत की उत्पत्ति और सृष्टि का विकास-क्रम इनके अनुसार वही है जो सांख्य का है। जगत का सम्बन्ध ब्रह्म के अचित अंश से है। ज्ञान की शून्यता अचित का गुण है। इस अचित् तत्व के तीन भेद हैं:—शुद्धसत्व, मिश्रसत्व, सत्वशून्य। सत्वशून्य तत्व काल है। मिश्रसत्व तम तथा रज से मिश्रित होता है और प्राकृतिक सृष्टि का यही मूल उपादान है। इसी को माया, अविद्या या प्रकृति के नाम से जाना जाता है। शुद्धसत्व रज और तम से मिश्रित न होने के कारण ही शुद्ध है। भगवान के व्यूह आदि के रूप इसी तत्व से बने हैं। मुक्त-जीव भी शरीर के अभाव में नहीं रह सकते। उनका शरीर इसी शुद्ध सत्व से बना हुआ होता है।[2]

[1] रामानुज ने अपने "वेदार्थ संग्रह" में विष्णु पुराण के निम्नलिखित प्रसंग को उद्धृत किया है—
"देवत्वे देवदेहेयं मनुष्यत्वे च मानुषी, विष्णोर्देहानुरूपां।"
वै करोत्येषात्मनस्तनूम्—"विष्णु पुराणम", १/९/१२५

[2] सम्भवतः तेन्कलै मत में शुद्ध सत्व को अचित् माना जाता है और वडकलै मत में चित।

जीव—जीव भगवान का अंश ही है। यज्ञ आदि कर्म केवल स्वर्ग की प्राप्ति में सहायक होते हैं। किन्तु स्वर्ग आदि के सुख अस्थाई हैं। इनकी समाप्ति पर जीव को पुनः पृथ्वी पर आना पड़ता है।[1] विवेकी जीव पुनर्जन्म के कारणभूत कर्म-बंधन से मुक्त होना चाहता है। ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों ही मार्ग परम तत्व की प्राप्ति में सहायक हो सकते हैं। रामानुज के अनुसार भक्ति सर्वश्रेष्ठ साधन है। भक्ति की भावात्मक साधना से भगवान को अपने सम्मुख भक्त साक्षात् देख सकता है। इस साक्षात्कार के पश्चात् संतप्त भवसागर में जीव को नहीं आना पड़ता।[2] मुक्त-जीव की स्थिति पूर्णकाम की स्थिति होती है। फिर भी वह भगवान के समान सर्वशक्तिमान और अनन्त जैसे विशेषणों से युक्त नहीं हो सकता। उसमें सृष्टि के सृजनरक्षण-संहार की शक्ति भी नहीं आती।[3]

मुक्त होने से पूर्व जीव के भोग, सुख आदि की दृष्टि से भेद मिलते हैं, पर इस विभेद और वैषम्य के लिये भगवान को उत्तरदायी नहीं ठहराया जाना चाहिये। सुख-दुःख के आधार पर जीवों के लौकिक विभेद संचित कर्मों के कारण ही है।[4] इस कर्म-विपाक का अन्त मुक्त होने पर ही संभव है। मुक्त जीव को भी सुख और दुःख का अनुभव इसलिये करना पड़ता है कि कर्मफल का अन्त हो जाय। कभी-कभी भगवान के अनुग्रह से अनन्य भक्तों को प्रारब्ध कर्मों से अविलंब मुक्ति मिल जाती है।

रामानुज ने आत्मा के अनेक रूप स्वीकार किये हैं। इनको तीन विभागों में विभाजित किया गया है।—बद्ध, मुक्त और नित्य। बद्ध जीवों के भी दो भेद हैं :—आनन्द के इच्छुक और मुमुक्ष। आनन्द भौतिक भी हो सकता है जिसकी प्राप्ति के लिये द्रव्यादि का संग्रह किया जाता है। आनंद की उच्चतर अवस्था दिव्य है जो यज्ञ, पुण्य, जप, व्रत आदि से प्राप्त होता है। मुक्त-जीव सांसारिक दोषों से विमुक्त रहते हैं। ये कर्मयोग से अपनी आत्मा की शुद्धि करते हैं और ज्ञानयोग से अपने में और प्रकृति में भिन्नत्व का बोध करते हैं। यह ज्ञानयोग भक्ति की हेतु है। यम, नियम आदि से युक्त अष्टांगयोग भी भक्ति के क्षेत्र में तिरस्कृत नहीं है।

भक्ति का केन्द्र समर्पण या प्रपत्ति है। इसका अधिकार मनुष्यमात्र को है। शूद्र भी इसके अधिकारी हैं।

[1] रामानुजगीता भाष्यम्, ८/२

[2] वही, ८/१४
वही, ८/१५

[3] जगद व्यापारो निखिल— चेतनाचेतनस्वरूपस्थिति
प्रवृत्तिभेद नियनम्, तद्वर्ज निरस्त—निखिल तिरोधानस्य।

[4] श्रीभाष्यम्, २/१/३५

जीव का सम्बन्ध ब्रह्म के चिदंश से है। अग्नि-स्फुलिंगवत जीव ब्रह्म का ही अंश है। अपने समस्त कार्यकलाप के लिये जीव ईश्वराधीन रहता है। इसलिये "शेष" कहा जाता है और ईश्वर को शेषी। जीव का यही अधीनत्व उसका विशेष गुण है।

मोक्ष—मोक्ष के संबन्ध में श्री रामानुजाचार्य ने विष्णुलोक, ब्रह्मलोक, वैकुंठ या परम-पद शब्दों का प्रयोग प्रायः एक ही अर्थ में किया है। यहाँ इसमें विष्णु का नित्य निवास है। जीव यदि इस लोक में पहुँच जाता है तो उसे "सालोक्य मुक्ति" कहा जाता है। सामीप्य सालोक्य के आगे की स्थिति है, तत्पश्चात् सारूप्य की स्थिति आती है और सायुज्य सर्वोच्च मुक्ति है। किन्तु इस स्थिति में भी ईश्वर और जीव के व्यक्तित्वों में पार्थक्य बना ही रहता है। पर इस पार्थक्य की प्रतीति जीव को नहीं होती। वह ऐक्य का ही अनुभव करता है। शंकर की भाँति जीव की ब्रह्म के साथ एकाकारता रामानुज को मान्य नहीं। जब जीव ब्रह्मांश, अणु और अल्पज्ञ है तो ब्रह्म के साथ उनका एकीभाव सम्भव नहीं। वृद्धावस्था में जीव जिस प्रकार ब्रह्म से पृथक है, मुक्तावस्था में भी उसी प्रकार रहता है। अंतर यह है कि वृद्धावस्था में वह ब्रह्मानन्द से शून्य रहता है और मुक्तदशा में ब्रह्मानन्द में निमज्जित।

श्रीसंप्रदाय का सामाजिक पक्ष—इस संप्रदाय के सामाजिक पक्ष पर कुछ विचार पहले हो चुका है। सर्वप्रथम यामुनाचार्य जी ने शंकर के मिथ्यावाद को ललकारा। और इन्होने अपने शिष्य रामानुज को शंकर-मत के खंडन का आदेश दिया। वैसे श्री रामानुजाचार्य में भी क्रांति का बीज था। इनके प्रारंभिक गुरु यादवप्रकाश अद्वैतवाद के ही समर्थक थे। पर इनका अपने गुरु से मतभेद हुआ। प्रबंधम के अध्ययन ने उनको विशुद्ध बौद्धिक या ज्ञानवादी साधना का थोथापन स्पष्ट कर दिया। इस प्रकार श्री रामानुजाचार्य एक क्रान्ति का सूत्र लेकर तत्कालीन रंगमंच पर उपस्थित हुये। यद्यपि पृष्ठभूमि की संपन्नता और उसको परम्परावद्ध करने की दृष्टि से उन्होंने प्रस्थानत्रयी का आश्रय लिया, पर आचरण की दृष्टि से इनमें भक्ति का ही प्राधान्य रहा और वर्णाश्रम-धर्म आदि भी गौण हो गया। सबसे बड़े महत्व की बात यह है कि इनका भक्ति का द्वार शूद्रों के लिये बन्द नहीं था। इस शूद्रोद्धारक सूत्र को पहले परंपरागत ब्राह्मणत्व आच्छन्न किये रहा। आगे चलकर श्री राघवानन्द, आदिवन शठकोपस्वामी, रामानन्द, नामदेव जैसे भक्तों ने इस सूत्र को जीवन-शक्ति प्रदान की। यही रामानुज के सम्प्रदाय का सामाजिक पक्ष है। इसमें भक्ति आन्दोलन की समस्त गतिविधि बीजरूप में उपस्थित है।

श्री संप्रदाय का इष्टदेव—इस संप्रदाय में भगवान के प्रायः उन्हीं स्वरूपों का उल्लेख किया गया है जिनकी बीज बिन्दु "गीता" में मिलती है। नारायण और विष्णु के तत्वों का समावेश विशेष रूप से इसमें मिलता है। लक्ष्मीनारायण को ही इष्टदेव के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। इसमें न कहीं गोपालकृष्ण का ही नाम आया है, न कहीं राम का।

वैसे आळ्वारों में राम और कृष्ण दोनों ही किसी-न-किसी रूप से मान्य थे। आल्वारों में सब से प्रसिद्ध नम्माळ्वार माने जाते हैं। इन्होंने दशरथी राम में अपनी अनन्य भावना समर्पित की।[१] श्री संप्रदाय में जहाँ लक्ष्मी-नारायण की उपासना थी वहाँ सीता-राम से उनका अभेद माना जाता था।[२] श्री नाथमुनि ने अयोध्या और चित्रकूट का भी दर्शन किया था। श्री रामानुजाचारी को संप्रदाय में लक्ष्मण का अवतार माना जाता है।[३] इनकी "वाल्मीकि रामायण" में भी बड़ी आस्था थी। इस प्रकार इस संप्रदाय में राम की पूजा के तत्व प्रच्छन्न रूप से आरंभ से ही चले आ रहे थे। इसी धारा से संबद्ध रामानन्द के रामावत संप्रदाय में सीता-राम की पूर्ण प्रतिष्ठा हो गयी।[४]

इस संप्रदाय की रामभक्ति का प्रभाव तेलुगु-क्षेत्र पर भी पड़ा। श्री नम्माळ्-वार ने तिरुपति में राम के विग्रह की स्थापना की। सांप्रदायिक साहित्य में इसका उल्लेख है।[५] इनको राम की पादुका का अवतार माना जाता है। नाथमुनि ने कोदंडपाणि राम की आराधना की। यह विग्रह श्रीबालार्जी-पर्वत पर बड़े जीयर मठ में अब तक विद्यमान है। रामानुजाचार्य ने भी सर्वप्रथम इसी विग्रह से प्रेरणा प्राप्त की थी। गोविन्दराज ने रामायण की भूषण-टीका इसी विग्रह के समक्ष बैठकर की थी।[६] इन्होंने संभवतः मानसिक ध्यान-रामायण ग्रन्थ की रचना भी की। इससे प्रतीत होता है कि श्रीवेंकटेश्वरजी के विग्रह के साथ साथ तिरुपति जैसे वैष्णव केन्द्र में रामार्चन पद्धति भी चल रही थी। हिन्दी-क्षेत्र में भी यही सूत्र रामानन्द के माध्यम से पहुँचा।

आळ्वारों में कृष्ण की मान्यता भी थी। यद्यपि श्री संप्रदाय में कृष्ण का प्रवेश नहीं हो पाया था, तथापि आळ्वारों से स्वतंत्र रूप में यह सूत्र चलकर वैष्णव भक्ति-क्षेत्र को प्रभावित कर रहा था। नम्माळ्वार स्वयं भगवान कृष्ण के प्रति

[१] सहस्रगीति, ३/६/८

[२] बृहद्ब्रह्म संहिता, पृ० ८४, ८६

[३] प्रपन्नामृत, पृ० ४५०

[४] स्वामी रामानन्द ने......एक नये (रामावत) संप्रदाय की स्थापना की। उन्होंने लक्ष्मीनारायण के स्थान पर सीताराम की प्रतिष्ठा की और इस प्रकार लोकजीवन में राम की मर्यादा बढ़ाई।" —डा० भगवतीप्रसादसिंह, "राम भक्ति में रसिक संप्रदाय", पृ० ५१

[५] श्री रामरहस्यत्रयार्थ, पृ० ४३, ४४

[६] वही, पृ० ४५

आवेश भक्ति रखते थे।[1] नम्माळ्वार को "भागवत" से प्रेरणा मिली या न मिली, यह संदिग्ध है। परन्तु उनकी कृतियों में कृष्णगोपाल और गोपियों का असंख्य निर्देश है। और स्वभावतः उनकी प्रवृत्ति गोपियों से और कभी-कभी कृष्ण की संगिनी नप्पिण्णइ (राधा) से अपना तादात्म्य स्थिर करने की है। उस स्थिति में नप्पिण्णइ का उल्लेख विष्णु की चिरसंगिनी की अपेक्षा एक वियुक्त स्नेहशीला पत्नी के रूप में किया गया है।[2] ई० आठवीं शताब्दी में पेरियाळ्वार की आध्यात्मिक पुत्री कवयित्री आंडाळ ने कृष्णोपाख्यान के विविध पात्रों को प्रेम-प्रतीक के रूप में आगे बढ़ाया। कहने की आवश्यकता नहीं कि किसी न किसी रूप में समस्त आळ्वार साहित्य में राधाकृष्ण भावना की प्रबल धारा प्रवाहित है। श्री संप्रदाय की आळ्वार भावापन्न शाखा में माधुर्यावेश अधिक होता गया और बालकृष्ण तथा गोपी-कृष्ण प्रमुख स्थान प्राप्त करते गये, यद्यपि यह माधुर्य भावना आळ्वारों ने रामोपासना के साथ भी जोड़ी। स्वयं नम्माळ्वार ने "सहस्रगीत" में इस प्रकार के छन्द लिखे हैं। गोदादेवी को सीता का अवतार कहा जाता था।[3] यद्यपि उनकी मधुरोक्तियाँ श्रीकृष्ण के प्रति ही प्रेरित हैं, तथापि श्री रंगनाथपरक उक्तियों का भी अभाव नहीं है। श्रीरंग और राम में आळ्वार-संत अभेद ही मानते थे।[4] फिर भी माधुर्य भाव के उपर्युक्त विभाव पक्ष की योजना कृष्णोपाख्यान के माध्यम से ही हो सकती थी। संभवतः श्रीसंप्रदाय की दाक्षिणात्य शाखा (तेन्कळै) के प्रभाव से अथवा आळ्वार-साहित्य के अध्ययन और प्रसार के कारण तेलुगु-क्षेत्र में कृष्ण का मधुर रूप अधिकांश कवियों के लिये प्रेरणा-स्रोत बना। पर यहाँ पर एक बात विचारणीय है। यदि आळ्वार-साहित्य से आलोच्ययुग के तेलुगु वैष्णवभक्ति की कृष्ण-शाखा को प्रभावित माना जाय तो राधा और गोपियों की मान्यता उतनी नहीं मिलती जितनी आळ्वार साहित्य में है। तेलुगु-क्षेत्र में "महाभारत" और भारतोत्तर कृष्ण की मान्यता ही विशेष रूप से मिलती है। इसलिये कहा जा सकता है कि पुराणों के स्रोत से अष्ठमहिषियों पर आश्रित शृंगार गाथायें अधिकांश तेलुगु प्रबन्धकारों ने ग्रहण कीं जिनमें राधा-गोपी का-सा आवेश नहीं है, पर अविच्छिन्न प्रबन्धसूत्र अवश्य हैं। अन्नमाचार्य के शृंगार-कीर्तनों,

[1] यदि वह कभी श्रीकृष्ण के दर्शन और आलिंगन का आनन्द प्राप्त करता है तो उसके सुख में एक नये वियोग का भय मिश्रित रहता है और वे अस्थाई मिलन के क्षण केवल उसकी अनन्त कामना की अग्नि को और भी उद्दीप्त कर देते हैं।"

—डा० सी० हेच० बादवेल "भागवत धर्म में प्रेम प्रतीकवाद"

"हिन्दी अनुशीलन", धीरेन्द्रवर्मा, विशेषांक, पृ० २७६

[2] वही, पृ० २७७

[3] प्रपन्नामृत, पृ० ३०२

[4] डा० भगवतीप्रसाद सिंह, "राम भक्ति में रसिक संप्रदाय", पृ० ७८

"राधामाधव" प्रबन्ध जैसे साहित्य में जो माधुर्य भावना मिलती है, वह आळ्वारों के साहित्य से प्रभावित है। जयदेव का साहित्य भी अपना प्रभाव तेलुगु-साहित्य पर छोड़ रहा था। इस प्रकार अव्यक्त रूप से कृष्ण-राधा सूत्र कभी श्रीसंप्रदाय के प्रभाव से, कभी आळ्वार-साहित्य के सीधे संपर्क से आलोच्ययुग की तेलुगु-सीमाओं को स्पर्श कर रहा था। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि हिन्दी और तेलुगु दोनों ही क्षेत्रों का रामभक्ति-साहित्य स्रोत की दृष्टि से समान है। किन्तु जहाँ तक कृष्णशाखा का सम्बन्ध है, तेलुगु और हिन्दी-क्षेत्र आंशिक रूप से ही समान हैं। इसको आगे स्पष्ट किया जायेगा।

श्रीसंप्रदाय : साधना पक्ष—साधना पद्धति का रूप किसी संप्रदाय में मान्य भगवान तथा जीव के संबंध पर ही निर्भर रहती है। इस संप्रदाय में इस सम्बन्ध का आधार शेष-शेषी भाव माना गया है। शेष दास है और शेषी स्वामी। "गीता" में जीवों को आत्म-विभूति माना गया है।[1] श्रीरामानुज के अनुसार विभूति का अर्थ है "शेष", अर्थात् "नियाम्यत्व", क्योंकि ये भगवान और जीव में नियामक और नियाम्य सम्वन्ध मानते हैं। इस प्रकार अनन्य भावेन कैंकर्य तथा भगवद् भक्तों की सेवा ये साधना की दो शाखायें हैं।[2]

रामानन्द-संप्रदाय

श्रीसंप्रदाय में प्रतिष्ठित राम को लक्ष्मीनारायण से पृथक् करके स्वतंत्र रूप रामानन्द सप्रदाय में ही दिया गया है। दार्शनिक रूप से विशिष्टाद्वैत दर्शन और प्रपत्ति-सिद्धान्त इस संप्रदाय की विशेषताएँ थीं। कुछ नवीन तत्वों का समावेश राघवानन्दजी ने किया था और इन्होंने भी उनको बल प्रदान किया। इन्होंने शैव और शाक्त पंथों में प्रचलित तन्त्रमंत्रादि को भी रामोपासना में स्थान दिया। अनेक तीर्थों पर इन्होंने साम्प्रदायिक केन्द्र स्थापित किये। इसी रामानन्दीय वैष्णव-परम्परा में तुलसी का आविर्भाव हुआ।[3] तुलसी के समय ही इस संप्रदाय में माधुर्य भक्ति का समावेश हो गया था और इस प्रकार मर्यादा के आग्रह से इस संप्रदाय में जो कमी थी, वह भी पूर्ण हो गयी। कृष्ण भक्ति की माधुर्य-पद्धति की शब्दावली भी इन्होंने आंशिक रूप से ग्रहण की। इस संप्रदाय के सम्बन्ध में विस्तार से विचार करना अनावश्यक ही है क्योंकि इसका दर्शन सर्वथा नवीन नहीं था, केवल वाह्य संघटन, पूजा के उपकरणों और उपास्यदेव की रूपरेखा में सामान्य अन्तर उपस्थित कर दिया गया था। इस संप्रदाय का तन्तु विधान समस्त हिन्दी क्षेत्र में विस्तृत हो गया था।

[1] श्रीमद्भगवद्गीता, १०/१९/७७०

[2] "एवंविधं भगवत्-कैंकर्य श्रीमद्भागवत
कैंकर्यपर्यन्तं न चेत् पूर्णत्वं न याति।" —रामानुज

[3] भगवती प्रसाद सिंह, "रामभक्ति में रसिक संप्रदाय", पृ० ६६

निंबार्क संप्रदाय

इस सम्प्रदाय में कई नाम प्रचलित हैं। हंस सम्प्रदाय, सनकादि संप्रदाय, देवऋषि सम्प्रदाय आदि। ये नाम सम्प्रदाय में प्रचलित इस मत की परम्परा ही के द्योतक हैं। "इस मत के सर्वप्रथम उपदेष्टा हंसावतार भगवान हैं जिनके शिष्य सनत-कुमार हैं, जिन्होंने इसका उपदेश श्री महर्षि नारदजी को दिया और नारदजी से ही यह उपदेश निम्बार्क को प्राप्त हुआ।"[१] "भागवत" में भगवान के द्वारा सनत्कुमार के योगविषयक प्रश्नों का उत्तर देना बताया गया है।[२] निम्बार्क के उदय के सम्बन्ध में पूर्ण रूप से ज्ञात नहीं। सम्प्रदाय में इनका उदय काल बहुत प्राचीन माना जाता है। पर भंडारकर ने इनका निधन ११६२ में माना है।[३] इस प्रकार वे रामानुज के लगभग समकालीन ज्ञात होते हैं। सम्प्रदाय में इनको भगवान विष्णु का चक्रावतार कहा जाता है।

यद्यपि इनका सम्बन्ध दक्षिण से है तथापि इस सम्प्रदाय का तनिक भी सम्बन्ध तैलंग देश से नहीं है। हो सकता है कि उस समय इन्होंने अपने मत प्रचार के लिए उत्तर की यात्रा की हो। आज इस सम्प्रदाय का सबसे बड़ा गढ़ बृन्दावन ही है। "ये सर्वप्रथम आचार्य थे जिन्होंने उत्तरी भारत में राधाकृष्ण की भक्ति को महत्व दिया।"[४] स्वयं नारद जी ने "श्री, भू, लीला"[५] सहित श्रीकृष्णोपासना का उपदेश इनको दिया था। इस परम्परा में कई प्रसिद्ध शिष्य हुये जिन्होंने संप्रदाय को उन्नत किया और साहित्य की रचना भी की। आगे प्रसिद्ध आचार्य भी हुये जिन्होंने इस संप्रदाय के दर्शन का विश्लेषण भी किया।[६] इस प्रकार दीर्घकाल तक इस संप्रदाय की परम्परा चलती रही।

द्वैताद्वैतवाद—इसका मूल सिद्धांत यह है कि जीव और ब्रह्म के बीच अवस्था-भेद से अभिन्नता और भिन्नता दोनों बनी रह सकती हैं। इस सिद्धान्त की परम्परा बहुत प्राचीन है।[७] मुक्त दशा में अभिन्नता ही स्थापित हो जाती है, संसार

[१] बलदेव उपाध्याय, "भागवत संप्रदाय", पृ० २१३

[२] "श्रीमद्भागवत", ११/१२/१६

[३] "वैष्णविज्म्, शैविज्म एण्ड अदर मैनर रिलिजियस सिस्टम्स"
—आर० जी० भंडारकर, पृ० ८८

[४] डा० हरवंशलाल शर्मा कृत "सूर और उनका साहित्य", संशोधित संस्करण, पृ० ९२

[५] श्रीरामानुज संप्रदाय में भी ये तत्व मान्य हैं, पर कृष्णोपासना का तत्व इसमें निम्बार्क के द्वारा आया।

[६] सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य ये थे—पुरुषोत्तमाचार्य, देवाचार्य, केशवकाश्मीरी, श्रीभट्ट, हरिव्यासजी, परशुरामाचारी आदि।

[७] द्रष्टव्य—'भागवत संप्रदाय", बलदेव उपाध्याय, पृ० ३३४–३३६

दशा में भिन्नता ही बनी रहती है।[1] इस सिद्धान्त का शंकर के अद्वैत से विरोध है, क्योंकि अवस्थाभेद से द्वैत भी संभव है। साथ ही अद्वैतवादियों ने अपने पूर्व के द्वैताद्वैतवादी आचार्यों का खंडन भी किया था। निम्बार्क ने उस लुप्त सूत्र को नवीन जीवन दिया और कृष्णोपासना से सम्बद्ध होकर यह दर्शन अमर हो गया।

जहाँ तक दार्शनिक सिद्धान्तों का सम्बन्ध है, रामानुज के दर्शन से इसका पर्याप्त साम्य है। आगे निम्बार्काचार्य के पदार्थमीमांसा की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की जा रही है।

जीव—जीव का सम्बन्ध चिदंश से है। यह ज्ञानमय है और ज्ञानस्वरूप भी। यह एक ही साथ ज्ञानस्वरूप और ज्ञान का आश्रय होता है।[2] इन्द्रिय निरपेक्ष होकर भी यह ज्ञान प्राप्त करने में शक्य है। जीव कर्ता भी है। इसका समर्थन श्रुति और सूत्रों से भी होता है।[3] पर यह जीव ज्ञान की उपलब्धि और भोग की प्राप्ति में ईश्वर के अधीन है। यहाँ श्रीरामानुज की भाँति नियम्यत्व एक व्यावर्तगुण के समान जीव के साथ संबद्ध कर दिया जाता है। मुक्तदशा में भी वह ईश्वराधीन ही रहता है। वह भगवान का "अंश" है। "अंश" का तात्पर्य भाग नहीं। "कौस्तुभ" के अनुमार "अंश" का अर्थ "शक्ति" है। इसी शक्ति से युक्त जीव की स्थिति है।[4] जीव को अणु और नाना भी माना गया है। माया से आवृत्त होने के कारण जीव का धर्म भूतज्ञान संकुचित हो जाता है। उसे अपने सच्चे स्वरूप का ज्ञान भगवान की कृपा से ही प्राप्त हो सकता है।

बद्ध जीव दो प्रकार का होता है:—मुमुक्षु और भुभुक्षु। मुमुक्षु मुक्ति की इच्छा से आन्दोलित रहता है। और भुभुक्षु विषयवासना की इच्छा करता है। मुक्तजीव भी भगवत्पारपदों की भाँति नित्यमुक्त तथा मुक्तरूप, दो प्रकार का हो सकता है। इस प्रकार जीव की परिकल्पना सामान्यतः सभी भक्ति-संप्रदायों और विशेषतः रामानुज संप्रदाय से मिलती है।

अचितः जगत्—अचित् पदार्थ चित से विपरीत है। यह तीन प्रकार का होता है:—प्राकृत, अप्राकृत और काल[5]। महत्तत्व से लेकर महाभूत तक प्रकृतिमूलक

[1] ब्रह्म सूत्र, १/४/२०,२१

[2] दशश्लोकी—१

[3] "ब्रह्मसूत्र", २/३/२२ (निम्बार्काचार्य से लिखित)

[4] अंशो हि भक्तिरूपो ग्राह्यः—२/३/४२ "ब्रह्मसूत्र" पर निंबार्क कृत कौस्तुभ।

[5] ब्रह्मसूत्र, १/१/१ पर "वेदान्त-कौस्तुभ" और "दशश्लोकी" का निम्नलिखित श्लोक—

अप्राकृतं प्राकृतरूपकं च कालस्वरूपं तदचेतनं मतम्।
माया प्रधानादिपदप्रवाच्यं शुक्ला दिभेदाश्च समेऽपि तत्र॥
—दशश्लोकी ३

जगत प्राकृत के अन्तर्गत आता है। इसमें बद्ध-जीव की स्थिति रहती है। अप्राकृत जगत वह है जहाँ प्राकृतिक नियम पंगु हो जाते हैं। भगवत्लोक अप्राकृत ही है। वेद में इसको "परमव्योमन", "विष्णुपद" या "परम पद" कहा गया है। कालतत्व जगत् के समस्त परिणामों का विधायक है। जगत का नियमन इसी के द्वारा होता है। पर काल भी भगवान से नियम्य ही है। काल अखंड है। इसका स्वरूप नित्य है, परन्तु कार्यरूप से वह अनित्य भी है।

ईश्वर—श्री रामानुज की भाँति निंबार्क-मत में भी ब्रह्म की सगुण कल्पना प्राप्त होती है। वह प्राकृत, गुण दोषों से परे और अशेष, ज्ञानबल, कल्याण आदि गुणों का अधिष्ठान है। "दशश्लोकी" में ब्रह्म की व्याख्या इसी रूप में की गयी है।[१] नारायण समस्त गोचर जगत में व्याप्त है। चित् और अचित् (जीव और जगत) भगवान के द्वारा नियम्य और उस पर अवलंबित हैं। जीव और ब्रह्म में भेदाभेद संबंध है। प्रपत्ति भगवान का गुण है। इसी के द्वारा जीवों पर भगवान का अनुग्रह होता है। प्रपत्ति से ही भगवत्साक्षात्कार होता है और इसके उपरान्त जीव क्लेशमुक्त हो जाता है। भगवान की कृपा भक्ति से ही प्राप्त होती है। भक्ति दो प्रकार की है:—परा और साधना।[२]

साधना पक्ष—भगवान कृष्ण की चरण-सेवा ही जीव के उद्धार का मार्ग है। ब्रह्म, शिव आदि भी उन्हीं की वन्दना करते हैं। भक्तों के भाव के अनुसार ही कृष्ण रूप धारण करते हैं। उनकी शक्ति अचिंत्य और अप्रमेय है।[३] कृष्ण की प्राप्ति पाँच भावों से संभव है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा उज्ज्वल। इनमें से गोपी और राधा उज्ज्वल रसावेश के आदर्श हैं। निम्बार्क ने कृष्ण की प्रेमाशक्तिरूपा राधा की उपासना पर भी बल दिया जो भक्तों की समस्त कामनाओं को पूर्ण करती हैं।[४] इस प्रकार इस मत में उपास्यदेव श्रीकृष्ण तथा आह्लादिनी-शक्ति राधा हैं। राधा को "अनुरूप सौभगा" कह कर उनको भी सर्वेश्वरी के रूप में ही स्थापित किया गया है। संप्रदाय में राधा तत्व का पीछे विशद विवेचन हुआ और राधा का प्राधान्य उपासना के क्षेत्र में होता गया। राधा और कृष्ण में अविनाभाव सम्बन्ध माना गया।

राधा और कृष्ण में परकीयात्व की स्थापना नहीं है। स्वकीया रूप में ही राधा की मान्यता है। संप्रदाय के कुछ कवियों ने राधा के अभिसार का वर्णन किया है। किन्तु उसमें परकीयात्व देखना अनुचित है।

जहाँ तक भक्ति का संबन्ध है साधक अपनी रुचि के अनुसार पंचभावात्मक भक्ति में से किसी भी रूप को ग्रहण कर सकता है। प्रारम्भ में भक्ति के रसों का

---

[१] दशश्लोकी, ४
[२] वही, ६
[३] वही, ८
[४] वही, ५

वर्णन स्वल्प ही मिलता है। पर पीछे हरिव्यासदेवाचारी ने निम्बार्क कृत "वेदान्त-कामधेनु" की टीका में भक्ति के उक्त पाँच भावों का रसरूप में वर्णन प्रस्तुत किया। इसमें माधुर्य रस की श्रेष्ठता भी व्यंजित है। पर अन्य रस भी हेय नहीं हैं। श्रीभट्ट तथा हरिव्यासदेवाचारी ने यद्यपि माधुर्य रस को ही अपनी उपासना के लिये चुना, फिर भी वात्सल्य आदि की भी उपेक्षा नहीं की। सख्य के संबन्ध में भी अनेक पद "महावाणी" आदि ग्रन्थों में हैं। गौडीय वैष्णव, और निम्बार्क वैष्णव संप्रदायों की माधुर्य-साधना में मूलतः भेद नहीं है।

वल्लभ संप्रदाय

हिन्दी क्षेत्र में प्रमुख रूप से इस संप्रदाय के आश्रय में अनेक कृष्ण भक्त कवि पले-पनपे। तेलुगु-क्षेत्र में इस संप्रदाय का प्रभाव नगण्य ही है। यद्यपि इनका जन्म आन्ध्र प्रदेश में नहीं हुआ[1], तथापि इनके पारिवारिक वातावरण और संस्कारों में दाक्षिणात्य भक्ति-तत्व व्याप्त थे। इनके पिता तैलंग-ब्राह्मण थे। इनके कुल के उपास्य-देवता गोपालकृष्ण थे। साथ ही आन्ध्रप्रदेश के ऐतिहासिक राजपुरुष श्री कृष्णदेवराय ने इनका कनकाभिषेक भी किया। इन्होंने नास्तिकों और मायावादियों का खंडन किया। वल्लभाचार्य को दर्शन विष्णुस्वामी से मिला। विष्णुस्वामी के संबन्ध में कहा जाता है कि ये दक्षिण देश के किसी क्षत्रिय राजा के ब्राह्मण मन्त्री के पुत्र थे। विष्णुस्वामी ने भगवान कृष्ण की बालमूर्ति की प्रतिष्ठा की। इन्हीं की शिष्यपरम्परा में बिळ्वमंगळ का नाम आता है। बिळ्वमंगळ ने वल्लभाचार्य को स्वप्न में विष्णुस्वामी की शरण में आने का आदेश दिया।[2] विष्णुस्वामी की एक शाखा महाराष्ट्र के त्रिलोचन, नामदेव तथा ज्ञानदेव के रूप में पल्लवित हुई और दूसरी शाखा वल्लभाचारी के द्वारा पुष्टि-मार्ग के रूप में उत्तर भारत के विस्तृत क्षेत्र में फैली।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि वल्लभ का जन्म चाहे आन्ध्र में न हुआ हो, फिर भी आन्ध्र से उनके वंश का सम्बन्ध था। इनका पालन-पोषण काशी में हुआ। तत्पश्चात् ये ब्रज की ओर अग्रसर हुए वहाँ इनका प्रमुख केन्द्र बना। अंबाले में ही इनका एक मन्दिर है। इनके मत का प्रचार काठियावाड और गुजरात तक हुआ। इस प्रकार उत्तर-भारत के बहुत विशाल क्षेत्र में इस संप्रदाय के गद्दियों की स्थापना हुई।[3]

ब्रह्म—ब्रह्म निर्गुण और सगुण दोनों ही है। प्राकृतिक धर्मों से असंप्रक्त होने के कारण वह निर्गुण है और आनन्द आदि दिव्य तथा अलौकिक गुणों से युक्त

[1] इनका जन्म सं० १५३५ में रायपुर ज़िले के चंपारन नामक स्थान पर हुआ।

[2] संप्रदाय प्रदीप, पृ० १४,३०

[3] इनके सात पुत्र थे जिनकी सात गद्दियाँ स्थापित हुईं। इनसे क्षेत्र की व्यापकता स्पष्ट हो जाती है।

होने के कारण वह सगुण भी है।[1] उपनिषदों की भाँति परब्रह्म को संप्रदाय में "विरुद्ध धर्माश्रय" कहा गया है।[2] ऊपर के कथन से यही स्पष्ट होता है। परब्रह्म के तीन मुख्य धर्म हैं --सत्, चित् और आनन्द। परब्रह्म सच्चिदानन्दमय है। कृष्ण ही परब्रह्मस्वरूप है।[3] यह ब्रह्म तीन प्रकार का होता है[4] --१. आधिदैविक (परब्रह्म) २. आध्यात्मिक (अक्षर ब्रह्म), ३. आधिभौतिक (जगत)। परब्रह्म सदैव अविकृत है। फिर भी अपनी कृपा के द्वारा परिणाम-रूप होते हैं।[5] यही "अविकृत-परिणामवाद" का रहस्य है। ब्रह्म की शुद्धता इस बात में है कि वह सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदों से परे है।[6] इसलिये इस दर्शन को 'शुद्धाद्वैत" कहते हैं। जो "निर्गुण' परब्रह्म स्वशक्तियों के साथ आन्तर-रमण में निरत रहता है, वह उन्हीं शक्तियों की अभिव्यक्ति के साथ बाह्य-रमण भी करता है। इस रूप में उसकी संज्ञा पुरुषोत्तम हो जाती है।[7] यह नित्य गुणों से युक्त होता है। इसी रूप से वह ब्रजलीलाओं में निरत होता है।

अक्षर-ब्रह्म ब्रह्म का आध्यात्मिक स्वरूप है। इसमें परब्रह्म के समान ही गुण होते हैं। पर आनन्द की कुछ न्यूनता के कारण इसे गणितानन्द कहा जाता है। सृष्टि का कर्ता, पालक और संहारक रूप भी इसी के हैं।[8]

जगत--यह परब्रह्म का भौतिक स्वरूप है। ब्रह्म अपने सतधर्म से २८ तत्वों में होता हुआ जगत रूप में अवतरित होता है।[9] इस रूप में आने पर भी ब्रह्म अविकृत ही रहता है। इस प्रकार यह समस्त जगत् ब्रह्म रूप ही है और ब्रह्मरूप होने से

[1] निर्दोष पूर्णगुण विग्रह आत्मतंत्रो।
निश्चेतनात्मक शरीर गुणैश्चहीनः॥
आनन्दमात्रक स्पादमुखोदरादिः।
सर्वत्र च त्रिन्धि भेद विवर्जितात्मा॥ --निबंध

[2] विरुद्ध सर्व धर्माणामाश्रयो युक्त्य गोचरः। --निबंध

[3] परंब्रह्म तु कृष्णं हि......"सिद्धान्त मुक्तावली"।

[4] बलदेवोपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० ५१६

[5] "शुद्धाद्वैत सिद्धान्त प्रदीप" --सू० २४

[6] सजातीय विजातीय स्वगत द्वैत वार्जितम् --निबंध

[7] यत्र येन यतो यस्य यस्मैयद्यथा यदा।
स्यादिद भगवान्साक्षात्प्रधान पुरुषेश्वरः॥ --निबंध

[8] उत्पत्तिस्थितिनाशांनां जगतः कर्तृ वै बृहत--अणुभाष्य

[9] अष्टाविंशति तत्वानां स्वरूप यत्र वै हरिः। --निबंध
सूर ने भी इस क्रम का उल्लेख यों किया:--
खेलत खेलत चित्त में आई सृष्टि करन विस्तार।
अपुन आपुकरि प्रगट कियो है हरि "पुरुष अवतार"।
कीने तत्व प्रगट तेहि क्षम सबै "अष्ट अरु बीस"।

यह सत्य है। जिस प्रकार शंकर के मिथ्यावाद का खंडन करके श्री रामानुजाचार्य ने जगत को सत्य सिद्ध किया उसी प्रकार इन्होंने भी जगत को सत्य कहा।

जगत और संसार में एकत्व नहीं है। क्योंकि संसार जीव की अविद्याजन्य द्वैत-भावना से उत्पन्न होता है। ज्ञान के उदय से जीव इस मिथ्या-संसार से निवृत हो जाता है, किन्तु जगत की स्थिति ज्यों की त्यों बनी रहती है।[1] प्रलय के समय भी जगत का नाश नहीं होता, उसका तिरोभाव होता है। वह अपने मूलतत्वरूप से ब्रह्म में समा जाता है। लगभग इसी प्रकार की धारणा श्री रामानुज की भी थी।

जीव—ब्रह्म के चिदंश से जीवों की उत्पत्ति होती है।[2] इसकी उत्पत्ति में माया का संस्पर्श नहीं, केवल भगवान की इच्छा रहती है। जब तक जीव का माया से सम्बन्ध नहीं होता, तब तक ऐश्वर्य आनन्द आदि धर्म उसमें रहते हैं। जब ब्रह्म के संकेत से माया से जीव संप्रक्त होता है तो उसके जीवगुण तिरोहित हो जाते है और वह दीन और पराधीन हो जाता है।[3] इस रूप में भी जीव की नित्यता अविकल रहती है। जीव की उत्पत्ति के स्थान पर "व्युच्चरण" शब्द का प्रयोग इस दर्शन में है।

जीव की तीन अवस्थायें इस सम्प्रदाय में मानी गयी हैं :—शुद्ध, संसारी और मुक्त। माया से असंप्रक्त रूप, पर आनन्द गुण से रहित जीव, शुद्ध कहा गया है। अविद्या-माया उसमें द्वैतभावना से युक्त हो जाता है और उसकी संज्ञा "संसारी" हो जाती है। संसारी जीव भी दो प्रकार के होते हैं—दैव और असुर। दैव जीव मर्यादामार्गीय भी हो सकता है और पुष्टिमार्गीय भी। मर्यादा और पुष्टि उसकी मुक्ति साधना के ही प्रतीक हैं। इस विद्या और भक्ति के मार्ग से जीव मुक्त हो जाता है और जिन दिव्यगुणों से रहित होकर वह जीव हुआ था उन आनन्द-ऐश्वर्यादि गुणों का फिर से प्रादुर्भाव हो जाता है। पुष्टि भगवान की कृपा ही है जिसके बिना जीव मुक्त नहीं हो सकता।[4] जगत और जीव का आविर्भाव केवल लीला-मात्र है। जिस प्रकार कुंडलादि रूपों में परिणत होते हुये भी स्वर्ण अविकृत रहता है, उसी प्रकार जगत आदि के उत्पन्न होने पर भी ब्रह्म में विकार उत्पन्न नहीं होता।[5]

माया—ब्रह्म की शक्ति ही माया है। आत्ममाया या विद्यामाया सर्वसमर्थ है। यह उसी प्रकार ब्रह्म से अभिन्न है जिस प्रकार सूर्य से उसकी प्रकाश-शक्ति। यह पर-

---

[1] संसारस्य लयौ मुक्तौ न प्रपंचस्य कर्हिचित —(निबंध)

[2] तदिच्छामात्र तस्तस्माद् ब्रह्मपूतांशचेतनाः।
सृष्ट्यादौ निर्गता : सर्वे निराकारस्तदिच्छय ।। —निबंध

[3] अणुभाष्य, अध्याय ३

[4] द्रष्टव्य "प्रमेयरत्नारणौ" में जीव प्रकरण, "भारतीय दर्शन" बलदेव उपाध्याय, पृ० ५१७, ५१८

[5] यथा सुवर्ण सुकृतं पुरस्तात् पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्मयस्य।
दतेव मध्ये व्यवहार्यमाणं नानापदेशरहमस्य तद्वत् ।।

ब्रह्म के अधीन है। उसके सत्य-स्वरूप को यह आच्छादित नहीं कर सकती। वल्लभ ने "व्यामोहिका" और "करण" नाम से इसके विभाग किये हैं। "व्यामोहिका" भगवान के चरण की दासी है। इसलिये वह भगवान के भक्त के पास जाने में लज्जित होती है।[१] "करण" रूप माया को स्वीकार करके भगवान जगत की उत्पत्ति, पालन और संहार करते हैं।[२]

साधना-पक्ष-पुष्टिमार्ग—ऊपर वल्लभ संप्रदाय के ब्रह्मवादी दर्शन की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की गयी। भक्ति के सभी आचार्यों ने ब्रह्म, जीव, जगत और माया का ज्ञानवादी निरूपण इसलिये प्रस्तुत किया कि शंकराचार्य के दुरूह और विशुद्ध सैद्धान्तिक दर्शनों में कुछ लोकसुलभ दृष्टि समाविष्ट हो जाय। इस दर्शन को ज्ञानवादी दृष्टि से ग्रहण करने पर भी मुक्ति संभव है। श्री सम्प्रदाय में वेदान्तदेशिक ने इसी ज्ञान मार्ग पर बल दिया था जो यद्यपि शंकर से भिन्न था तथापि पद्धति में ज्ञानवादी ही था। किन्तु लोक के भावसंकुल हृदय के लिये इससे अधिक मूर्त और अनुभूत्यात्मक मार्ग की आवश्यकता समझ कर सभी आचार्यों ने एक साधना मार्ग को जन्म दिया। यह साधना मार्ग विश्वास, प्रेम और भगवत्कृपा से समन्वित था। श्रीरामानुज ने भी भगवदनुग्रह पर बल दिया था और वल्लभ ने तो अपने सम्प्रदाय का नाम ही पुष्टिमार्ग रखा।

पुष्टि का अर्थ भगवान की कृपा है: 'पोषणं तदनुग्रहः" (भागवत)। उपनिषदों में भी इस पुष्टितत्व की चर्चा की गयी है।[३] मर्यादा पुष्टि से भिन्न है।[४] अन्य स्थान पर श्री आचार्यजी ने विशेष प्रकाश डाला है। वहाँ यह अर्थ है कि ब्रह्म अपनी ही शक्ति से जो मुक्ति प्रदान करता है, वह मुक्ति कहलाती है।[५] इस प्रकार भक्त अपनी विशेष साधना से मुक्ति न प्राप्त करके भगवान की पुष्टि-शक्ति के माध्यम से परम पुरुषार्थ की प्राप्ति करता है। एक अन्य स्थान पर आचार्यजी ने विशुद्ध प्रेम को ही पुष्टि ठहराया है।[६] इस प्रकार पुष्टि भगवदनुकम्पा और भक्त का भगवान के प्रति विशुद्ध प्रेम दोनों के अन्तर्गत आ जाता है। इस प्रेम के आदर्श गोपीजन हैं। इसलिये

[१] सुबोधिनी, २/७/४७

[२] वही, १०/५४/१५

[३] मुंडकोपनिषद्, ३/२/३

[४] अणुभाष्य, २/३/४२

[५] कृतिसाध्यं साधनं ज्ञान भक्ति रूपं शास्त्रेण बोध्यते। ताभ्यां विवाहिताभ्यां मुक्ति मर्यादा। तद्राहिता नामापि स्वस्वरूप बलेने स्वप्रापणं पुष्टि रित्युच्यते। तथा च यं
—"अणुभाष्य"

[६] पुष्टया षिमिश्राः सर्वज्ञाः प्रवाहेण क्रियारता।
मर्यादया गुणज्ञास्ते शुद्धा : प्रेम्णाति दुर्लभाः।
—"पुष्टि प्रवाह मर्यादा"

आचार्यजी ने पुष्टि सिद्धान्त के ग्राचार्य के रूप में उन्हीं को ग्रहण किया ।[१] इसके परम-प्रेमास्पद भगवान श्रीकृष्ण हैं । इस प्रकार प्रेम का तत्व प्रबल रूप से इस संप्रदाय में आ गया । श्रीसम्प्रदाय में ऐश्वर्यजन्य दास्यभक्ति ही सिद्धान्त के रूप में मान्य थी । विष्णु स्वामी ने भी आत्म-विवेचनात्मक भक्ति को ही इस संप्रदाय के अन्तर्गत रखा था । पर वल्लभ ने श्री बिळ्वमंगळ की प्रेरणा से इसमें प्रेम-तत्व की स्थापना की । साम्प्रदायिक साहित्य में यह उल्लेख है कि बिल्वमंगळ ने स्वप्न में आचार्यजी को इस तत्व की प्रेरणा दी थी जा मर्यादा मार्ग से पृथक् मार्ग को अपनाता है ।[२]

गोपियों के तीन रूप है : गोपांगना, गोपी (कुमारिकायें) तथा ब्रजांगना । गोपांगनाओं ने लोक और वेद की मर्यादा का परित्याग करके तथा सर्वधर्म बंधनों से उपरत होकर अनंन्य भावेन प्रेम मार्ग का अनुगमन किया । इसलिये इनको "पुष्टि पुष्ट" कहा गया है । गोपियों ने कात्यायिनी व्रत आदि से पुरुषोत्तम का भजन किया और उनकी प्रतिरूप में याचना की । इसलिये मर्यादा का पालन करते हुये प्रेममार्ग का निर्वाह किया । ब्रजांगनाओं ने वात्सल्य भाव से कृष्ण में रति की ।[३]

भाव की दृष्टि से वल्लभ के पुष्टमार्ग में एक उत्क्रांति दिखाई देती है । क्योंकि दक्षिण के श्रीसंप्रदाय और माध्वसंप्रदाय में मर्यादा की मान्यता थी । माधुर्य का एक प्रवाह आवाळ्रों की भाव-पद्धति में अवश्य दिखलाई पड़ता है । पर इन सम्प्रदायों के आचार्यों ने ज्ञान, मर्यादा और दास्यभाव को दृढ़ता से पकड़ा । आन्ध्र में माधुर्य भाव की एक धारा लीलाशुक (बिळ्वमंगळ) की वाणी से निसृत हो रही थी । आलोच्ययुग में इस धारा के अस्तित्व का ही बाध नहीं होता, अपितु इसका अनुवाद और प्रभाव दोनों ही आलोच्य युग में मिलते हैं । हो सकता है कि अव्यक्त रूप से बंगाल की प्रेम-पद्धति ने लीलाशुक पर प्रभाव डाला हो । इन्हीं लीलाशुक ने अनुश्रुति के अनुसार श्री वल्लभाचार्य को माधुर्यभाव की आत्मचुम्बी प्रेरणा प्रदान की । यही एक भावक्रांति है जिसको श्री वल्लभ ने प्रस्तुत किया । यह माधुर्य वल्लभ संप्रदाय के हिन्दी कवियों की वाणी में ओतप्रोत हो गया और आन्ध्र देश के कवियों में भी इस

[१] ………गोपिका : प्रोक्ता गुरवा: साधनं चतत्—(संन्यास निर्णय)

[२] बिळ्वमंगळ ने स्वप्न में यह कहा था :—

"उक्त संप्रदाय में नारदीय-पंचरात्र वैखानसादि शास्त्रप्रतिपादित दीक्षा-पूजादि का प्रचार होने से यद्यपि विष्णुस्वामी संप्रदाय में आत्मनिवेदनात्मक भक्ति का स्थापना की गयी है, तथापि वह मर्यादा-मार्गीय है । अब आपको इस सम्प्रदाय में पुष्टि (अनुग्रह) मार्गीय आत्मनिवेदन द्वारा प्रेमस्वरूप निर्गुण भक्ति का प्रकाश करना है ।" (सं०, प्र०, पृ० ८७)—डा० सत्येन्द्रकृत "सूर का भाँका" पृ० ४८ पर उद्धृत ।

[३] भगवत्पीठिका

—द्वारकादास परीख प्रभुदयाल मीतल कृत "सूर-निर्णय" पृ० २०४ पर उदधृत

रस की फव्वारें दृष्टिगत होती हैं यद्यपि आळ्वारों का माधुर्य भाव भी तेलुगु-कवियों को आलोच्य युग में प्रभावित कर रहा था। वल्लभ संप्रदाय में दर्शन-पक्ष शिथिल होता गया और भाव की सघनता बढ़ती गयी। यहाँ तक कि स्वयं आचार्यजी कृष्ण रूप में स्थिर होकर अष्ट सखाओं और सखियों के साथ प्रेमभावात्मक-साधना में नित्य रहते थे। इस साधना के समर्थन और पोषण के लिये उन्होंने "श्रीमद्भागवत" को प्रस्थानत्रयी के साथ सिद्धान्त-स्रोतों में सम्मिलित किया। अब तक के आचार्यो ने सिद्धांत-स्रोतों के रूप में प्रस्थानत्रयी को ही मुख्य रूप में ग्रहण किया था।

माध्व सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय का जन्म कर्णाटिक में हुआ। कर्णाटिक और महाराष्ट्र के दक्षिणी भाग में आज भी इस सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। दर्शन की दृष्टि से यह द्वैत-वादी संप्रदाय है। अन्य सम्प्रदायों की भाँति मायावाद का इस मत के आचार्यों ने भी दृढ़ता से खंडन किया। सम्भवतः इतना सबल खंडन अन्य आचार्यों ने नहीं किया। इस सम्प्रदाय के मूल पुरुष ब्रह्माजी माने जाते हैं। बंगाल का वैष्णव-गौडीय सम्प्रदाय इस मत की विशिष्ट शाखा है। दार्शनिक दृष्टि से माध्व और गौड दर्शन में कुछ भेद भी है। परन्तु ऐतिहासिक रूप से यह सर्वथा संबद्ध है। मध्वाचार्य ने समुद्रस्थल में प्राप्त एक कृष्णमूर्ति की स्थापना उडिपी में की। वहीं आठ मन्दिर और वनाये गये जिनमें राम, लक्ष्मण, सीता, कृष्ण और विट्ठल की मूर्तियाँ हैं। भगवान बुद्ध की भाँति इन्होंने यज्ञ में होने वाली पशु-बलि का निवारण किया।

इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का समावेश इस प्रसिद्ध पद्य में है :—

"श्रीमन्मध्वमते हरि : परतरः सत्यं जगत् तत्वतो।
भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावं गताः॥
मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमलाभक्तिश्च तत् साधनं।
ह्यक्षादित्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकेवेद्यो हरि :॥"

इसमें विष्णु को ही सर्वोच्च तत्व माना गया है। वह अनन्त और दिव्यादि गुणों से युक्त है। उत्पत्ति, स्थिति, संहार, नियमन, ज्ञान, आवरण, बंध और मोक्ष-इन आठ क्रियाओं के वे कर्त्ता हैं। जगत और जीव, दोनों से ही वे विलक्षण हैं। जीव और ईश्वर, सच्चिदानंदात्मक हैं। पर जीव मायाबद्ध है और ब्रह्म से नितान्त भिन्न है।

जगत् को इस सम्प्रदाय में सत्य माना जाता है। भगवान सत्यसंकल्प कहे गये हैं। जगत इस सत्यसंकल्प का ही परिणाम है। इसलिये यह मिथ्या नहीं हो सकता। अद्वैतमत के अनुसार जो जगत मिथ्या है, वही भक्ति के आचार्यों के अनुसार सत्य है।

जीव, जगत और ईश्वर में तात्विक भेद है। यह भेद ईश्वर और जीव, ईश्वर और जड़, जीव और जड़, एक जीव और दूसरे जीव तथा एक जड़ पदार्थ

और दूसरे जड़ पदार्थ के बीच रहता है। इस भेद से साधक मुक्ति से अवगत होता है।

समस्त जीव और शक्ति कल्याण के लिये भगवान के अधीन हैं। भगवान से पृथक होकर वह सभी कार्यों के सम्पादन में अक्षम है। यही "जीवगणाहरेरनुचराः" का रहस्य है।

जीवों में उच्च और नीच भेद बने रहते हैं। जीव-जीव के बीच यह भेद संसार और मोक्ष की दशा में बना रहता है। जीव के मुख्यतया तीन भेद हैं:— मुक्तियोग्य, मिथ्यासंसारी (मध्यम मनुष्य) तथा तमोयोग्य (अधम मनुष्य)। मुक्तियोग के जीवों में देव, ऋषि, पितृ, चक्रवर्ती तथा उत्तम मनुष्य आते हैं। मुक्त दशा में भी ये पाँचों भिन्न ही बने रहते हैं। शेष दो की मुक्ति नहीं होती।

मोक्ष क्या है ? वास्तविक सुख की अनुभूति ही मोक्ष है। इस अवस्था में आनन्द का उदय होता है। यही परमानन्द है। माध्व मत के अनुसार मोक्ष चार प्रकार का होता है—कर्मक्षय, उत्क्रांति, अचिरादि मार्ग और भोग। भोग भी सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य हो सकता है। सायुज्य ही सर्वश्रेष्ठ मुक्ति है। भगवान में प्रवेश कर उन्हीं के स्रोत से आनन्द प्राप्त करना सायुज्ज्य है। मुक्ति के अनुभवकर्ता जीवों में भी तारतम्य रहता है, अर्थात् आनन्द की अवस्थायें भी जीवों में भेद बनायी रखती हैं।

मुक्ति का साधन भक्ति है। स्वार्थ का अभाव ही भक्त को निर्मल बनाता है। यही अहैतुकी भक्ति सर्वश्रेष्ठ है। अनन्या भक्ति भी अहैतुकी है।

वेद का तात्पर्य विष्णु ही है। श्रुति, बहुविध उसी के रूप का गायन करती है। विभिन्न देवताओं की स्तुतियाँ उसी एक की स्तुतियाँ हैं। अवस्थाभेद से वही इन देवों के रूप में प्रकट है।

संक्षेप में यही माध्व मत की पीठिका है। भाव की दृष्टि से इसमें आरम्भ से माधुर्य की उस प्रकार स्वीकृति नहीं है जिस प्रकार निम्बार्क और वल्लभ संप्रदायों में है। किन्तु पीछे गौड सम्प्रदाय के साथ सम्बद्ध हो जाने पर इसमें माधुर्यभाव भी समाविष्ट हो गया।

राधावल्लभ संप्रदाय

यह भी किसी विशिष्ट दर्शनमार्ग पर आधारित संप्रदाय नहीं है। भक्ति के मूल तत्व तथा उसके आलम्बन, आश्रयादि उपकरणों का सूक्ष्म विवेचन ही इस संप्रदाय का दर्शन कहा जा सकता है। श्रीहितहरिवंशजी ने न प्रस्थानत्रयी पर भाष्यादि की रचना की, न रसदर्शन के अतिरिक्त किसी शुष्क दार्शनिक प्रपंच से भक्ति को बोझिल ही किया। पीछे प्रस्थानत्रयी पर भाष्य भी लिखे गये और दार्शनिक ऊहापोह में भी कुछ आचार्य पड़ गये। इसका नाम भी शुद्धाद्वैत हो गया। पर यह शब्द विशेष प्रचलित नहीं हुआ। इन सबके झमेले में पड़ना अनावश्यक है। केवल इस संप्रदाय के भक्तिगत तत्वों का संक्षेप में विचार कर लेना पर्याप्त होगा।

हित : प्रेम—राधा-कृष्ण के विहार से जो आनन्द उत्पन्न होता है वही रस है जो प्रेम की आस्वाद्य अवस्था है। भक्ति का परम लक्ष्य नित्य-विहार-दर्शन ही है। यही सहचरी रूप जीवात्मा का उपास्य रूप है। इसकी प्राप्ति के लिये विहार-भवन में जीवात्मा को सेवा का अधिकार प्राप्त करना आवश्यक है। राधा की महत्ता होने के कारण राधा-प्रेम ही इस संप्रदाय का मूलाधार माना गया।

इस संप्रदाय के आचार्यों ने राधा और कृष्ण में नित्यमिलन की अवस्था मानी है। पर विरह की स्थिति को एक विलक्षण रूप संप्रदाय में प्रदान किया गया है। मान के पद भी कवियों ने लिखे हैं, पर मान प्रेम-भाव का उद्दीपक ही है। श्रीकृष्ण के क्रोड में विराजमान राधा कभी-कभी आकुल प्रलाप कर उठती है।[1] पर यह विरह मिलन के क्षणों में ही समाया हुआ मिलता है। वस्तुतः इस मान और विरह का वर्णन प्रेम तत्व को हृदयमय बनाने का एक माध्यम ही है। "यथार्थ में स्थूल मान और विरह का सैद्धान्तिक दृष्टि से इस सप्रदाय में कोई स्थान नहीं है।"[2]

इस प्रेम में एक विशेषता यह भी है कि प्रेमी और प्रेमास्पद अपनी संतुष्टि के लिये प्रेम नहीं करते। एक के लिये दूसरे की संतुष्टि अभीष्ट है।[3] प्रेम के तत्सुख भाव का वर्णन "नारद भक्ति-सूत्रों" में भी मिलता है। पर इसकी नवीन व्याख्या श्रीहितहरिवंशजी ने की।

अनन्यता प्रेम का प्राण है और इस सिद्धान्त पर सभी आचार्य-भक्त एकमत हैं। यह अनन्यता तन और मन दोनों ही भूमियों पर होनी चाहिये। अनन्यता का तात्पर्य है, उपास्य के अतिरिक्त अन्य किसी देव पर मन को न ले जाना। अनन्यता की साधना कठिन भी है।[4] प्रेमाभक्ति में विधिनिषेध या मर्यादा की आवश्यकता नहीं रहती। श्रीहितहरिवंश जी को भी प्रेम पर मर्यादा का आरोप करना उचित नहीं लगा। नाभादास जी ने भी श्रीहितहरिवंश जी का परिचय विधिनिषेध से स्वतंत्र अनन्य व्रत का धारण करने वाले के रूप में दिया है।[5]

राधा—राधा को इस सम्प्रदाय में परमतत्व माना गया है। इसलिये स्वकीया, परकीया का प्रश्न इस संप्रदाय के साथ नहीं उठता। वैसे राधाकृष्ण की भक्ति का उल्लेख सभी कृष्णपरक संप्रदायों में मिलता है। इस संप्रदाय में ब्रह्म, जीव, प्रकृति आदि के विवेचन के द्वारा राधाकृष्ण की भक्ति की स्थापना नहीं की गयी। किन्तु इस संप्रदाय में स्वतंत्र रूप से राधाकृष्ण-प्रेम की प्रतिष्ठा की गयी है। यहाँ पर

[1] राधा सुधानिधि, श्लोक ४६, ४७, ४८, १२७
[2] डा० विजयेन्द्र स्नातक, "राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य" पृ० १३८
[3] हितचौरासी, प्रथम पद
[4] अनन्य व्रत खांडे की सी धार—व्यासवाणी, पूर्वार्द्ध, १७५ वाँ पद
[5] "भक्तमाल", छप्पय १११

आराध्या राधा है। कृष्ण भी उसे साध्या मानते हैं। राधा के आदेशनिर्देश पर ही कृष्ण चलते हैं।[1] राधा को ही परतत्व के रूप में इस संप्रदाय ने ग्रहण किया। राधा का चरण-रज ब्रह्मेश्वरादि को भी दुर्लभ है।[2] यह परम लावण्य का निधान है और वेदों से भी परम गुप्त निधि है।[3]

श्रीकृष्ण—श्रीकृष्ण नित्यविहारी पुरुष हैं। राधा उनकी पराप्राकृतिक आह्लादिनी शक्ति है। जीवरूपी सखियाँ ही उनकी सहचरियाँ हैं। श्रीकृष्ण का सम्बन्ध बृन्दावन, मथुरा और द्वारिका से था। मथुरा और द्वारिकावासी कृष्ण ऐश्वर्यादि गुणों से युक्त थे। बृन्दावन में वे माधुर्य की साक्षात् मूर्ति बनकर नित्य लीला निरत रहते हैं। श्रीकृष्ण के परिवेश और परिकर स्व और पर के भेद से रहित है। श्रीहितहरिवंशजी के अनुसार कृष्ण बृन्दावन के अतिरिक्त और कहीं नहीं रहते।[4] अर्चावतार के रूप में श्रीहितहरिवंशजी ने राधावल्लभ को ग्रहण किया। राधावल्लभ का तात्पर्य उस कृष्ण को उपासना से है जो स्वयं राधा की आराधना करता है। इस संप्रदाय में श्रीकृष्ण को दार्शनिक महत्व नहीं दिया गया है। वे एक आदर्श प्रेमी के रूप में ही गृहीत हैं।[5] कृष्ण उपास्य तो है, पर राधा के माध्यम से ही उनकी उपासना है। प्रधान पद राधा को ही प्राप्त है।

सहचरी या सखी—जीव की पारमार्थिक स्थिति का नाम ही सखी है। राधा की कृपा से सांसारिक जीव नित्यविहार-दर्शन का अधिकारी होकर परमानन्द को प्राप्त करता है। इस स्थिति में वह लिंगभेदातीत है। श्रीहितहरिवंश जी ने सहचरी की परिभाषा इस प्रकार दी है—"राधा की केलि-कलाओं की साक्षी, उज्ज्वल, अद्‌भुत रसपूर्ण बृन्दाविपिन में वास करने की कामना करने वाली, नेत्र-पिंडों में स्थित तेजोमय निकुंज की भावना करने वाली और उसकी भावना के अनुरूप उपयोगी वपु की कामना करने वाली ही सहचरी है।"[6] सखी या सहचरी को गोपी से भिन्न समझना चाहिये।[7]

अन्य संप्रदायों में सहचरी तत्व को इस प्रकार के दार्शनिक महत्व से अभि-मंडित नहीं किया गया। चैतन्य-संप्रदाय में इसको एक दार्शनिक भूमिका अवश्य प्रदान

१ —"राधा सुधानिधि" श्लोक २००

२ —वही, श्लोक संख्या १३५-१३६

३ वही, श्लोक २

४ वही, श्लोक ७६

५ ध्रुवदास जी ने एक स्थान पर कहा है— ऐकै प्रेमी एक रस, श्रीराधावल्लभ आहि।
भूलि कहै जौ और ठाँ झूठौ जानौं ताहि॥

६ राधासुधानिधि, पृ० २६१, २६६

७ इसकी भिन्नता पर द्रष्टव्य—डा० विजयेन्द्र स्नातक, राधावल्लभ संप्रदाय: सिद्धान्त और साहित्य", पृ० २२०, २२१

की गयी। समस्त गोपियों को राधा के ही असंख्यरूप माने गये। निम्बार्क ने भी राधा को सहस्रों से परिसेविता कहा है—"सखी सहस्रैः परिसेवितां सदा"। वे सखियाँ स्वकीया-रूप में श्रीकृष्ण के साथ विहार कर सकती हैं। श्रीभट्टजी ने "युगलशतक" में इसकी सरस व्याख्या की है। इस प्रकार वल्लभ, चैतन्य और निम्बार्क संप्रदायों में विलक्षण तत्व हैं। ये सखियाँ स्वयं अपने रस से विमुक्त होकर राधा के कैंकर्य में इसलिये निरत रहती हैं कि उन्हें केलिलीला-दर्शन का स्वरूप ज्ञात हो सके। यही लीला-दर्शन उनका उपास्य तत्व है। संक्षेप में यही राधावल्लभ संप्रदाय में प्रेम-दर्शन का तत्व है। विलक्षणता यह है कि दक्षिण के आचार्यों ने जहाँ दार्शनिक ऊहापोह में भी भाग लिया, वहाँ पर बृन्दावन के श्रीहितहरिवंश जी ने केवल प्रेम और भक्तितत्व की मीमांसा करके अपने कर्त्तव्य कर्म की इतिश्री समझी।

हरिदासी संप्रदाय

इसको कुछ विद्वान निम्बार्क मत की ही शाखा स्वीकृत करते हैं। पर जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अब यह एक स्वतंत्र सप्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित है। स्वामी हरिदासजी ने सखी भाव से राधा-कृष्ण की युगल-उपासना का प्रचार किया। हरिदासजी ने अन्य भक्ति आचार्यों की भाँति किसी व्यवस्थित दार्शनिक भूमिका से युक्त संप्रदाय की स्थापना नहीं की। भावभक्ति से युक्त पदों में ही इनके सैद्धान्तिक पक्ष की झलक मिल सकती है। हो सकता है कि निम्बार्क सप्रदाय के दर्शन की भूमिका में इन्होंने उस भावपक्ष को नवीन स्फीति प्रदान की हो। हरिदास संप्रदाय को केवल साधना मार्ग का संप्रदाय कहा जा सकता है।[1] भाव की दृष्टि से ये प्रेम की असीमता स्वीकार करते थे और इन्होंने प्रेम के सामने ज्ञान की निरर्थकता भी सिद्ध की थी।[2] इनका विहार-विषयक पदावली "केलिमाला" के नाम से विख्यात है। "केलिमाला" में राधा और कृष्ण की माधुर्यभाव से सिक्त केलिक्रीड़ाओं का गायन है।

पूर्वी-भारत के भक्ति-संप्रदाय

यद्यपि तेलुगु और हिन्दी क्षेत्रों से बंगाल आदि के भक्ति-संप्रदायों का सीधा सम्बन्ध नहीं है, फिर भी उस क्षेत्र में बौद्ध धर्म के ह्रासित रूप और तन्त्रवाद के प्रभाव से एक सुदृढ़ प्रेम-पद्धति का बीजारोपण हुआ था जिसकी शाखायें-प्रशाखायें

[1] निम्बार्क संप्रदाय दार्शनिक कोटि का संप्रदाय है, किन्तु सखी-संप्रदाय एक रसभक्ति संप्रदाय है जिसमें दर्शन की प्रधानता न होकर हार्दिक पक्ष की प्रधानता है—
—डा० विजयेन्द्र स्नातक, राधावल्लभ संप्रदाय, पृ० ५२

[2] प्रेमसमुद्र रूपरस गहिरे, कैसे लागे घाट।
बेकार्यो दै जानि कहावत, जातिपनों की कहा परि बाट।
काहू कौ सर पर्यौ न सूधो, मारत गाल गली-गली हाट।
कह "हरिदास" बिहारिहिं जानौ, ताकौ न औघट घाट॥

हिन्दी और तेलुगु दोनों ही क्षेत्रों में व्यक्त और अव्यक्त रूप से फैल गयीं। हिन्दी-क्षेत्र में बृन्दावन तो चैतन्य संप्रदाय का प्रमुख केन्द्र ही बन गया। तेलुगु क्षेत्र में जयदेव की वाणी तो गूंज ही उठी। भक्तप्रवर लीलाशुक में इसी प्रेम-पद्धति के स्वर अमर हो गये। इसलिये यहाँ पूर्वी भारत के प्रेमभाव के तारतम्य को संक्षिप्त रूप से समझ लेना आवश्यक है।

सहजिया संप्रदाय

इस वैष्णव सप्रदाय की पृष्ठभूमि में सहजयानी तत्वों का तानाबाना है। सहजयान वज्रयान का ही विकसित रूप था। इसमें युगनद्धवरूप (प्रज्ञा+उपाय) की मान्यता है। इसी से महासुख का विस्तार होता है। इस महासुख को प्राप्त करने के लिये राजमार्ग ही सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। राग के परिशोधन के लिये अनेक तान्त्रिक मुद्राओं का प्रयोग भी इसमें होता था। काम को राग में परिणत करने से महासुख प्राप्त होता था।

इन्हीं तत्वों पर सहजिया वैष्णवों की रागानुगा भक्ति प्रतिष्ठित हुई। इसमें वैधी भक्ति को महत्व नहीं दिया जाता। इन तत्वों का वैष्णवीकृत रूप उज्ज्वल भाव की भूमिका प्रस्तुत कर सकी। इस संप्रदाय में अपार्थिव प्रेम की उपलब्धि पार्थिव प्रेम के माध्यम से हो सकती है। परकीया प्रेम इसमें आदर्श माना गया। चंडीदास ने सहज मनुष्य का रूप स्पष्ट करते हुये लिखा है कि मनुष्य अपने सच्चे स्वरूप को पहचान ले तो उसमें प्रेमाभक्ति का उदय हो जाता है। ये सहज मनुष्य संसार में विरल हैं। प्रेम की पद्धति में पुरुष अपने को स्त्री मानकर उपासना करनी चाहिये। इसका गूढ़ाशय यह भी है कि मनुष्य को अपने यौन संबन्ध का परित्याग कर देना चाहिये। इस संप्रदाय के अनुसार परमात्मा आनन्द का अजस्र स्रोत है और निखिल सौंदर्य का अधिष्ठान है। श्री राधाकृष्ण ही इनके परमाराध्य देव हैं। कृष्ण परमपुरुष है और राधा परम प्रकृति। कृष्ण आश्रयी है और राधा आश्रय।

जहाँ तक साधना-पद्धति का प्रश्न है, यह तान्त्रिक पंथ कहा जा सकता है। ये वामपक्षीय हैं। इनके अनुसार दक्षिणमार्ग वैदिक विधि-विधानों से विच्छिन्न है। किन्तु रागानुगा भक्ति इस दृष्टि से वाममार्ग को ही श्रेयस्कर समझती है जिसमें वैदिक विधि-विधान और मर्यादा को कोई स्थान नहीं है। सहजियासन्त शरीर में सप्त सरोवरों की कल्पना करते हैं जिनका मूल तान्त्रिकों की चक्र कल्पना में हो सकता है। योग के अनेक तत्व इस संप्रदाय की साधना में मान्य हैं, पर कुछ दिशाभेद के साथ।

सहजिया वैष्णवों में केवल माधुर्य भाव की एकमात्र उपासना है। अन्य किसी भाव को ये साधना के उपयुक्त नहीं समझते। इस भाव का समर्थन स्वयं "श्रीमद्भागवत" करती है। सहजिया वैष्णवों और गौडीय भक्तों से पूर्व आळ्वारों में माधुर्य उपासना मिलती थी। नम्माळ्वार ने उपास्यदेव के मिलन को आध्यात्मिक सहवास कहा था। इस माधुर्य भाव में भी परकीयातत्व ही प्रमुख है। पर परकीया-पक्ष की आध्यात्मिकता ही मान्य है, सामाजिकता नहीं। परकीया भाव को चैतन्य

संप्रदाय में भी मान्यता मिली। इस प्रकार बौद्ध सहजयान सहजिया-वैष्णव संप्रदाय के रूप में रूपान्तरित हुआ।[१]

चैतन्य संप्रदाय

चैतन्य-मत माध्व-मत की ही गौडीय शाखा है। फिर भी चैतन्यमत द्वैत मत का नहीं, अचिंत्य भेदाभेद का अनुयायी है। इस संप्रदाय का सम्बन्ध बृन्दावन से घनिष्ठ है। इस संप्रदाय में अनेक आचार्य और गोस्वामी उत्पन्न हुये। उन्होंने भक्ति की दार्शनिक व्याख्या भी की और भक्ति का प्रचार भी। रूप, सनातन, और जीव गोस्वामियों ने भक्तिरस के अद्वितीय शास्त्र की रचना की। "भक्तिरसामृत सिन्धु" और "उज्ज्वल नीलमणि" रागानुगा भक्ति के अद्वितीय शास्त्र हैं।

श्रीकृष्ण—इस संप्रदाय में भगवान श्रीकृष्ण को परमतत्व माना गया है। इसकी अनन्त शक्तियाँ हैं। इन शक्तियों का शक्तिमान के साथ तर्क से न भेद ही स्थापित किया जा सकता है, न अभेद ही।[२] कृष्ण ही परमाराध्य हैं। उनका धाम वृन्दावन है। ब्रज की गोपियों द्वारा की गयी उपासना भक्तों के लिये अनुकरणीय है। "श्रीमद्भागवत" ही एकमात्र प्रमाण शास्त्र है। प्रेम ही सर्वोच्च पुरुषार्थ है :– "प्रेमा-पुमर्थोमहान"। इस प्रकार भक्ति को पंचम पुरुषार्थ के रूप में इस संप्रदाय ने स्वीकार किया। भक्ति साधनरूपा भी है और साध्यरूपा भी। क्योंकि भक्त एकमात्र भक्ति की ही याचना करता है। अन्य अभिलाषायें समाप्त हो जाती हैं।[3]

श्रीकृष्ण अपने को तीन रूपों में प्रकाशित करते हैं[४]—स्वयंरूप तदेकात्म-रूप और आवेश रूप। स्वयं रूप अपने आप आविर्भूत होता है। यह आविर्भाव के लिये किसी दूसरे का आश्रय नहीं लेता।[५] तदेकात्मरूप स्वयंरूप के साथ संलग्न रहता है, परन्तु आकृति, चरित्र आदि में उससे यह भिन्न हो जाता है।[६] आवेशरूप इन दोनों से भिन्न होता है। जिन जीवों में भगवान आविष्ट प्रतीत होते हैं, वे ही आवेश रूप हैं जैसे शेष, नारद, सनकादि।

---

[१] द्रष्टव्य "भक्तिमार्गीय बौद्ध धर्म", मूल लेखक: नगेन्द्रनाथ वसु, अनुवादक :— नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, इलाहाबाद, सं० २०१८ वि० ; डा० एस. राधाकृष्णन का "इण्डियन फिलासफी", वाल्यूम –१ ; महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री "हाजार बछरेर पुराण बांगला भाषाय बौद्ध गान और दोहा" (बंगीय-साहित्य परिषद्, कलकत्ता, सं० १३५८ वि०). पृ० २-४ (मुख बंध)

[२] लघुभागवतामृत, १/५०

[3] भक्ति रसामृत सिंधु, १/१/११

[४] लघुभागवतामृत, १/११

[५] वही, १/१२

[६] वही, १/१४

शक्ति—भगवान की तीन शक्तियाँ मुख्य हैं और इनके भी भेद हैं। इन शक्तियों को यों समझा जा सकता है :—

भगवान की शक्तियाँ

अंतरंगा तटस्था बहिरंगा

संधिनी संवित आह्लादिनी

अन्तरंगा शक्ति भगवद्रूपिणी ही होती है। संधिनी के आधार पर भगवान स्वयं सत्ता धारण करते हैं, दूसरों को सत्ता प्रदान करते हैं और समस्त देश-काल में व्याप्त रहते हैं।[१] संवित शक्ति चित से सम्बन्धित है। इससे वे स्वयं को जानते हैं और दूसरों को ज्ञान प्रदान करते हैं।[२] आह्लादिनी शक्ति से ब्रह्म स्वयं आनन्दित होता है और दूसरों को आनन्दित करता है।[3] ये तीनों ही ब्रह्म की पराशक्ति के त्रिविध रूप हैं। तटस्थशक्ति जीवों के आविर्भाव का कारण बनती है। बहिरंग शक्ति जगत के आविर्भाव के मूल में है। इस प्रकार भगवान की शक्तियों का विशद विचार इस संप्रदाय में मिलता है।

जगत— जगत सत्य है, यह सत्य संकल्प भगवान की बहिरंगाशक्ति का विलास है : उपनिषद्[४] और पुराण[५] यही कहते हैं।

इस प्रकार सभी भक्ति-संप्रदायों से इस संप्रदाय का जगत के सम्बन्ध में मतैक्य है।

साधना मार्ग

भक्ति ही परम साधन है और साध्य भी। कर्म का उद्देश्य चित्त की शुद्धि है जिससे वह ज्ञान और भक्ति को ग्रहण कर सके। भक्ति भी एक विशिष्ट प्रकार का ज्ञान ही है। संवित तथा आह्लादिनी तत्वों का सम्मिश्रण ही भक्ति का सार है। यह रागात्मिका और मर्यादा दोनों प्रकार की हो सकती है। रागात्मिकाभक्ति के मूल में भक्त की आर्तता रहती है। इस भक्ति का चरम आदर्श ब्रज की गोपिकायें ही हैं। नारद ने भी इन्हीं के प्रेम को उत्कृष्ट माना है —

१ बलदेव विद्याभूषण, "सिद्धान्तरत्न", पृ० ३९ (सरस्वती भवन सीरीज, काशी)

२ व 3 वही, पृ० ४०

४ कवि मनीषी परिभूः स्वयं भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः, "ईशावासी उपनिषद्", ८

५ विष्णु पुराण – १/२२/६०; "महाभारत", अश्वमेधपर्ब, ३४/३५

"तथा हि व्रजगोपिकानाम्" ।

वैष्णव आचार्यों ने भक्तिरस को सर्वप्रथम साहित्य-शास्त्र के रूप में ढालकर साहित्य में उसकी प्रतिष्ठा की । भगवान की गोलोक-लीला पाँच भावों से संबद्ध है —शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य । रति को भी तीन प्रकार का माना गया है— साधारणी , समंजसा और समर्था । पहली कोटि का भक्त अपने आनन्द के लिये ही प्रेम करता है और उसे मथुराधाम की प्राप्ति होती है । कर्तव्यबुद्धि से प्रेरित प्रेम समंजसा के अन्तर्गत है । इसके द्वारा द्वारिकाधाम की प्राप्ति होती है । समर्था रति में निःस्वार्थ होकर भक्त भगवान के आनन्द के लिये ही सेवा और उपासना करता है । इसके लिये शास्त्र की मर्यादा का उल्लंघन भी आवश्यक है । यही गोपी-प्रेम है जो अन्त में महाभाव और राधाभाव में परिणत हो जाता है ।

३.४ अ. **वैष्णव कौन है ?**

"वैष्णव " शब्द "विष्णु" संज्ञा पद से व्युत्पन्न विशेषण है । इसका तात्पर्य है वह व्यक्ति या वर्ग जो विष्णु में आस्था रखता हो । विष्णु का विकास ऋग्वेद से लेकर पुराणों तक हुआ है । उसके अर्थों का विकास भी इन स्थितियों में परिलक्षित होता है । आरम्भ में वैदिक साहित्य ने विष्णु को अधिक महत्व नहीं दिया है । पीछे सूर्य और इन्द्र के समान विष्णु को महत्व प्राप्त हो गया । वास्तव में सूर्य का विकास इन्द्र में और इन्द्र का विकास विष्णु में हुआ प्रतीत होता है । विष्णु शब्द की व्युत्पत्ति पर कई प्रकार से विचार किया गया है । सायण के अनुसार इसका अर्थ "व्यापनशील" है । ब्लूम फील्ड ने वि + ष्णु विग्रह करके इसका अर्थ "पृष्ठ पर हो कर " (अ्रू दि बैक) किया है । आप्टे ने इसकी व्युत्पत्ति "विष्" धातु से मानी है । अन्तिम व्युत्पत्ति को मानने से विष्णु समस्त विष् जाति का इष्टदेव बन जाता है । विष्णु का एक पर्यायवाची शब्द जिष्णु भी है : जि – = विजय की योग्यता वाला और जिष्णु = विजय प्राप्ति के लिए पूज्य, इसी प्रकार यदि विष्णु का विग्रह करें तो वि= मोक्ष , और विष्णु = मोक्ष दिलाने की योग्यता रखनेवाला देव । जब उपनिषद् में ब्रह्म नामक एक व्यापक रहस्यमय सत्ता की खोज हुई तब साम्प्रदायिक उपनिषदों का भी विकास हुआ जैसे रामतापनी उपनिषद् , नृसिंहतापनी उपनिषद्, गोपालतापनी उपनिषद् आदि । इन उपनिषदों में ब्रह्म और परमात्मा की भाँति विष्णु के लिये पुरुषोत्तम, वासुदेव आदि नामों का प्रयोग हुआ है । इस प्रकार विष्णु के अर्थ-विकास में उपनिषदों का भी सहयोग रहा । पुराणों ने विष्णु के अवतारों की कल्पना करके उदात्त अभिप्रायों से विष्णु को युक्त कर दिया । इस प्रकार संक्षेप में विष्णु के अर्थ-विकासकी तीन स्थितियाँ हुईं :—(१) वैदिक : इसी स्थित में विष्णु इन्द्र का पर्यायवाची शब्द हो कर, एक व्यापक देव के रूप में प्रतिष्ठित हुआ । (२) उपनिषद् : विष्णु ब्रह्मवाची हो गया । (३) पुराण काल : अवतार कल्पना । एक और दृष्टि से देखने पर विजय दिलाने वाला (जिष्णु), मोक्ष दिलाने

लाला विष्णु और पापविनाशक तथा धर्म-संस्थापक (भक्त-वत्सल) भी विकास की स्थितियाँ प्रतीत होती हैं। जिन कामनाओं या विश्वासों से विष्णु की आराधना करता है वही वैष्णव कहलाता है।

वैष्णव शब्द के पारिभाषिक अर्थ-विकास पर ऊपर विचार किया गया है। व्यावहारिक रूप से वैष्णव शब्द के अर्थ-विकास की और भी सरणियाँ देखी जा सकती हैं। व्यावहारिक रूप में जो विष्णु की उपासना करता है वह वैष्णव कहलाता है। बाद में विष्णु के किसी भी रूप की उपासना करने वाला वैष्णव बन गया। उदाहरण के लिए रामानुजाचार्य के इष्ट-युगल लक्ष्मी-नारायण हैं। नारायण भी विष्णु का ही एक विकसित प्रतीक है। नारायण का उपासक नारायण शब्द से ही द्योतित होना चाहिए था। पर रामानुजाचार्य और उनके अनुयायियों को श्रीवैष्णव ही कहा गया है। रामोपासक, कृष्णोपासक, या अन्य अवतारों की उपासना करने वाले भी वैष्णव नाम से ही प्रसिद्ध हुए। विष्णु में और अवतारों में तत्वतः कोई भेद स्वीकार नहीं किया गया। इसीलिए प्रत्येक भक्ति-सम्प्रदाय के अनुयायियों को वैष्णव ही कहा गया।

सगुण भक्ति-सम्प्रदायों में ही नहीं, निर्गुण-भक्ति-सम्प्रदायों में भी वैष्णव शब्द लोकप्रिय रहा। कबीर की एक प्रसिद्ध उक्ति है—वैष्णव की कुटिया भली नहीं साकट बड़ गाऊँ, इससे प्रतीत होता है कि निर्गुण सम्प्रदाय के भक्त भी अपने को वैष्णव ही कहते थे। निर्गुण सन्तों की वैष्णव सम्बन्धी धारणा सगुण भक्तों से बिलकुल भिन्न थी। न उसका सगुण अवतारों में विश्वास था, न वे विष्णु की पूर्व परम्पराओं में ही आस्था रखते थे। इसका तात्पर्य है कि वैष्णव शब्द शक्ति के विरोध में प्रयुक्त हुआ। उनकी दृष्टि में शक्ति और सिद्धों की वाममार्गी एवं तांत्रिक साधना-पद्धति से विरोध प्रकट करने के लिए इस शब्द का प्रयोग हुआ। वैष्णव शब्द अहिंसा, भक्ति, नामोपासना एवं अन्य मानवतावादी मूल्यों का वाचक हो गया। यही मानवतावादी अर्थ नरसी के प्रसिद्ध गीत में मिलता है—"वैष्णव जन तो तेणे कहिये जे पीड़ पराई जाणे रे"। इस प्रकार वैष्णव शब्द विष्णु शब्द से असम्बद्ध होकर एक सामान्य मानवतावादी अर्थ प्रकट करने लगा जो दूसरों की पीड़ा को समझता है और परोपकारी कार्यों में निरत रहता है, वही वैष्णव है। एक प्रकार से गीता में कहे गए स्थितप्रज्ञ के सभी लक्षण वैष्णव शब्द के अर्थ में समाविष्ट हो जाते हैं। यह व्यापक अर्थ आधुनिक युग तक चला आया है। लोक की पीड़ा से पीड़ित भक्त-वत्सल भगवान का उदय ऐसे ही सन्तों और भक्तों में देखा जा सकता है जिन्हें परपीड़ा का बोध हो। इस प्रकार साम्प्रदायिक अर्थ, अर्थ-विकास करके मानवतावाद का प्रतीक बन गया।

हमारे आलोच्य साहित्य में निर्गुण-सम्प्रदायों में विकसित मानवतावादी अर्थ से सम्पन्न वैष्णव शब्द स्पष्ट रूप से गृहीत नहीं है, यद्यपि व्यंजना से वह अर्थ भी निकाला जा सकता है। हमारे आलोच्य कवि किसी न किसी प्रकार मध्यकालीन वैष्णव सम्प्रदायों से सम्बद्ध थे। इन सभी में साम्प्रदायिक सिद्धान्तों और मानवता-

वादी दृष्टि का समन्वय मिलता है। तेलुगु और हिन्दी का वैष्णव भक्ति-साहित्य इन्हीं सम्प्रदायाश्रित कवियों की सृष्टि है। फिर भी ऐसे तत्व अनेक हैं जिनमें साम्प्रदायिक विभेद प्रकट नहीं होता और एक व्यापक मानवतावादी भूमि मिलती है। तथापि उनको पारिभाषिक रूप से साम्प्रदायिक वैष्णव कहा जाना चाहिए। इसी भक्ति-साहित्य का अध्ययन प्रस्तुत प्रबन्ध में किया गया है।

३. ५. भक्ति के मूल उपादान

३. ५. क. भक्ति की सार्वजनीनता

भक्त कवियों ने मानवतावादी दृष्टि रखी। कबीर इत्यादि निर्गुणिया सन्तों ने हिन्दी क्षेत्र में, वेमनादि शैव-कवियों ने तेलुगु-क्षेत्र में भक्ति और भगवान के समक्ष भेदभाव को अमान्य ठहराया है।[१] वर्णाश्रम धर्म के पक्षपाती होते हुए भी तुलसी ने जाति-पाँति के भेद को भक्ति के क्षेत्र में नहीं माना है।[२] काक भुशुंडि, शबरि आदि के उदाहरणों ने इस उदार दृष्टिकोण को स्पष्ट कर दिया। तुलसी के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि मर्यादा का अंकुश उन्हें वर्ण-व्यवस्था के विरोध में अधिक मुखर होने नहीं देता। पर भक्ति के क्षेत्र में सामाजिक भेदभाव माने भी नहीं जा सकते। सूर ने कुछ और स्पष्ट रूप से भगवान के समक्ष इन भेदभावों को अमान्य ठहराया है—

> राम भक्तवत्सल निज वनौं।
> जाति, गोत, कुल, नाम, गनत नहिं, रंक होइ कै रानौं।।[३]

पोतना ने लिखा है कि कुल-धर्म की ऊँचाई कुछ काम नहीं आती। केवल भगवान की भक्ति ही सबसे बड़ा जीवन-मूल्य है, क्योंकि इसी से कर्मों की सिद्धि प्राप्त होती है।[४] एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि दूसरों की उच्चता को देखकर भक्तों को चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं। उन्हें पूर्ण रूप से अनन्य भक्ति में रहना चाहिये। भक्तिवाला स्वपच भी श्रेष्ठ है।[५] अन्नमाचारी के अनुसार मनुष्य मनुष्य के शरीर में कोई भेद नहीं है। भगवान का दास हीन होने पर भी महान है। राक्षस कुलोद्भव विभीषण भी महान बन गया। निम्न जातियाँ भी तुम्हारे दासों के

---

[१] निर्गुण सन्त कवि कबीर की यह उक्ति द्रष्टव्य है :—
एक बिन्दु से सिष्टि कियो है।
को ब्राह्मन, को शूद्रा ?—संतवाणी, वियोगी हरि, पाँचवाँ संस्करण, पृ० १५८ पर उद्धृत।

[२] पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्वभाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ।।—रामचरितमानस, उ० ८७ क

[३] सूरसागर, १/११, १/१२ भी द्रष्टव्य है।

[४] ते० भा०, १/१००

[५] वही, ७/५५१

सत्संग से महान बन गयी हैं। उदाहरणार्थ वाल्मीकि को लिया जा सकता है।[1] जटायु अहल्या और हनुमान के उदाहरण से भी उन्होंने इस बात को पुष्ट किया।[2] अन्यत्र उन्होंने यह भी कहा है कि सृष्टि में जड़ और चेतन सब समान हैं। क्योंकि सबकी अन्तरात्मा भगवान ही है।[3] उनका कहना है कि अश्वत्थ वृक्ष काक से उत्पन्न होता है, सीपी से अमूल्य मुक्ता उत्पन्न होते हैं, पत्थरों से वज्रों का आविर्भाव होता है, मधुमक्खियों से मधु का संग्रह होता है। इसी प्रकार किसी कुल में उत्पन्न होने पर भी भक्त के बड़प्पन में कोई भी कमी नहीं होती।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जाति-भेद का भक्ति-क्षेत्र में अमान्यता का सिद्धान्त, उसके समर्थन की शैली और उदाहरणों का क्रम दोनों ही क्षेत्रों के कवियों में पर्याप्त साम्य रखते हैं। यही भक्ति की सार्वजनीनता है। यद्यपि जाति, वर्ण आदि की खाइयाँ व्यावहारिक रूप से बनी रहीं, और शूद्रों को मंदिर-प्रवेश का अधिकार ही नहीं था, फिर भी सैद्धान्तिक रूप से सभी कवियों ने सभी जातियों के लिये भक्ति करने का अधिकार घोषित करते हुये भगवान के समक्ष सबको समान माना है।

३.५. ख. सत्संग की महिमा

भक्ति-भाव के पोषण के लिये और प्रतिकूल भावों के शमन के लिये सत्संग आवश्यक है। सभी भक्त-कवियों ने सत्संग की महिमा का गान किया। यह सत्संग बड़े भाग्य से मिलता है और मिलने पर जन्म और मृत्यु के बंधन से मुक्ति भी मिल सकती है।[4] इसके विपरीत अभक्त का संग बंधन में डालने का ही मार्ग है।[5] भक्ति की प्राप्ति में भी सत्संग का योगदान है।[6] इसलिये संतसमागम परम लाभ है। पर इसकी प्राप्ति भी भगवान की कृपा के बिना नहीं होती।[7] दुष्ट भी सत्संग से सन्मार्ग पर आ जाते हैं।[8] सत्संग के सम्बन्ध में इस प्रकार के उद्गार तुलसी की प्रत्येक रचना में मिल जाते हैं। सूर ने भी संतों के आगमन को तीर्थ के समान पवित्र कहा है। उनके साथ रहने से भगवान के चरणकमलों में मन लगा रहता

[1] आ० सं० की०, वाल्यूम ६, पद १६०
[2] वही, वाल्यूम २, पद २६
[3] वही, वाल्यूम ७, पद १५१
[4] रामचरितमानस, उ० (३२)/४
[5] वही, ३३
[6] वही, (४४)/३
[7] वही, २५ ख
[8] सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। परस परस कुधात सुहाई॥
—रामचरितमानस, बालकांड, (२)/५

है। मिथ्यावाद की समाप्ति हो जाती है। बंधन मुक्त होकर सत्संग मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता है।[1]

तेलुगु कवियों ने भी सत्संग को नियमित जीवन और ऊर्ध्वोन्मुख प्रकृतियों के लिये अत्यावश्यक माना। अन्नमाचारी तो भगवान से मोक्ष की याचना करने के स्थान पर सत्संग की याचना करते हैं। पृथ्वी, पाताल अथवा स्वर्ग जहाँ कहीं भी भाग्य उनको ले जाय, वे तो भगवान के भक्तों की सन्निधि में रहना चाहते हैं।[2] सत्संग भी भक्त का ही श्रेष्ठ है। उनकी दृष्टि में ब्रह्मादि देवताओं से भी भक्त उच्चतर है। ब्राह्मण जात्या भक्त से बढ़कर नहीं हो सकता और इन तथ्यों के लिये उन्होंने ध्रुव, हनुमान और अंबरीष के उदाहरण प्रस्तुत किये।[3]

पोतना के अनुसार भक्तों की चरण धूलि अनेक तीर्थों से भी अधिक पवित्र है।[4] भक्तों के वचन मनोविकारों के प्रभाव से भी भक्तों को सुरक्षित रखते हैं। ये भगवान के अतुल वरदान कहे जा सकते हैं।[5] भक्तों के समीप आने से दुर्जन भी उद्धृत हो जाते हैं।[6] अन्यत्र भी भक्तों के गुणगान में तेलुगु कवियों की वृत्तियाँ रमी हैं।[7] अन्नमाचारी ने यहाँ तक कह दिया है कि भक्तों का झूठन खाना भी सौभाग्य की बात है।[8] यही बात "बचै सीथ संतन के खाऊँ" कहकर हिन्दी के भक्त कवियों ने भी पुष्ट किया है। अन्नमाचारी दासों के रहस्य को जानना ही अपने उद्धार के लिये पर्याप्त समझते हैं। भक्तों की सेवा करना ही पर्याप्त है। इस प्रकार भक्त के प्रति भक्ति-भाव प्रदर्शित किया गया।[9]

[1] जा दिन संत पाहुने आवत।
तीरथ कोटि सनान करैं फल जैसो दरसन पावत
नयौ नेह दिन-दिन प्रति उनकैं चरन कमल चित लावत
मन-बच-कर्म और नहि जानत, सुमिरत औ सुमिरावत
मिथ्याब-उपाधि-रहित ह्वै, बिमल बिमल जस गावत
बंधन कर्म कठिन जे पहिले, सोऊ कोटि बहावत
संगति रहैं साधु की अनुदिन, भव-दुःख दूरि नसावत
सूरदास संगति करि तिनकी, जे हरि-सुरति करावत। –सूरसागर, २।१७

[2] आ० सं० की०, वाल्यूम २, पद २१

[3] वही, पद २४०

[4] ते० भा०, ६/१८८

[5] हरिभक्तुलतो माटलु, धरनेन्नडु जेडनि पुण्यघनमुल मूटल्
वर मुक्ति कांततेटलु, नरिषड्वर्गंबु सोरनि यरुदगु कोटल्—ते० भा०, ६/१५३

[6] ते० भा०, ७/३७८

[7] आ० सं० की०, वाल्यूम २, पद १५२

[8] वही, पद ३५२

[9] वही, वाल्यूम ८, पद २३

इन्हीं स्वरों में पेदतिरुमलाचारी ने भी सत्संग और भक्तों की महिमाओं का गायन किया। उन्होंने लिखा है कि यदि मैं शास्त्राध्ययन करता हूँ तो संशयबन में उलझ जाता हूँ। यदि भगवद्दर्शन की इच्छा से मैं इधर-उधर देखने लगता हूँ तो असार संसार की उलझनें देखने में आती हैं। अनेक चिन्ताओं में ग्रस्त मन ध्यानस्थ भी नहीं हो पाता। यदि पुण्य करता हूँ तो वह कर्म-बन्धन का कारण बनता है। बौद्धिक विचार-विमर्श से मैं कर्त्तव्य-कर्म का विनिश्चय नहीं कर पाता हूँ। इन सब झंझटों से बचने के लिये मैं यही श्रेयस्कर समझता हूँ कि भक्त जिस मार्ग का अनुसरण करते हैं उसी मार्ग पर आस्थापूर्वक चला चलूँ। और यही परमपद की प्राप्ति का अमोघ साधन है।[1]

तेलुगु कवियों ने भक्तों का गुण-गान पुराणांतर्गत भक्ताख्यानों के साथ संबद्ध किया है जैसे पोतना ने ध्रुव और प्रह्लाद चरित्रों के साथ भक्तों का गुणगान किया है। अन्नमाचारी ने हिन्दी कवियों की भाँति स्वतन्त्र रूप से भी सत्संग और भक्तों की महिमा की व्यवस्था की है। दोनों ही क्षेत्रों के कवियों ने मुख्य रूप से भगवान के समान भक्तों को भी सेव्य कहा है और मन की शुद्धि के लिये उनके सत्संग को आवश्यक माना है। यहाँ तक कि भगवत्-प्राप्ति के प्रमुख साधन के रूप में सत्संग की प्रतिष्ठा की है।

३. ५. ग. गुरुमहिमा

समस्त आध्यात्मिक साधनों में गुरु की अनिवार्यता रखी गयी, क्योंकि पुस्तक-ज्ञान सिद्धान्त मात्र से अवगत करा सकता है, पर साधना के व्यावहारिक पक्ष के सम्बन्ध में वह प्रकाश नहीं दे सकता। गुरु शिष्य-वत्सलता आदि गुणों से युक्त होकर भगवान और भक्त के बीच एक माध्यम बनता है। कभी कभी रूपक से इसे दूती के रूप में भी चित्रित किया गया है। गुरु की महिमा निर्गुण[2] और सगुण दोनों ही संप्रदायों में स्वीकृत है।

श्रुति के अनुसार अविद्याजन्य बन्धन का मोचन गुरु के द्वारा ही होता है।[3] इस अविद्या के नष्ट हो जाने पर मूल तत्व स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार गुरु ही भगवान को प्राप्त करानेवाला है। श्रीरामानुज के अनुसार तो केवल आचार्य द्वारा प्रेषित शिष्य ही ब्रह्म की शरण में प्रवेश कर सकता है। गुरु की महिमा का गायन

[1] वैराग्यवचनमालिकागीतालु, पद ३२

[2] उदाहरणार्थ कबीर का यह प्रसिद्ध दोहा द्रष्टव्य है—
"गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागों पाँय।
बलिहारी वा गुरू की जिन गोविन्द दिया दिखाय॥

[3] अविद्या हृदयग्रंथिः। बंध मोक्ष भवेद्यतः।
तमेव गुरुरित्याहु। र्गुरुशब्दार्थवेदिन.॥
—"शुष्कवेदान्ततमोभास्करमु", पृ० २७ में उद्धृत

श्रुति से लेकर पुराण तक और संस्कृत साहित्य से लेकर लोक-साहित्य तक विशद रूप में मिलता है। उसकी आवृत्ति अनावश्यक है।

आलोच्ययुग के सभी भक्त-कवियों ने आचार्य-गुरु के प्रति अनन्य श्रद्धा व्यक्त की है। "श्रीमदान्ध्रभागवत' में लिखा गया है कि जब मैं अज्ञानांधकार से दिक्भ्रमित था, गुरु ने ज्ञान-प्रदीप जलाकर मार्गदर्शन किया। गुरु का अनुसरण ही मेरा स्वधर्म बन गया।[1] कृष्ण-सुदामा के प्रसंग में भी कृष्ण के द्वारा पोतना ने यह कथन कराया है कि जो गुरुओं की सेवा करता है उस पर मेरी कृपा होती है।[2]

अन्नमाचारी भी गुरु भक्ति को साधना की प्रत्येक अवस्था में आवश्यक बतलाते हैं। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है कि मछली की भाँति मैं सांसारिक आशा के काँटों में फँस गया था। कान्ता-प्रेम एक घनघोर वन के समान है, इसमें फँसकर मैं सत्यपथ से विचलित हो गया था। मेरी इस विह्वल अवस्था में गुरु ने मुझ श्री वेंकटेश्वरजी का रहस्य स्पष्ट किया और मैं आध्यात्मिक दृष्टि से सत्य-पथ का अनुगामी बन सका।[3]

अन्नमाचारी जी के अनुसार भक्त-जीव अनेक शुभ लक्षणों से युक्त होते हुये भी बिना गुरु के सहयोग के भगवान को स्ववश नहीं कर सकता जिस प्रकार बिना प्रियतम के हाथों मंगलसूत्र से अलंकृत हुये एक पतिव्रता के लक्षणों का मूल्य नहीं।[4] पेदतिरुमलाचारी का कहना है कि मोक्ष-प्राप्ति में गुरु का सहाय्य नितान्त आवश्यक है।[5]

अन्नमाचारी ने भगवान और भक्त के बीच गुरु के माध्यम होने की बात भी कही है।[6] वास्तव में गुरु इस भगवत्संबंध का आरम्भ कराता है और शिष्य उसे

[1] श्रीमादान्ध्रभागवत, दशम स्कंध, उत्तर भाग, पद्य ६६४

[2] ते० भा० १०, उत्तरार्द्ध, पद्य ६६८

[3] आसलनेटि पेद्द अंगटि गालालु मिंगि।
कोनेटिमाय वेंटिटि कुंदेलि नैति॥
बासदप्प चित्तमनेबंडारमु गोल्ललाडि।
लासकामादुलने तलारूलचे बडिति॥
कांतलमोहमनेटि कारडविलो जिक्कि।
अंतट विज्ञान मार्गमट्टु दप्पिति॥
इंतलो श्रीवेंकटेशु नेरिगिंचे मागुरुडु।
मतिकेक्किंचंग नेनु मंचि मेलु गंटि॥ —आ० सं० की०, वाल्यूम २, पद ६४

[4] तेरि पारि तानेंत पतिव्रत यैननु।
कोरि पुस्ते गट्टकुन्न गुरुतु गादु॥
यिरवै देवुंडु तनयेदुट नेंत युंडिन।
गुरुवनुमति लेक कौनसागदु॥ —आ० सं० की०, वाल्यूम २, पद २१८

[5] नीति शतकमु, पद्य ६

[6] आ० सं० की०, वा० ८, पद ६५

सुदृढ़ कर लेना है। कुछ शतककारों ने भी इसी प्रकार गुरु का महत्व बताया है। परमानन्दयति का कहना यह है कि पारस के स्पर्श से लोहा केवल सुवर्ण-मात्र होता है। किन्तु वह पारस हो ही नहीं सकता। गुरु के अधिक सम्पर्क में आने वाले जीव तो गुरुतुल्य ही होता है। अतः गुरु की उपमा पारस से नहीं दी जा सकती।[1] इन्होंने गुरु-कृपा को ही सरल मोक्षसाधन माना है।[2] गुरु का स्थान प्रायः सभी कवियों ने भगवान के समक्ष माना है। श्रीसंप्रदाय में आचार्य को भगवान के अंशावतार के रूप में ही ग्रहण किया गया है। रामानुजाचार्य को शेषावतार कहा जाता है।

गुरु महिमा-गायन में हिन्दी कवि तेलुगु कवियों से भिन्न नहीं हैं। महाकवि सूर को अपने गुरु के चरणों में पूर्ण भरोसा था। गुरु के चरणों के नख की ज्योति ही अज्ञानांधकार के लिये दिव्य किरण बन जाती है। इस कलिकाल में गुरु-भक्ति प्रमुख साधन है।[3] सूरदासजी भी गुरु को भगवान ही मानते थे। कहा जाता है कि जब उनका अन्तिम समय आया तो किसी ने उनसे पूछा कि उन्होंने गुरु के सम्बन्ध में कोई रचना नहीं की, तो उन्होंने उक्त पद गाया और कहा कि भगवान के लिये बनाये हुये सभी पद गुरु विषयक ही हैं। इस प्रकार वे गुरु और कृष्ण में अभेद मानते थे।

मीरा ने गुरु को ही दिव्य प्रियतम की विरहावस्था का अनुभव कराने वाला माना।[4] विरह तो जागृत हो गया पर, प्रियतम के देश का पथ अज्ञात ही है। सद्गुरु ने फिर प्रिय-पथ का निर्देश किया। इससे मीरा की समस्त अन्तर्वेदना का शमन हो गया—

भर मारी रे बानां मेरे सतगुरु बिरह लगाय के।
पाँवन पंगा कानन बहिरा सूझत नाहिं न नैना॥
खड़ी खड़ी रे पंथ निहारूँ मरम न कोई जाना।
सतगुरु औषध ऐसी दीन्हीं रूम रूम भई चैना॥
सतगुरु जास्या बैद न कोई पूछो वेद पुराना।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर अमर लोक में रहना॥[5]

---

[1] दत्तात्रेय शतक, पद्य ४३

[2] संपगिमन्न शतक, पद्य ७

[3] भरोसो दृढ़ इन चरणन केरो
श्री वल्लभ नखचन्द्र छटा बिन सब जग माँझ अँधेरो।
साधन और नाहिं या कलि में जासों होत निबेरो॥—सूरसागर

[4] जायसी ने भी लगभग ऐसी ही बात कही :—
"गुरू विरह चिनगी जो मेला
जो सुलगाइ लेय सो चेला"॥—पद्मावत।

[5] मीरा की प्रेमसाधना, माधव, पृ० २१७ में उद्धृत।

तुलसीदास जी ने तो "रामचरितमानस" की आरम्भिक चौपाई ही गुरु वन्दना में लिखी है।[१] गुरु को हरि के समक्ष मानते हुये तुलसी ने भी उनके उपदेशों को ज्ञानांधकार का नाशक माना है।[२] भगवान के गूढ़रहस्य का उद्घाटन भी गुरु ही करता है।[३]

गुरु महिमा के अतिरिक्त गुरु-लक्षणों का भी कहीं-कहीं संकेत मिलता है। शास्त्रों मे तो गुरु-लक्षण बताये गये हैं।[४] पर इन भक्त कवियों ने गुरु-लक्षणों की गणना अपनी शक्ति और सीमा से बाहर समझा। इसलिये स्पष्ट रूप से गुरु का लक्षण-निरूपण नहीं किया। वैसे गुरु-महिमा में ही गुरु के लक्षण भी छिपे हुए हैं। पेदतिरुमलाचारी ने गुरु के ये लक्षण दिये हैं:—शास्त्रपरायणता, वेदविज्ञान, दया, पापराहित्य, आचारवान, ज्ञानी, कुशलोपदेशक होना, शान्तिचित्त, तपोनिष्ठता।[५] हिन्दी और तेलुगु दोनों ही साहित्यों में गुरु के लक्षण कम ही दिये गये हैं। तुलसी के द्वारा परिगणित सन्तलक्षण गुरु-लक्षण ही कहे जा सकते हैं। इसका कारण यह है कि आचार्य परम्परा में आनेवाले सभी महानुभाव गुरु हैं और वे भगवान के अवतार हैं। उनका लक्षण करना भगवान का ही लक्षण करना है। नन्ददासजी ने वल्लभाचार्य जी को पूर्णब्रह्म कह दिया है—

"श्री लक्ष्मण गृह बजत बधाई।
पूरण ब्रह्म प्रकटे पुरुषोत्तम श्री वल्लभ सुखदाई।।"[६]

श्री कृष्णदासजी के अनुसार कोटि-कोटि सूर्यों से भी अधिक ज्योतिर्मय वल्लभ हैं, इन्हीं को निगम "नेति" कहते हैं, शिव, शुक आदि इन्हीं की वन्दना करते हैं।[७]

---

[१] बंदउँ गुरु पद पदुम परागा।
सुरुचि सुबाय सरस अनुरागा।।—रामचरितमानस

[२] बंदउँ गुरु पद कंज कृपा सिन्धु नररूप हरि।
महामोह तम पुंज जासु बचन रबिकर निकर।।
—रामचरितमानस, बाल० (५ सोरठा/चौपाई)

[३] सूझहिं रामचरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहं जो जेहि खानिक।।
—रामचरितमानस, बाल० (५ वें सोरठे के नीचे)

[४] शुष्कवेदान्ततमोभास्करमु, पृ० २८,२६ में उद्धृत श्रुति के श्लोक

[५] नीतिशतकमु, पद्य ६२

[६] कीर्तन रत्नाकर, पृ० २७१

[७] कृष्णदास का पद, "कीर्तनसंग्रह", पृ० २१६, तथा "कीर्तनरत्नाकर" पृ० ३६५ १२
नमो श्री वल्लभाधीश स्वामी।
अखंड अवतार जुगधार लीला करी।
आसुरी जीव सब मोह पामी।।
कुंभनदास ने भी उनको अवतार ही कहा है—
बरनों श्री वल्लभ अवतार।
गोकुलपति प्रगटै फिर गोकुल सकल विश्व आधार।।—"कीर्तनसंग्रह", भाग-२ पृ० २०६

यह गुरु का सांप्रदायिक रूप है, सामान्य रूप नहीं। क्योंकि गुरु वही है जो छापा, तिलक आदि साम्प्रदायिक चिह्नों से शिष्य को युक्त करे। अन्त में सूर का एक पद देकर इस प्रसंग को समाप्त करते हैं :—

> गुरु बिनु ऐसी कौन करै।
> माला तिलक मनोहर बाना लै सिर छत्र धरै।
> भवसागर से बूढ़त राखै दीपक हाथ धरै।
> सूरस्याम गुरु ऐसौ समरथ छिन में लै उधरै ॥[1]

३. ५. घ. भक्ति की महिमा

भक्ति की साधना जनोचित है और मानवीय मूलवृत्तियों की प्रतिक्रियाओं की दृष्टि से निर्धारित है। फलप्राप्ति की दृष्टि से यह समस्त साधनों में शिरोमणि है। इन्हीं भावों को लेकर हिन्दी और तेलुगु के कवियों ने भक्ति के प्रति अपनी अनन्य आस्था ज्ञापित की है। दोनों क्षेत्रों के कवियों ने इस प्रसंग को विशद बनाया है और कथन की शैली को वलियुक्त रक्खा है। तेलुगु में बहुत लम्बे-लम्बे समासों में इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है। हिन्दी के कवियों ने प्रशस्ति तो पर्याप्त की है, पर इतने मिश्रित वाक्य नहीं मिलते। नीचे इन भक्तों के द्वारा गायी गई प्रशस्ति के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं।

पोतना के अनुसार भगवान कृष्ण को हृदयस्थ करने का अमोघ मार्ग भक्ति ही है। भक्तियुक्त गायन-संकीर्तन और उसका श्रद्धापूर्वक श्रवण भक्त के मानसिक मालिन्य और कलुष को उसी प्रकार धो देता है जिस प्रकार शरत् काल वर्षा के मलिन जल को स्वच्छ कर देता है।[2] अन्यत्र भी उन्होंने भक्ति की वर्षा से कल्मष की भयंकर आग के शमन की बात कही है।[3] भक्ति पापों के सघन कानन को जलाने वाला दावानल है। भक्तिरूपी वायु के झोंकों से दुःखों के बादल छँट जाते हैं। यह वह सूर्य है जिससे मनोविकारों का अंधकार दूर हो जाता है। भक्ति के जहाज पर बैठकर संसार-सागर को अनायास ही पार किया जा सकता है।[4] इस संसार में समस्त माया-सम्बन्ध क्षणिक हैं, पर भक्ति शाश्वत और अनन्त है।[5] भक्त की वृत्तियाँ शुभ और शुद्ध होती हैं।[6] भक्ति से भगवान भी वश में हो जाते हैं।[7] सांसारिक

[1] सूरसागर, पृ० ७१
[2] ते० भा०, २/२१८
[3] वरगोविन्द कथासुधारस महावर्षोरुधारा परं
परल गाक बुर्वेद्रचन्द्र यितरोपायानुरक्तिंब्रवि-
स्तर दुर्दांत दुरंत दुस्सहज सुस्संभाविताने कद्रु-
स्तर गंभीर कठोर कल्मषकनद्दा-वानलंबारु ने— ते० भा०, १/४६
[4] ते० भा०, १/५०,१३१
[5] वही, ८/१२७
[6] वही, २/६०
[7] वही, ६/४७१

विकार भी भक्तों को लांछित नहीं कर सकते। इसलिये जिस को हरिभक्तिरस का स्वाद मिल गया वह उसे कभी नहीं त्याग सकता। [1]

इसी प्रकार अन्नमाचारी ने भी भक्ति का अभिनन्दन किया है। बिना हरि-भक्ति के बड़े से बड़े पुण्य भी निरर्थक हैं। [2] भक्ति को वे सर्वोच्च साधना मानते हैं। उनका कथन है कि शुकमहर्षि भक्ति के कारण ही सर्वसमर्थ हैं। तपस्या करके वशिष्ठ बना जा सकता है, पर वह आकाश में एक नक्षत्र-मात्र है। कोई यज्ञादि के फलस्वरूप इन्द्र भी बन सकता है, पर इन्द्र एक दिक्पाल मात्र है। दान देकर कर्ण के समान यश को भी प्राप्त किया जा सकता है, फिर भी कर्ण एक राजा ही है। इस प्रकार तप, यज्ञ, दान आदि सभी से भगवान की शरण स्पृहणीय है। [3] भक्ति से भवभय का निवारण होता है और जीवन की महान संपत्ति भी भगवान की भक्ति ही है। [4] मन की शुद्धि का भी यही एकमात्र उपाय है। मानसिक और शारीरिक सभी पापों से भक्ति ही मुक्त कर सकती है। [5]

अन्नमाचारी के पुत्र पेदतिरुमलाचारी ने भी अनेकत्र भक्ति की महिमा घोषित की है। उनके अनुसार श्रीबालाजी का भक्त समस्त ज्ञानियों और यज्ञकर्ताओं से सौभाग्यशाली है। [6] इनके पुत्र चिनतिरुवेंगळनाथ ने अपने "परमयोगीविलासमु" और अन्य ग्रन्थों में भक्ति का महत्वांकन किया है। [7]

इस प्रसंग का कितना ही विस्तार किया जा सकता है। तेलुगु वैष्णव भक्त-कवियों की वाणी भक्ति की कीर्ति को गाते गाते थकती नहीं। यहाँ केवल आलोच्य-

[1] ते० भा०, १/१०१

[2] आ० स० की०, वा० २, पद ८४

[3] हरि नी दास्यमुनकु नदियेमि सरिगावु।
अरय शुकुंडु निन्नुनंटि नीयंतायेनु ॥ पल्लवि ॥
बगलं दपमुसेसि वसिष्ठु नय्येदनंटे।
योगि वसिष्ठुडु मिट नोक्क चुक्क।
येगुव यज्ञालु जेसि यिंद्रुडनय्येदनंटे।
दिगुव नायिंद्रुडोक्क दिक्पालुडे ॥
धनमैन यीवुलिच्चि कर्णुड नय्येदनंटे।
वोनरनातंडु भुविनोक्क राजे।
....
आदिगान ये युपायमुलु ने नोल्लक।
कदिसि नीशरणने गतिगंटिनि ॥ —आ० सं० की०, वा० २, पद ४६

[4] आ० सं० की०, वाल्यूम ८, पद २५९

[5] वही, वाल्यूम ९, पद ८८

[6] "वैराग्य वचनमालिका गीतमुलु", पद ९

[7] उदाहरण के लिये "परमयोगीविलासमु", पृ० ६४ द्रष्टव्य है।

युग के प्रतिनिधि कवियों के कुछ उद्धरण देकर इस सामान्य प्रवृत्ति की ओर संकेत-मात्र किया गया है।

हिन्दी के कवियों ने भी भक्ति की महिमा को विभोर होकर गाया है। तुलसी ने भक्ति को संजीवनी माना और इसके साथ श्रद्धा के अनुपान का विधान किया है। इस प्रयोग से समस्त मानसिक रोगों का नाश हो जाता है।[१] निषेधात्मक रूप से यह भी कहा जा सकता है कि सभी असंभव बातें चाहे संभव हो जायँ, पर भगवान की भक्ति से रहित जीव का भवसागर से उद्धार नहीं हो सकता।[२] भक्ति समस्त सुखों की खान है।[३] समस्त जातिगत उच्चता और गुण बिना भक्ति के निर्जल बादल की भाँति निरर्थक हैं।[४] स्वयं राम का कथन है कि अत्यन्त नीच प्राणी भी भक्ति संयुक्त होकर मुझे अत्यन्त प्रिय है—

भगतिवंत अति नीचउ प्रानी।
मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥[५]

मन का अज्ञान और उसकी अविद्या जो संसार का मूल है भक्ति के प्रहार से छिन्नभिन्न हो जाते हैं—

भगति करत बिनु जतन प्रयासा।
संसृति मूल अबिद्या नासा॥[६]

बिना भक्ति के मोक्ष भी नहीं मिल सकता।[७]

लगभग इसी प्रकार का स्वर भक्त-कवि सूर का है। भगवान तो भक्त के हाथ बिक जाते हैं—

जुग जुग बिरद यहै चलि आयौ,
भक्तनि-हाथ विकानौ॥[८]

रघुपति भगति सजीवन मूरी।
अनूपान श्रद्धा मति पूरी॥
एहि बिधि भलेहिं सो रोग नसाहीं।
नाहिं त जतन कोटि नहिं जाहीं॥

— रामचरितमानस, उ० १२/४

[२] बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धान्त अपेल—रामचरितमानस, १२२

[३] भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी—रामचरितमानस, उ० ४४/३

[४] रामचरितमानस, अरण्य कांड, ३४/३

[५] रामचरितमानस, उ० ८५/५

[६] वही, ११८/४

[७] वही, ७८क

[८] सूरसागर, १/११

भक्ति-रहित भोग, गुण तथा बल-वैभव व्यर्थ हैं।[१] यदि कोई स्वर्ण के पर्वत भी दान में दे तब भी भक्ति के बिना यह सब निष्प्रयोजन है।[२] आरम्भ में सकाम भक्ति भी हो तो उसमें शनैः शनैः भक्त का उद्धार हो सकता है।[3] भक्ति-रहित प्राणियों को नरक में जाना पड़ता है।[४] पोतना ने भी भक्ति-रहित विषयासक्त लोगों को नरक में यमकिंकरों से घोर दंड मिलने की बात कही है।[५]

३. ५. ङ. ज्ञान, और कर्म से भक्ति की श्रेष्ठता

उक्त साधना-मार्ग भारतीय धर्म क्षेत्र में अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित रहे। जब से इन मार्गों का प्रचलन है तभी से भक्ति को तुलनात्मक दृष्टि से महत्तर घोषित किया जाता रहा। उपनिषदों ने भी ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को कहीं-कहीं महत्वपूर्ण माना है।[६] सूक्ष्म चिन्तन और ध्यान के क्षणों के साथ भावात्मक उपासना के रससिक्त क्षण भी सम्बद्ध रहे। इसका प्रमाण यह है कि जिस उपनिषद् के स्रोत से शंकर-अद्वैत और उनकी ज्ञानवादी साधना का विकास हुआ उसी स्रोत से भक्ति के प्रमुख आचार्यों ने भक्ति-दर्शन के विविध पक्षों का उद्‌घाटन और निरूपण किया। स्वयं शंकराचार्य भक्ति की साधना से प्रभावित थे। इस प्रकार आरम्भ में भक्ति, ज्ञान और योग को साथ-साथ एक-सा महत्व प्राप्त होता रहा। उपनिषद् के स्रोत से गीता का दर्शन भी विकसित हुआ है जिसमें सभी दर्शनों के समन्वय की चेष्टा की गयी। कृष्ण ने ज्ञानी-भक्ति को सर्वप्रिय कहा है। "भक्ति सूत्रों" के प्रणयन और पुनराख्यान से भक्ति को शेष मार्गों से श्रेष्ठतर बताने की प्रवृत्ति उद्‌बुद्ध हुई। सभी भक्त-आचार्यों और भक्त-कवियों ने भक्ति को अन्य सभी मार्गों से अधिक सरल, लोकसुलभ और मनोनुकूल बतलाया है।

ज्ञान एक बौद्धिक प्रक्रिया है जो जीव, ब्रह्म और सृष्टि के विभिन्न रहस्य-स्तरों का उद्‌घाटन कर सकता है। पर इनसे अवगत हो जाना मात्र लक्ष्य की सिद्धि नहीं कर सकता। ज्ञान के पश्चात् वह स्थिति आती है जबकि मानवीय चेतना की

[१] स्याम भजन बिनु कौन बड़ाई ?
बल, विद्या, धन, धाम, रूप, गुन और सकल मिथ्या सौंजाई।
—सूरसागर, १/२४

[२] जौ पै रामभक्ति नहिं जानी, वह सुमेरु सम दान दियें ?
—सूरसागर, १/८६

[3] सूरसागर, १/१३

[४] वही, "बिनु हरि भक्ति नरक में परै"।

[५] ते० भा०, २/२४,२५

[६] जर्नल आफ़ श्री वेंकटेश्वरा युनिवर्सिटी, तिरुपति, जुलाई-दिसम्बर, १९५०, पृष्ठ संख्या : १६८

गहराई में स्थित राग-केन्द्र अपनी परिधियों को बढ़ाकर ज्ञात या ज्ञेय के साथ सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। यहाँ तर्क का स्थान विश्वास लेने लगता है और ज्ञान का स्थान भाव। इसलिये ज्ञान को भक्ति की आधार-भूमि मानकर कृष्ण ने "ज्ञानी-भक्त" को श्रेष्ठ कहा।[१] भक्तिसूत्रकार नारद ने आरम्भिक ज्ञान की स्थिति को भी भक्ति-साधना के लिये अनिवार्य नहीं माना। वह स्वयं लक्ष्य को सिद्ध कराने में समर्थ है।[२] साथ ही कुछ रूपकों के सहारे यह भी बताया गया कि केवल ज्ञान से भगवान की प्राप्ति सम्भव नहीं है।[३] नारद वेद निरपेक्ष भक्ति की भी बात करते हैं।[४] "श्रीमद्भागवत" मुख्य रूप से भक्ति के प्रतिपादन का ही ग्रन्थ है। किन्तु ज्ञान को भी भक्ति के अंग के रूप में इसमें स्वीकार किया गया है। पर साधना की सरलता की दृष्टि से तथा भगवान को संतुष्ट करने की दृष्टि से भी यहाँ भक्ति का प्रतिपादन किया गया है।[५] दृष्टि यह दीखती है कि दोनों को ही पूरक साधनाओं के रूप में ग्रहण किया गया है। लक्ष्य तो दोनों का एक है ही।[६] संक्षेप में ज्ञान और भक्ति के द्वन्द्व के संबन्ध में दो ही दृष्टियाँ मिलती हैं। (१) समन्वय की और (२) भक्ति को श्रेष्ठ सिद्ध करने की। गीता ने भक्ति को कुछ श्रेष्ठता प्रदान की। इसलिये भक्ति की श्रेष्ठता को एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। कर्मकांड, वैराग्य आदि सभी भक्ति-रहित होकर भगवान को प्रिय नहीं। भक्ति के अन्तर्गत इन सभी तत्वों का समावेश हो जाता है।[७] कहने की आवश्यकता नहीं कि भक्ति के सभी प्रवर्तक आचार्यों ने भक्ति को श्रेष्ठ माना। वैसे उसका ज्ञान से कोई विरोध नहीं, परन्तु सामान्य जन के लिये भी सरल-सुलभ होने के कारण भक्ति उनको अधिक आकर्षित करती रही।

[१] प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थं अहं स च मम प्रियः ॥
—"श्रीमद्भगवद्गीता", ७/१७

[२] स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः —"नारद भक्तिसूत्र", ३०

[३] राजगृह भोजनादिषु तथैव दृष्टत्वात्।
नतेन राजपरितोषः क्षुधाशान्तिर्वा ॥ —"नारद भक्तिसूत्र, ३१, ३२

[४] वेदानपि सन्यस्यति केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते।
स तरति स तरति से लोकांस्तारयति ॥ —"नारद भक्तिसूत्र", ४६

[५] नायं सुखापो भगवान् देहिनां देवकी सुतः।
ज्ञानिनां यात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह ॥ —"श्रीमद्भागवत"

[६] तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् —"वेदान्त सूत्र", १/१/७
तत् संस्थस्यामृतत्वोपदेशात् ॥ —"शांडिल्य भक्ति सूत्र" १/१/३

[७] नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन नचेज्यया।
शक्य एवं विद्यो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥
भक्त्या त्वनन्याशक्य अहमेवंमिधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टं च परंतप ॥ —"श्रीमद्भगवद्गीता", ११/५३,५४

किसी जनवादी आन्दोलन का आधार वर्गीय दर्शन या उच्च मेधा पर आश्रित साधना नहीं बन सकती। भ्रमरगीत की परम्परा में तो ज्ञान और योग का विधिवत् खंडन ही मिलता है। नीचे आलोच्ययुग के हिन्दी और तेलुगु के भक्त-कवियों की भक्ति की श्रेष्ठता के संबन्ध में कही हुई वाणियों का तुलनात्मक सर्वेक्षण किया गया है—

ज्ञान और भक्ति का तात्विक और तुलनात्मक विवेचन हिन्दी क्षेत्र में जितना तुलसी ने किया है उतना अन्य किसी ने नहीं। वैसे कृष्णभक्त-कवियों ने गोपियों के द्वारा उद्धव की ज्ञानोक्तियों का भावात्मक शैली में खंडन कराया है। नन्ददास की गोपियाँ कुछ अधिक तर्कप्रिय हैं। उद्देश्य की दृष्टि से ज्ञान और भक्ति में तुलसी कोई भी अन्तर नही मानते। क्योंकि दोनों ही अविद्याजन्य भाव के संताप का अपहरण करते हैं।[1] फिर भी अनेक दृष्टियों से वे ज्ञान से भक्ति को उच्चतर ठहराते हैं। तुलसी के राम भक्तों को उसी प्रकार समस्त संकट-विकारों से मुक्त रखते हैं जिस प्रकार माता अपने शिशु को।[2] इसको दृष्टि में रखते हुये भक्त लोग ज्ञान की प्राप्ति होने पर भी भक्ति को नहीं छोड़ते।[3] भक्ति वह कवच है जिससे माया के समस्त प्रहार व्यर्थ हो जाते हैं।[4] ज्ञान के मार्ग पर चलनेवाले भक्त काम के झंझावात से विचलित हो सकते हैं। इस बात को तुलसी ने स्पष्ट कहा है।[5] तुलसी ने ज्ञान का खंडन दुरूहता के आधार पर भी किया है। मानस के उत्तर कांड के ज्ञान-दीपक प्रसंग में इसी कठिनाई को एक विशद काव्यात्मक शैली में प्रस्तुत किया है। ज्ञान का मार्ग कृपाण की धार के समान कठिन है। जिस कैवल्य-मुक्ति की प्राप्ति इस कठिन मार्ग से होती है, वही भक्ति मार्ग का अनुसरण करने से अनायास मिलती है।[6] ज्ञान के

[1] भगतिहि ज्ञानहि नहिं कछु भेदा।
उभय हरहिं भव संभव खेदा।। —रामचरितमानस, उ० (११४)/७

[2] करउं सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी।।
—रामचरितमानस, अरण्यकांड (४२)/३

[3] यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं।
पायेहुँ ज्ञान भगति नहिं तजहीं।। —रामचरितमानस, अरण्यकांड (४२)/५

[4] मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि यह रीति अनूपा।
माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ। नारि वर्ग जानइ सब कोऊ।।
—रामचरितमानस, उ० (११५)/१

[5] सोउ मुनि ज्ञान निधान मृगनयनी बिधु मुख निरखि।
बिबस होइ हरिजान............"—रामचरितमानस, उ०

[6] ज्ञान कौ पंथ कृपाण की धारा। परम खगेस न लागहिं पारा।।
जो निर्विघ्न पंथ अनुसरई। सोइ कैवल्य परमपद लहई।।
राम भगति सोइ मुक्ति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरि आईं।।
—रामचरितमानस, उ०, ११८ ख/१,२

दीपक को जलाना भी श्रम-साध्य है और विकारों की वायु से इसकी रक्षा भी कठिन है। पर भक्ति वह चिन्तामणि है जो सतत भक्त के अन्तस्थल को दिव्यज्योति से जगमगाती रहती है : न मन में कोई विकार उत्पन्न होता है और न उसे कोई दुःख ही होता है।[१] एक और बात यह है कि ज्ञान से प्राप्त मोक्ष-सुख[२] भक्ति के बिना निराधार रहता है। अतः इसका स्थायित्व संभव नहीं।[३] किन्तु भक्ति सर्वतंत्र-स्वतन्त्र है। उसे अन्य किसी आधार की आवश्यकता नहीं। इसके विपरीत ज्ञान ही भक्ति के अधीन है।[४] जो साधक भक्ति को छोड़कर केवल ज्ञान की साधना करता है वह अज्ञानी है।[५]

तुलसी के भक्ति और ज्ञान संबन्धी विचारों की संक्षिप्ति इस प्रकार है :—

१. ज्ञान और भक्ति में उद्देश्य की दृष्टि से अभेद।

२. ज्ञान द्वारा प्राप्त मोक्षसुख भक्ति के आधार की अपेक्षा रखता है, किन्तु भक्ति इस दृष्टि से सर्वस्वतंत्र है।

३. ज्ञान की साधना अत्यन्त कठिन है। भक्ति की साधना अपेक्षाकृत सरल।

४. भक्ति के द्वारा भगवान की कृपा शीघ्र ही प्राप्त की जा सकती है।

५. ज्ञान-मार्गी साधक विषय गर्व के आवेशों में इंद्रियदमन के कारण पथभ्रष्ट हो सकता है, पर भक्त नहीं।

तुलसी की भाँति सूर ने भी भक्ति-साधना को सभी साधनाओं से उच्चतर ठहराया है। आरंभ में उन्होंने भी ज्ञान की आवश्यकता का उल्लेख किया है। ज्ञान इंद्रियों की वृत्ति को अन्तर्मुख करके हरिरूप की स्थापना मन में कर सकता है।[६]

[१] रामचरितमानस, उ०, ११९/१,२,३,४,५

[२] ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना—"रामचरितमानस", अरण्य कांड (१५)/१

[३] तथा मोक्ष सुख सुनु खगराई।
रहि न सकइ हरि भगति बिहाई॥ —"रामचरितमानस", उ० (११८)/३

[४] सो सुतंत्र अवलंबन न आना।
तेहि आधीन ग्यान-बिग्याना॥
—"तुलसी-ग्रन्थावली", भाग १, पृ० २९९

[५] जे असि भगति जानि परिहरहीं।
केवल ग्यान हेतु श्रम करहीं॥
ते जड़ कामधेनु गृहत्यागी।
खोजत आक फिरहिं पय लागी॥ —"तुलसी-ग्रन्थावली", भाग १, पृ० ४९४

[६] कह्यौ, यह ज्ञान, यह ध्यान सुमिरन यहै,
निरखि हरि रूप मुख नाम लीजै॥
—"सूरसागर", ४/११

ज्ञान से अविद्या का अन्धकार भी समाप्त हो जाता है।[1] कहीं-कहीं अष्टांगयोग को भी सूर ने भक्ति के लिये आवश्यक कहा है।[2] पर ये सूर की आरम्भिक उदभावनायें हैं। अतः यों कहा जा सकता है कि भक्ति की प्राप्ति के लिये योग और ज्ञान साधन-मात्र हैं। अन्त में वे यही कहते हैं कि ये सभी साधन यदि भावयुक्त नहीं हैं तो व्यर्थ ही हैं। भगवान का अभयदान भक्ति से ही प्राप्त हो सकता है।[3] सूर की गोपियों ने लोकमानस का प्रतिनिधित्व करती हुई तुलसी के द्वारा कहे हुये सभी सिद्धान्तों को लेकर उद्धव के द्वारा निरूपित ज्ञान और योग की पद्धति का खंडन किया है। भ्रमर-गीत दार्शनिक दृष्टि से भक्ति की विजय और ज्ञान-योग की पराजय का काव्य है। उन सब उक्तियों को दुहराना पिष्टपेषण-मात्र होगा।

उक्त सभी तथ्य तेलुगु-कवियों की वाणी में भी झंकृत हो उठे हैं। सूर की भाँति पोतना ने भी यज्ञ, दान आदि समस्त साधनों को भगवान को वश में करने के लिये निष्फल ही माना है। भक्ति को ही उन्होंने कर्म से श्रेष्ठ कहा है।[4] यही तत्व प्रह्लाद ने अपनी नृसिंहस्तुति में व्यक्त किया है।[5] पोतना ने तो यहाँ तक कहा है कि यज्ञ, याग आदि कर्मों से मुक्ति प्राप्त ही नहीं हो सकती।[6] उन्होंने यह भी कहा कि भगवान केवल भक्ति से ही संतुष्ट होते हैं।[7] यदि इन्द्रिय वासनाओं का बलात्

सूरदास तब ही तम नाशै ज्ञान अगिन झर फूटे।
—सूरसागर, पृ० ४५

[2] भक्तिपंथ को जो अनुसरै, जो अष्टांग योग को करै।
—सूरसागर, पृ० ४६

[3] कर्म धर्म तीरथ बिनु राधन, ह्वै गये सकल अकाथ।
अभयदान दै, आपनौ कर धरि सूरदास का माथ।।
—सूरसागर, १/२०८

[4] कं।।
चिक्कडु व्रतमुल ग्रतुवुल, जिक्कडु दानमुल शौचशील तपमुलं।
जिक्कडु युक्तिनि भक्तिनि, जिक्किन क्रियनच्युतुंडु सिद्धमु सुंडी।।
—ते० भा०, ७/२४३

[5] ते० भा०, ७/३५०

[6] ....चेडुरीति, नूरकधनव्ययमौटय कानि मोक्षदायक मगुचुन्न तत्फलमु नंदरु विष्णुपराम्मुखक्रियल्।। —ते० भा०, तृतीय स्कंध

[7] ते०भा०, ३/३०१; प्रहलाद का हिरण्यकश्यप के प्रति कही हुई यह उक्ति भी दृष्टव्य है:—"हे पिताजी! कर्म योग का अनुसरण करना उसी तरह निष्प्रयोजनकारी है जिस प्रकार एक अन्धे का दूसरे अन्धे से सहायता लेना। कर्म मार्ग का अनुसरण करनेवाले कर्मबद्ध होकर विष्णु की प्राप्ति नहीं कर सकते। कर्मों को त्याग कर जो विष्णु के प्रति अनन्य भक्ति का प्रदर्शन करते हैं, वे ही वैकुण्ठ की प्राप्ति कर सकते हैं।" —ते० भा०, ७/१८२
एक और प्रसंग में पोतना ने कहा है कि यज्ञ-याग आदि कर्मों से धन-व्यय तो होता है, पर उनसे मुक्ति की प्राप्ति कदाचित् नहीं होती।
—ते० भा०, तृतीय स्कंध, "अकुटिल भक्ति केशव" वाला पद्य।

दमन किया जाय तो वे अधिक शक्ति के साथ क्रान्ति कर सकते हैं और इस दमन पर आधारित ज्ञान और योग की साधना को निष्फल बना सकते हैं। किन्तु भगवत् सेवा शान्ति से समस्त विकारों का उन्मूलन करती है। इसलिये क्रान्ति के स्थान पर शान्ति ही बनी रहती है।[१] साथ ही कलियुग में जीवों की मनःशक्ति दुर्बल हो गयी है। अतः उनके लिये भक्ति मार्ग ही सरल, श्रेयस्कर और संग्राह्य है।[२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि पोतना की समस्त विचारधारा तुलसी से साम्य रखती है। तुलसी के ऊपर परिगणित सिद्धान्त-तथ्यों की पूर्ण समानता हमें पोतना में दृष्टिगत होती है।

अन्नमाचारी जी भी इस धारा से अलग नहीं हैं। एक स्थान पर उन्होंने कर्म, तप, पुण्य आदि के द्वारा केवल अहंकार आदि मनोविकारों की पुष्टि की चर्चा की है। श्री वेंकटेश्वर के भक्तों की तुलना में ये ज्ञानी-तपस्वी कुछ नहीं हैं।[३] तपस्या तो जलचित्र की भाँति निष्प्रयोजन है। भक्ति ही महान धर्म है।[४] हमारा प्रत्येक कर्म भक्ति का अंग ही बन जाना चाहिये। भक्तिरहित कर्म-मार्ग पर चलनेवाले व्यक्ति के प्रति भगवान का वात्सल्य-भाव लुप्त हो जाता है।[५] शुद्ध भक्त शास्त्रगत विधि-निषेधों और मर्यादा को त्याग कर भी तेरी शरण में आते हैं, क्योंकि यही उनका परम धर्म है।[६] यही "सर्वधर्मान् परित्यज्य" का रहस्य है। समस्त आचार रसहीन हैं। इसलिये हरिस्मरण ही श्रेष्ठ है।[७] राजराज ने करुणपुकार से, गुह ने अपने निश्छल प्रेम से, वाल्मीकि ने वर्णाश्रम धर्म से पृथक होकर तथा नारद ने अपने स्तवनों से भगवान की कृपा को प्राप्त किया और महान बन गये।[८] इस प्रकार वर्णगत उच्चता, वेदज्ञान का गर्व और श्रेष्ठ कर्मों का अहंकार भ्रम-मात्र हैं और भक्ति ही सत्य है। पेदतिरुमलाचारी ने भक्ति-मार्ग की सरलता का काव्यात्मक वर्णन

[१] च॥

यमनियमादि योगमुल नात्मनियंत्रितमय्युगामरोषमुल
ब्चौदितंबयगु शान्ति वहिंपदु विष्णु सेवचे
ग्राममुन शान्ति गैकोनिन कैवडि............

—ते० भा०, १/१३२

[२] ते० भा०, १/३०१

[३] आ० सं० की०, वा० २, पद ६२, १४७

[४] वही, वा० ११. भाग ३, पद १५०

[५] वही, वा० ६, पद २२

[६] वही, वा० ५, पद २१८

[७] वही, वा० १०, पद २३१

[८] वही, वा० २/३७, पद १

किया है। अपनी दुर्बलताओं की स्वीकृति करते हुये अपनी अनन्य शरणागति को ही डूबते हुये को सहारा माना।[1] इसी प्रकार स्पष्ट रूप से उन्होंने ज्ञान-मार्ग की अपेक्षा भक्ति-मार्ग को सरल बताया। उसका कथन है कि ज्ञान के लिये विमल मन, विमल मन के लिये इंद्रिय-निग्रह, इन्द्रिय-निग्रह के लिये तप, तप के लिये वैराग्य, वैराग्य के लिये अनासक्ति की आवश्यकता है। इस जटिल मार्ग में सफलता मिलना कठिन है। अतः भक्त का यह विश्वास ही फलदायक होता है कि भक्ति से ही भगवान की कृपा मिल जायेगी।[2] जहाँ तक वेदविज्ञान का प्रश्न है वह कठिन है और भक्ति मार्ग ही परमग्राह्य और सच्चा है:—वेद-ज्ञान रत्नाकर के समान दुस्तर है। उसका यथार्थ ज्ञान हमें नहीं मिल सकता। पुराण भी नानार्थयुक्त हैं। उनमें अनुसरणीय की खोज कठिन है। शास्त्र-ज्ञान शत्रु के समान है क्योंकि शास्त्रार्थी परस्पर संघर्ष करते हैं। यह समस्त साहित्य भ्रम में डालनेवाला है, भक्ति का यथार्थबोध नहीं कराता। दान से पुण्य की प्राप्ति तो होती है जो आगे के कर्म-बंधन के लिये बीजरूप बनता है, पर उससे मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। कर्म-फल भोग के लिये बार बार जन्म धारण करना पड़ता है। इसलिये केवल भगवत्कृपा से ही सच्चे मार्ग का ज्ञान हो सकता है।[3] इसी प्रकार इनके पुत्र चिनतिरुवेंगळनाथ ने भी "परमयोगी विलासमु" में भक्ति-पक्ष का समर्थन किया है।[4] श्री कृष्णदेवराय ने भी इसी प्रकार अपना मन्तव्य व्यक्त किया है। मालदासरी की कथा के द्वारा उन्होंने यह सिद्ध किया है कि विभिन्न प्रकार की विद्याओं से कोई लाभ नहीं, भक्ति ही परम पुरुषार्थ है।[5]

[1] "वैराग्यवचन-मालिकागीतालु", पद ३५

[2] वही, पद ३७

[3] वही, पद ७

[4] "परमयोगीविलासमु", पृ० ६०, ६१, ६२, १८८

[5] "आमुक्तमाल्यदा", मालदासरी की कथा :—

"निदुरयु गूडु बोजदिवि नेनिट गन्नदियेमि
येव्वडी चदुवुल यथार्थवादपु मृषल्विनि वेल्पडु"

(यहाँ एक ब्राह्मण विभिन्न विद्याओं का मर्मज्ञ बनकर अन्त में गर्व के कारण ब्रह्म राक्षस बन जाता है। पर बहुकाल के उपरान्त एक हरिजन भक्त, जो कि विद्याशून्य है, के संकीर्तन सुनकर उनके शाप का परिहार होता है। तब वह पश्चात्ताप करता है कि निद्रा-आहार को भी त्यागकर मैंने विभिन्न विद्याओं का अर्जन किया था। इसका मुझे क्या फल मिला? यही है न कि मुझे अहंकार और गर्व हुआ जो कि मेरे पतन की हेतु हुये। इन विद्याओं रूपी मृगतृष्णाओं से किसका उद्धार हो सकता है?);
इसी प्रकार विष्णुचित्त "अपठितशास्त्रग्रन्थजात्यंधुडु" होने पर भी विष्णु के अनन्य भक्त होने के कारण ही वे बड़े-बड़े उद्दण्ड पंडितों को भी शास्त्रार्थ में पराजित कर सके थे।

मोटे रूप से यही हिन्दी और तेलुगु कवियों के द्वारा गायी गयी भक्तिगाथा है। इस गाथा का मूल अभिप्राय दोनों ही क्षेत्रों के भक्त-कवियों में समान है। भक्ति-आन्दोलन की पृष्ठभूमि में भक्ति के प्रति एक अनन्य विश्वास उत्पन्न करना तथा वेद-शास्त्रयुक्त ज्ञान मार्ग और यम-नियमादि पर आधारित योगमार्ग से भयभीत जनता को एक आशामय दर्शन की ओर आकर्षित करना ही इस भक्तिगाथा का मूल उद्देश्य है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि इस गाथा में केवल प्रचार ही अभीष्ट था। इसके द्वारा एक यथार्थ जीवन-दर्शन का महत्वांकन ही कवियों ने किया।

३.५. च. नाम-महिमा

तुलसी ने निर्गुण-निर्विशेष ब्रह्म की दो उपाधियाँ मानी हैं :—नाम और रूप।[1] नाम ब्रह्म के निर्विशेषत्व और सगुणत्व के बीच में होने के कारण निर्गुण भक्तों को भी मान्य रहा और सगुण भक्तों के लिये भी। कबीर ने चाहे रूप को स्वीकृत न किया हो, पर नाम के महत्व का प्रतिपादन उन्होंने किया है।[2] नाम वस्तुतः ब्रह्म के द्योतन के लिये एक ध्वन्यात्मक प्रतीक है। नाम-जप योग की साधना का प्रमुख अंग था। इसके पीछे तत्व यह था कि नाम और नामी में अविच्छिन्न सम्बन्ध है[3] और नाम-जप नामी को वश में करने का एक उपाय है। इसी नाम का एक रूप मंत्र है जिसमें वशीकरण की शक्ति अजपाजप के द्वारा उत्पन्न की जाती थी। नाम-साधना इतनी प्रबल हुई कि विष्णु सहस्रनाम और गोपाल-सहस्रनाम जैसे नाम-साहित्य की एक परम्परा ही बन गयी और यह साहित्य विभिन्न अनुष्ठानों का अंग बन गया। जप से वैष्णव भक्ति में ब्रह्म की रूप-कल्पना हुई और इस रूपकल्पना ने धार्मिक क्षेत्र में अवतारवाद को जन्म दिया। तब भी नाम-साधना बनी रही। नाम-साधना पर भक्ति का यह प्रभाव पड़ा कि विशेषणों की शृंखला में रूप और माधुर्य का अधिक समावेश होता गया। भाव के अनुसार ब्रह्म विशेष्य का विशेषण-विधान कभी ऐश्वर्य पर आधारित होने लगा और कभी रूप-सौन्दर्य-माधुर्य पर। जप का स्थान संकीर्तन ने लिया और वश में करने की प्रवृत्ति का स्थान भगवान को प्रसन्न करने और इन्द्रियनिग्रह के उद्देश्य ने। इस प्रकार नाम-साधना का वैष्णवीकरण आलोच्ययुग तक सम्पन्न हो गया।

[1] नाम रूप दोइ ईस उपाधीं। अकथ अनादि सुसामुझि साधी।।
—रामचरितमानस, बालकांड २० वें दोहे के नीचे

[2] कबीर कहै मैं कथि गया कथि गया ब्रह्म महेस।
राम नाँव ततसार सब काहू उपदेस।।
भगति भजन हरि नाँव है, दूजा दुक्ख अपार।
मनसा वाचा कर्मना कबीर सुमिरन सार।। —"कबीर ग्रन्थावली"

[3] समुझत सरिस नाम अरु नामी। प्रीति परसपर प्रभु अनुगामी।।
—रामचरितमानस बालकांड, २०वें दोहे के नीचे

तेलुगु और हिन्दी वैष्णव कवियों ने आलोच्ययुग में नाम-महिमा का दृढ़ता से प्रतिपादन किया। वस्तुतः भजन या भक्ति के मूल में भी नाम-भजन का ही तत्व है। गीतों में भी प्रेमभाव से नाम-भजन को उद्धार का एक मार्ग बताया गया है।[१] श्री रामानुजाचार्य ने इसी तथ्य को और अधिक स्पष्ट करके लिखा है। उनके अनुसार नाम-जप से दुर्जन का भी उद्धार हो सकता है।[२]

तुलसी ने नाम तत्व का विश्लेषण हिन्दी-क्षेत्र में सबसे अधिक किया। उन्होंने राम से भी अधिक महत्व राम के नाम को दिया, क्योंकि इस नाम ने अनेक भक्तों का उद्धार किया है, राम ने केवल अहल्या का।[३] नाम भवसागर से पार करने के लिये जलयान के समान है। "विनय पत्रिका" में नाम जप का महत्व बहुत अधिक प्रतिपादित किया गया है।[४] अनेक दलितों और पतितों के लिये नाम ही आशा की किरण है।[५] नाम ब्रह्म का प्रतीक है जो समस्त प्राकृतिक शक्तियों का मूल अधिष्ठान है। ब्रह्म-विष्णु-महेश में अभिव्यक्त ब्रह्म की शक्तियाँ इसी नाम के द्वारा द्योतित हैं।[६] तुलसी के अनुसार ब्रह्म का रूप नाम के ही अधीन है क्योंकि नाम के बिना रूप की धारणा नहीं हो सकती।[७] इस प्रकार नाम और रूप में आधार-आधेय सम्बन्ध तुलसी ने माना है। इसका तात्पर्य यह भी है कि रूप के बिना नाम से ही भगवत्प्रेम उत्पन्न हो सकता है, पर नाम के बिना रूप से नहीं। निर्गुण और सगुण के बीच नाम की स्थिति है, इसलिये दोनों ही को इनसे ज्ञान की प्राप्ति सम्भव है।[८] तुलसी का कथन तो यहाँ तक है कि नाम निर्गुण और सगुण दोनों से ही बड़ा है, क्योंकि इसने इन दोनों को अपने वश में कर रक्खा है।[९] साथ ही निर्गुण और सगुण का

१ "श्रीमद्भगवद्गीता", ९/३०

२ "मद्भजनैन त्रिधूतपापतयैव समूलोन्मीलित-
रजस्तमोगुणः क्षिपे धर्मात्मा भवति······
शाश्वतीमपुनरावृत्तिनीं मत्प्राप्ति-विरोध्याचार निवृत्तिगच्छति"
—गीतायाम् रामानुज भाष्यम्, ९/३१

३ राम एक तापस तिय तारी। नामु कोटि खल कुमति सुधारी।
—रामचरितमानस, बालकांड, (२३)/२

४ "विनय पत्रिका", पद ४६,६६ आदि।

५ वही, पद ६९

६ बंदउँ नाम राम रघुबर को। हेतु कृसानु भानु हिमकर को।
बिधि हरि हरमय बेद प्रान सो। अगुन अनूपम गुन निधान को।।
—रामचरितमानस बालकांड, (१८)/१

७ देखि अहिं रूप नाम अधीना। रूप ज्ञान नहिं नाम बिहीना।।
—रामचरितमानस, बालकांड, २० में दोहे के नीचे

८ अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी।।
—रामचरितमानस, बालकांड, (२२)/१

९ रामचरित मानस, बालकांड, (२०)/४

तत्व इतना निगूढ़ है कि उसे जानना दुरूह है। किन्तु नाम सुगम है इसीलिये ब्रह्म और नाम में नाम को बड़ा मानता हूँ। तुलसी नाम-महिमा में इतने विभोर हो गये कि राम से भी नाम को ऊँचा बताया।[1] सम्भवतः नामतत्व का इतना भावात्मक और शास्त्रीय विश्लेषण-निरूपण आलोच्ययुग के किसी भक्त-कवि ने नहीं किया।

सूर ने भी नाम के माहात्म्य का गायन किया। उन्होंने गणिका, वाल्मीकि, व्यास आदि के दृष्टान्तों से नाम के पतितोद्धारक रूप को स्पष्ट किया।[2] राम-नाम के स्मरण से मोक्ष अवश्य मिलता है।[3] प्रेम से नाम लेकर इस मोक्ष के अनेक अधिकारी हुये हैं। पुराण सुदामा, कुबरी, द्रोपती, विभीषण, ध्रुव आदि की गाथाओं से भरे पड़े हैं।[4] इस प्रकार सूर ने नाम-माहात्म्य पर तो पर्याप्त लिखा है, पर उसका तत्व-निरूपण तुलसी की भाँति नहीं किया है।

तेलुगु क्षेत्र में पोतना ने अपने "भागवत" में विभिन्न भक्त-चरित्रों के साथ नाम-महिमा का अथक गायन किया। हरिनाम-स्मरण से एक मुहूर्त में मुक्ति-प्राप्ति होती है।[5] इसके प्रमाण में अजामिल का आख्यान लिया जा सकता है।[6] ब्रह्महत्या जैसे पाप भी नामस्मरण से समाप्त हो जाते हैं। जो पद ब्रह्मादि देवताओं के लिये अप्राप्य है वह नाम-स्मरण से अनायास ही प्राप्त हो सकता है।[7] संकटापन्न स्थिति में नाम-जप ही एकमात्र सहारा है।[8] यह वह औषधि है जिसे अनजान में खाने पर भी लाभ हो ही जाता है। इस प्रकार जाने-अनजाने किसी प्रकार भी भगवन्नाम-स्मरण मंगल का विधान करता है।[9] यही बात तुलसी ने भी कही है—

"भायं कुभायं अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ ॥[10]

पोतना की भाँति अन्नमाचारी ने भी नाम-महिमा में रुचि ली है।

[1] कहउँ नाम बड रामतें निज बिचार अनुसार ॥
—रामचरितमानस, बालकांड, २३वाँ दोहा

[2] सूरसागर, १/९०,९१

[3] जाइ समाइ सूर वा निधि मैं, बहुरि जगत नहिं नाचै।
—सूरसागर, १/८१

[4] भरोसौ नाम कौ भारी। प्रेमसौं जिन नाम लीन्हौ, भये अधिकारी ॥
—सूरसागर, १/१७६

[5] ते० भा०, २/८

[6] वही, ६/६९ से २११ तक

[7] वही, ७/११८,११९

[8] वही, ६/१२३

[9] वही, ६/१२६

[10] रामचरितमानस, बालकांड, (२७)/१

नाम की साधना के उपरान्त भगवान से भी मोक्ष-मार्ग को पूछने की आवश्यकता नहीं है।[1] पहाड़ के समान पाप भी नाम-स्मरण से नष्ट हो जाते हैं।[2] उनकी दृष्टि में नाम वेद का सार, पुराण-रसों का माधुर्य, परमपवित्र, और लोकरक्षक है।[3] आपदा के समय में नाम ही सहारा देता है।[4] इसलिये समस्त जनों को वे रामनाम-स्मरण का आदेश देते हैं।[5] ऐसा प्रतीत होता है कि तेलुगु-क्षेत्र में रामनाम ही अधिक मान्य था। जहाँ तक लीलाओं का प्रश्न है श्री अन्नमाचारी ने श्री वेंकटेश्वर या कृष्णलीलाओं का गायन किया है। पर नाम की दृष्टि से राम-नाम को ही उनके साहित्य में प्रमुख स्थान मिला है। नाम-संकीर्तन पर अन्नमाचारी ने विशेष बल दिया। नाम में इतनी शक्ति है कि एक बार नामोच्चारण करने से ही समस्त विघ्नों का नाश होता है और समस्त संपत्ति की प्राप्ति।[6]

पेदतिरुमलाचारी ने नाम-साधना की सरलता की ओर ही विशेष संकेत किया है। उनका कथन इस प्रकार है:—हे कृष्ण! तुमने अर्जुन को गीता का महान उपदेश दिया और अपना विराट स्वरूप उसके लिये प्रत्यक्ष किया, पर मुझ जैसे अधम जीवों का उद्धार उस उपदेश से सम्भव नहीं है। वाल्मीकि, नारद, विभीषण आदि ने केवल दो अक्षरों के नाम का जप करके चरमलक्ष्य की प्राप्ति की। मेरे लिये भी यही उपाय है, अन्य नहीं।[7]

[1] विंटिमि नीनाममुलनु वीनुल पंडुग गानु।
अंटिन मोक्षमुत्रोव अडगनेमिटिकि॥ —आ० सं० की०, वा० १०, पद २४३

[2] कोंडलवंटिवि घोरपापमुलु। खंडिंचुनु हरि घननामजपमु॥"
—आ० सं० की०, वा० ११, भाग ३, पद १३७

[3] आ० सं० की०, वा० ११, भाग १, पद ११५

[4] वही, वा० ५, पद १००

[5] वही, वाल्यूम २, पद ४६

[6] दुरितमुलेल्ल दीरु दुःखमुलेल्ल नणगु
हरियनि वोक्कमाटु अनिना जालु
सुरलु पूजितुरु सिरुलेल्ल जेरुनु
मरुगुर्लनि नाममट्टु पेरुकोन्नजालु। —आ० सं० की०
आ० सं० की०, वा० २, पद ३२८ भी इसके लिये द्रष्टव्य है:—
"दाचुकोनि पादालु तग नेजेसिन पूज लिवि" वाले पद में इन्होंने यह भाव व्यक्त किया है कि एक ही संकीर्तन हमारी रक्षा के लिये पर्याप्त है, शेष सब भंडार में ही छिपे रहने दो। नाम का मूल्य तो सस्ता है, पर उसका फल अवर्णनीय है। ये संकीर्तन ही मेरी अपार संपत्ति है जिसके वश में होकर तुमने मुझ पर कृपा दिखाई है।

[7] "वैराग्यवचनमालिकागीतालु", पद १८

इस प्रकार आलोच्ययुग में केवल तुलसी ने नाम का आध्यात्मिक निरूपण किया। इस संबन्ध में उनका स्थान अद्वितीय है। जहाँ तक नाम-महिमा का प्रश्न है, दोनों क्षेत्रों के वैष्णव-कवियों ने सभी बातें समान रूप से कही हैं। नाम के महत्व की स्थापना के लिये सभी ने पुराणोक्त समान दृष्टान्तों को लिया है। नामोच्चारण से सभी ने तीन प्रकार के फलों की प्राप्ति बताई है संकट का मोचन, मन की शुद्धि और मोक्ष की प्राप्ति। सभी ने नाम-साधना की सरलता और तज्जन्य फल-प्राप्ति की क्षिप्रता को विभिन्न शैलियों से पुष्ट किया है। सभी कवियों ने अन्य अवतारों की अपेक्षा रामनाम को अधिक महत्व दिया है। इसका कारण यह हो सकता है कि राम में रूप की अपेक्षा लोककल्याणकारी गुणों की स्थिति अधिक दृढ़ है जो ऐश्वर्य से मिश्रित होकर दास्यभाव को पुष्ट करती है। नाम का सम्बन्ध विशेषण रूप में गुण से अधिक है, रूप से कम। कृष्ण में लोककल्याणकारी गुणों की अपेक्षा उनके रूप-सौन्दर्य और लीलागत माधुर्य का विशेष आकर्षण है। इन तत्वों से दास्यभाव को बल नहीं मिलता। इसीलिये नाम की दृष्टि से राम का ही विशेष महत्व रहा। इसका एक और फल यह निकला कि नाम-निरूपण की जो विशदता रामभक्ति शाखा के कवियों में मिलती है वह कृष्णभक्ति शाखा के कवियों में नहीं। पोतना में नाम-महिमा का परिमाण अन्नमाचारी से कुछ अधिक इसलिये है कि वे वृत्तितः रामभक्त थे। "भागवत" की रचना युग की माँग और एक अभाव की पूर्ति की दृष्टि से वे कर रहे थे। इसी प्रकार तुलसी आदि रामभक्तों की अपेक्षा नाम-महिमा हिन्दी कृष्णभक्त-कवियों में कम है, क्योंकि दोनों ही क्षेत्रों के कृष्णभक्ति शाखा के कवियों की दृष्टि लीला और उसकी भाव-भूमिका में ही विशेष रमी है। अन्नमाचार्य के श्री वेंकटेश्वरजी कृष्ण लीलाओं से संयुक्त होकर माधुर्य के प्रतिमूर्ति बन गये, अतः अन्नमाचारी के समकालीन और परवर्ती वेंकटेश्वर भक्त-कवियों ने भी नाम की अपेक्षा रूप-संकीर्तन और लीला-संकीर्तन में ही विशेष रुचि प्रदर्शित की है। इस प्रकार नाम से सम्बन्धित सभी प्रवृत्तियाँ हिन्दी और तेलुगु-क्षेत्रों में समान हैं।

३. ५. छ. भक्ति और वैराग्य

वैराग्य वस्तुतः शान्त-रस का स्थाई है। ज्ञानमार्ग बुद्धि-पूर्वक इस समस्त प्रपच और इससे संबन्धित भावों को मिथ्या कहकर इनसे वैराग्य लेने की साधना पर बल देता था। भक्ति-संप्रदायों में वैराग्य का आधार ज्ञान नहीं है। जिस प्रकार गीता में अनासक्तियोग बताया गया है, उसी प्रकार भक्ति-संप्रदायों में इस संसार में रहते हुये भी इससे विच्छिन्न रहने की साधना को सम्मिलित किया गया है। अनासक्ति की मात्रा के साथ भक्ति की मात्रा का भी घटना-बढ़ना होता है।[1] भक्त संसार में

[1] "Devotion to God increases in the same proportion as the attachment to the object of the senses decreases. —'Thus Spake Sri Ramakrishna' p. 50.

उलझ जाता है जिस प्रकार एक हिरण आखेटपाश में। उससे छूटना कठिन को जाता है। यही मनुष्य की हीनतम स्थिति है।[1] इस वर्णन का अभिप्राय नश्वर प्रपंच के प्रति वैराग्य उत्पन्न करना ही है। पोतना ने तो यहाँ तक कह दिया है कि इन्द्र आदि दिक्पालों की संपत्ति भी कुछ नहीं है, क्योंकि ये सब हिरण्यकश्यप जैसे राक्षसों के द्वारा भी नष्ट किये जाते रहे । अतः इनकी इच्छा करना भी व्यर्थ ही है। इसलिये भगवान के चरणों के अतिरिक्त कुछ नहीं चाहिये।[2] सांसारिक सुखों का आकर्षण भगवान की भक्ति में बाधा ही बनता है। हमारी भावनाओं को उपर जाने से यह रोकता है।[3] बलि वामन से प्रार्थना करते हुये कहता है कि जो आनन्द भगवान की भक्ति से प्राप्त होता है, वह सुर राज्य में भी नहीं।[4] यही वैराग्य भावना अंबरीषोपाख्यान में स्पष्ट की गयी है।[5] इस प्रकार पोतना ने भक्तियोग के लिये वैराग्य भावना का आवश्यक माना है और उन्होंने निष्काम भाव से "कृष्णार्पणमस्तु" की प्रवृत्ति को बल देने के लिये कहा है। पोतना ने अपने एक प्रसिद्ध पद्य में सांसारिक सुख और भक्ति की तुलना करते हुये लिखा है :—जो मधुप मंदार पुष्पों का मधुपान करता है, वह मदन वृक्ष के पास भूल कर भी नहीं जाता। जिस राजहंस ने विमल मन्दाकिनी की तरंगों में क्रीड़ा की है वह सामान्य नदियों के पास क्यों जायेगा? कोकिल मुकुलित रसाल-पल्लवों के छाजन का रस लेता है। वह "कुटज" वृक्ष के पास नहीं जाता। चकोर तो चंद्रमा की पीयूषमय किरणों का ही पान करेगा। वह भूलकर भी ओस-कणों की ओर आकर्षित नहीं होता। इसी प्रकार भगवान के चरण-कमल के ध्यान का अमृत पीनेवाला भक्त कभी सांसारिक सुखों में प्रवृत्त नहीं हो सकता—

सी ॥

मंदार मकरंद माधुर्यमुन देलु मधुपंबु बोवुने मदनमुलकु ?
निर्मल मंदाकिनी वीचिकल दूगु रायंच सनुने तरंगिणलकु ?
ललित रसाल पल्लव खादियै चोक्कु कोयिल सेरुने कुटजमुलकु ?
बूर्णेंदुचंद्रिका स्फुरित चकोरक मरगुने सांद्रनीहारमुलकु ?

[1] हालापान विजृंभमाण मदगर्वातीत देहोल्लस—
द्बालालोकन श्रृंखलानिचय सम्बद्धात्मुडै लेशमुन्
वेलानिस्सरणंबु गानक महा विद्वांसुडु गामिनी
हेलाकृष्ण कुरंग शाबक मगुन् हीनस्थितिन् विटिरे ॥

—ते० भा०, ७/२१५

[2] ते० भा०, ७/३५७

[3] वही, ७/३६३

[4] वही, ८/६५२

[5] वही, ९/१५०

नंबुजोदर दिव्यपादारविन्द चिंतनामृत पान विशेष मत्त
चित्तमेरीति नितरंबु जेरनेर्चु ? विनुत गुणशील, माटलुवेयुनेल ?[१]

सूर के निम्नलिखित पद का पोतना के इस पद्य से बहुत साम्य है। शैली, भाव और अलंकरण सभी में साम्य मिलता है—

"जिहिं मधुकर अंबुज-रस चाख्यौ क्यों करीलफल भावैं।[२]

इसी प्रकार का भाव पोतना ने अन्यत्र **भी** व्यक्त किया है।[3] एक स्थान पर पोतना ने कुटुम्ब को अंधकारमय बावली कहा है।[४] यहाँ तक पोतना ने कह दिया है कि विषयवासनाओं में लिप्त मनुष्य पशु है। उनका कहना यह है कि वृक्ष दीर्घकाल तक जीते हैं, पशु, निद्रा, आहार, मैथुन के अभ्यस्त हैं और चर्म-भस्त्रिक उच्छ्वास-निश्वास भरता है। अतः मनुष्य का मनुष्यत्व इसी में है कि वह विषय-वासनाओं से निरक्षेप होकर भगवान विष्णु की सेवा करे।[५]

अन्नमाचारी जी ने भी वैराग्य की भावना को प्रधानता दी है। समस्त परिवार-सम्बन्ध बन्धन के कारण हैं।[६] यह संसार दुःखमय है। संपत्ति चिन्ताओं का कारण है। तरुणी-भोग का परिणाम वेदना है। इन सब की निरर्थकता समझ कर श्रीवेंकटेश्वरजी का भक्त सदैव भवताप से मुक्त रहता है।[७] वैराग्य उत्पन्न करने के लिये विविध शैलियों का प्रयोग पोतना की भाँति अन्नमाचारी ने भी किया है। एक स्थान पर वे लिखते हैं कि वृद्धावस्था में सुन्दरियाँ मनुष्य का तिरस्कार कर देती हैं। पर भगवान कभी उनका तिरस्कार नहीं करते। यदि हम क्रोध करते हैं तो हमारे सहोदर तक अप्रसन्न हो जाते हैं, पर भगवान अप्रसन्न नहीं होते। यदि गाँववालों की हम उपेक्षा करें तो वे भी हमारा विस्मरण कर देते हैं। किन्तु भक्त कहीं भी रहे, भगवान उसका साथ नहीं छोड़ते। वे अपने भक्तों के दुःख को दूर करते रहते हैं।[८] अन्नमाचारी को अपने अज्ञान पर आश्चर्य भी होता है, तभी वे कहते हैं कि कितना पागलपन है कि मैं पहाड़ को खोदकर चूहे पकड़ने चला हूँ। पेट भर भोजन के लिये ही है न विषयासक्तियों में लिप्त होना। क्षणिक सुरत-सुख के लिये ही है न, गृहस्थ

[१] ते० भा०, ७/१५०
[२] सू० सा०, १/१६८
[3] ते० भा०, ३/४४२; ३/१०२२
[४] वही, ७/१४२
[५] वही, २/४६
[६] आ० सं० की०, वा० २, पद २१३
[७] वही, वाल्यूम २, पद ३२३
[८] वही, वाल्यूम २, पद ५८

धर्म का कठोर बोझ उठाना।[१] इन्होंने तो पत्नी, सुत, माता और पिता को भी आशापाश और कर्मबन्धन के कारक कहा है और भगवद् भक्ति को ही श्रेयस्कर।[२] वैराग्य भी भगवान की कृपा से ही उत्पन्न होता है।[३] अपने मन का प्रबोध करते हुये वे कहते हैं कि यदि तुम वैराग्य धारण करोगे तो भगवान तुम्हें अप्राप्त पदवी भी प्राप्त करा सकता है।[४] इन समस्त भवरोगों से मुक्ति देने वाली महौषधि विष्णु भक्ति ही है। वैराग्य से ही जीव का समस्त कलुष धुल जाता है। श्री वेंकटेश्वर ही महान समुद्र के समान हैं जिसमें स्नान करके जीव पवित्र हो जाता है।[५]

पेदतिरुमलाचारी ने वैराग्य का अनेकत्र उपदेश दिया है। सांसारिक सुख और भक्ति की तुलना एक विलक्षण शैली में इन्होंने की। भोजनोपरान्त आहार लुप्त हो जाता है। चन्दन आदि अंगराग थोड़े ही समय में शुष्क हो जाते हैं। पहनने से वस्त्र मलीन हो जाते हैं। केशों में फूल मुरझा जाते हैं। कान्ताओं से संभोग करने मात्र से इच्छा समाप्त हो जाती है। इस प्रकार परिगणन करके वे निष्कर्ष में कहते हैं कि संसार में शाश्वत सुख कोई नहीं है। चिरन्तन सुख केवल भगवान की सेवा से ही मिलता है।[६] इस प्रकार का वैराग्य-उपदेश देने से कटुता उत्पन्न हो सकती है। इसलिये श्रीकृष्णदेवराय ने पौराणिक कथाओं के द्वारा वैराग्य-भावना उत्पन्न करने का उपाय बताया।[७] साथ ही इन्होंने एक और व्यावहारिक संकेत किया है। जिस प्रकार एक व्याध तब तक चुप रहता है जब तक कि चीता अपने मुँह के हिरण का रक्तपान करले, इसी प्रकार कुशल उपदेशक वैराग्य का उपदेश तभी देता है जब विषयासक्त मनुष्य विषयतृष्णा से कुछ न कुछ तृप्ति प्राप्त कर लेता है।[८] अज्ञान के कारण मनुष्य को यह ज्ञात नहीं होता कि इस विषय-वासना में समय व्यतीत करते-करते यह मृत्यु के समीप पहुँच रहा है। नाव में बैठे हुये यात्रियों को नाव स्थिर दिखलायी पड़ती है और तट आ पहुँचता है।[९] इसी चिन्तन से वैराग्य भावना उत्पन्न होती है और आध्यात्मिक जीवन-यापन करने की प्रेरणा मिलती है।

[१] आ० सं० की०, वाल्यूम ११, भाग १, पद ४९
[२] वही, ताम्रपत्र २९
[३] वही, वा० २, पद १०६
[४] वही, वा० २, पद १३९
[५] वही, वा० ५, पद ७४
[६] "नीतिशतक", पद्य ५४
[७] "आमुक्तमाल्यदा", ४/१९१
[८] वही, पद्य १९३
[९] वही, २/८० : और भी द्रष्टव्य ३/७५

चिनतिरुवेंगळनाथ ने भी वैराग्य की विशद चर्चा की थी।[1] श्रीकृष्णदेवराय ने कहा है कि बंधु, ऐश्वर्य, गृह आदि में अपनापन का भाव रखना नितांत अज्ञानमूलक है। इस प्रकार प्रबल सांसारिक आसक्ति से मुक्त होने के लिये शरीर एवं आत्मा के पार्थक्य से अवगत होना चाहिये। शारीरिक आसक्ति के त्यागने से सांसारिक भोग मनुष्य को स्पर्श भी नहीं कर सकते।[2]

३. ५. ज. भक्ति का स्वरूप

तुलसी ज्ञान, प्रीति, और भक्ति — इन तीन सरणियों को मानकर चलते हैं। भगवान के संबन्ध में ज्ञान विश्वास को उत्पन्न करता है। विश्वास प्रेम-बीज का वपन करता है और प्रेम से भक्ति दृढ़ होती है।[3] जैसा कि ऊपर कहा गया है कि भक्ति साधन ही नहीं भक्त के लिये साध्य भी है। तुलसी केवल प्रतिक्षण वर्धमान रामभक्ति को ही चरमलक्ष्य समझकर उसकी प्राप्ति की कामना करता है।[4]

"अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति रामपद चहि बरदानु न आन ॥[5]

तुलसी ने शारीरिक, वाचिक और मानसिक भक्ति की बात राम के मुख से कहलवायी है तथा प्रत्येक स्थिति में भक्ति भाव के निष्काम होने की आवश्यकता भी बतलायी है।[6] इस भाव से जो भगवान का भजन करता है वह भगवान की शरण को प्राप्त करता है।[7] तुलसी ने भक्ति में अनन्यता पर बहुत बल दिया है। उनकी भक्ति का प्रतीक चातक है जो स्वाति के बादल के अतिरिक्त किसी की ओर दृष्टिपात नहीं करता।[8] अनन्य शरणागति ही अशेष आत्मसमर्पण है।

सूर ने भी चातक के प्रतीक को ग्रहण किया है।[9] इस प्रकार अनन्यता का

[1] 'परमयोगीविलासमु", पृ० ५१०
[2] 'आमुक्तमाल्यदा", ३/६६ से ६९ तक
[3] रामचरितमानस, उ० (८८)/४
[4] तव पद पंकज प्रीति निरंतर।
सब साधन कर यह फल सुन्दर ॥ —रामचरितमानस, उ० (४८)/२
[5] रामचरितमानस, अयोध्याकांड, २०४
[6] बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महुं करउं सदा बिश्राम ॥
—रामचरितमानस, अयोध्याकांड, १६
[7] रामचरितमानस, उ० (८६)-४; ८७ क
[8] तुलसी का यह दोहा प्रसिद्ध है:—"एक भरोसो यह बल एक आस बिस्वास।
एक राम घनश्याम हित चातक तुलसीदास ॥"
[9] मन चातक जल तज्यौ स्वाति-हित, एक रूप ब्रत धर्यौ।
नैंकु बियोग मीन नहिं मानत प्रेमकाज बपु हार्यौं। —सूरसागर १/२१०

यह प्रतीक समस्त भक्तिकाल में लोकप्रिय रहा। एक बार प्रेम का उदय हो जाने पर बड़े से बड़ा संकट भी भक्त को विचलित नहीं कर सकता। भक्तितत्व को सूर ने अनिर्वचनीय भी कहा है।[१] भक्ति को साधना-रूप में परम-संयोग को प्राप्त करानेवाला भी कहा है।[२] सूर भी भक्ति के साध्य-रूप को मानते हैं।[३] भक्ति में निष्कामतत्व को भी सूर ने आवश्यक माना है। बिना इसके सभी साधनायें व्यर्थ हैं।[४] अनन्य भक्ति और वैराग्य-भावना साथ साथ चलती हैं।[५] सूर के माधुर्य का मूलाधार आत्मसमर्पण ही है। इस प्रकार सूर में भी भक्ति के सभी पारिभाषिक अंग मिल जाते हैं।

तेलुगु कवियों की वाणियों से भी भक्ति के तत्वों का समर्थन मिल जाता है। पोतना ने पार्थक्य से भगवान की ओर आकर्षित होने की बात कही है। उसकी चित्त-वृत्तियाँ बलात भगवान के सान्निध्य की ओर चल रही हैं।[६] सूर की भाँति इन्होंने भी वैराग्यपूर्ण अनन्य भक्ति से भगवान के प्रसन्न होने का कथन किया है।[७] पचेंद्रिय व्यापारों का नियंत्रण और उन्हें भगवान की ओर उन्मुक्त करने का तत्व भी पोतना के भक्ति-निरूपण में मिलता है।[८] निष्कामता का तत्व प्रह्लाद के प्रसंग में आया है। वहाँ कामरहित पुरुष को भगवान के समान तक कह दिया गया।[९]

श्री अन्नमाचारी जी ने भक्ति भाव की भगवदोन्मुख तीव्रगति का संकेत इस प्रकार दिया :—जिस प्रकार भूखे मनुष्य की दृष्टि भोजन पर, विटपुरुषों की रमणियों पर, शिशुओं की मातृ-पयाधरों पर, लोभी की धन पर रहती है, उसी प्रकार मेरा भक्ति-भावना श्री वेंकटेश्वर के प्रति रहनी चाहिये।[१०] यही बात तुलसी ने भी कहा है।[११] इसी प्रकार भक्ति के अनन्यतावाले तत्व का भी इन्होंने दृढ़ता से ग्रहण

[१] ज्यौं गूंगौ गुरु खाइ अधिक रस,
सुख-सवाद न बतावै (हौ)। —सूरसागर, २/१०

[२] जैसें सरिता मिलै सिंधु कौं, बहुरि प्रबाह न आवै (हो) —सूरसागर, २/१०

[३] जनम-जनम, जब-जब, जिहिं जिहिं जुग, जहाँ जहाँ जन जाइ ॥
—सूरसागर, २/१२

[४] जौ लौ मन कामना न छूटै।
तौ कहा जोग जप-व्रत कीन्हें बिनु कन तुस कौं कूटै। —सूरसागर, पद ३६२

[५] सूरसागर, पद ३६५, ३६६, ३६७

[६] ते० भा०, ७/१४९

[७] वही, ६/१२१

[८] वही, ६/१२२

[९] वही, ७/३७१

[१०] आ० सं० की०, वा० २/५२ पद

[११] कामिहि नारि पियारी जिमि लोभहिं प्रिय जिमि दाम।
त्यौं रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम ॥
—रामचरितमानस, उत्तरकांड का अंतिम दोहा

किया।[१] गतजीवन में भगवान के संपर्क से पृथक रहने का भी उनको बहुत दुःख है और वर्तमानकाल में सामीप्य-लाभ से हर्ष भी।[२] शरणागति को ही अन्नमाचारी परमतप और परमफल मानते हैं। इससे बड़ा धर्म उनकी दृष्टि में और कोई नहीं।[3] अनन्यता पर वे बार बार बल देते हैं।[४]

पेदतिरुमलाचारी ने भी अपनी भावनाओं की उदात्तीकृत गति को अनेक दृष्टान्तों के द्वारा स्पष्ट किया है और सर्वेन्द्रिय-अनन्यता की बात भी उन्होंने एक पद में कही है।[५] निःस्वार्थ भक्ति की प्रतिध्वनि भी उनके पदों में गूँज रही है। भगवान भक्त के उद्धार के लिये न जाने क्या क्या करते हैं। उनको इस बात का भी कष्ट है कि भगवान को भक्त के लिये कितने कष्ट उठाने पड़ते हैं।[६] यद्यपि भगवान को कोई कष्ट नहीं होता फिर भी भक्त अपनी भावना के अनुसार ऐसी कल्पना करता है।

इस प्रकार भक्ति की परिभाषा के सभी मूल तत्व आलोच्ययुग के तेलुगु और हिन्दी वैष्णव साहित्य में उपलब्ध हो जाते हैं। यहाँ दोनों क्षेत्रों में पर्याप्त साम्य भी मिलता है। भाव और अर्थ का साम्य तो है ही, प्रयुक्त प्रतीकों, दृष्टांतों और कवि-समयों के प्रयोग में भी पर्याप्त साम्य है। ऊपर के विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

३.५. क. भक्ति के भाव

भक्ति का मूल तत्व भाव ही हैं। भाव अनन्त हैं और उन पर आधारित सम्बन्ध भी असीम हो सकते हैं।[७] आगमों में इन सम्बन्धों को ९ वर्गों में विभाजित किया गया।[८] इनकी सूची इस प्रकार है:—

[१] आ० सं० की०, वा० २, पद २३८

[२] यीरीति श्रीवेंकटेश येलितिवि नन्नु निट्टे
घोरतोपुन निन्नाळ्ळु मोसपोतिगा ॥ —आ० सं० की०, वा० २/१२ पद

[3] आ० सं० की०, वा० ११, पद १००

[४] वही, ताम्रपत्र १३३

[५] वैराग्यवचनमालिकागीतालु, पद ४

[६] वही, पद ४२

[७] तुलसी ने —तोहिं मोहिं नाते अनेक मानिये जो भावै।
ज्यों ज्यों तुलसी कृपालु चरन-सरन पावै ॥ विनय-पत्रिका, पद ७९

[८] "The Cultural Heritage of India", *Rituals of Worship*, p. 456.

भाव का नाम	भावात्मक संबन्ध	उदाहरण
१. शान्त	दास और स्वामी	ऋषि और विष्णु
२. दास्य	दास और स्वामी	हनुमान और श्रीराम
३. सख्य	मित्र और मित्र	अर्जुन और कृष्ण
४. वात्सल्य	माता-पिता और सन्तान	यशोदा-नन्द और कृष्ण
५. मधुर	प्रेमिका और प्रेमी	राधा और कृष्ण
६. अपत्य	सन्तान और माता-पिता	मार्कण्डेय और देवी

त्रिगुण के अनुसार आगमों के भी तीन विभाग हैं :—वैष्णव, शाक्त और शैव। इनमें से प्रथम का संबन्ध सत्, द्वितीय का रज और तृतीय का तपस् से माना गया है। इन्हीं गुणों के अनुसार इष्टदेवों की कल्पना है। और इष्टदेव के अनुसार ही भावनाओं का नियोजन होता है। पर तीनों आगमों में तीनों ही गुणों की स्थिति मिलती है। केवल प्राधान्य उक्त गुणों का है। तालिका इस प्रकार है :—

गुण	इष्टदेव		
	वैष्णव संहितायें	शाक्त आगम	शैव आगम
सात्विक	अनन्तशयन	शान्ति दुर्गा	दक्षिणामूर्ति
राजसिक	राम, कृष्ण	भुवनेश्वरी	राजशिव और पार्वती
तामसिक	नृसिंह	काळि, राजेश्वरी	अघोरमूर्ति

वैष्णव भक्ति-साहित्य में आरम्भ में अनन्तशयन (विष्णु) ही इष्टदेव के रूप में मान्य रहे। इसलिये इनके साथ दास्य भाव का समावेश रहा। पीछे नृसिंह, राम और कृष्ण-तीनों की मान्यता रही। पर तम से संबन्धित नृसिंह की उपासना धीरे धीरे कम होती गयी और रामकृष्ण की उपासना को अधिक लोकप्रियता मिली। अन्नमाचारी ने नृसिंह के सम्वन्ध में भी अनेक संकीर्तनों की रचना की। उनके गुरु शठकोपस्वामी के इष्टदेव नृसिंह ही थे। हिन्दी के कवियों ने प्रह्लाद के चरित के व्याज से नृसिंह का स्मरण किया है। पर प्राधान्य दोनों ही स्थलों पर राम और कृष्ण को ही मिला।

नारद ने ११ आसक्तियों की सूची दी है।[१] नवधाभक्ति में "दास्यंसख्यमात्म-निवेदनम्" कहकर तीन भावासक्तियों को सम्मिलित किया गया है। इसके साथ माधुर्य का योग होकर चार आसक्तियाँ हो जाती हैं। शेष सात आसक्तियाँ दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य की पूरक आसक्तियाँ ही हैं। रूप गोस्वामी ने माधुर्य के कामरूपा[२], सम्बन्धरूपा[३], कामानुगा आदि उपभेद किये हैं। "भाव लहरी" में उन्होंने सभी भावों का समावेश रागानुगा भक्ति में किया है।[४] इसमें कामशास्त्र में वर्णित भावों का विवेचन भी समाविष्ट हो गया। भावों के साथ विभावों का विवेचन भी किया गया है।[५] इस प्रकार काव्यशास्त्र के ढाँचे में भक्तिरस को ढालने की चेष्टा की गयी। इन सभी भावों में एक दूसरे का अन्तर्भाव हो जाता है। क्योंकि भक्ति के क्षेत्र में इनका विरोध समाप्त हो जाता है।[६]

इन भावों के आधार पर भक्त भगवान के साथ एक संबन्ध स्थापित करता है। शब्दावली के अनुसार यह सम्बन्ध लौकिक ही होता है, पर इस की परिणति अलौकिक सम्बन्ध में होती है, क्योंकि सम्बन्ध का स्थूल पक्ष लुप्त रहता है। उनका सूक्ष्म रूप ही भावना, स्मृति या कल्पना में आता रहता है। आचार्यों ने अपने संप्रदायों में किसी भी भाव की उपेक्षा नहीं की। पर एक भाव को प्राधान्य अवश्य दिया है। श्रीसम्प्रदाय और इसी की एक शाखा रामावत-सम्प्रदाय में दास्य को, निम्बार्क-संप्रदाय और चैतन्य-संप्रदाय में माधुर्य तथा मध्व-संप्रदाय में दास्य और वात्सल्य का प्राधान्य है। इनमें से दास्य भाव का महत्त्व यह है कि बिना किसी सम्प्रदाय का आश्रय लिये हुये भी सामान्य जन इसी भाव से भगवान के प्रति अपना विश्वास व्यक्त करता है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक आस्तिक मनुष्य भगवान के अनन्त वैभव और ऐश्वर्य के प्रसार से चमत्कृत होता है। अपने को इस ऐश्वर्य के सम्मुख वह

[१] गुणमाहात्म्यासक्ति—रूपासक्ति—पूजासक्ति—स्मरणासक्ति—दास्यासक्ति—सख्यासक्ति—वात्सल्यासक्ति—कान्तासक्त्यात्मनिवेदनासक्ति—तन्मयासक्ति—परमविरहासक्ति—रूपैकधावप्येकादशधा भवति।

—नारद भक्ति सूत्र, ८२

[२] "हरिभक्तिरसामृत सिंधु", पूर्व विभाग, लहरी २, श्लोक ७२

[३] वही, श्लोक ८१, ८२, ८३

[४] वही, लहरी ३

[५] वही, दक्षिणा विभाग, लहरी १

[६] "इन चारों भावों में अन्तर्भाव का एक क्रम निर्धारित किया जाता है जिसके अनुसार प्रत्येक भाव में उसके पूर्ववर्ती भाव या भावों का अन्तर्भाव हो जाता है, जैसे सख्य में दास्य का, वात्सल्य में दास्य, सख्य दोनों का और माधुर्य में दास्य, सख्य, वात्सल्य तीनों का"—"गुजराती और ब्रजभाषा कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन", डा० जगदीश गुप्त, पृ० २११, २१२

अणुवत् अनुभव करता है। भगवान को विश्व के नियंता और स्वामी के रूप में देखना उनके लिये स्वाभाविक हो जाता है। इसलिये यह भाव सार्वजनीन ही कहा जा सकता है।

यह भी सत्य है कि भक्ति के संप्रदायों में विकास-क्रम के अनुसार प्राधान्य दास्येतर भावों का होता गया, पर वात्सल्य और कामाश्रित शृंगार को भगवदोन्मुख करने के लिये एक सूक्ष्म भावात्मक प्रक्रिया अपेक्षित होती है। इन भावों की भगवद्विषयक साधना सामान्य जन के लिये कठिन ही होती है। फिर भी दास्य की अपेक्षा इन भावों में द्रुति-तीव्रता और आवेश की आकुलता अधिक होती है। इसलिये यदि इन भावों का भक्तिगत रूपान्तर प्रस्तुत हो जाय तो भगवदोन्मुख साधना अधिक प्रबल हो जाती है। यही कारण है कि आगे के आचार्यों ने इन्हीं भावों को ग्रहण किया है। वात्सल्य और माधुर्य में भी वात्सल्य की साधना कुछ सरल है। वल्लभाचार्य जी का विशेष आकर्षण इसी भाव की ओर था। हो सकता है कि सामाजिक दृष्टि से उन्होंने इस अमायक भाव को ग्रहण किया हो। सूर आदि पुष्टिमार्गीय वैष्णव-कवियों ने वात्सल्य का बड़ा विशद चित्रण किया है।

माधुर्य भाव के लिये एक विशेष आध्यात्मिक — सज्जा और लोक-लाज से संघर्ष की शक्ति अपेक्षित होती है। इसलिये इस भाव की साधना के साथ यह भी लिखा गया है कि यह विशेष अधिकारियों की साधना है। अनधिकारियों के हाथ में यदि मधुर-भक्ति-मूलक साहित्य पहुँच जाता है तो मनुष्य अपनी वासनाओं का आरोप करके उसके मूल रहस्यों को विकृत कर देता है।

इनके अतिरिक्त शान्त भाव भी भक्ति के अन्तर्गत रक्खा गया है, पर शुद्ध उपासकों ने शान्त को तिरस्कृत ही कर दिया है। इस का कारण यह है कि इस में तीव्रता कम रहती है और भावजन्य वैराग्य की अधिक आवश्यकता होती है। शत्रु भाव से भी परम फल प्राप्त किया जा सकता है। हिरण्यकश्यप और रावण ने भगवान के प्रति सच्चा शत्रुभाव रक्खा। किन्तु इस भाव की जान-बूझकर साधना नहीं की जा सकती है।

हिन्दी और तेलुगु दोनों ही क्षेत्रों के भक्त-कवियों ने चाहे किसी एक भाव को प्राधान्य दिया हो, पर सभी भक्तिगत भावों का रूप और उनके उदाहरण इन कवियों के साहित्य में उपलब्ध होते हैं। केवल तुलसी और रामभक्तिशाखा के अधिकांश प्रसिद्ध कवि माधुर्य भाव को अपनाने में असमर्थ रहे। रामभक्ति शाखा की रसिक धारा एक प्रबल अपवाद है जो कृष्णभक्ति शाखा के तत्वों से समन्वित होकर पुष्ट हुआ। पर रामकथा के साथ उसका न कभी पूर्व तादात्म्य ही हो पाया और न उसे इतनी लोकप्रियता ही प्राप्त हुई।

सभी भावों के उदाहरण मिलने के मूल में आलोच्ययुग के भक्त-कवियों की यह भावना है कि भक्त किसी भाव का अनुसरण करके भगवान की प्राप्ति कर सकता

है। "गीता" में इस भावना का स्रोत है।[1] तुलसी ने इसके संबन्ध में स्पष्ट कथन किया है।[2] सूर के कृष्ण भी यह कहते हैं कि जो मुझे जिस रूप में मानता है, मैं उसे उसी रूप में दर्शन देता हूँ।[3] पोतना ने लिखा है कि भगवान भक्तों की भावना को पहचान कर किसी भी रूप में परिवर्तित हो सकता है।[4] अन्नमाचारी ने भी कहा है कि भगवान भक्त की भावना के अनुरूप रूप धारण करते हैं।[5] पेदतिरुमलाचारी ने भावानुसार भगवान के अवतरण की बात कही है।[6]

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि भक्ति के उक्त सभी भाव हिन्दी और तेलुगु के भक्त-कवियों के काव्य में मिलते हैं। सामान्य रूप से हिन्दी-क्षेत्र में रामभक्ति शाखा के कवियों ने दास्य को और कृष्णभक्ति शाखा के कवियों ने माधुर्य, सख्य और वात्सल्य को महत्व दिया। कृष्ण भक्त कवियों ने दास्य और विनय के पदों की रचना भी की है, पर उनकी प्रातिभ साधना के चरमबिन्दु माधुर्य और वात्सल्य ही रहे। तेलुगु-क्षेत्र में मूल प्रेरणा दास्य की ही रही। पीछे शृंगार-रस भक्ति के अन्य भावों को अपने में अन्तर्भूत करने लगा और अन्नमाचारी ने शृंगार भावना के उच्चत्तम रूप की प्रतिष्ठा की। इस प्रकार भाव-विकास की दृष्टि से हिन्दी और तेलुगु के कवि समान ही हैं। इन भावों की काव्य में जो परिणति हुई है और इनका जो विशदीकरण इन कवियों की कल्पना ने सम्पन्न किया है, उस पर विस्तृत विचार इन कवियों के भाव-पक्षवाले अध्याय में किया गया है।

[1] में यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्
—"श्रीमद् भगवद् गीता" ४/११
ये मत्समाश्रयणापेक्षा यथा येन प्रकारेण स्वपेक्षानुरूपं
मां संकल्प्य प्रपद्यन्ते समाश्रयन्ते तान्प्रति तथैव
तन्मनोषित-प्रकारेण भजामि मां दर्शयामि।
—"रामानुजायाम् गीता भाष्यम्", ४/११

[2] जाकी रही भावना जैसी
प्रभु मूरति देखी तिन तैसी॥ —"रामचरितमानस"

[3] भजै मोहिं जो कोइ, भजौं मैं तेहिं ता भाई।
मुकुर माहिं ज्यों रूप, आपनों सम दरसाई॥ —"सूरसागर"

[4] ते० भा०, १०३/२०२

[5] आ० सं० की०, वा० २/पद १४८
"हे भगवान! तुम माता-पिता बनकर रक्षा-पोषण करते हो, पत्नी बनकर प्रेम करते हो, गुरू बनकर उपदेश देते हो, पुत्र बनकर आनन्द प्रदान करते हो, मालिक़ बनकर तुम्हारा सेवाभाग्य देते हो, और कभी तुम दूत बनकर मेरी सेवा में तत्पर हो जाते हो। तुम तो कामरूपवाले हो। तुम भक्तों की इच्छा-अभिलाषा के अनुसार विभिन्न रूपों में प्रकट होते हो।"
ही "आ० सं० की०, वा० ८/पद ९७ भी इसके लिये द्रष्टव्य है।

[6] "वैराग्यवचनगीतालु", पद १४

३.५.ञ. भक्ति के प्रकार

ऊपर भक्ति की परिभाषा और उसका तत्व-निरूपण दिये गये हैं। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि भक्ति मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य की मूलप्रवृत्तियों का उदात्तीकृत रूप है। मनुष्य की ये वृत्तियाँ ज्ञानेंद्रियों के माध्यम से अपनी संतुष्टि के लिये सामग्री ग्रहण करती हैं। भक्तिगत उदात्तीकरण उस सामग्री का उन्नयन करके वृत्तियों को पथनोन्मुख होने से रोकता है। पतन दो प्रकार से हो सकता है। एक तो वृत्तियों को ऐसी विषय-सामग्री देना जिससे उनकी संतृप्ति न हो। अतृप्ति का कारण वस्तु-सामग्री की अपूर्णता है। यदि वांछित सामग्री को सम्पूर्ण कर दिया जाय तो वृत्तियाँ संतृप्त होकर एकाग्र हो जायेंगी। सांसारिक विषय-सामग्री स्वभावतः वृत्तियों की प्यास को बढ़ानेवाली है। इसलिये यदि इस प्यास को न रोका जाय तो उचित-अनुचित के विवेक से शून्य होकर उनकी अंध तृप्ति के लिये व्यक्ति भ्रमित होता रहता है। वृत्तियों के पतन का दूसरा रूप यह है कि तृप्ति करने की सामग्री के प्रति एक आसक्ति उत्पन्न हो जाती है। यह आसक्ति सुख और दुख की विधायिनी है। इस सुख-दुःख व्यवस्था में भी सुख क्षणिक रहता है और दुःख दीर्घकालीन। क्योंकि अपूर्ण भौतिक सामग्री द्वारा प्रदत्त तुष्टि क्षणिक ही होती है।

इंद्रियों के स्वभाव के अनुसार ही सामग्री चाहिये और उसे पूर्ण भी बनाना है। कुछ इंद्रियाँ ध्वनि के उच्चारण और ग्रहण से सम्बन्धित हैं। इन दोनों ही कार्यों के लिये भगवान के नाम को सामग्री के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। साथ ही स्मृति मनुष्य का संबंध अतीत से जोड़े रहती है और स्मृति में नाम भी रह सकता है और रूप भी। रूप और आकार से संबंधित भी कुछ वृत्तियों की तृप्ति है। इस प्रकार रूप और नाम की सामग्री से वृत्तियों को तृप्त करके भावधारा को भगवदोन्मुख किया जा सकता है। भावधारा भक्त का भगवान से संबन्ध स्थापित करने की भूमिका प्रस्तुत करती है। शब्द-प्रतीकों के अनुसार ये भावात्मक सम्बन्ध लौकिक प्रतीत होते हैं। सम्बन्ध जब सांसारिक होते हैं नश्वर और अपूर्ण होते हैं। किन्तु भावात्मक अलौकिक सम्बन्ध अपने आप में पूर्ण होते हैं। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भक्ति के प्रकारों की स्थापना भक्ति शास्त्रों और पुराणों में की गयी है। नाम, रूप और भाव से सम्बन्धित तीन तीन भक्ति प्रकारों के सम्बन्ध होने से नवधा-भक्ति का सृष्टि होती है। श्रीमद्भागवत में इसी मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर ९ प्रकार की भक्ति का निरूपण हुआ है।[1] श्री रामानुजाचारी ने भी नवधाभक्ति का उल्लेख तो किया है, पर इसमें कुछ अन्तर है। उन्होंने भावात्मक संबन्धों को इन प्रकारों में समाविष्ट

---

[1] श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
—श्रीमद्भागवत, ७/५/२३

नहीं किया है।[1] श्री वल्लभाचारी जी ने नवधा भक्ति की तो स्वीकृति की है,[2] पर नवधा भक्ति को लक्ष्य न मानकर प्रेम-सम्बन्ध को उत्पन्न करने के साधन के रूप में इसको स्वीकार किया है।[3] इस प्रकार भक्ति के १० प्रकार हो जाते हैं।

भक्ति के १० वें प्रकार अर्थात् प्रेम-सम्बन्ध को भागवत ने उपर्युक्त श्लोक में तो परिगणित नहीं किया पर गोपी कृष्णगाथा में प्रेम-भक्ति का उत्कृष्टतम उदाहरण है। दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन की चर्चा करके भागवत ने समाज के सामान्य जन के लिये सुलभ पद्धति की ओर संकेत किया। भक्ति सूत्रों में भी प्रेम के तत्व पर बल दिया गया है।[4] जब प्रेम की वृत्ति भक्ति में समाविष्ट हो गयी तो शास्त्र के नियंत्रण की बात आना भी स्वाभाविक थी। संसार भर के धर्मशास्त्रों ने प्रेम-व्यापार की गतिविधियों पर किसी न किसी प्रकार से नियंत्रण रखना चाहा है। समाज ने भी विवाह की संस्था के द्वारा इसको नियंत्रित करने की चेष्टा की है। इस प्रवृत्ति पर नियंत्रण रखने का उद्देश्य यह हो सकता है कि प्रेम इतनी मौलिक और सबल वृत्ति है कि अपनी तीव्रता में समाज के अभिप्रायों का अतिक्रमण कर सकता है। इस नियंत्रण के आधार पर प्रेम के दो रूप हो जाते हैं। एक वैधी-भक्ति और दूसरी रागानुगा-भक्ति। श्रीरूपगोस्वामी ने यह विभाजन किया है।[5] वैधी-भक्ति शास्त्र सम्मत प्रेम के रूप का अनुसरण करती हुई भगवदोन्मुख होती है। रागानुगा-भक्ति में समस्त शास्त्रीय मर्यादाओं का उल्लंघन होता है। इसके मूल में धारणा यह है कि विधिविधान का बंधन लौकिक प्रेम को ही नियंत्रित कर सकता है। जो प्रेम लोक की भौतिक सीमाओं से परे हो गया वह

[1] अनवरत-स्तुति-स्मृति-नमस्कृति-वन्दन-यतन-
कीर्तन-गुणश्रवण-वचन ध्यानार्चन-प्रणामादि।
—वेदार्थ सग्रहः, पृ० १४९

[2] तत्वदीप निबंध, शास्त्रार्थ प्रकरण, श्लोक ५३

[3] साधनादि प्रकारेण नवधा भक्ति मार्गतः।
प्रेम-पूर्त्या स्फुरद्धर्माः स्पन्दमानाः प्रकीर्तिताः ॥१०॥
—जलभेद

डा० दीनदयालु गुप्त कृत अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, पृ० ५२१ पर उद्धृत।

[4] सा त्वस्मिन् परम प्रेम रूपा—नारदभक्ति सूत्र, श्लोक २
माहात्म्य ज्ञान पूर्वस्तु सुहृढः सर्वतोऽधिकः स्नेहो भक्तिरिति
—नारदपंचरात्र

सापुरानुरक्तिरीश्वरे—शांडिल्य भक्तिसूत्र, श्लोक २

[5] वैधी रागानुगा सा द्विधा साधनाविधि।
—"हरिभक्तिरसामृतसिंधु", पूर्वविभाग, लहरी २, श्लोक ३.

स्वयमेव नियंत्रित हो गया। उसको किसी बाह्य नियंत्रण की आवश्यकता नहीं। इसलिये चैतन्य सम्प्रदाय में मर्यादाओं का उल्लंघन प्रेममूलक भक्ति-साधना का एक अनिवार्य अंग बन गया। इस रागानुगाभक्ति में नवधाभक्ति भी किसी न किसी प्रकार समाविष्ट हो जाती है।

तेलुगु क्षेत्र जिन आचार्यों से प्रभावित हुआ उन्होंने सिद्धान्त रूप से रागानुगा भक्ति को स्वीकार नहीं किया था। पर इतना अवश्य है कि "आळ्वार-प्रबंधम्" साहित्य में प्रेमा भक्ति के स्वतः-मुखर तत्व अवश्य हैं। बंगाल में रागानुगा भक्ति के साथ परकीयाभाव को प्राधान्य मिला था क्योंकि इसमें शास्त्रीय मर्यादाओं और समाज की विवाह-संस्था दोनों का ही पूर्ण खंडन हो जाता है। बंगाल का प्रभाव क्षीण और प्रच्छन्न रूप से ही आलोच्ययुग के साहित्य को प्रभावित कर पाया। राम-भक्ति धारा तो स्वभावतः ही वैधीभक्ति के अनुकूल थी। कृष्णभक्ति साहित्य में भी तेलुगु कवियों ने प्रचुर शृंगार तत्वों के नीचे विवाह की मर्यादा रखना आवश्यक समझा। इसलिये कृष्ण की गोपी लीलाओं की स्वीकृति सामान्यतः तेलुगु कवियों में नहीं दिखलाई पड़ती। कवियों ने इस भक्ति के रूप का निरूपण भी किया है तो अपवाद रूप में, अथवा रूपांतरण की आवश्यकता से प्रेरित होकर ही। इसलिये कृष्ण की शृंगार लीलाओं में भी उन्होंने द्वारका क्षेत्र को ही चुना। प्रेमाभक्ति का क्षेत्र ब्रज ही माना जा सकता है।

जहाँ तक आलोच्ययुग के हिन्दी कवियों का प्रश्न है प्रेमाभक्ति के ये दोनों रूप प्रचलित रहे। रामभक्ति-शाखा में तो नवधा और वैधीभक्ति प्रचलित रही ही, अपवाद रूप से रसिक संप्रदाय ने रामभक्ति के साथ कुछ मर्यादाओं के उल्लंघन का तत्व जोड़कर उसे अवैधी भक्ति में परिणत करने की चेष्टा की। इस संप्रदाय पर कृष्णभक्ति-शाखा का ही प्रभाव माना जा सकता है। कृष्णभक्ति-शाखा में प्रेमाभक्ति ही प्रमुख रूप से रही। पर स्पष्ट रूप से उतनी दृढ़ता के साथ परकीयाभाव को नहीं अपनाया गया जितनी दृढ़ता के साथ चैतन्य संप्रदाय में। राधा, गोपी और कृष्ण के सम्बन्ध को स्वकीय सिद्ध करने के लिये कई प्रकारों से काम लिया गया। इस प्रकार झुकाव तो स्वकीया की ओर ही रहा, पर शास्त्रीय विधि-विधान की उपेक्षा माधुर्य लीलाओं के विवरण में सर्वत्र दिखलायी देती है। आलोच्ययुग की पृष्ठभूमि में निर्गुण संप्रदाय के कबीर आदि भक्तों ने जीवात्मा और भगवान के बीच के प्रेम-सम्बन्ध को स्वकीया ही कहा और सती के आदर्श को ही सर्वोपरि आदर्श माना। प्रेमगाथाकारों ने भी परकीया प्रेम को अपने साहित्य में स्थान नहीं दिया। सभी प्रेमकथाओं में वैवाहिक प्रेम ही सिद्ध होता है। मीरा ने मर्यादाओं का उल्लंघन भी किया और उसके प्रेम की रूपरेखा भी परकीया तत्व की झलक लिए हुई है। सूर इत्यादि अष्टछाप के कवियों ने प्रेमाभक्ति को तो महत्व दिया पर उसे स्वकीया के रूप में ही ढाल दिया। अन्य सम्प्रदायों में परकीया और स्वकीया पर स्पष्ट विचार नहीं किया गया।

इस विवेचन से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वैधी और रागानुगा भक्ति के आधार पर आलोच्ययुग के हिन्दी और तेलुगु साहित्य को अलग अलग किया जा सकता है। हिन्दी क्षेत्र में रागानुगा भक्ति का प्राधान्य रहा और तेलुगु क्षेत्र में समाजसम्मत वैधी-भक्ति का। नवधा भक्ति एक ऐसा सामान्य धरातल है जहाँ पर भारतवर्ष के सभी संप्रदाय समान हैं। किसी न किसी रूप में नवधा भक्ति की मनोवैज्ञानिक-भावभूमि और उससे प्रेरित क्रियायें सभी संप्रदायों में स्वीकृत हैं। नीचे इस पृष्ठभूमि को स्पष्ट करने के लिये हिन्दी और तेलुगु के कवियों के कुछ उदाहरण दिये गये हैं।

तुलसी ने नौ प्रकार की भक्ति को स्वीकार किया है।[1] किन्तु तुलसी की नवधा-भक्ति की सूची भागवत की सूची से नहीं मिलती। यह सूची इस प्रकार है:— सतसंग, रामकथाप्रेम और गुरुसेवा, अमान, गुणगान, भजन, वैराग्य, जगत को सियाराममय देखना, संतोष तथा छलहीनता।[2] इसमें सदाचार आदि तत्वों को भी सम्मिलित कर लिया गया है। नवधाभक्ति की क्रियाओं को भी इसमें स्थान मिला है। इस सूची में आचार-नीति और भक्ति के व्यावहारिक पक्ष का स्वस्थ समन्वय है। एक स्थान पर सम्भवतः भागवतोक्त नवधा भक्ति की ओर भी तुलसी ने संकेत किया है।[3] पर उस समस्त सूची को दुहराया नहीं गया है। भक्ति के प्रकारों में तुलसी ने यही योगदान दिया कि सदाचार को उनके साथ संयुक्त कर दिया। रागानुगा भक्ति की ओर उनकी प्रगति नहीं हुई क्योंकि उनका आराध्य राम मर्यादापुरुषोत्तम थे।

कृष्णभक्ति शाखा के हिन्दी कवियों ने सदाचार या नैतिक जीवन के तत्वों को भक्ति के प्रकारों के साथ समन्वय नहीं किया। इनकी प्रगति रागानुगा भक्ति की ओर हुई। सूरदास ने प्रेम को बहुत महत्व दिया। इसी पद्धति से राधा-कृष्ण की प्राप्ति हो सकती है।[4] अष्टछाप के अन्य कवियों ने भी प्रेम पर ही बल दिया।[5] दास्य और सख्य के साथ वात्सल्य और मधुर भावों को भी उपासना का माध्यम माना गया है।

[1] रामचरितमानस, अरण्यकांड १५/३,४

[2] वही, ३४ दोहे के नीचे।

[3] श्रवनादिक नवभक्ति दृढाहीं। —"रामचरितमानस" अरण्यकांड (१५)/४

[4] प्रीति-बस स्याम है रावरंक कोउ, पुरुष कै नारि नहिं भेदकारी।
प्रीति-बस देवकी गर्भ लीन्हौ बास, प्रीति कै हेत ब्रज वेष कीन्हौं॥

× × ×

प्रीति कैं हेतु सूरज-प्रभुहिं पाइये प्रीति कैं हेतु स्याम-स्यामा॥

—सूरसागर, २०१७ पद।

[5] प्रेम एक इक चित्त सों, एकहिं संग समाइ।
गंधी को सौदो नहीं जन जन हाथ बिकाइ॥ —नंददास, रूपमंजरी, पृ० १७

वात्सल्य और मधुर को सम्मिलित करके प्रेमरूपा या प्रेमलक्षणा भक्ति कहा गया। अष्टछाप के कवियों द्वारा प्रेम का महत्व प्रतिपादित करना सांप्रदायिक दृष्टि से ही है। प्रेम को जोड़कर ही भक्ति दशधा हो जाती है। सूर ने दस प्रकार की भक्ति का उल्लेख किया है।[1] परमानंद दास जी ने दशधा भक्ति के आदर्शों की भी सूची जोड़ी है। वह इस प्रकार है :—[2]

श्रवण—परीक्षित	वंदन—सुपलकसुत
कीर्तन—शुकदेव	दास्य—हनुमान
स्मरण—प्रह्लाद	सख्य—अर्जुन
पादसेवन – कमला	आत्मसमर्पण—बलि
अर्चन—प्रधु	प्रेमासक्ति—गोपियाँ

इस प्रकार गोपियों के आदर्श पर चलने वाली माधुर्य भक्ति की मान्यता वल्लभ संप्रदाय में हुई। गोपियों को परमानंददास ने प्रेम की ध्वजा कहा है।[3] नंददास ने प्रेमभाव के वश में ही भगवान को माना है।[4] नवधाभक्ति के श्रवण, कीर्तन और स्मरण के लिये नाम के आधार की आवश्यकता सूर ने मानी है। यह नाम संसार-सागर से पार जाने की नौका है।[5] प्रेमाभक्ति के संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों का उल्लेख इन कवियों ने किया है। संयोगपक्ष में लोकलाज और मर्यादा का ध्यान छूट जाता है। यह तत्व सूर आदि सभी अष्टछापी कवियों ने ग्रहण किया है।[6] वियोग-पक्ष प्रेम की उत्पत्ति[7] और उद्दीपन[8] का कारण है। इस प्रकार के सिद्धान्त

[1] स्रवन, कीरतन, स्मरन, पादरत, अरचन, बंदन, दास।
सख्य और आत्म-निवेदन प्रेम लच्छना जास॥ —सूरसारावली, ११६

[2] परमानंदसागर, ३१४ पद

[3] गोपी प्रेम की ध्वजा।
जिन गोपाल कियो बस अपने उरधरि स्याम भुजा। —परमानंदसागर, ८२५ पद

[4] नित्य आत्मानन्द, अखंड सरूप उदारा।
केवल प्रेम सुगम्य, अगम्य, अवर परकारा॥ —सिद्धान्तमंजरी नंददास, पृ० १६१

[5] भाव अंबोधि, 'नाम-निज नौका", सूरहिं लेहु चढ़ाइ॥ —सू० सा०, १/१५५

[6] लोक-सकुच कुल-कानि तजी।
जैसे नदी सिंधु कौं धावै, वैसैं हिं स्याम भजी।
मातु पिता बहु त्रास दिखायौ नैंकु न डरी, लजी।
हारि मानि बैठे, नहिं लागति, बहुतै, बुद्धि सजी।
मानति नहीं लोक-मरजादा, हरि कैं रंग मजी।
सूर स्याम कौं मिलि, चूनौ-हरदी ज्यों रंग रजी॥ —सू० सा० पद १६३१

[7] बिरह, दुख जहँ नाहिं नैंकहुँ, तहँ न उपजै प्रेम। —सू० सा० पद, ३४१३

[8] उधौ बिरहौ प्रेम करे।
× × ×
सूर गुपाल प्रेम-पथ चलिकरि, क्यों दुख सुखनि डरै॥
—सूर सागर पद ३९८६

परमानंददास[1] और नंददास[2] ने भी माने हैं। इस प्रकार नवधा भक्ति से प्रेमाभक्ति की ओर निश्चित रूप से अष्टछाप के कवि गतिशील हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इसी प्रेममूला भक्ति में सभी उपासना-पद्धतियों का समावेश हो गया।

भक्ति के उक्त प्रकारों के अतिरिक्त स्वभाव और वृत्ति के अनुसार भक्ति के चार प्रकार और हैं :—तामसी, राजसी, सात्विकी और निर्गुण या निष्काम भक्ति।[3] इनमें से निष्काम भक्ति सुधारक-भक्ति कहा गया है। यह निष्काम भक्त मुक्ति की भी कामना नहीं करता, केवल-भगवत-दर्शन उनका लक्ष्य होता है।[4] तुलसीदासजी ने भी निष्काम भक्त के हृदय में भगवान का निवास माना है।[5]

बृन्दावन के संप्रदायों में भी नवधा भक्ति की अपेक्षा प्रेम को ही अधिक महत्व दिया गया। नवधाभक्ति को वल्लभ-संप्रदाय की भाँति राधावल्लभ संप्रदाय में भी आरंभिक साधना के रूप में माना गया है।[6]

तेलुगु क्षेत्र में प्रेमाभक्ति का इतना विशदीकरण नहीं मिलता जितना हिन्दी क्षेत्र के भक्त कवियों में। जैसा कि पहले देखा जा सकता है, श्रीरामानुज ने नवधा भक्ति की चर्चा की है और भागवत में तो इसका पूर्ण निरूपण ही है। इन्हीं दो स्रोतों से आलोच्य युग के वैष्णव-भक्त कवियों ने नवधा भक्ति का उल्लेख किया है। पोतना ने प्रह्लाद-प्रसंग में नवधाभक्ति का उल्लेख किया है।[7]

[1] परमानंद सागर, १९३ पद

[2] दशमस्कंध, पृ० ३०४

[3] सू० सा०, पृ० ३/१३

[4] निर्गुन मुक्तिहुं को नहिं चहै।
मम दरसन ही तैं सुख लहै। —सू० सा० ३/१३
इन चारों प्रकार की भक्ति का स्रोत श्रीमद्भागवत ही है।
—श्रीमद्भागवत ३/२९ श्लोक ७ से १४ तक

[5] बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महुं करउं सदा बिश्राम॥ —रा० च० मा० अरण्यकाड, १६

[6] साधन विविध प्रयास तें सकल विहावहीं।
श्रवन कथन सुमिरन सेवन चित लावहीं॥
अर्चन बंदन अरु दासन्तन सख्य और आत्मसमर्पण।
ये नव लक्षण भक्ति बड़ाई तब तिन प्रेम लक्षणा पाई॥
—सेवक वाणी (श्रीहित ध्यान प्रकरण), पृ० १२५

[7] तनुहृद् भाषल सख्यमुन् श्रवणमुन् दासत्वमुन् वंदना-
र्चनमुल् सेवयु नात्मलो नेरुंक्यु संकीर्तनल चिंतनं
बानुनीतोम्मिदि भक्ति मार्गमुल सर्वात्मुन् हरिन् नम्मि स-
ज्जनुडै युंडुट भद्रमंचु दलतुन् सत्यंबु दैत्योत्तमा। —ते० भा० ७/१६७

अन्नमाचारी भी नवधाभक्ति की ओर संकेत करते हैं, पर उन सब के परि-गणन और निरूपण में रुचि नहीं लेते ।[१]

भक्ति का भागतोक्त चतुर्विधि वर्गीकरण भी पोतना के भागवत में मिलता है । केवल निष्काम भक्ति को उन्होंने "आत्यंतिक" नाम दिया है ।[२] इन्होंने भी आत्यंतिक भक्ति को सर्वश्रेष्ठ कहा है । श्री अन्नमाचारी ने भक्ति के प्रकारों का मिश्रित रूप इस प्रकार प्रस्तुत किया है ।[३] "मनुष्यों के विभिन्न प्रकार के भक्ति-मार्ग हैं । किसी भी बहाने से यदि कोई मनुष्य भगवान के प्रति भक्ति प्रदर्शित करता है तो भगवान उसे अवश्य स्वीकार कर लेते हैं । हरि के पक्ष में रहकर वादविवाद करना उन्माद-भक्ति है । दूसरों पर आश्रित न रहना ही पतिव्रता भक्ति है । प्रयत्न से आत्म-साक्षात्कार पाना ही विज्ञान-भक्ति है । अहं का परित्याग करके आनंद का अनुभव करना ही आनंद-भक्ति है । अत्यन्त साहस से की जाने वाली भक्ति राक्षसा-भक्ति है । भगवत्सेवकों की सेवा करना ही तुरीय-भक्ति है । फलापेक्षा से की जाने वाली भक्ति ही तामसिक-भक्ति है । भगवान को ही सर्वस्व मानने वाली भक्ति ही वैराग्यभक्ति है । अहं को त्यागे बिना की जाने वाली भक्ति ही राजसाभक्ति है । भगवत्शरण में जाना ही निर्मला-भक्ति है । दृढ़ता से श्री बालाजी का कैंकर्य करके जो भक्ति की जाती है वही सच्ची भक्ति है ।"

गीता में भक्तों के आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी भेद भी दिये गये हैं ।[४] भगवान को ज्ञानी भक्त सबसे अधिक प्रिय है ।[५] तुलसी ने गीता का अनुसरण करते हुये ज्ञानी भक्त को राम का सबसे अधिक प्रिय भक्त माना है ।[६]

चैतन्य संम्प्रदाय में भक्ति के और भी विस्तृत भेदोपभेद कहे गये हैं ।[७] किन्तु तेलुगु क्षेत्र पर इस विस्तृत भक्ति के प्रकारों ने कोई सीधा प्रभाव नहीं डाला । हिन्दी में कुछ चैतन्य संप्रदाय के कवि अवश्य हुये हैं ।[८] इन पर भक्ति के चैतन्य संप्रदाय

---

[१] आ० सं० की०, वा० ९/पद १९०

[२] ते० भा० ३/९५३; ३/९५४; ३/९५५; ३/९५७, ९५८

[३] आ० सं० की०, "नाना भक्तुलवि नरुल मार्गमुलु" वाला पद ।

[४] श्रीमद्भगवदगीता, ७/१६

[५] वही, ७/१७

[६] राम भगत जग चारि प्रकारा । सुकृती चारिउ अनघ उदारा ॥
चहू चतुर कहुं नाम अधारा । ग्यानी प्रभुहि बिसेषि पियारा ॥
—रामचरितमानस

[७] जीवगोस्वामी और रूपगोस्वामी ने "भक्तिरसामृतसिंधु" में ८४ भक्ति के प्रकार दिये हैं ।

[८] श्रीप्रभुदयाल मीतल ने इस संप्रदाय के १२५ कवियों की खोज की है । (चैतन्यमत के ब्रजभाषा साहित्य के शोध, हिन्दी अनुशीलन, धीरेन्द्रवर्मा विशेषांक, पृ० ४०५-४१४)

सम्मत रूपों का प्रभाव अवश्य है, पर सूक्ष्म भेदोपभेद के चक्कर में ये भी नहीं पड़े। इन्होंने केवल रागानुगा भक्ति को अपनाया और उसको साहित्य में विविध प्रकार से वर्णित किया है।

३.५.ट. भक्तों के लक्षण

भक्तों के लक्षण-निरूपण में भी श्रीरामानुज ने भावात्मक पृष्ठभूमि रखी थी। भगवान के साथ भक्तों को एक रागात्मक संबंध रखना पड़ता है। यह संबंध भक्त के अन्तर्बाह्य को यदि भावाकुल न कर दे तो भक्त और भगवान के संम्बन्ध में कुछ विकलता समझनी चाहिये। इसलिये भक्त का प्रथम लक्षण यह है कि भगवन्नाम और उनकी दिव्य लीलाओं के स्मरण, गायन और कीर्तन से उसके अंग-प्रत्यंग में अनुभावों का स्फुरण हो जाना चाहिये।[1] इसी प्रकार का भावावेशात्मक लक्षण तुलसीदासजी में भी है। राम ने स्वयं कहा है कि जो भक्त मेरे स्मरण आदि से सात्विकादि चेष्टाओं से युक्त हो जाता है, उसके हृदय में मेरा निवास है—

"मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाकें। तात निरंतर बास मैं ताकें॥[2]

पोतना ने भी इसी भावात्मक लक्षण पर बल दिया—"हरिभक्त भगवान के अवतारों की शौर्यमय लोक-कल्याणकारक लीलाओं और भक्तवत्सलता आदि सद्गुणों का स्मरण करके साश्रु नयन हो जाता है। उसका शरीर पुलक-विह्वल होकर उल्लास की अभिव्यक्ति करता है। थोड़ी देर तक तो वह एक दिव्य उन्माद की अवस्था में रहता है—

सी॥

दनुजारि लीलावतारंबुलंदलि शौर्य कर्म बुलु सद् गुणमुलु।
विनि भक्तुडगुवाडु वेड्कतो बुलकिंचि कन्नुल हर्षाश्रुकणमुलोलुक।
गद्गद स्वरमुतो गमलाक्ष वैकुंठ वरद नारायण वासुदेव।
यनुचु नोत्तिलि पाडु नाडु नाक्रोशिंचु नगु जितनमुसेयु नति योनर्चु।

ते॥

मरलु कोनियुंडु तनलोन माटलाडु
वेल्पु सोकिन पुरुषुनि वृत्ति दिरुगु॥[3]

इस भावात्मक लक्षण का स्रोत "श्रीमद्भगवद् गीता" में ही दिखलाई पड़ता

[1] मदगुणविशेषवाचीनि मन्नामानि स्मृत्वा पुलकित सर्वाङ्गा
हर्षगद्गदकंठा : श्रीराम-नारायण-कृष्ण-वासुदेवेत्येवमादीनि सततं कीर्त्तयन्त :॥
—गीतायाम्रामानुज भाष्यम्, ६/१४

[2] रामचरितमानस, अरण्य कांड (१५)/ ६

[3] ते० भा० ७/२४०; ते० भा० ३/६४ पद्य भी इस के लिये द्रष्टव्य है।

है। स्वय भगवान ने सब प्रकार के भावों से युक्त होकर सोत्साह भजन करने की बात कही है।[1]

भावात्मक लक्षणों के अतिरिक्त भक्तों की अविकृत मानसिक अवस्था और जीवन-चर्चा की अनुकूलता और साधारणता को ध्यान में रखकर भी कुछ लक्षण प्रस्तुत किये गये। इस लक्षण-निरूपण पर "गीता" में कहे हुये जीवन्मुक्त (स्थितप्रज्ञ) के लक्षणों का प्रभाव हो सकता है। तुलसी ने सन्त के लक्षण इसी प्रकार बताये हैं। भक्त विकारों से पीड़ित नहीं होता, ज्ञानवान होता है और बहुत बड़ी बड़ी इच्छाओं से भी आकुल नहीं होता।[2] उसके त्याग, वैराग्य और रागद्वेष से परे होने की बात भी तुलसी ने कही है।[3] साथ ही उसमें इतना विवेक होता है कि गुण और द्वेष को पृथक् करके गुण को ग्रहण करता है।[4] शत्रुता और मित्रता का भी अन्तर वे नहीं करते। समान रूप से सबका कल्याण उनका लक्षण होता है।[5] तुलसी की भाँति ब्रजभाषा के कवियों ने भी ऐसे लक्षण दिये हैं।

तेलुगु के कवियों ने भी सन्तों का लक्षण-निरूपण किया है। पोतना के अनुसार भक्तों में स्व-पर वाली द्वैत भावना नहीं रहती।[6] पोतना के अनुसार भक्त समस्त सृष्टि को भगवानमय देखता है।[7] तुलसी ने भी संसार को "सियाराममय" माना है।[8] भक्त केवल भगवान के चरणों में प्रेम रखने का अभिलाषी होता है।[9] भक्त समबुद्धिवाला भी होता है और जो कुछ प्राप्त हो जाय उसी में संतुष्ट रहता है। ये भक्त संसार में पुण्यतीर्थों के समान हैं।[10] तुलसी ने भी "जे जग जंगम तीरथराजू" कहकर इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है। पोतना ने चित्रकेतु की कथा में भक्त के लक्षणों की व्याख्या की है:—

[1] मद् भक्तः मामेव सर्वप्रकारैः सर्वात्मना सर्वोत्साहेन भजते—"श्रीमद्भगवदगीता"।

[2] "रामचरितमानस" अरण्य कांड (४४)/४

[3] वही, उ० (३७)/१

[4] वही, बाल० ६

[5] अंजलिगत सुभ सुमन जिमि सम सुगंध कर दोइ ॥—"रामचरितमानस" बालकांड, —३ (क)

[6] नात्मपरभेदबुद्धि येंदैनगलदे, पुंडरीकाक्ष गोविन्द भुवनरक्ष —ते० भा० ११, उत्तरार्द्ध / ७६४

[7] ते० भा० ,११/४७

[8] सियाराममय सब जग जानी। करहुं प्रनाम जोरि जुग पानी ॥

[9] ते० भा० ११/४८

[10] ते० भा० ११, उत्तरार्द्ध /१२२६

सी

> वासिंचु नातमलो वैष्णवज्ञानंबु, नाशिंचु भागवतार्चनंबु
> भूषिंचु ने प्रोद्दु बुंडरीकाक्षुनि, भाषिंचु हरिकथा प्रौढ़ि मेरसि
> घोषिंचु हरिनामगुण निकायंबुलु, पोषिंचु बर तत्व बोधमरसि।
> सेविंचु श्रीकृष्ण सेवक निकरंबु सुखमुनजेयु नीशुनकुबलुलु ॥

ते ॥

> पाडुबाडिचु वैकुंठ भर्त नटन, रूपवर्तनगुणनाम दीपितोरु
> गीतजात प्रबंध संगीत विघुल, गेशव प्रीतिगा जित्रकेतुडपुडु ॥[1]

पोतना ने अन्यत्र भी भक्तों के ये लक्षण बताये हैं :—अन्यों की निन्दा न करना, सत्सांगत्य, सात्विक आहार का सेवन, समाधि-निष्ठता, विष्णु के अतिरिक्त पर प्रपंच से पूर्णतः पराङ्मुख रहना[2], श्रुतियों के सार से ज्ञात होना, भगवत-भजन में तत्पर होना, आत्मानन्द में डूबे रहना, हरिचरणों का सतत ध्यान करना, सतत भगवान की महिमाओं का भाषण करते रहना,[3] मदिरापान से उन्मत्त व्यक्ति का भाँति नश्वर शरीर पर पूर्णतः निरासक्त होकर आत्मानन्द का अनुभव करना, वैराग्यपूर्ण जीवन व्यतीत करना[4] आदि।

अन्नमाचारी ने भी निन्दास्तुति में समबुद्धि रखना भक्त का लक्षण बताया है। सभी अवस्थाओं में भक्त हर्षपूर्वक रहता है।[5] भक्त का मन चंचल नहीं होता उसकी समस्त वृत्तियाँ इष्टोन्मुख रहती हैं। समस्त विकारों से वह रहित होता है।[6] अन्नमाचारी के अनुसार भक्तों के लक्षण इस प्रकार हैं:—सत्यसम्पन्नता, परनिन्दा नहीं करना, समस्त भूतों के प्रति दया और प्रेम का रहना, अन्यों के कष्ट-सुखों को अपने कष्ट-सुखों के समान देखना, हरिभक्ति का विस्मरण नहीं करना, विषय-वासनाओं से पूर्णतः वैराग्य, कैंकर्य भाव से श्रीबालाजी की शरण में जाना[7] आदि। इस प्रकार के लक्षण करके श्री अन्नमाचारी जी ने भी सामान्य भक्त-लक्षण-निरूपण की पद्धति का समर्थन किया।

[1] तै० भा० ७/४८५; ७/८६६ पद्य भी इस के लिये द्रष्टव्य हैं।
[2] वही, १/४६७
[3] वही, ६/१८६
[4] वही, ३/६४५
[5] आ० सं० की०, वा० २/पद १५१
[6] वही, वा० ५/पद १०६
[7] वही, ताम्रपत्र ४७

उनके पुत्र पेदतिरुमलाचारी ने भी ऐसा ही लक्षण-निरूपण किया है।[१] इन्होंने भी शत्रु-मित्र में समबुद्धि रखने पर बल दिया है।

३.६. निष्कर्ष

तेलुगु क्षेत्र में आलोच्ययुग के वैष्णव कवियों पर विशेष प्रभाव श्रीसंप्रदाय का ही था। इस प्रभाव का यह तात्पर्य नहीं कि समस्त सांप्रदायिक सिद्धातों को काव्य में स्थान मिला हो। इन सिद्धांतों ने भक्त कवियों की भाव-धारा को दिशा और उनकी रूप-कल्पना को आधारभूत सामग्री प्रदान की। हिन्दी क्षेत्र में निंबार्काचार्य, वल्लभाचार्य, चैतन्य, श्रीहितहरिवंश, श्रीहरिदासजी का प्रभाव पड़ा। श्रीसंप्रदाय का प्रभाव हिन्दी शाखा की केवल रामभक्तिशाखा पर राघवानंद और रामानंद के माध्यम से पड़ा। पर इन संप्रदायों के भेद-प्रभेदों के आधार पर हिन्दी-तेलुगु क्षेत्र के भक्त कवियों को पृथक नहीं किया जा सकता। क्योंकि इन दार्शनिक भेदों के नीचे कुछ ऐसी अंतर्भूमियाँ हैं जहाँ पर भक्ति के मूलउत्सों की समानता ही मिलती है। भक्ति की इन मूलभावधाराओं के संबन्ध में प्रायः सभी आचार्य और सभी भक्त कवि एक थे। भक्ति-आंदोलन की यही मूल-प्रेरणा थी जो वैयक्तिक और सामूहिक भावात्मक प्रतिक्रिया को अनुप्राणित करती रही। वस्तुतः यही वह सूत्र है जो भारत के सभी भागों के भक्त कवियों को एक कर रहा है।

विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि ने दर्शन की धारा को मोड़ तो दिया था, पर उसकी दुरूहता, किसी भी प्रकार कम नहीं हुई थी। इस दर्शन को लोकग्राह्य बनाने के लिये कुछ नवीन स्रोतों की सामग्री का उपयोग आवश्यक था। यह नवीन स्रोत या तो "भागवत" जैसे अवतार-दर्शन से युक्त पुराणों में मिल सकता था अथवा निश्छल भावावेश और लोकसाहित्यिक अभिव्यक्ति के लिये लोकगत स्रोतों की खोज हो सकती थी। इन दोनों ही स्रोतों का उपयोग वैष्णव-आचार्यों ने किया। दक्षिण में आळ्वार-साहित्य लोकधारा का वैष्णवीकृत रूप ही था। बंगाल में सहजयान के लोकमान्य तत्वों ने सहजिया-रूप धारण किया और फिर उस के मधुर वैष्णव-संस्करण के आधार पर संप्रदाय बना। इस प्रकार नवीन स्रोतों की जीवंत सामग्री ने दर्शन को एक नवीन संस्पर्श और किरणोज्ज्वल स्फरण प्रदान किया। कहने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दी और तेलुगु क्षत्र के सभी वैष्णव कवियों ने इसी सामग्री पर वैष्णव-साहित्य का अद्वितीय संविधान किया। इसके स्वर्णिम प्रकाश-सूत्र जीवन के दिगंत में एक नवप्रभात की सूचना देनेवाले आशाभ किरणजाल की भाँति व्याप्त हो गये। यह साहित्य मानस की अतल गहराइयों से संबद्ध होकर युग-युग का भावशृंगार बन गया। इन्हीं स्रोतों की सामग्री को काव्य में कुछ काव्यशास्त्रीय परिणतियों के साथ साहित्य ने ग्रहण करके भक्ति और साहित्य की समन्वित धारा प्रवाहित की।

"नीतिशतकमु", पद्य ४२, ७२

चतुर्थ अध्याय

वैष्णव दर्शन

४.१. प्रस्तावना

तृतीय अध्याय में हिन्दी तथा तेलुगु-क्षेत्र के साहित्य को प्रभावित करनेवाले भक्ति-संप्रदायों की दार्शनिक विचारधारा और साधना-पद्धति का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया है। इस विवरण से कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। भक्ति-सम्प्रदायों से सम्बद्ध आचार्यों के दो वर्ग किये जा सकते हैं :—प्रवर्तक आचार्य तथा इनकी परम्परा में आनेवाले परवर्ती व्याख्याता और भाष्यकार आचार्य। दक्षिण के चार प्रमुख प्रवर्तक आचार्यों ने शंकर-अद्वैतवाद का खंडन अपनी प्रमुख प्रतिक्रिया रक्खी। सभी आचार्यों के सम्बन्ध में अद्वैतवादियों को परास्त करने के सम्बन्ध में अनेक घटनायें अनुश्रुतियों की शैली में प्रचलित हैं। जिस प्रस्थानत्रयी के आधार पर अद्वैतवाद की स्थापना हुई थी, उसी के आधार पर एक नवीन दृष्टिकोण से भक्तिदर्शन की पृष्ठभूमि प्रस्तुत की गयी। इन आचार्यों की यह स्थापना थी कि अद्वैत अपने शुद्ध रूप में मूलस्रोतों के आधार पर सिद्ध नहीं होता। उसके साथ वैशिष्ठ्य जोड़े बिना वह न ग्राह्य है और न लोकरंजक। इस दृष्टि से अद्वैतवाद का खंडन करके चारों प्रमुख आचार्यों ने उसे विशिष्ट बनाया। यह सब करने में एक जटिल दार्शनिक ऊहापोह भी आवश्यक हो गया और नवीन दार्शनिक उद्भावनाओं की पुष्टि के लिये एक सुदृढ़ तर्क-पद्धति का भी प्रयोग किया गया।

उक्त दार्शनिक ऊहापोह ने साम्प्रदायिक वैष्णव कवियों को अवश्य प्रभावित किया। भक्तिरस के आलंबन-विभाव को अवतरित ब्रह्म के रूप में ग्रहण करके उसके सौन्दर्य-माधुर्य और अनुकंपा आदि लोकोद्धारक गुणों का गायन भी किया गया और उनकी अवतरित लीलाओं के सौदर्यबोध और उनके दिव्य आत्मचुंबी प्रभावों का निरूपण करके एक अलौकिक रस-पद्धति की स्थापना भी की गयी, किन्तु दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रत्यक्ष अनुकथन इस भक्ति रसात्मक साहित्य की सरस-धारा में न उचित था, न सम्भव ही। हिन्दी और तेलुगु दोनों क्षेत्रों के वैष्णव कवियों ने दार्शनिक सिद्धान्तों का तर्काश्रित निरूपण नहीं किया। वैसे कुछ साहित्यांशों को सिद्धान्त-सर्मन्वित अवश्य कहा जा सकता है, पर न उसकी शैली ही दार्शनिक है और न उसमें खंडन-मंडन की प्रवृत्ति ही है। सिद्धान्त की तर्कपूर्ण स्थापना इस साहित्य का उद्देश्य नहीं

है, केवल सघनरस-पद्धति की ही एक झिलमिल दार्शनिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करना ही सिद्धान्त पदावली का उद्देश्य है। निर्गुण सम्प्रदाय के कवियों की सिद्धान्त-पदावली कुछ अधिक सिद्धान्तवादी है यद्यपि शैली की दृष्टि से उसमें भी प्रतीक और दार्शनिक अन्योक्तियों या रूपकातिशयोक्तियों का संभार उसे शुद्ध सिद्धान्त की कोटि से निकाल कर साहित्य की कोटि में ले आता है। पोतना आदि कुछ पुराणकारों ने पुराणोक्त दार्शनिक अंशों के रूपान्तरण के आग्रह से भी कुछ सिद्धान्तों का परिकथन किया है। इस दृष्टि से हिन्दी और तेलुगु कवियों द्वारा रचित सिद्धान्त-पदावली शुद्ध दर्शन नहीं बन गयी।

दोनों ही क्षेत्रों के भक्त-कवियों ने शुद्ध दार्शनिक व्याख्या को तो छोड़ा, पर भावात्मक साधना के उपकरणों का कुछ विश्लेषण अवश्य प्रस्तुत किया। साथ ही हिन्दी और बंगाल के क्षेत्र में कुछ ऐसे आचार्य भी हुये जिन्होंने भक्ति-रस का सिद्धान्त-शास्त्र बनाया। तेलुगु-क्षेत्र में लीलाशुक का साहित्य इसी प्रकार का भावतात्विक साहित्य कहा जा सकता है। पर इनको आचार्य की कोटि में नहीं रक्खा जा सकता। बंगाल के रूपगोस्वामी और जीवगोस्वामी तथा हिन्दी-क्षेत्र के श्रीहितहरिवंश और श्री हरिदास जी आचार्य कोटि में आ जाते हैं, चाहे इनकी मूल प्रेरणा भक्ति के प्रसिद्ध चार सम्प्रदायों में ही हो। पर कालान्तर में एक स्वतंत्र भावदर्शन के आधार पर स्वतन्त्र संप्रदायों के रूप में इनकी स्थापना हो गयी। हिन्दी और तेलुगु दोनों क्षेत्रों के कवियों ने इस भक्ति-दर्शन-शास्त्र से बहुत कुछ ग्रहण किया। उपर्युक्त विवेचन को यदि तालिका के रूप में प्रकट करना चाहें तो इस प्रकार कर सकते हैं :—

आचार्य
उद्भावक (श्रीरामानुज, श्रीनिंबार्क श्रीविष्णुस्वामी और श्रीवल्लभ)
व्याख्याता आचार्य
उद्भावकों की शिष्य-परम्परा
स्वतन्त्र आचार्यों की कोटि में आने वाले
उद्देश्य
अद्वैतवाद का खंडन
प्रस्थानत्रयी को महत्व देने वाले (श्रीवेदान्तदेशिक आदि)
लोक-रस-पक्ष को महत्व देने वाले (श्री पिल्लै लोकाचार्य श्रीराघवानंद, श्रीरामानंद आदि)
प्रस्थानत्रयी की नवीन व्याख्या
नवीन तर्क-पद्धति
नवीन भक्ति दर्शन की स्थापना
नवीन स्रोतों की खोज
शास्त्रकार आचार्य (जीवगोस्वामी और रूपगोस्वामी)
भागवत पुराण
लोकाश्रित
रस-संप्रदायों के संस्थापक आचार्य
सहजयान आळ्वार स्फुट लोक-साहित्य
श्रीचैतन्य श्रीहितहरिवंश श्रीहरिदास
शैवमत का खंडन
खंडन
समन्वय
वर्णव्यवस्था के संबंध में उदार (श्रीशठकोपाचार्य और श्रीराघवानंद)
वर्णव्यवस्था के समर्थक (वेदान्तदेशिक, तुलसी)

सारांश यह है कि उक्त सम्प्रदायों से प्रभावित आलोच्यकाल के वैष्णव-साहित्य में भक्ति-भावों का कलात्मक विस्तार ही अधिक है, दार्शनिक ऊहापोह का प्रतिबिम्ब कम ही है। फिर भी संक्षेप में आलोच्यकाल के वैष्णव-साहित्य में प्राप्त दार्शनिक विचारों का सर्वेक्षण करना नितांत आवश्यक है। इसी दृष्टि से इस अध्याय को प्रस्तुत किया जा रहा है।

४.२. ब्रह्म

४.२१. ब्रह्मतत्व

आलोच्ययुग के भक्त-कवियों के इष्टदेव सम्बन्धी विचार प्रायः एक से हैं। उपनिषदों में वर्णित निर्गुण, निर्विकल्प ब्रह्म के सभी विशेषणों का प्रयोग इन्होंने किया है। इससे ब्रह्म की व्यापकता सिद्ध हो जाती है। तुलसी ने ब्रह्म का निरूपण इसी रूप में किया है।[1] सूर ने "अविगत", "अनादि" आदि विशेषणों से ब्रह्म-संबन्धी कल्पना को विभूषित किया हैं।[2] पोतना ने इस रूप का विशद निरूपण किया हैं; उन्होंने उसको श्रुतियों से भी परे माना है। केवल भक्ति से वह प्राप्य है।[3] ब्रह्मादि देव भी उसके ज्ञान से अवगत नहीं हैं।[4] वही सब का मूलकारण परमतत्व है।[5] सभी रूपों से रहित होकर भी सभी रूपों में व्याप्त है।[6] सब में ब्रह्म ही व्याप्त है और सब कुछ ब्रह्म में ही स्थित है।[7] प्रह्लाद ने अपने पिता को ब्रह्म के इसी तत्व को समझाया था।[8] ब्रह्म अव्यक्त है, फिर भी विभिन्न प्राणियों के रूप में वही व्याप्त होता है और इस रूप में कर्मादि बंधनों से पूर्णतः मुक्त रहता है जैसे जल में प्रतिबिंबित पूर्णचन्द्रबिंब लहरों के व्याज से भ्रमवश चंचल-चपल दीखता है। **पर** वस्तुतः वह विचलित नहीं होता।[9] जिस प्रकार एक ही सूर्य समस्त जीव राशियों में प्रत्येक को

[1] एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा॥
व्यापक बिश्वरूप भगवाना। तेहिं धरि देह चरित कृत नाना॥
—रामचरितमानस, बालकांड, (१२)/२

[2] अविगत, आदि, अनन्त, अनूपम, अलख पुरुष अविनासी।
पूरनब्रह्म, प्रगट पुरुषोत्तम नित निजलोक विलासी॥
—सूर-निर्णय, पृ० १८६ पर उद्धृत

[3] ते० भा०, १० पूर्वार्द्ध/१२६

[4] वही, १० उ० / ८८

[5] वही, ८/७३

[6] वही, ८/८५

[7] वही, ६/४७९

[8] वही, ७/२७४

[9] ललित विलोल निर्मल जलप्रतिबिंबित पूर्णचन्द्रमं-
डलमु ददंबुचालन विडंबनहेतुबुनोंदियुन् विय
त्तलमुन गंपमोंदनि विधंबुन सर्व शरीर धर्म मुल्
गलिगि रमिंचु नीशुनकु गलगनेरवु कर्मबन्धमुल्॥
—ते० भा० ३/२४०

पृथक रूप से दृष्टिगोचर होता है, तथापि उसका एकत्व बाधित नहीं होता, उसी प्रकार एक ब्रह्म भी निज लीला-भेद से सब में प्रतिबिंबित होता हुआ भी एक ही बना रहता है।[1]

अन्नमाचारी भी कहते हैं कि हे परमतत्व ! तुम गुणातीत हो, अचिन्त्य हो, सर्वान्तर्यामी हो, इन्द्रियातीत हो, मैं तुम्हारी शरण में आता हूँ।[2] समस्त ग्रहनक्षत्र, कोटि कोटि ब्रह्मांड आदि सभी उस ब्रह्म पर आधारित हैं।[3] इस प्रकार हिन्दी और तेलुगु दोनों ही वैष्णव कवियों ने उपनिषदोक्त सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, अनादि, अनन्तरूपों को ग्रहण किया। पर इन विशेषणों के द्वारा उन्हें ब्रह्म का यह रूप अभीष्ट नहीं है। इस विशेषण-विधान में इनका लक्ष्य अपने अवतरित इष्टदेव की व्यापक पृष्ठभूमि देना ही है। अवतरित रूप में वह सगुण-साकार हो जाता है, फिर भी निर्गुणवादी उक्त विशेषणों का वह विशेष्य बना रहता है। यह प्रवृत्ति दोनों ही क्षेत्रों में समान है।

४.२२. सगुण-निर्गुण की एकता

तुलसी ने सगुण और निर्गुण को तत्वतः एक ही स्वीकार किया है।[4] किन्तु भक्ति के वशीभूत होकर जगत के कल्याण के लिये यही निर्गुण तत्व सगुण रूप धारण करता है।[5] सूर ने भी उपनिषदों के निर्गुण ब्रह्म को नंद-यशोदा के प्रेम से सगुण रूप में अवतरित माना।[6] पोतना ने निर्गुण, निर्विशेष की अनन्य भाव से भक्ति करनेवाले को सौभाग्यशाली कहा।[7] यही ब्रह्म समस्त शरीर-धर्मों को भी धारण कर सकता है और कण-कण में रमण भी करता रहता है। पर सगुण से

[1] वोक सूर्युडु समस्त जीवुलकु दानोक्कोक्कडै तोचुपो
लिक नेदेवुडु सर्वकालमु महालीलन् निजोत्पन्न स—
स्यकदंबंबुल हृत्सरोरुहमुलन् नानाविधानूनरू—
पकुडै योप्पुचु नुंडु नट्टिहरिने ब्राथितुं शुद्धंडनै ॥
—ते०भा०, १/२२६

[2] आ० सं० की०, वा० ६/१२२ पद

[3] वही, पद १९४

[4] सगुनहि अगुनहि नहिं कुछ भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा ॥
—रामचरितमानस, बालकांड, ११५ सोरठे के नीचे

[5] अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेमबस सगुन सोहोई ॥
—रामचरितमानस, बालकांड, ११५ सोरठे के नीचे

[6] वेद उपनिषद जस कहै, निर्गुण हि बतावै।
सोई सगुण होय नंद के दांवरी बंधावै ॥
—"सूर-निर्णय", पृ० १८६ पर उद्धृत

[7] ते० भा०, १० पू०/१२६

संबद्ध विकार इसमें व्याप्त नहीं होते ।[1] इस प्रकार निर्गुण को सगुण रूप में देखने की प्रवृत्ति भी पोतना में मिलती है । अन्नमाचारी ने लिखा है कि कुछ के लिये जो तत्व निर्गुण है, कुछ के लिये वही सगुण है । इन दोनों में कोई तात्विक अन्तर नहीं है । कभी जीव से वह अभिन्न प्रतीत होता है, कभी भिन्न ।[2] इस प्रकार सगुण और निर्गुण में भी तात्विक अभेद मानने में तेलुगु और हिन्दी कवि समान ही हैं । पेदतिरुमलाचारी ने भी भगवान को "उभयविभूतिनायक" अर्थात् सगुण और निर्गुण दोनों ही माना है ।[3] इन दोनों में एकता मानते हुये भी आलोच्य युग के सभी वैष्णव भक्त कवि सगुण की ओर आकर्षित रहे । इसका कारण यह था कि भक्ति-साधना इन्द्रिय वासनाओं के उन्नयन पर आधारित है । इन्द्रियों को साकार-विषय ही आकर्षित करते हैं । अतः केवल सांसारिक विषयों के लिये आध्यात्मिक स्थानापन्न निश्चित करना पड़ता है । सूर ने इसी आवश्यकता से प्रेरित होकर सगुण भाव के पदों का गायन किया ।[4] तुलसी ने भी अपनी आस्था सगुण के प्रति ही व्यक्त की है । चाहे कोई निर्गुणोपासना करे, पर तुलसी सगुणोपासना में ही अनन्य विश्वास रखते हैं ।[5] तुलसी ने अन्तर्यामी राम की अपेक्षा "बहिर्जामी" राम को अधिक महत्व दिया ।[6] पोतना के अनुसार वह निर्गुण तो है ही, पर सभी रूपों में वही साकार है । प्रह्लाद ने विष्णु के रूप में उसके सगुण रूप के ही दर्शन किये ।[7] यद्यपि पोतना आरम्भ में अद्वैतवादी दर्शन और उसमें मान्य अतीन्द्रिय ब्रह्म से प्रभावित थे, फिर भी उनके इष्टदेव राम ही थे । "श्रीमद्भागवत" के अनुवाद में प्रवृत्त होने की पृष्ठभूमि में ही

[1] ते० भा०, ७/२१७

[2] आ० सं० की०, वा० ११/पद ३३

[3] वैराग्य वचनमालिकागीतालु, पद ४१

[4] अविगत गति कछु कहत न आवै ।

× × ×

रूप, रेख, गुण, जाति, जुगति बिनु, निरालंब मन चक्रत धावै ।
"सब बिधि अगम" विचारहिं तातें सूर सगुण लीला पद गावै ।।—सू० सा०, १/२

[5] कोउ ब्रह्म निर्गुण ध्याव । अब्यक्त जेहि श्रुत गाव ।।
मोहि भाव कोसल भूप । श्रीराम सगुन सरूप ।।
—रा० च० मा०, लंकाकाण्ड, (११२)/७

[6] अंतर्जामिहु तें बड़ बाहरजामि हैं राम जेनाम लिये तें ।

× × ×

पैंज परे प्रह्लादहु को प्रगटे प्रभु पाहनतें, न हिये ते ।।
—कवितावली, तुलसी ग्रन्थावली, पृ० १६३

[7] ते० भा०, ७/२७५

सगुण की मान्यता ध्वनित है । पोतना[1], अन्नमाचारी आदि भक्त-कवि विग्रहोपासक थे । कृष्णदेवराय ने ब्रह्म के दो रूप माने हैं—अपर और पर । वैकुंठ में स्थित विष्णु ही अपर ब्रह्म हैं जिन्हें विज्ञ लोग "सत्" की संज्ञा देते हैं । चित् एवं अचित् में सर्वान्तर्यामी एवं सर्वव्यापक के रूप में स्थित विष्णु की "क्षेत्रज्ञ शक्ति" ही परमब्रह्म है । विष्णु का अपर रूप समस्त सिद्धिभूतियों से अभिमंडित रहता है और उसकी विलक्षणता की तुलना चित् एवं अचित् से नहीं की जा सकती ।[2] इस प्रकार श्रीकृष्णदेवराय भी सगुणब्रह्म के ही उपासक थे ।

४.२३. विराट रूप

अर्जुन को भगवान कृष्ण ने अपने विराट-स्वरूप का दर्शन कराया था । इसका तात्पर्य यह था कि सगुण की सीमाओं को लौकिक नहीं समझ लेना चाहिये । उस असीम और अनन्त का ही स्वेच्छा और भक्तवत्सलता से ही प्रेरित सीमित रूप है जिसकी असीमता का परिचय दिव्य दृष्टि प्राप्त भक्त और पारिषदों को हो सकता है । इस विराट रूप का आभास तुलसी ने किया है । कौसल्या राम के विराट रूप का दर्शन करती है ।[3] सूर ने भी इसके विराट और ललित दोनों रूपों का ही युगपद वर्णन "सूरसागर" में किया है ।

जाको जठर लोकत्रय जल थल पंचतत्व चोखांन ।
सो बालक झूलत ब्रजपलना जसुमति भवन निधान ।।
एक एक रोम वैराट कूप सम अखिल लोक ब्रह्मांड ।
ताहि उछंग लियें मात जसोदा अपने निज भुज दंड ।।[4]

अन्नमाचारी जी ने भगवान से प्रार्थना करते हुये कहा है कि हे नारायण ! तेरे रोमरन्ध्रों में से कोटि कोटि ब्रह्मांड उत्पन्न हुये हैं । तेरे नाभिकमल से अनेक ब्रह्म उत्पन्न हुये हैं । अनेक रुद्रों का आविर्भाव भी तुम्हीं से हुआ है ।[5] पोतना ने भी

[1] पोतना ने अपने "भागवत" में केवल एक प्रसंग में विग्रहाराधना का खंडन किया है : सर्वान्तिर्यामी, और सर्वव्यापक मेरी उपेक्षा करके जो मनुष्य मूढ़तावश मेरी प्रतिमा-मात्र की आराधना करता है उस मनुष्य का श्रम अग्नि से रहित यज्ञकुण्ड में होम करने के समान निरर्थक है । —ते० भा०, ३/६६४
किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो इष्टविग्रह को सर्वान्तर्यामी परब्रह्म के प्रतीक के रूप में न देखनेवाले मूढ़ विग्रहाराधकों के प्रति ही यह आक्षेप किया गया है । पोतना के "भागवत" में इस प्रकार का भाव केवल अपवाद स्वरूप मात्र समझना चाहिये ।

[2] "आमुक्तमाल्यदा", ३/८०, ८१, ८२

[3] ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रतिवेद कहै ।।
—रामचरितमानस, बालकाण्ड, १९१ दोहे के नीचे

[4] "सूर-निर्णय", पृ० १८७ पर उद्धृत ।

[5] आ० सं० की०, वा० २/पद २१६

इस प्रकार के वर्णन यत्र तत्र किये हैं—समस्त ब्रह्मांडों को श्री कृष्ण कभी निगलते हैं और कभी उगलते भी हैं।[1] बालरूपधारी वामन शीघ्र ही बढ़ने लगे। समस्त समुद्रों के तल पर वे उतने ही परिमाण के साथ व्याप्त हुये। इसी प्रकार सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र को उन्होंने अपने विराट स्वरूप से आच्छादित कर लिया।[2] क्रमशः पृथ्वी, नभ, समुद्र, समस्त लोक और समस्त प्राणियों में उनका रूप व्याप्त हो गया और सर्वत्र उनके विराट रूप के अतिरिक्त कुछ था ही नहीं। उनके चरणतलों में रसातल, पादों में पृथ्वी, जाँघों में महापर्वत, उदर में सप्त समुद्र, शिर में नागलोक, शिरोजों में मेघ, नासिका-रन्ध्रों में वायु, नयनों में सूर्य, मुख में अग्नि, नाडी प्रदेशों में नदियाँ······थीं।[3] ताळ्ळपाक श्रीनिवासुडु ने भी इस प्रकार का वर्णन किया है:—उनके नयन ही चन्द्र हैं, उनके रोम ही देवतागण हैं, उनके उच्छ्वास-निःश्वास ही प्रचंड वायु हैं, उनके उदर में समस्त ब्रह्मांड अन्तर्निहित हैं। उनके वक्षस्थल में लक्ष्मी, मन में मन्मथ और नाभि में ब्रह्मदेव विराजे हुये हैं।[4]

इस विराट रूप का दर्शन उपनिषद् की शैली में न होकर भक्ति की शैली में हुआ है। उपनिषद् इन विशेषणों का आकार-निरपेक्ष कथन करते थे। भक्ति की शैली ने इष्ट के आकार में उसके विराटत्व की झाँकी कराई। इस रूप में इष्ट एक प्रतीक बन जाता है। इस स्वरूप के निर्धारण में भी तेलुगु और हिन्दी कवि समान हैं। भावना के अनुसार इष्ट के विग्रह में वैविध्य हो सकता है। पर इसके प्रतीकत्व के पोषक विराट-रूप के चित्र में कोई अन्तर नहीं पाया जाता। इस रूप में वह सृष्टि के समस्त उपकरणों का उत्पादक और अपहर्ता है। वह समस्त शक्तियों के प्रतीकों का अधिष्ठान है।

४. २४. ब्रह्म और विष्णु

ब्रह्म के ज्ञानमार्गीय स्वरूप के साथ वैशिष्ठ्य का योग करके तथा उसके साकार रूप को अधिक प्रतिष्ठा देकर भक्त-कवियों ने जो पृष्ठभूमि उपस्थित की है उसमें विष्णु को स्थापित कर दिया गया। विष्णु के स्वरूप का चित्रण सभी कवियों ने किया। सूरदास ने ब्रह्म का तात्विक निरूपण करने के पश्चात् कृष्ण को इष्टदेव के रूप में ग्रहण किया। कृष्ण के लिये उन्होंने सभी विष्णुवाची शब्दों का प्रयोग किया है:—हरि (चरन कमल बन्दौ हरिराई), माधव (मनारे माधव सों करि प्रीति), मुरारी (कांपी भूमि कहा अब ह्वै है सुमिरत नाम मुरारि), गोविंद (खेलत चले बाल गोविन्द) आदि। ये सभी नाम विष्णु पर्यायवाची हैं। इन नामों से यह

[1] ते० भा०, १० पू०/पद्य ४४६

[2] वही, ८/६२२

[3] वही, ८/६२४

[4] लक्ष्मीवेंकटेश्वरसीसपद्यशतक, पद्य १

स्पष्ट होता है कि सूरदास के लिये श्रीकृष्ण विष्णु-भगवान के अवतार थे।[1] इसका एक और प्रमाण यह है कि कई स्थलों पर शिव और ब्रह्म का कृष्णलीलाओं से मोहित होना तो बताया गया है, पर वहाँ विष्णु का उल्लेख नहीं है। "इससे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वही अलौकिक कृष्ण विष्णु हैं, इसलिये त्रिमूर्ति में कृष्ण के समक्ष ब्रह्म और शिव का ही नाम लिया गया"।[2]

तुलसी ने कहीं कहीं ब्रह्मा, विष्णु महेश, तीनों को ही राम से विमोहित कह दिया।[3] सीताजी को भी तुलसी ने उमा, रमा, और ब्रह्माणी से सेव्य माना है।[4] फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि वे भी राम को विष्णु का अवतार ही मानते हैं। अधम के भार से विकंपित पृथ्वी समस्त देवताओं के साथ ब्रह्मा के पास गयी तथा उन्होंने विष्णु की शरण में जाने के लिये कहा।[5] फिर विष्णु के निवास के विषय में किसी ने बैकुण्ठ की ओर संकेत किया और किसी ने क्षीरसागर की ओर।[6] तब शिव ने उसकी सर्वव्यापकता और प्रेम से उसकी अभिव्यक्ति की ओर संकेत किया।[7] पोतना ने भी अग्नि के समान विष्णु को सर्वत्र व्याप्त माना।[8] जब सभी ने विष्णु भगवान से अवतार लेने की प्रार्थना की तो उस प्रार्थना में भी तुलसी ने निर्गुण-ब्रह्म की पृष्ठभूमि में विष्णु को रखा।[9] तब राम ने अवतार लेने की बात कहकर भूमि और देव-समूह को आश्वासन दिया।[10] इस प्रकार तुलसी राम को परब्रह्म के रूप में सीधे-सीधे भी चित्रित करते हैं और कभी विष्णु के अवतार के रूप में भी उनका

[1] डा० सत्येन्द्र कृत "सूर की झाँकी", पृ० १६१
[2] वही, पृ० १६८
[3] विवाह के समय विष्णु और लक्ष्मी सीता-राम के रूप-सौन्दर्य से विमोहित हैं:—

हरि हित सहित रामु जब जोहे।
रमा समेत रमापति मोहे॥ —रामचरितमानस, बा० ३१७

[4] उमा, रमा, ब्रह्मानि बंदिता।
जगम्दबा संतत मनिन्दिता॥ —रामचरितमानस, उ० २४

[5] धरनि धरहि मन धीर कह बिरंचि हरिपद सुमिरु।
—रा० च० मा० बाल०, सोरठा १८४

[6] पुरवैकुंठ जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि-बस प्रभु सोई॥
—रामचरितमानस, बाल०, सोरठा १८४ के नीचे

[7] हरिब्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होंहि मैं जाना॥
—रामचरितमानस, बाल० १८४ सोरठे के नीचे

[8] ते० भा०, १० पू०/११७७

[9] अबिगत गोतीतं चरित पुनीतं मायारहित मुकुंदा।
—रामचरित मानस, बाल०, १८५ दोहे के नीचे

[10] जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा। तुम्हहि लागि धरिहउं नरवेसा॥
—रामचरित मानस, बाल०, १८६ दोहे के नीचे

चित्रण करते हैं, पर मूल स्वर राम को विष्णु का अवतार मानने का ही है। "हरि" या अन्य विष्णुवाची शब्द कबीर आदि निर्गुणिया सन्तों ने भी प्रयुक्त किये।[1] कबीर ने वैष्णव का जहाँ समर्थन किया है वहाँ भी विष्णु की मान्यता स्पष्ट है।[2] डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसकी पृष्ठभूमि में एक बौद्ध-वैष्णव-संप्रदाय माना है।[3] डा० नगेन्द्रनाथ बसु ने इसके संबन्ध में पर्याप्त शोध करके इस सिद्धान्त की पूर्ण स्थापना की है।[4] इससे यह स्पष्ट हुआ कि निर्गुणवादियों का विष्णु एक ओर ज्ञानवादियों के ब्रह्म के समक्ष होता गया और दूसरी ओर बुद्ध की करुणा आदि गुणों से सम्पन्न। सगुण भक्तों ने इन दोनों ही रूपों को पूर्ण भावात्मक रूप से ग्रहण किया।

तेलुगु-क्षेत्र में भी कुछ इसी प्रकार की प्रक्रिया मिलती है। शंकर मत में निरूपित निर्गुण और अतीन्द्रिय ब्रह्म की पृष्ठभूमि के साथ विष्णु की स्थापना हुई।[5] सभी तेलुगु वैष्णव स्तवनों में यही पृष्ठभूमि मिलती है। इस बात को पीछे देखा जा चुका है। हिन्दी और तेलुगु-क्षेत्र में एक अन्तर दृष्टिगोचर होता है। हिन्दी के कवियों ने विष्णु और लक्ष्मी के संबन्ध में अपने भाव बहुत कम स्थलों पर व्यक्त किये। केवल विष्णु के अवतरित रूप राम और कृष्ण के माध्यम से सघन भाववर्षा की गई है। पर तेलुगु क्षेत्र में शुद्ध विष्णु और लक्ष्मी की पूजा और वंदना भी पर्याप्त मिलती है। इसका कारण यह है कि रामानुजाचार्य के इष्ट विष्णु ही थे और उनके साथ लक्ष्मी की भी प्रतिष्ठा थी। पीछे विष्णु के अवतारों की मान्यता संप्रदायों में बढ़ती गयी। साम्प्रदायिक साहित्य में विष्णु की भावना पर उसके अवतारों की लीलाओं का आरोप किया जाने लगा। नृसिंह, श्रीवेंकटेश्वर आदि भी इष्टदेव बने। अन्नमाचारी ने वेंकटेश्वरजी के साथ कृष्ण लीलाओं का समावेश किया। धीरे-धीरे इन विग्रहों की भावना और राम तथा कृष्ण की भावना में कोई अन्तर नहीं रह गया। यह विकास की अन्तिम स्थिति है जो हिन्दी और तेलुगु कवियों में समान

[1] जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि है मैं नाहिं ॥

[2] वैष्णव की कुटिया भली, नहिं शाकट बड़ गाँव। —कबीर ग्रन्थावली

[3] मेरा अनुमान था कि कोई ऐसा प्रच्छन्न बौद्ध वैष्णव-संप्रदाय उन दिनों उस प्रदेश में अवश्य रहा होगा जिसे ब्राह्मण लोग सम्मान की दृष्टि से नहीं देखते होंगे।"
—डा० हजारी प्रसाद, द्विवेदी, "अनुसंधान की प्रक्रिया", पृ० १००
सं० डा० सावित्री सिन्हा, डा० विजयेन्द्र स्नातक, प्रथम संस्करण

[4] "भक्तिमार्गी बौद्ध धर्म", अनुवादक-नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, पृ० १०६-१२५

[5] उदाहरणार्थ आ० सं० की०, ताम्रपत्र, ६, "आमुक्तमाल्यदा", ३/८६; "आन्ध्र-कवितरंगिणि", वा० ८, पृ० १४२ पर उद्धृत ताळ्ळपाक पेदतिरुमलाचारी का एक उद्धरण आदि दृष्टव्य हैं।

मिलती है। वेंकटेश्वरजी की प्रार्थना विष्णुपक्षीय[1] है और कृष्ण[2], राम[3], नृसिंह[4] आदि[5] पक्षीय भी। इस प्रकार आलोच्ययुग के हिन्दी और तेलुगु वैष्णव-कवियों के ब्रह्म, विष्णु, और अवतरित रूपों की समन्विति समान रूप से मिलती है।

४.२५. अवतार के कारण

अवतारों की संख्या दस है जो हिन्दी और तेलुगु दोनों ही क्षेत्रों के कवियों को मान्य हैं। केवल अन्तर इतना है कि हिन्दी काव्य में राम और कृष्ण के अतिरिक्त अन्य अवतारों के सम्बन्ध में यदि उल्लेख और विवरण मिलते भी हैं तो संक्षिप्त ही। तेलुगु क्षेत्र में सभी अवतारों के सम्बन्ध में हिन्दी की अपेक्षा अधिक

[1] उदाहरणार्थ दृष्टव्य हैं: —आ० सं० की०, वा० २/पद १००; "श्रीबालाजी के उर में श्रीदेवी, शिर में तुलसी, पीठ पर भूदेवी, पदाग्र में गंगा, नाभि में उत्पन्न कमल में ब्रह्मा···हैं।" ताळ्ळपाक पेदतिरुमलाचारी कृत "नीतिशतक" —पद्य १
'वटपत्रशायी विष्णु ही श्रीबालाजी हैं"।—आ० सं० की०, वा० २/पद ८१; 'आ० सं० की०" वा० २/पद २४६; ताळ्ळपाक पेदतिरुमलाचारी कृत "वैराग्यवचनमालिकागीतालु" पद ४०

[2] अन्नमाचारी के शृंगार संकीर्तनों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। आध्यात्म संकीर्तनों में भी ऐसे उदाहरण यत्र-तत्र मिलते हैं। उदाहरणार्थ देखिये:— आ० सं० की०, वा० २, पद १४;—"वेंकटाद्रि ही पांडुरंगक्षेत्र है, श्री विट्ठल ही श्रीबालाजी हैं। इन्होंने पाँच लाख नवयुवती गोपिकाओं को आकर्षित करके अपने वश में कर लिया।"—आ० सं० की०, वा० ६/पद २१७; तथा वैराग्यवचन-मालिका गीतालु, पद ४०

[3] उदाहरणार्थ देखिये—"राम ने कपिसेना के साथ लंका पर आक्रमण किया। उनके ब्रह्मास्त्र से रावण के सब सिर कटकर पृथ्वी पर गिर पड़े। तत्पश्चात् वे सीता समेत अयोध्या गये और भाइयों के साथ राज्य का शासन करने लगे। यही श्रीरामजी जो कौसल्या के सुत हैं, अब भी श्रीबालाजी के रूप में यहाँ विद्यमान हैं।"—आ० सं० की०, वा० १०/पद २७९; "श्रीरामवेषधारी श्रीबालाजी ने रावण का वध किया।" —आ० सं० की०, वा० १०/पद २९५; हनुमानजी श्रीबालाजी का दास है—आ० सं० की०, वा० ९/पद २३२; और भी दृष्टव्य "वैराग्यवचनमालिका गीतालु", पद ४०

[4] नृसिंह और श्री बालाजी एक हैं—ताळ्ळपाक पेदतिरुमलाचारी कृत "वैराग्य-वचनमालिका गीतालु" पद ४०

[5] श्रीवामन ही श्री बालाजी हैं —आ० स० की०, वा० २/पद ८१
कालकूट विषपान से शशि-वर्ण श्रीबालाजी नीलवर्ण के हो गये।
—आ० सं० की०, वा० १, पद २४६

विस्तृतियाँ दिखाई देती हैं।[१] जहाँ तक अवतारों के कारणों का सम्बन्ध है दोनों क्षेत्रों के कवियों में पर्याप्त साम्य है।

"गीता" में धर्म की रक्षा करना ही अवतार का कारण माना गया है।[२] इस तत्व की सभी कवियों ने चर्चा की है। तुलसी ने पृथ्वी को धर्म के लोप और अधर्म के विस्तार से पीड़ित दिखाया और कहा कि इसलिये विष्णु का अवतार हुआ।[३] सूर ने भी दानवों की अधिक संख्या से धर्म-संकट उपस्थित हो जाने के कारण ही कृष्ण का अवतार माना।[४] ताळ्ळपाक अन्नमाचारी ने भी इसी प्रकार कहा :— असुरों से जब साधु लोग पीड़ित होने लगते हैं तब विष्णु धर्म की स्थापना के लिये अवतार धारण करते हैं।[५] पोतना ने भी इसी अभिप्राय को व्यक्त किया :— हे अनन्त दुष्टों को दंड देने और साधुओं की रक्षा करने तथा निज लीला प्रकट करने के लिये तुम अवतार धारण करते हो।[६] इस कथन में लीला का कारण और जुड़ा हुआ है। तुलसी ने भी राम के अवतार के कारणों में लीला को सम्मिलित किया—

"व्यापक अकल अनीह अज निर्गुण नाम न रूप।
भगत हेतु नाना विधि करत चरित्र अनूप।।"[७]

[१] कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं :—
श्रीकृष्णदेवरायलु कृत "आमुक्त माल्यदा", ४/१८ से ३१ तक (दशावतार-वर्णन)
श्रीतेनालिरामकृष्ण कत "पांडुरंगमाहात्म्यमु", २/६६ (दशावतार-वर्णन)
श्री ताळ्ळपाक चिततिरुवेंगळनाथ कृत "परमयोगीविलासमु", पृ० २१३, २९१ तथा ४२२ (दशावतार-वर्णन)

[२] यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।।
—"श्रीमद्भागवद्गीता", ४/७,८

[३] जब जब होइ धरम कै हानी। बाढहिं असुर अधम अभिमानी।
× × × ×
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा।।
—रामचरितमानस, बाल०, (१२०)/३,४

[४] जब जब हरि माया ते दानव प्रकट भये हैं आय।
तब तब धरि अवतार कृष्ण ने कीन्हीं असुर संहार।। —सू० सा०

[५] आ० सं० की०, वा० २ / पद २४६

[६] ते० भा०, १० उ० /६४६

[७] रामचरितमानस, बाल० २०५

भक्त के प्रेम से विवश होकर यह लीला करने के लिये भगवान भी विवश हो जाते हैं।[1] निर्गुण का सगुण होना ही उसका लीला-विधान है। विधेयात्मक रूप से देवता, भक्त, ब्राह्मण, गाय और पृथ्वी—इन सभी की रक्षा के लिये भगवान अवतार लेते हैं।[2] यही बात किसी न किसी रूप से सभी कवियों ने कही। निषेधात्मक रूप से राक्षसों और मानवद्रोहियों का विनाश करना ही अवतार के कारणों के अन्तर्गत आता है।[3] श्री कृष्णदेवराय ने भी लोकोपकारार्थ और लीला के लिये विष्णु के अवतार लेने की बात कही।[4] अधिक उदाहरणों की आवश्यकता नहीं। भारतवर्ष के सभी कवियों ने अवतार के ये ही कारण माने हैं।

४.२६. भक्तवत्सलता

यह ऊपर देखा जा चुका है कि भक्तों के प्रेम से विवश होकर ब्रह्म को सगुण रूप धारण करना पड़ता है। यह अहैतुकी भक्तवत्सलता ब्रह्म का प्रधान गुण है जिसका आधार तत्वनिरूपण न होकर भक्तिमूलक भाव-पद्धति ही है। तुलसी ने इस दीनानाथ के अहैतुक प्रेम का निरूपण किया।[5] उनकी भक्तवत्सलता की सीमा नहीं है। गज एवं अजामिल जैसे तुच्छ जीवों पर भी उनके प्रेम की वर्षा हुई और उनका उद्धार भी हुआ।[6] तुलसी ने गज के अतिरिक्त द्रोपदी[7], प्रह्लाद[8], जैसे उदाहरणों से भगवान की भक्तवत्सलता को सिद्ध किया। सूर ने भी उनके पतितपावन रूप की भक्तवत्सलता का स्पष्ट रूप से कथन किया।[9] अन्य भक्त-कवियों ने भी भक्तवत्सलता के विस्तार में रुचि दिखाई। क्योंकि भगवान का यही रूप भक्त के लिये चरम आकर्षक है।

पोतना ने गजेन्द्रमोक्ष के प्रसंग में भक्तवत्सलता का अनुपम चित्र दिया। इस प्रसंग में पोतना ने अपनी मौलिकता का प्रदर्शन भी किया। इसलिये इसमें विस्तार आ गया। जब गजेन्द्र ने करुण पुकार की तब विष्णु प्रियाविनोदरत थे।[10] बिना प्रियतमा को सूचना दिये हुये और बिना ही शंख-चक्रादि को धारण किये हुये और न गरुड की सहायता लिये हुये, न अपनी वेषभूषा को ठीक करते हुये, भक्तवत्सलता से

[1] वेद उपनिषद् जासु कौं निर्गुनहिं बतावै।
सोइ सगुन ह्वै नंद की दांवरी बंधावै॥ —सू०सा०, १/४

[2] ते० भा०, १० पू०/१००; ६/३६२

[3] वही, १० पू०/११७७

[4] आमुक्तमाल्यदा, ३/८२

[5] अकारन को हितू और को है?
बिरद गरीब-निवाज कौन की भौंह जासु जन जोहै? —विनय-पत्रका, पद २३०

[6] विनय-पत्रिका, पद २१३

[7] वही, पद २१३

[8] वही, पद ९३

[9] तुम बिनु और न कोउ कृपानिधि, पावै पीर पराई। —सूरसागर, १/१९५;
भक्तवत्सल प्रभु पतित-उद्धारन रहे सकल भरपूर। —सूर-निर्णय, पृ० १८८

[10] ते०भा०, ८/९५

विह्वल होकर वे दौड़ पड़े ।[१] यहाँ पर द्रष्टव्य यह है कि भक्त की करुण पुकार सुनकर भक्तवत्सलता का जो आवेश भगवान में आता है, उसके कारण वे अपनी सुध-बुध भी खो बैठते हैं । लक्ष्मी के वक्ष पर स्थित अंचल को भी छोड़ने की उन्हें याद नहीं रही ।[२] वे उसे खींच चले जा रहे थे और लक्ष्मी इस घटना के लिये विविध कारणों की कल्पना करती हुई, उनके पीछे-पीछे चली जा रही थीं । यहाँ पर लक्ष्मी के मानसिक द्वन्द्व का बड़ा सुन्दर वर्णन पोतना ने किया ।[३] इससे भक्तवत्सलता के तत्व को प्रभाव और सौन्दर्य प्राप्त हुआ । इस गजेन्द्रमोक्ष का वर्णन सूर ने भी लगभग इसी शैली में किया[४], पर कल्पनाजन्य विस्तार इतना अधिक नहीं है । विष्णु की व्याकुलता को देख कर देवगण भी आश्चर्यचकित हो गये ।[५] इस प्रकार पोतना और सूर के विष्णु की व्याकुलता का वर्णन प्रवृत्ति की दृष्टि से समान है । इन्होंने भी गरुड़ को छोड़ दिया और आयुध को भी । पोतना ने लक्ष्मी के आश्रय से शृंगार का मार्मिक संस्पर्श भी दिया । शृंगार के आकर्षण[६] और वैकुंठ की ऐश्वर्य-विभूति[७] से भी उनका जाना अवरुद्ध नहीं हुआ । संस्कृत के "भागवत" में तो इस संदर्भ में भगवान की भक्तवत्सलता का इतना रोचक और विस्तृत वर्णन नहीं मिलता । उसके अनुसार गरुड़ पर आसीन होकर ही विष्णु गजेन्द्र के रक्षार्थ प्रस्थान करते हैं ।[८] अन्नमाचारी ने अनेक दुष्टों का नाश करके भक्तों की रक्षा करने वाले भगवान की भक्तवत्सलता का वर्णन किया ।[९] ताळ्ळपाक पेदतिरुमलाचारी ने भी दीन-रक्षा का वर्णन किया । भक्तों का उद्धार भगवान के अतिरिक्त कोई नहीं कर सकता ।[१०] जीव, जन्तु और पशु-पक्षियों का पोषण-रक्षण भी भक्तवत्सल भगवान ही करता है ।[११] वैसे भगवान के

१ ते० भा०, ८/९२
सिरिकिंजेप्पडु शंखचक्र युगमुं जे दोइ संधि पड़े ।
परिवारंबुनु जीरडभ्रगपति बन्निंप डाकर्णिकां
तरधम्मिल्लमुजक्कनोत्तडु ।

२ विवादप्राथित श्रीकुचोपरिचेलाँचलमैन वीडडु —ते० भा०, ८/९२

३ ते० भा०, ८/१००, १०२, १०३

४ सू० सा०, ८/३

५ वही, ७/४

६ व ७ अलवैकुंठ पुरंबुलो नगरिलो नामूल सौधंबुदा
पल मंदारवनांतरामृत सरःप्रांतेंदुकांतोत्पलो
त्पलपर्यंक रमाविनोदियगुनापन्नप्रपन्नुंडु... —ते० भा० ८/९५

८ स्तोत्रं निशम्य दिविजैः सह संस्तुतद्भिः ।
छन्दोमचेन गरुडेन समुह्यमान-
श्चक्रायुधोऽभ्यगमदशु यतो गजेन्द्रः ।। —श्रीमदभागवत, ८/४/३१

९ आ० सं० की०, वा० ९/पद १४५ ; वा० २/पद ४०३

१० नीतिशतक, पद्य ६०

११ वैराग्यवचनमालिकागीतालु, ४४ पद

अन्य गुणों का भी निरूपण किया गया है। पर दोनों ही क्षेत्रों के भक्त-कवियों ने सभी गुणों का समावेश भक्तवत्सलता में कर दिया।

४.२७. **इष्टविग्रह**

ब्रह्म, विष्णु और उनके अवतारों का उपर्युक्त विवेचन भक्त-कवियों के इष्टदेव की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट करता है। यह भी देखा जा चुका है कि सगुण-साकार की ओर सभी भक्त-कवियों का अनन्य विश्वास था। इस समस्त पृष्ठभूमि और उसके प्रति भक्त के रागात्मक समर्पण की प्रक्रिया के लिये एक रूप-प्रतीक[१] आवश्यक था। रूप-प्रतीकों का विभाजन दो रूपों में हो सकता है:—आकृति-विहीन विग्रह और आकृति-विग्रह[२]। श्रीनिम्बार्काचारी का इष्ट "विश्वेश्वर" नामक आकृति-विहीन सालिग्राम था। आकृतिमूलक विग्रहों की स्थापना अधिकांशत: आचार्यों ने अपने भावों से अभिमंत्रित करके की। प्रत्येक इष्ट समस्त भावनाओं का आधारबिन्दु हो गया। आलोच्य-युग में इस प्रकार के पाँच इष्टविग्रह प्रसिद्ध हैं:—श्रीरंगनाथ[३], श्रीवेंकटेश्वर[४], श्रीनाथजी[५], श्रीराधावल्लभजी[६] तथा श्रीबांके बिहारी[७]। जहाँ तक रामभक्ति शाखा का प्रश्न है, इसमें राम और हनुमान के विग्रह पूज्य रहे। पर आलोच्ययुग के कवियों का किसी विशेष विग्रह से इष्टगत सम्बन्ध नहीं रहा। वैसे वेंकटाचल के निकट तिरुपति के रामचन्द्र की मूर्ति, अयोध्या के रामविग्रह आदि से इनका सम्बन्ध माना जा सकता है। पर विष्णु या उसके कृष्णरूप विग्रहों से ही इन कवियों का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। जहाँ तक विग्रहों की भावना का प्रश्न है संप्रदाय की मुख्य भावना का समावेश उनके

[१] "The Symbol is not the Reality. It is only a means of remembering the Lord through the association of ideas."

—"*The Cultural Heritage of India*", Vol. II. ed. A. C. 1937, p. 11

विग्रह-प्रतीकों का उल्लेख वेदों में भी मिलता है—
"ऋषीणां प्रस्तरोसि। नमोस्तु देवाय प्रस्तराय"

—अथर्ववेद, १६/२/६; ऋग्वेद, ६/२४/१०; ऋग्वेद, ७/१/५

मोहंजदाडो एवं हडप्पा के खंडहरों की खुदाइयों में भी हिन्दू-धर्म के देवताओं के अनेक विग्रह (रूप प्रतीक) मिले हैं—साहित्यिक मासपत्रिका "भारती" (तेलुगु), फरवरी, १९५७, पृ० १०

[२] इन्हें "अरूपविग्रह" और 'सरूपविग्रह" के नामों से अभिहित किया जाता है। सालिग्राम, शिवलिंग एवं श्रीयंत्र अरूपविग्रह के लिये उदाहरण हैं। विष्णु, कृष्ण, शक्ति आदि सरूप विग्रह के लिये उदाहरण हैं।

[३] तेनाली रामकृष्ण आदि के इष्ट ये ही थे।

[४] ताळ्ळपाक अन्नमाचारी और उनके समस्त वंश के कवि, श्रीकृष्णदेवराय आदि के इष्ट ये ही थे।

[५] अष्टछाप के कवियों के इष्ट ये ही हैं।

[६] श्रीहितहरिवंश, ध्रुवदास आदि राधावल्लभीय कवियों के इष्ट ये ही थे।

[७] सखी संप्रदाय के इष्टदेव ये ही थे।

साथ है। जिस प्रकार श्री वेंकटेश्वरजी का संबन्ध पर्वत-मालाओं से है उसी प्रकार श्रीनाथ जी भी गिरि गोवर्धन के प्रतीक हैं। भावना की दृष्टि से श्रीनाथ जी में बाल और माधुर्य दोनों की ही प्रतिष्ठा है। श्री वेंकटेश्वरजी के साथ बालभाव की प्रतिष्ठा नहीं है, पर उनकी माधुर्य लीलायें कृष्ण की माधुर्य लीलाओं से बहुत अधिक भिन्न नहीं है। अन्नमाचारी जैसे भक्त इष्ट-विग्रह के साथ सूर आदि अष्टछापी कवि और अन्य माधुर्योपासकों की भाँति माधुर्य भाव भी रखते थे। सूर के इष्ट विग्रह के साथ सख्य भाव भी संबद्ध है, पर श्रीवेंकटेश्वर के साथ नहीं। पर श्री वेंकटेश्वर के साथ एक आनुष्ठानिक तत्व संबद्ध है जो उत्तर भारत के मधुर विग्रहों के साथ नहीं है। आज भी जो तीर्थ-यात्री दोनों स्थानों पर जाते हैं, उन दोनों के वेषविन्यास से यह अन्तर स्पष्ट हो सकता है। कामनापूर्ति का विश्वास इस आनुष्ठानिक तत्व के मूल में है। यह विश्वास हिन्दी के इष्टविग्रहों के साथ इतने स्पष्ट और मुखर रूप से सम्बद्ध नहीं है। श्री रंगनाथ के साथ भी इस भाव का इस रूप में संयोग नहीं है। पर श्री रंगनाथ के साथ दास्यभाव का संयोग है। दास्य और माधुर्य का संयोग श्रीबालाजी और श्रीरंगनाथ के समान प्रायः हिन्दी-क्षेत्र के कृष्ण-इष्ट-विग्रहों के साथ उतना नहीं।

निम्नलिखित तालिका द्रष्टव्य है :—

	इष्टदेव	दास्य भाव	वात्सल्य भाव	सख्य भाव	माधुर्य भाव	आनुष्ठानिक महत्व
तेलुगु क्षेत्र	श्रीरंगनाथ	√	०	०	√	०
	श्रीबालाजी	√	०	०	√	√
हिन्दी क्षत्र	श्रीनाथजी	०	√	√	√	०
	श्रीराधा-बल्लभ	०	०	०	√	०
	श्रीबांके-बिहारी	०	०	०	√	०
उभयनिष्ठ	श्रीराम	√	०	०	√	०

पृष्ठ १७४ की तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि राम की इष्ट भावना दोनों ही क्षेत्रों में समान है। माधुर्यभाव गौण रूप से इनके साथ सम्बद्ध रहा। "राम भक्ति में रसिक संप्रदाय" के लेखक ने दोनों ही स्थानों पर इसके अस्तित्व की चर्चा की। कृष्ण के इष्ट-विग्रह भी दोनों क्षेत्रों पर प्रायः एक हैं। केवल नामों में और दास्यभाव में भिन्नता है। कहने का यह तात्पर्य नहीं कि हिन्दी-क्षेत्र के किसी कृष्णभक्त-कवि को कृष्ण में दास्य भाव नहीं था। पर निश्चित ही यह मुख्य भाव नहीं था। हिन्दी क्षेत्र के राधावल्लभ और बाँकेबिहारी इस आधार से अन्यों से भिन्न किये जा सकते हैं कि उनके साथ मात्र माधुर्यभाव संयुक्त है।

४.३. जगत

जगत और संसार दोनों पर ही आलोच्ययुग के भक्त-कवियों ने लिखा। संसार के सम्बन्ध में अविद्यामाया के रूप-निरूपण के लिये कुछ अधिक लिखा गया। क्योंकि इस संसार से वैराग्य उत्पन्न करना उसका लक्ष्य था। पर जगत के सम्बन्ध में इतना अधिक नहीं लिखा गया। सूरदासजी ने लिखा है कि आरम्भ में ब्रह्म अकेला था और अपने इस अकेलापन में उसने सृष्टि-रचना करने की इच्छा की :—

"आदि निरंज निराकार कोउ हतौ न दूसर।
रचों सृष्टि विस्तार भई इच्छा इह औसर।
निर्गुण तत्व तें महतत्व महतत्व तें अहंकार।
मन इन्द्रिय शब्दादि पंची तातें कियो विस्तार।"।[1]

"आमुक्तमाल्यदा" में इसी सिद्धान्त को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है[2] :— सृष्टि के पूर्व एकमात्र श्री नारायण ही रहा करते थे। उन्होंने एकाकी जीवन से ऊबकर चित् एवं अचित् से युक्त सृष्टि का सृजन किया। बाद में वे उसमें इसी प्रकार व्याप्त हो गये जिस प्रकार लोहे में अग्नि।

जगत के सम्बन्ध में दूसरा विचार यह है कि यह जगत भगवान से ही उत्पन्न होता है और उसी में लय हो जाता है। सूर के शब्दों में यह बात दृष्टव्य है:—

कृष्ण भक्ति करि कृष्णहि पावै।
कृष्णहिं तें यह जगत प्रकट है हरि में लय ह्वै जावै।[3]

यद्यपि यह जगत हरिरूप ही है तब भी इसे मायाकृत ही समझना चाहिये[4] तेलुगु के भी कवियों ने जगत-सम्बन्धी इसी सिद्धान्त को अपनाया है। पोतना ने

[1] सूर निर्णय, पृ० १६६ पर उद्धृत
[2] आमुक्तमाल्यदा, ३/१०
[3] सूर निर्णय, पृ० १६६
[4] अरु यह जगत जदपि हरि रूप है उत माया कृत जानि।।
—सूर निर्णय, पृ० १६७ पर उद्धृत

जगत को मायाजन्य कहा है[1] और अन्नमाचारी ने भी।[2] पोतना ने तत्वतः ब्रह्म और जगत को एक ही कहा है।[3] जो सूर के "हरिरूप है" के समकक्ष है। पर पोतना ने ब्रह्म और जगत के अद्वैत की बात सम्भवतः अद्वैत दर्शन के आधार पर कही है। पोतना ने ब्रह्म को ही जगत का मूल कारण कहा।[4] पोतना ने अन्य भक्त कवियों की भांति जगत को ब्रह्म का लीला-स्थल कहा है।[5] क्योंकि अपनी लीला के लिये ही ब्रह्म ने जगत की रचना की। ब्रह्म जगत का सृजन करने के अतिरिक्त उसका संरक्षण और संहार भी कर सकते हैं।[6] भक्तों ने कहीं-कहीं सृष्टि का मूलतत्व, महत्तत्व, अहंकार, मन, इंद्रिय, पंचभूत आदि की भी चर्चा की है। सूर के शब्द इस प्रकार है :—

> निर्गुण तत्व में महतत्व महतत्व में अहंकार।
> मन इंद्रिय शब्दादि पंची तातें कियौ विस्तार।।[7]

कुछ भिन्न रूप में तत्वों का परिगणन ताळ्ळपाक चिनतिरुवेंगळनाथ ने भी किया :—

> वलनोप्प चिदचिदीश्वरयुक्तमगुचु
> नलचदुर्दश भुवनात्मकंबैन
> कमलजांडंबुनु गडचि यामीद
> गमलतेजोवायु गगनभूतादि
> तत महदव्यक्त तत्वरूपमुल
> नतिशयंबोंदु सप्तावरणमुल
> डासिन प्रकृतिमंडलमुन······[8]

[1] ते० भा०, १० पू०/५६५;
जगत माया से निर्मित होने के कारण वह पूर्णतः मिथ्या है। स्वप्न के अनुभव सच्चे नहीं होते, उसी प्रकार पंचेन्द्रियों से अनुभव में आने वाला यह जगत भी केवल मिथ्यापूर्ण है। (ते० भा०, ७/२३८)

[2] जगमुल नीमाय जनकमुलु —आ० सं० की०, वा० ५/पद २६१

[3] ते० भा०, १० पू०/१२; तथा ते०भा०, ८/७३,७४; तथा ते० भा०, ६/४६४,४७८

[4] ते० भा०, ८/७६;
उस ब्रह्म के तनु से ही विश्व की अभिव्यक्ति हुई है। विश्व के कार्य एवं कारण दोनों भी वही है—ते० भा०, ३/३४२

[5] ते० भा०, ८/६५६

[6] ते० भा०, ७/३६०

[7] सूर-निर्णय, पृ० १९६ पर उद्धृत

[8] परमयोगीविलासमु, पृ० ७

पोतना के अनुसार इस समस्त जगत में ब्रह्म व्याप्त है।[१] सूर ने भी यही बात कही कि सब की रचना करके ब्रह्म उसमें समा गया और समस्त जगत को उन्होंने अपने देह में समाविष्ट कर लिया।[२] अन्नमाचारी ने भी लिखा कि समस्त ब्रह्माण्ड श्री विष्णु में ही समाये हुये हैं। इस बात का उन्होंने काव्यात्मक शैली में वर्णन किया—पद्मावती तो अपने प्रिय भगवान श्री वेंकटेश्वर का आलिंगन करने के लिये भी संकोच करती है, क्योंकि उनके उदरस्थ चराचर दब जाने का उन्हें भय था।[3] अन्नमाचारी के पौत्र ताळ्ळपाक चिनतिरुवेंगळनाथ ने भी भगवान विष्णु के उदर में त्रिलोकों के समाये रहने का उल्लेख किया।[४]

४.४. जीव

माया इस सृष्टि का विधान करने वाली है। तुलसी के राम इसी माया-सम्भव जगत में विविध प्रकार के जीवों को बतलाते हैं जो सब उनको प्रिय हैं।[५] साथ ही जीव भगवान का ही अंश है। केवल माया के वशीभूत होकर वह उससे भिन्न है।[६] तुलसी ने जीव और ब्रह्म के भेद की बात कही। ब्रह्म सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है और जीव परवश। जीव अनेक हैं और ब्रह्म एक। माया ब्रह्म के वश में है और जीव माया के वश में।[७] सामान्यत: ये ही बातें कृष्णभक्त कवियों ने भी कही हैं। नन्ददास ने ब्रह्म से जीव की उत्पत्ति उसी प्रकार मानी जैसे अग्नि से स्फुलिंग।[८] सूर ने शरीर को मिथ्या और क्षणभंगुर माना और जीव को चेतन और स्थिर। इस

१ ते० भा०, २/१७
हरिमयमु विश्वमंतयु हरि विश्वमयुंड······
हरिमयमुगानिद्रव्यमु परमाणुवुलेदु; तथा ते० भा०, ४/२८०

२ पुनि सब कों रचि अंड आप में आप समाये।
तीन लोक निज देह में राखे करि विस्तार।
—सूर-निर्णय, पृ० १९६ पर उद्धृत

३ श्रृं० सं० की०, पद पद ४५

४ परमयोगीविलासमु, पृ० १४

५ मम माया संभव-संसारा।
जीव चराचर बिबिध प्रकारा॥
—रामचरितमानस, उ० ८३

६ मायाबस्य जीव सचराचर —रामचरितमानस, उ० ७८

७ रामचरितमानस, उ० ७८ तथा ११७

८ तुम तैं हम सब उपजत ऐसैं अगिनि तैं विस्फुलिंग गन जैसें॥
—नन्ददास, दशम स्कंध, पृ० २०८

अजन्मा जीवात्मा के लिये यह शरीर एक महान बन्धन है।[1] सूर ने जीव के गुणों का कथन करते हुये उसे अभेद्य और अछेद्य माना।[2] यह जीव अपने ही अज्ञान में उलझ गया है।[3] नंददास ने जीव को माया के अधीन और ब्रह्म को स्वतंत्र कहकर दोनों में भेद की स्थापना की। इस प्रकार तत्वतः ब्रह्म और जीव में ऐक्य मानते हुये भी जीव को माया की उपाधियों से परिवेष्ठित कहकर, इन दोनों के भेद की व्यवस्था हिन्दी कवियों ने की।

तेलुगु-क्षेत्र के कवियों में से पोतना के दार्शनिक विचार अद्वैतवाद की ओर झुके हुये थे, इसलिये इन्होंने जीव के तात्विक विवेचन में विशेष रुचि नहीं ली। अन्नमाचारी ने भक्ति-दर्शन के अनुसार जीव के संबंध में कथन किये। उन्होंने भी जीव को परतंत्र और ब्रह्म को स्वतन्त्र कहा।[5] साथ ही ब्रह्म को ब्रह्मानंद से युक्त उन्होंने माना जबकि जीव उसके समक्ष तुच्छ है।[6] जीव शाश्वत तत्व होते हुये भी मायावश विभिन्न रूपों में प्रकट होता रहा है।[7] जिस प्रकार हिन्दी कवियों ने जीव और ब्रह्म में अंश-अंशी भाव माना, इसी प्रकार अन्नमाचारी ने जीव का विधेय ब्रह्म को ही माना है।[8] अन्नमाचारी ने जीव को नित्य माना है।[9] ताळ्ळपाक पेदतिरुमलाचारी ने भी कहा कि हे भगवान ! तुम परात्पर-परब्रह्म हो और मैं प्रकृति की उपाधियों से

[1] तनु मिथ्या, छनभगुर जानौ।
चेतन जीव, सदा थिर मानौ॥
× × ×
आत्म अजन्म सदा अबिनासी।
ता कौं देह,मोह बड़ फांसी॥ —सू० सा०, ५/४

[2] सू० सा०, ३/१६

[3] अपुनपो आपुनहि बिसर्यो॥ —सू० सा०, २/२६

[4] नंददास, "सिद्धान्त पंचाध्यायी", पृ० १८४

[5] निक्कमुगा नीवु स्वतंतृडवु ने माया पर तंतृडनु
—आ० सं० की०, वा० २/पद १७
"तुम अन्तर्यामी हो। मैं तुम्हें विनोद प्रदान करने वाला पुतला हूँ। मेरा रक्षक तुम्हीं हो"। —आ० सं० की०, वा० २/पद ३३

[6] आ० सं० की०, वा० २ पद/३३

[7] वही, पद ८७

[8] देहमुनकु नीड निरिगिन यटुवलेने श्रीहरिकि कळाविधमै जीवुडटु तिरुगु देहमुनकु गल चैतन्यमु तेगनीडकु लेदु श्रीहरिकि गल स्वतंत्रमु जीवुनिकि लेदु॥
—आ० सं० की०

[9] आ० सं० की०, वा० ११, भाग १; पद ७५, जीवुडुनित्युड

युक्त जीवमात्र ।[1] ताळ्ळपाक चिनतिरुवेंगळनाथ ने भगवान को सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र और सर्वशक्तिमान तथा जीव को परतन्त्र, अस्थिर, अल्पज्ञ और शक्तिहीन कहा ।[2] पोतना ने जीव और ब्रह्म में अभेद तो माना[3], पर व्यावहारिक दृष्टि से उनमें भेद की स्थापना भी की । ब्रह्म सर्वान्तिर्यामी है और कर्मबन्धन से मुक्त । जीव अविद्या और कर्मबन्धन में जकड़ा हुआ है ।[4] इस जीव का कर्ता भी ब्रह्म है और जीव में उसी का निवास है ।[5] उनकी दृष्टि से जीवात्मा का जन्म, स्थिति और लय नहीं है ।[6] पोतना के विचार अन्य भक्त-कवियों के से ही हैं, पर अद्वैतवाद की दृष्टि से थोड़ा बहुत अन्तर आ जाता है । इस क्षेत्र में भी तेलुगु और हिन्दी की विचारधाराओं में पर्याप्त साम्य है ।

४.५. प्रारब्ध

प्रायः लोग दुःखपूर्ण परिस्थितियों से क्षुब्ध होकर, निराशा से अपने उज्ज्वल जीवन को नष्ट करते रहते हैं और दूसरों को अपने कष्टों का कारण समझते हैं । भक्त कवियों ने मानव जीवन के सुख-दुःखों का कारण पूर्वसंचित कर्मों का फल कहा और जनता को यह संदेश दिया कि प्रत्येक सत्कर्म का सत्फल प्राप्त होगा । तुलसी के अनुसार सुख-दुःख आदि द्वन्द्व का मूल कारण प्रारब्ध ही है ।[7] यह प्रारब्ध बहुत ही बलवान है । प्रारब्धवश कष्ट प्राप्त होने पर किसी अन्य पर क्रोध नहीं करना चाहिये ।[8] किन्तु रामभक्ति के द्वारा प्रारब्ध के दुष्प्रभाव से त्राण मिल सकता है ।[9] पोतना ने भी जीवन के सुख-दुःखों के द्वन्द्व का कारण प्रारब्ध ही कहा ।[10] अप्राप्य सुख की प्राप्ति के लिए और दुःखों के निवारण के लिये हरि-सेवा ही अभीप्सित है ।[11] अन्नमाचारी ने भी प्रारब्ध को असीम शक्तिशाली कहा ।[12] हरि-भक्ति के द्वारा ही प्रारब्ध से उद्‌बुद्ध संकटों का निवारण हो सकता है ।[13] किन्तु इस के लिये सहनशीलता

[1] वैराग्यवचनमालिका गीतालु, पद ४
[2] ताळ्ळपाक चिनतिरुवेंगळनाथ कृत "परमयोगी विलासमु", पृ० ७,८; ते०भा०, ८/९५
[3] ते० भा०, ६/४७९
[4] वही, ३/२४१
[5] वही, ३/३२१
[6] वही, ७/२३७
[7] रामचरितमानस, अयोध्याकांड (२८१)/२
[8] वही, (१७१)/१
[9] वही, वालकांड (३१)/५
[10] ते० भा०, १/१०१; तथा वही १० पू० /१६०
[11] वही,
[12] आ० सं० की०, वा० २, पद ६
[13] वही,

की नितान्त आवश्यकता है।[1] अन्नमाचारी ने रोचक शैली में यह निरूपण किया कि सुख-दुःख प्रारब्ध के अधीन हैं। अन्न रोगी को अरुचिकर प्रतीत होता है, शीतल चंद्रमा विरहपीड़ित प्रेमी-प्रमिकाओं के लिये भयंकर ज्वाला सिद्ध होता है, "संपंगि" फूल भ्रमर के लिये रसहीन प्रतीत होते हैं। सूर्य कुमुद के लिये वैरी सिद्ध होते हैं, श्रीबालाजी दुष्टों के लिये घोर शत्रु के समान दिखाई पड़ते हैं।[2] संकट आने पर भगवान की निंदा करना अन्नमाचारी के अनुसार मूर्खता एवं अक्षम्य अपराध है क्योंकि संकटों का कारण दुष्कर्मों का फल ही है।[3] प्रारब्ध तो अनिवार्य है। अतः समस्त भार को भगवान के ऊपर डालकर मनुष्य को सशांत रहना चाहिये।[4] इस प्रकार हिन्दी और तेलुगु के भक्त कवियों ने जीवन के कष्ट-सुख की पृष्ठभूमि का विशदीकरण प्रारब्धवाद के द्वारा देकर जीवन-संग्राम में धैर्य से कर्तव्यपालन और पुरुषप्रयत्न करने का उपदेश दिया।

४.६. माया

जैसा कि ऊपर देखा जा चुका है भक्ति के आचार्यों ने माया के दो स्वरूप स्वीकार किये—विद्यामाया और अविद्यामाया।[5] माया की कार्यशक्ति ब्रह्म के अधीन रहती है। इसी की क्रियाशक्ति इस जगत की रचना करती है। इष्टदेवों के साथ परम-शक्ति की स्थिति लक्ष्मी, सीता और राधा के रूप में दिखलाई पड़ती है। अविद्यामाया भ्रम उत्पन्न करनेवाली है। सत्य इन मायाजन्म भ्रमों में प्रच्छन्न रहता है। मिथ्या में ही सत्य की प्रतीति होने लगती है। भक्त-कवियों ने तात्विक रूप से माया के इन दोनों स्वरूपों का वर्णन किया। पर अविद्यामाया से बद्ध जीव की अन्तर्वेदना का चित्रण अधिक मिलता है।

विद्यामायाः—तुलसीदास जी ने सीताजी से जिस स्वरूप की कल्पना की वह ब्रह्म की आदिशक्ति के रूप में ही है। इसी के भृकुटि-विलास में सृष्टि का मूल है।[6]

[1] आ० सं० की०, वा० २ / पद १६
"मैं अभी घोर तपस्या करके समस्त प्रारब्ध को तत्क्षण धो देना चाहता। पर यह संभव है ही नहीं। कहीं वडबाग्नि को तत्क्षण बुझाया जा सकता है?"

[2] आ० सं० की०, वा० २ / पद २८५

[3] वही, वा० १० / पद २६७; वा० ११ / पद १५५

[4] वही, वा० २ / पद १५५

[5] तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ।
विद्या अपर अविद्या दोऊ॥—रामचरितमानस, अरण्यकांड, १५

[6] बाम भाग सोभित अनुकूला।
आदि सक्ति छविनिधि जनमूला॥
× × ×
भृकुटि विलास जासु जग होई।
राम बाम दिसि सीता सोई॥ —रामचरितमानस, बालकांड, १४८

राम स्वयं अपनी माया का सीता-रूप में अवतरित होने की बात कहते हैं।[1] जगदीश की इस माया के संबन्ध में तुलसी ने स्पष्ट कथन किया[2]। सीताजी को तुलसी ने कहीं कहीं लक्ष्मी के समक्ष रखा है।[3] कहीं कहीं सीता को लक्ष्मी से भिन्न चित्रित किया। ये रमा, उमा, ब्रह्माणि के द्वारा समादृत हैं।[4] सूरदास जी ब्रह्म की शक्ति माया को त्रिगुणात्मिका मानते हैं।[5] इस सृष्टि के मूल में माया की ही प्रेरणा है। इसी से अहंकार की उत्पत्ति होती है। नंददास जी ने भी इस सृष्टि की प्रेरणा-शक्ति माया में ही मानी।[6] पोतना ने भी कहा कि भगवान अपनी माया-शक्ति से जगत की सृष्टि, रक्षा और संहार करता है।[7] तुलसी के अनुसार इस माया का बल ब्रह्म में ही निहित है। वह स्वतन्त्र नहीं है। उसी के बल और अनुशासन से माया सृष्टि-रचना में प्रवृत्त होती है।[8] पोतना ने भी इसी प्रकार कहा—"माया यद्यपि समस्त ब्रह्मांडों को विमोहित करती है, तथापि वह ब्रह्म को कदाचित अपने वश में नहीं कर सकती।[9] क्योंकि यह माया ब्रह्म पर ही आश्रित है। उसी से प्रेरित होकर यह सृष्टि रचना में प्रवृत्त होती है।[10] तुलसी के अनुसार यह माया जड़ भी है,[11] पर ब्रह्म के सत्य के आश्रय से यह सत्य ही प्रतीत होती है।[12]

[1] रामचरितमानस, बालकांड, १५२

[2] श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह, जगदीस माया जानकी।
—रामचरितमानस, अरण्यकांड १२६

[3] रामचरितमानस, बालकांड २८६

[4] वही, बालकांड ३१७ और उत्तरकांड २४

[5] माया कौं त्रिगुनात्मक जानौ। सत रज तम ताके गुन मानौ।
तिन प्रथमहि महतत्व उपायौ। तातैं अहंकार प्रगटायौ॥—सू०सा०, ३/३६४

[6] लोक सृष्टि सिरजत यह माया······
—नंददास, दशमस्कंध, अध्याय २८

[7] ते० भा०, ६/४५६

[8] लव निमेष महुँ भुवन निकाया।
रचै जासु अनुसासन माया॥
—रामचरितमानस, बाल० २२५; वही, सुन्दर० २१; वही, अरण्य० १५

[9] ते० भा०, १० पू०/६६

[10] ते० भा०, १० पू०/५२

[11] रामचरितमानस, बालकांड ११७, तथा सू० सा०, ३/१३

[12] जासु सत्यता तें जड़ माया।
भास सत्य इव मोह सहाया॥
—रामचरितमानस, बालकांड ११७

तेलुगु के कवियों ने विद्यामाया के स्वरूप का निरूपण इतने स्पष्ट और विस्तृत रूप में नहीं किया। पर भगवान को ही अन्नमाचारी ने माया का कर्त्ता माना।[१] हिन्दी के कवियों ने भी माया को भगवान का ही माना। उसी के द्वारा माया प्रेरित होती है, तुलसी[२] ने भी यही बात कही और सूरदास[३] ने भी।

माया की शक्ति को दोनों क्षेत्र के कवियों ने बड़े व्यापक बताया। पोतना ने विष्णु के मोहिनी रूप से शिव के विमोहित हो जाने के प्रसंग में इस शक्ति को बहुत विस्तार के साथ बताया। उन्होंने लिखा कि सुरगुरु, योगीन्द्र आदि को भी सरलता से विमोहित करनेवाली माया यदि मानवों को वशीभूत कर ले तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।[४] भगवान की माया से समस्त विश्व विमोहित है।[५] नन्ददासजी ने भी कहा कि संसार के सभी जीव-जन्तु कृष्ण की माया से विमोहित हैं।[६] सूर ने भी नर, सुर और असुर को नचाने वाली माया को ही माना।[७] यह माया इसीलिये अत्यन्त प्रवल है।[८] इस प्रकार चाहे विद्या-माया के तात्विक स्वरूप का विवेचन तेलुगु कवियों ने विशेष न किया हो, पर माया को भगवान के अधीनस्थ मानने और उसकी शक्ति की व्यापकता की भावना दोनों ही क्षेत्रों के कवियों में समान है।

अविद्यामाया:—इसके सम्बन्ध में दोनों क्षेत्रों के कवियों में पूर्णतः समानता मिलती है। संसार के मूल में द्वैत की भावना है और यह भावना जीव की अविद्या से उत्पन्न है।[९] तुलसी ने "संसृति मूल अविद्या नासा"[१०] कहकर इसी तथ्य का कथन

१ कालमु कर्ममु माय गल्पिंचिन यट्टिवाडु
आलिंचि सर्वजीवुल अंतर्यामि
वालि श्रीवेंकटपतै वरमुलिच्चेटिवाडु
येलीक गोलि्चन मेच्चु नीविभु गोलुवरो ॥ —आ० सं० की०

२ माधव ! अस तुम्हारि यह माया
—विनय-पत्रिका, पद ११६

३ कह करौं तेरी प्रवल माया देति मन भरमाइ ॥ —सू० सा०, १/४५

४ ते० भा०, १० पू० / ८७४

५ वही, ५८१

६ सकल विस्व अपबस करि, मो माया सोहति है।
—नन्ददास, रासपंचाध्यायी, अध्याय ४

७ सू० सा० १/५४

८ वही, १/४४

९ मैं अरु मोर तोर तें माया।
जेहि बस कीन्हें जीव निकाया ॥ —रामचरितमानस, अरण्य० १५
माया के कारण ही द्वैत भाव की प्रतीति होती है। वस्तुतः तुम से पृथक तत्व कोई भी नहीं है। —ते०भा०, ७/३७० तथा ७/१४८ द्रष्टव्य हैं।

१० रामचरितमानस, उ० ११९

किया। तत्वतः अविद्या का तुलसी जैसा निरूपण चाहे अन्य भक्त-कवियों ने न किया हो, पर उसके प्रभावों के परिगणन में दोनों क्षेत्रों के कवियों में काफी साम्य मिलता है। इसका सब से बड़ा प्रभाव जीव को बन्धन में डालना है। अन्नमाचारी ने एक रूपक से इस सिद्धान्त को यों व्यक्त किया :—ब्रह्मांड ऊखल है। जीव-समूह उसमें धान के समान भरे हुये हैं। माया मोह के मूसल से जीव को कूटे डाल रही है।[1] माया का जाल जीव के सामने फैला रहता है।[2] मधुमक्खियाँ मधु को बहुत कष्ट झेलकर संग्रह करती हैं, चींटियाँ भी ढो-ढोकर धान का संग्रह करती हैं। जब मनुष्येतर प्राणियों की यह स्थिति है तो माया के प्रबल मोह के शिकार होनेवाले मनुष्यों की स्थिति के सम्बन्ध में कहने की आवश्यकता ही क्या है?[3] तुलसी ने भी माया के कारण जीव का कलुषित होना बताया।[4] सूर के अनुसार माया के कारण ही ब्रह्म और जीव में अन्तर उपस्थित हो गया है।[5]

माया मन की चंचलता का कारण है। जब मन भगवान के विचार में लगना चाहता है तब माया उसे रोकती है। अन्नमाचारी ने लिखा कि मैं समस्त इन्द्रिय-भोगों को भोगना नहीं भूलता, पर भगवान की भक्ति को भूल जाता हूँ।[6] वे कहते हैं कि वराह हेय वस्तुओं में प्रीति रखता है और उसी को परम सुख समझता है। विष से युक्त पतंग विष को ही मधु समझता है। इसी प्रकार विषयासक्त जीवात्मा जगत्पति भगवान के अभाव में भी अपने को परम सुखी समझती है।[7] सूर ने भी लिखा कि माया के कारण भगवान का भजन नहीं किया जा सकता।[8] अन्नमाचारी ने यह भी कहा कि मन और सब की चिन्ता करता है, पर वेंकटेश्वर का भजन नहीं करता। यह माया की ओर आकर्षित है।[9] ताळ्ळपाक पेदतिरुमलाचारी भी मायाजन्य

[1] कोलदि ब्रह्मांडपु गुंदेनलो कुलिकि जीवुलनेडि कोलुचुर्लनिची
कलिकि दुर्मोहपु रोकलिवेसि तलचि तनुवुलूड दंची माय ॥ —आ०सं०की०

[2] जीवुडिचुकंत चेतसमुद्रमंत चेनेक्किपलुमारु चिगुरिंची माय।
—आ०सं०की०

[3] आ० सं० की० वा० ६/पद १७६

[4] भूमि परत भाडाबर पानी। जिमि जीवहिं माया लपटानी ॥
—रामचरितमानस, किष्किंधाकांड, १३ दोहे के नीचे

तथा, एक दुष्ट अतिशय दुःख रूपा। जाबस जीव पराभव कूपा ॥
—रामचरितमानस, बाल० १५

[5] सू० सा०, पद ३८

[6] आ० सं० की०, वा० ३, पद ५, तथा आ० सं० की०, वा० ५/पद २२६

[7] आ० सं० की०, वा० ११/पद १०६, पृ० ७३

[8] हरि तेरौ भजन कियौ न जाइ।
कह करौं तेरी प्रबल माया देती मन भरमाइ ॥ —सू० सा०, १/४५

[9] आ० सं० की०, वा० २/पद ११६

मन की चंचलता का कथन करते हैं। उनका कहना है कि मैं जब भगवान का ध्यान करना चाहता हूँ तो विभिन्न प्रकार के विघ्न ध्यान का एकाग्र नहीं रहने देते।[1] अन्नमाचारी ने इसी बाधा को व्यक्त किया। जिस प्रकार माँ की गोद में स्थित बच्चा अपनी माँ के स्तन से दुग्ध-पान करता हुआ अपने पिता की ओर आकर्षित नहीं होता, उसी प्रकार माया के आकर्षण में लिपटा हुआ जीव ब्रह्म की ओर उन्मुख नहीं होता।[2] इसीलिये पोतना के प्रह्लाद को नृसिंह भगवान के भयंकर और बीभत्स रूप की अपेक्षा माया से ही बहुत भय हो जाता है और वह उनसे मायामोचक-भक्ति की याचना करता है।[3] इस प्रकार माया के वशीभूत जीव की दुर्गति के सम्बन्ध में सभी वैष्णव-कवि समान हैं।

इस माया से मुक्त होने के दो ही मार्ग हैं:—भगवान की दया और भक्ति। पोतना ने इस माया से मुक्त होने के लिये भगवान की दया को आवश्यक कहा और दया की प्राप्ति के लिये शरणागति को।[4] तुलसी ने भी मायामोचन के लिये भगवान की दया को ही एक मात्र उपाय बताया।[5] अन्नमाचारी के अनुसार माया के समस्त प्रकार भवरोग हैं और इन सब की अमोघ औषधि भगवान की दया ही है।[6] अन्नमाचारी ने और भी विशद शैली में इस भाव को प्रकट किया। उन्होंने भगवान से प्रार्थना की कि माया के तत्वों में पला हुआ हमारा जीवन इसे नहीं छोड़ सकता। अज्ञान होना भी स्वाभाविक है, पर हे करुणामय! इससे उद्धार करना आपके ही हाथ

[1] वैराग्यवचनमालिका गीतमुलु, ११

[2] तल्लिचंकनुन्न बिड्डतमितो जन्नुदागुता
वोल्लंडु तंड्रियेत्तु कोनबोतेनु।
मल्लडि नीमायलो मरिगिन जीवमुल।
मेल्लने मीसेवजेसि मिम्मुजेरजालमु॥
—आ० सं० की० वा० २ / पद ४१

[3] खरदंष्ट्रा भृकुटि सटानखयु नुग्रध्वानमुन् रक्तके
सुरयुन् दीर्घतरांत्रमालिकयु भास्वन्नेत्रयुन्नैननी
नरसिंहाकृति जूचि ने वेरॅव वूर्णक्रूर दुर्वार दु-
र्भर संसार दावाग्निकिन् वेरॅतु नीपादाश्रयुं जेयवे॥
—ते० भा०, ७/३५५

[4] संसारजीमूत संघबु विच्चुने चक्रिदास्य प्रभंजनमुलेक
निरुपम पुनरावृत्ति निष्कळंक, मुक्तिनिधि गानवच्चुने मुख्यमैन
शार्ङ्गं कोदंड चिंतनांजनमुलेक, तामरसगर्भुनकु नैन दानवेन्द्र
—ते० भा०, ७/१७१

[5] माधव! अस तुम्हारि यह माया।
करि उपाय पचि मरिय, तरिय नहिं, जब लगि करहु न दाया।।
—विनय-पत्रिका, पद ११६

[6] आ० सं० की०, वा० ५/पद २१०

में है।[1] इसीलिये भक्त भगवान से उनकी कृपा की याचना करता है। सूर ने भी लिखा कि माया अनेक प्रकार से नाच नचा रही है। बुद्धि सत्य से भ्रमित हो जाती है। भगवान के प्रति कपट बुद्धि उत्पन्न करती है। पर इस माया से छुटकारा पाने के लिये भगवान की कृपा के बिना कोई उपाय नहीं है।[2] माया के सम्बन्ध में सभी भक्तों के विचार समान ही हैं। उन विचारों का क्रम इस प्रकार है। पहले, माया के दो भेद—विद्या और अविद्या का होना। तेलुगु के कवियों ने इस प्रकार का भेद स्पष्ट रूप से तो नहीं किया, पर उनके वर्णन से यह भेद अवश्य स्पष्ट हो जाता है। हिन्दी के कवियों ने विद्या माया का जितने विस्तार से निरूपण किया, उतने विस्तार से तेलुगु कवियों ने नहीं। दूसरी बात अविद्या माया के प्रभाव की है। इसके सम्बन्ध में दो बातें कही गयी हैं :— माया भगवान की ही है और उसके प्रेरक भी भगवान हैं। यह बात दोनों ही क्षेत्रों के कवियों ने स्पष्ट रूप से कही। तीसरी बात यह है कि इस माया से जड़ित - भ्रमित जीव को भक्तिमार्ग के अवलंबन और भगवान की कृपा की प्राप्ति से ही मुक्ति मिल सकती है।[3] यहाँ भी तेलुगु और हिन्दी कवि समान हैं।

मोक्ष :—हिन्दी और तेलुगु के शुद्ध वैष्णव भक्तों ने इष्टदेव और उनकी भक्ति को ही साध्य मानकर मोक्ष की भी अवहेलना कर दी। तुलसीदास के ये निम्न-लिखित उद्धरण द्रष्टव्य हैं :—

चहौं न सुगति सुमति संपति कछु रिधि सिधि बिपुल बड़ाई।
हेतु रहित अनुराग रामपद बढ़ौ अनु दिन अधिकाई॥

× × ×

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउं निरबान।
जनम जनम रति रामपद यहि बरदानु न आन॥[4]

इससे स्पष्ट है कि गोस्वामी तुलसीदास जी को राम की भक्ति साधन न होकर साध्य हो गई है। समस्त हिन्दी कृष्णभक्त कवियों को केवल "शुद्धा-भक्ति" ही अभीप्सित है जिसमें इष्ट के सान्निध्य के अतिरिक्त मुक्ति के प्रति भी तिरस्कार

[1] इदिगो मायज्ञान मैप्पुडू महजमे कदिसिनीवे मम्मु करुणिंचवय्य।
—आ० सं० की०

[2] सू० सा०, १/४२

[3] पोतना ने लिखा है कि सत्सांगत्य, विष्णु-कथा-श्रवण, तथा सात्विक अनुभावों को व्यक्त करनेवाली अनन्य भक्ति के द्वारा ही हरिमाया का भंजन किया जा सकता है। —ते० भा०, ११/५५

[4] रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा २०४

मिश्रित पूर्ण उपेक्षा निहित रहती है।[१] अन्नमाचारी का व्यक्तित्व भी हिन्दी के इन भक्त कवियों से कदाचित पृथक नहीं है। वे कहते हैं कि तुम्हारे अभाव में स्वर्ग, विद्यायें, अमृत, अग्रजन्म आदि समस्त हमारे लिये पूर्णतः त्याज्य हैं। तुम्हारी भक्ति ही हमारे लिये जीवनमुक्ति है। तुम्हारे अतिरिक्त अन्य सब कुछ हमारे किस काम के हैं ?[२] अन्नमाचारी की भक्ति "वैराग्य-भक्ति" है जिसमें भगवान के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु की फलापेक्षा का पूर्णतः अभाव रहता है।[3] अन्नमाचारी की भाँति पोतना भी निष्काम और हेतुरहित भाव से भगवान के प्रति अनन्यभक्ति का प्रदर्शन करनेवाले हैं।[४] पोतना के अनुसार आदर्श भक्त वह है जिसमें मोक्ष की इच्छा का पूर्ण तिरस्कार और इष्टदेव के प्रति प्रगाढ़ भक्ति के गुण विद्यमान हों।[५]

परंपरागत दार्शनिक विचारों के प्रभाव से इन भक्त कवियों ने कभी कभी भक्ति को मोक्ष के साधन के रूप में भी स्वीकार किया। यह प्रवृत्ति हिन्दी कवियों की अपेक्षा तेलुगु कवियों में प्रबलतर है, क्योंकि तेलुगु क्षेत्र के वैष्णव सम्प्रदायों में भावसाधना की उतनी गहराई नहीं है जितनी हिन्दी क्षेत्र के वल्लभ, राधावल्लभ, हरिदासी, चैतन्य आदि सम्प्रदायों में प्राप्त होती है। इसलिये यदि तेलुगु वैष्णव कवियों में मोक्ष की कामना की उक्तियाँ कुछ अधिक मिल जायें[६] तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

४.८. निष्कर्ष

तृतीय अध्याय में सभी दार्शनिक पक्षों पर विभिन्न सम्प्रदायों के प्रवर्तक-आचार्यों के विचार दिये गये हैं। सभी ने ब्रह्म, माया, जीव, जगत और संसार के विषय में अद्वैतवादी विचारधारा में संशोधन-परिवर्तन किया। संशोधन और परिवर्तन की दशा तो एक है, पर विस्तृतियों में सूक्ष्म भेद अवश्य मिलता है। यह भेद भावात्मक साधना के अनुकूल भी है और कहीं विचारधारा में ही अन्य दार्शनिक कारणों से भेद हो गया है। पर इतना निश्चित है कि सब भक्त आचार्यों ने एक ही दिशा में यह परिवर्तन किया। ऐसी सामान्य भूमियाँ हैं जहाँ सभी आचार्यों में भाव व विचार

[१] सुद्धा भक्ति मोहिं कौं चाहै। मुक्तिहुँ कों सो नहिं अवगाहै॥—सू०सा०, ३/१३
जनम-जनम, जब-जब, जिहिं जिहिं जुग, जहाँ जहाँ जन जाइ।
तहाँ तहाँ हरिचरन कमलरति सो दृढ़ होइ रहाइ॥—सू०सा०, २/१२
आदि उक्तियाँ इस के लिये प्रमाण हैं।

[२] आ० सं० की०, २/२३८

[3] अतडे गतियनि नम्मियुंडुटिदि वैराग्य भक्ति —आ० सं० की०

[४] ते० भा०, ३/६५७, ६५८

[५] ते० भा०, १० उ०/१२१६

[६] ते० भा०, ६/१५६; आ० सं० की०, २/१५२, ३७६; आ० सं० की०, ८/२२६; आ० सं० की०, ११/१३७, पृ० ६३; परमयोगीविलासमु, पृ० १२६ (वैकुंठ का रमणीय वर्णन) आदि इसके लिये प्रमाण हैं।

मिल जाते हैं जैसे सभी की दृष्टि में ब्रह्म मुख्यतः सगुण-साकार है। निर्गुण-निराकार का पूर्ण खंडन करते हुये भी इन दोनों में या तो अभेद का कथन किया गया है या सगुण माना गया है। किन्तु निर्गुण का अर्थ उनकी दृष्टि में ब्रह्म का लौकिक गुणों से रहित होना है। दार्शनिक दृष्टि से अलौकिक गुणों से वह युक्त है। इन गुणों के दो वर्ग किये जा सकते हैं :—सृष्टिकारक गुण और महोपकारक गुण। कभी उसको विरोधी धर्मों का आश्रय कहकर उसकी पूर्णता का संकेत किया गया है। सृष्टिकारक गुणों और उन गुणों को सक्रिय बनाने वाली शक्ति के माध्यम से यह समस्त प्राकृत जगत उत्पन्न होता है। भक्तोपकारक गुण ब्रह्म के रूप को समाज के संदर्भ में प्रस्तुत करते हैं। भक्तवत्सलता आदि गुण भक्त की आशा और आस्था के आधार हैं। सामाजिक जीवन की शोषक और विनाशक शक्तियों से आक्रांत जन इसी आधार पर निराशा के गर्त में गिरने से बचते हैं। ये गुण ब्रह्म के अवतार के कारण बनते हैं। अवतरित रूप समाज के विधान को संतुलित और विकासोन्मुख करता है। इन सब गुणों की परिणति ब्रह्म में किसी भी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं कर सकती। यह सभी आचार्यों को मान्य है। आलोच्य युग के भक्त कवियों ने कहीं कहीं ब्रह्म के आचार्योक्त पारिभाषिक रूप का सैद्धान्तिक शैली में कथन किया। पर उनकी प्रातिभ साधना का प्रत्येक उच्छ्वास ब्रह्म के उस सामान्य रूप से ही अनुप्राणित है। इसीलिये तेलुगु और हिन्दी कवियों के ब्रह्म सम्बन्धी सामान्य सिद्धान्तों की ही तुलना की गयी है। यह मानी हुई बात है कि कवि का सम्बन्ध जिस सम्प्रदाय से है, उस सम्प्रदाय की विशिष्ट मान्यताओं ने उनके काव्य में स्थान पाया हो। इसलिये वहाँ समानता ढूँढ़ना अनावश्यक विस्तार के साथ कुछ नहीं है, क्योंकि समानता की अपेक्षा विषमतायें ही अधिक मिलेंगी।

जहाँ तक माया का प्रश्न है सभी आचार्य उसे ब्रह्म की शक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं। यह ब्रह्म से ही नियन्त्रित है। इस शक्ति का ब्रह्म से इसी प्रकार अभेद है जिस प्रकार सूर्य और किरणों का। इष्ट विग्रहों के साथ अधिकांश आचार्यों ने शक्ति का स्थान भी रखा। आलोच्ययुग के कवियों ने इस जगज्जननी रूप की आराधना की।

सभी आचार्य जगत को सत्य कहते हैं। अधिकांश आचार्यों के मत से जगत का आविर्भाव और तिरोभाव ब्रह्म में ही है। जगत के सम्बन्ध में ये ही उक्तियाँ आलोच्ययुग के वैष्णव कवियों ने कहीं। उनके अनुसार ब्रह्म की शक्तियाँ ही सृष्टि, पालन और संहार के लिये उत्तरदायी हैं। आलोच्य युग के कवियों ने जगत के सम्बन्ध में ये दार्शनिक संकेत तो किये और भक्ति के आलंबन भगवान के संदर्भ में भी इसकी चर्चा हुई, पर कवि जगत के तात्विक निरूपण में संलग्न नहीं हुए।

भक्तिरस का आश्रय जीव है। इसलिये जीव की विभिन्न स्थितियों के आकलन में भक्त कवियों ने विशेष रुचि ली। दार्शनिक दृष्टि से जीव ब्रह्म का अंश है। इस में ब्रह्म के कुछ गुणों का लोप रहता है। अपूर्णता की पीड़ा से उद्वेलित जीव

पूर्णता के लिये विभिन्न प्रकार की साधनाओं में रत होता है। जब भगवान का संसर्ग प्राप्त होता है, तब उसके लुप्त गुणों का उदय हो जाता है। इसकी उद्भ्रांति और विकलता का मूलकारण अविद्यावश अपने सत्य-स्वरूप से अनवगत रहना है। सभी भक्त कवियों ने जीव का यही रूप ग्रहण किया। इसके दार्शनिक पक्ष की अपेक्षा उनकी कल्पना और रूपयोजना में इस जीव के मन की चंचलता, इंद्रियों की पतनोन्मुखता, अविद्या के कारण हुई दुर्दशा का करुण और विशद चित्रण हुआ है। दूसरा पक्ष इसकी वेदना का आशावलित रूप है। अपनी भावसाधना और भगवान की कृपा से वह नित्य-रमणीय अवस्था की प्राप्ति करता है। जीव के इन्हीं दो पक्षों पर कवियों ने अधिक लिखा।

जीव अपनी अविद्याजन्य द्वैत भावना से संसार की रचना करता है। वह राग-द्वेषमय सम्बन्धों में आबद्ध होकर मिथ्या प्रपंच में सत्य की प्रतीति करता है। इस संसार का भी कवियों ने विशद चित्रण किया। इसकी भ्रामक स्थिति और भावसाधना के उन्नयन की बाधा की ओर कवियों की दृष्टि रही है।

पिछले अध्याय में बताये हुये सभी भक्त-सम्प्रदायों के तीन पक्ष हैं —एक दार्शनिक, दूसरा भावात्मक और तीसरा साधनात्मक। दार्शनिक पक्ष को आचार्यों ने परम्परागत आध्यात्मिक चिन्तनधारा से ग्रहण किया। भावात्मक पक्ष के सूत्र लोकमानस से संगृहीत हुये हैं। जहाँ तक साधना का सम्बन्ध है उसकी पृष्ठभूमि में भाव की रसमयता तो है ही जिसमें समस्त मूलवृत्तियाँ रमी रहती हैं। साधना का दूसरा पक्ष क्रियात्मक है। इसमें भक्त की पूजा-अर्चा और उसकी दिनचर्या समाविष्ट रहती हैं। यह भी सत्य है कि भाव और साधना ही जनमन को आकर्षित करता रहा, पर वेदान्तमूलक दार्शनिक तत्व आचार्यों की मेधा से ही सम्बद्ध रहे। लोकमानस का तादात्म्य इनके साथ न हो सका। इन सम्प्रदायों से प्रभावित भक्ति-साहित्य में भी भावों की कलात्मकता तो मिलती है, पर दार्शनिक ऊहापोह उतना नहीं मिलता।

पंचम अध्याय

काव्यरूप

५.१. प्रस्तावना

जिस प्रकार विषयवस्तु जनमानस और मुनिमानस से सम्बद्ध होकर दो विशिष्ट धाराओं में प्रवाहित होती है, उसी प्रकार काव्यरूप भी भाव और बोध के इन दोनों स्तरों से सम्बद्ध होते हैं। सिद्धान्तत: यह स्वीकार किया जाता है कि सभी काव्यरूपों का मूलोत्स लोकवार्ता में ही है।[1] आलोच्ययुग का सूत्र एक ओर उच्चस्तरीय ज्ञान-कोश से सम्बद्ध है और दूसरी ओर वह सूत्र लोकमानस की गहराइयों का भेदन करता हुआ चला गया है। यही आलोच्ययुग के भक्ति-साहित्य की विलक्षणता है। भक्त-कवियों का उद्देश्य अपनी वाणी द्वारा लोकमानस का संस्कार-परिष्कार करना था। अत: उन्हें लोक शैली और लोकगत काव्यरूपों को अपनाना ही उद्देश्य की दृष्टि से श्रेयस्कर लगा। साथ ही शास्त्रीयता से बोझिल वर्गीय, "मार्गीय" काव्यरूपों में उन्हें अपने निश्छल और उद्दाम भावावेशों को ढालना कठिन भी प्रतीत हुआ। इस काव्यरूप के प्रश्न को लेकर मार्गीय और गेय, "भाषा" और संस्कृत में क्रिया-प्रतिक्रिया भी रही। अन्तत: भक्तों की वाणी अपनी समस्त अनुभूतियों के साथ लोक के स्वरों को ग्रहण करके लोक की अन्तर्भूमियों में प्रविष्ट हुई और उसकी प्रतिध्वनि जनमानस में आज तक गूँज रही है। यह संघर्ष हिन्दी और तेलुगु दोनों ही क्षेत्रों में चलता रहा।

हिन्दी क्षेत्र के वैष्णव कवि राज्याश्रय के बन्धन में न बंधने के कारण, वहाँ शास्त्रीय पद्धति या वर्णवृत्तों का प्रयोग प्राय: भक्तकवियों ने नहीं किया। तुलसी ने महाकाव्यों के सभी लक्षणों का निर्वाह करते हुये भी पौराणिक शैली और मात्रिक छंदों से इसे सजाकर लौकिक परिपाटी का अनुसरण किया। फलत: मानस लोकमानस के साथ एकमएक हो गया। हिन्दी क्षेत्र में शास्त्रीय और लोकस्वीकृत शैली में अधिक भेद नहीं मिलता। वहाँ दोहा-चौपाई, पद-गीत, तथा दोहा-सोरठा छंद ही भक्ति की अभिव्यक्ति के माध्यम बने रहे। यद्यपि उसी काल में केशव ने शुद्ध शास्त्रीय वृत्तों में रामकथा को निबद्ध किया, इसी कारण उनकी "रामचन्द्रिका" भक्ति साहित्य के परिकर में नहीं आती।

[1] डा० सत्येन्द्र, "मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन", पृष्ठ ४४७

तेलुगु-क्षेत्र में भक्ति-साहित्य दोनों ही मार्गों का अनुगामी रहा। शास्त्रीय पद्धति और संस्कृत वर्णवृत्तों का प्रयोग श्रीकृष्णदेवरायलु कृत "आमुक्तमाल्यदा", चिंतलपूडि एल्लनार्युडु कृत "राधामाधवमु", अय्यलराजु रामभद्र कृत "रामाभ्युदय", नंदि तिम्मना कृत "पारिजातापहरण", संकुसाल नृसिंह कवि कृत "कविकर्ण रसायनमु" प्रभृति ग्रन्थों में विशेष रूप से हुआ है। पर जैसा कि हम प्रथम अध्याय में देख चुके हैं शास्त्रीय काव्य-रूप को राज्याश्रय ने ही प्रोत्साहन दिया। यद्यपि कुछ अपवाद भी इस नियम के मिलते हैं जैसे राज्याश्रय मुक्त संकुसाल नृसिंह कवि कृत "कविकर्ण-रसायनमु" तथापि इन काव्य-रूपों का सम्बन्ध या तो अभिजात रुचि से अथवा राज्याश्रय में लिखे जानेवाले साहित्य के अनुकरण से माना जाना चाहिये।

तेलुगु क्षेत्र के शास्त्रीय शैली में निबद्ध वैष्णवभक्ति साहित्य जनमानस के इतने समीप न आ सका जितना "मोल्लरामायण" आदि चरितकाव्य, "द्विपदा" छन्द में रचित काव्य, शतक-साहित्य, गेय-साहित्य आदि। राज्याश्रय में शास्त्रीय रूपयोजना चलती अवश्य रही। अधिकांश तेलुगु के पुराण इसी कोटि में आते हैं। पर ये प्राय: अधिक लोकप्रिय नहीं हो सके। पोतना का "श्रीमदान्ध्रभागवत" इसका एक अपवाद कहा जा सकता है। इसका कारण यह है कि उन्होंने इसमें संस्कृत वर्णवृत्तों का कम प्रयोग किया है। इतना ही नहीं, इन्होंने भाषा और शैली की दृष्टि से इसे इतना लोकमानसानुकूल बना दिया है कि "श्रीमदान्ध्रभागवत" आज भी जन-जन का कंठहार है। यहाँ एक बात और स्मरण रखना चाहिये कि पोतना के पूर्व "भागवत" के दशम स्कंध का रूपान्तर मडिकि सिंगना के द्वारा द्विपदा में हो चुका था जिससे "भागवत" की कथा जनप्रिय हो चुकी थी। इसके अतिरिक्त "श्रीमद्भागवत" अपनी भक्ति-स्निग्धता के कारण मानवमात्र को अभिभूत करने वाला है। इन कारणों से पोतना के "श्रीमदान्ध्रभागवत" में यद्यपि संस्कृतगर्भित शैली का, सुदीर्घ क्लिष्ट "वचनों" का यत्र-तत्र प्रयोग होने पर भी उसकी लोकप्रियता में कोई बाधा नहीं पड़ी। मोल्ला की भाषा, शैली, छन्द आदि सब जनमानस के इतने अनुकूल हैं कि उसका "मोल्लारामायण" जनरुचि को यथाशक्ति आकृष्ट कर सका। प्रस्तुत अध्याय में तेलुगु और हिन्दी वैष्णव भक्त-कवियों के द्वारा प्रयुक्त काव्यरूपों का तुलनात्मक अध्ययन किया जा रहा है।

आलोच्ययुग में जो काव्यरूप प्रचलित थे उनको प्रबन्ध और मुक्तक के रूप में विभाजित किया जा सकता है। जहाँ तक प्रबन्ध काव्यों का सम्बन्ध है, हिन्दी और तेलुगु क्षेत्रों में रूपवैविध्य की अपेक्षा रूपसाम्य ही अधिक मिलता है। दोनों ही क्षेत्रों की पृष्ठभूमि शास्त्रीय और पौराणिक काव्यों से युक्त है। पर शास्त्रीय प्रबन्धों की परम्परा तेलुगु में विशेष समादृत रही है। हिन्दी क्षेत्र में लोकोन्मुख परम्परा को ही विशेष लोकप्रियता प्राप्त हुई। इसका मुख्य कारण तेलुगु क्षेत्र में भक्ति-साहित्य को राज्याश्रय या सामन्ताश्रय प्राप्त होना या ऐसे साहित्य से प्रभाव ग्रहण करना ही

सकता है। परिमाण को यदि छोड़ दें तो दोनों साहित्यों के काव्यरूप एक ही हैं। इन प्रकारों का वर्गीकरण यह हो सकता है :—
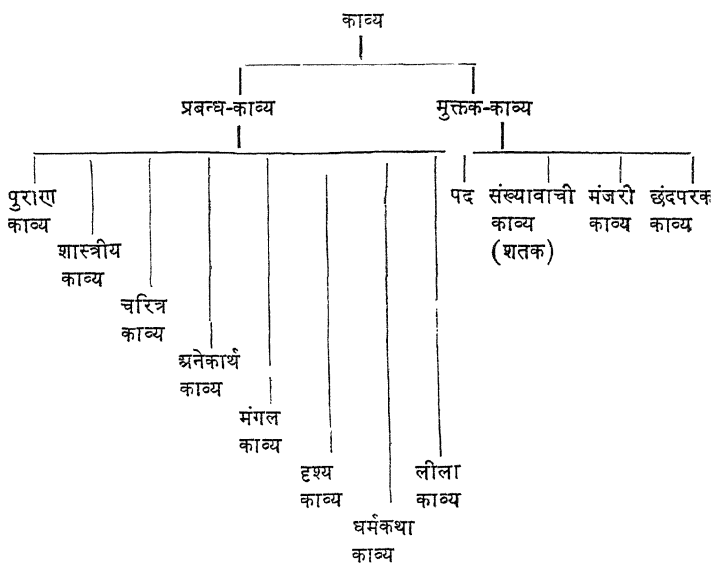
इसी वर्गीकरण के अनुसार नीचे इस अध्याय की विषय-योजना की गयी है।

५.२. काव्य

५.२१. प्रबन्ध

५.२१. क. पुराण

हिन्दी और तेलुगु में आलोच्ययुग में पुराणों का प्रणयन नहीं हुआ। हाँ, अनेक पुराणों के हिन्दी और तेलुगु में रूपान्तर प्रस्तुत किये गये। तेलुगु क्षेत्र में पुराण साहित्य की लोकप्रियता बहुत अधिक रही। इसीलिये संस्कृतपुराण पर आधारित प्रबन्ध-काव्य और अनूदित पुराण आलोच्ययुग के तेलुगु-साहित्य में सब से अधिक परिमाण में हैं। वैसे सभी क्षेत्रों का भक्तिसाहित्य पुराणों से प्रेरणा और सामग्री ग्रहण करता रहा, पर तेलुगु-क्षेत्र में हिन्दी-साहित्य की अपेक्षा पुराणों के अधिक अनुवाद हुये हैं। इसीलिये ई० सोलहवीं शताब्दी के पूर्व के युग को तेलुगु में "पुराण-युग" की संज्ञा भी प्रायः दी जाती है। तेलुगु में रूपान्तर किये गये केवल वैष्णव पुराणों की सूची इस प्रकार है :—

भागवत से सम्बन्धित पुराण (६) :—द्विपदबालभागवतमु (दोनूरि कोनेरु कवि); पद्यबालभागवतमु (दोनूरि कोनेरु कवि); भ्रमरगीत (एलकूचि बाल-

सरस्वती) ; भागवत के ७, ११, १२ स्कंध (हरिभट्ट) ; भागवत दशम स्कंध (मडिकि सिंगना) ; श्रीमदान्ध्रभागवत (बम्मेर पोतना) ।

भारत से सम्बन्धित पुराण (३) :—जैमिनी भारत (पल्ललमर्रि पिनवीरभद्र); बाल भारत (अनुपलब्ध) - (काकमानि गंगाधरुडु); बाल भारत (अनुपलब्ध) - (प्रोलुगंटि चिन्नशौरि) ।

उपाख्यान (३) :—नासिकेतोपाख्यानमु (अनुपलब्ध) - (चेंदलूरि चिक्कय्य); नासिकेतोपाख्यानमु (दुग्गवल्लि दुग्गन); नासिकेतोपाख्यानमु (दूबगुंट नारायण कवि) ।

वामनपुराण से सम्बन्धित पुराण (३) :—वामन पुराण (एलकूचि बाल-सरस्वती); वामन पुराण (पोन्नगतोट औवळ कवि); वामन पुराण (अनुपलब्ध)-(लिंगमकुंटराम कवि) ।

नृसिंह पुराण से सम्बन्धित पुराण (२) :—नृसिंह पुराण (प्रोलुगंटि चिन्न-शौरि); नृसिंह पुराण (हरिभट्ट) ।

पद्मपुराण से सम्बन्धित पुराण (२) :—पद्मपुराण (कामिनेनि मल्ला रेड्डि); पद्मपुराणोत्तर खंड (मडिकि सिंगना) ।

मत्स्य पुराण से सम्बन्धित पुराण (२) :—मत्स्य पुराण (अनुपलब्ध) - (लिंगमकुंट राम कवि); मत्स्य पुराण (हरिभट्ट) ।

वराह पुराण से सम्बन्धित पुराण (२) :—वराह पुराण (नंदि मल्लना और घंट सिंगय्य); वाराह पुराण (अप्रकाशित) - (हरिभट्ट) ।

विष्णु पुराण से सम्बन्धित पुराण (२) :—विष्णु पुराण (कदलिंडि भाव-नारायण); विष्णु पुराण (वेन्नेलकंटि सूरना) ।

हरिवंशमु से सम्बन्धित पुराण (१) :—आन्ध्र हरिवंशमु (ताळ्लपाक पेदतिरुमलाचारी) ।

गरुड पुराण से सम्बन्धित पुराण (१) :—गरुड पुराण (पिंगळि सूरना) ।

कुल तेलुगु वैष्णव पुराण = २७

उक्त सूची के सभी पुराणों में पोतना कृत "श्रीमदान्ध्रभागवत" को ही सर्वोच्च स्थान प्राप्त है ।

तेलुगु के पुराण-साहित्य के कवि प्रतिभावान थे । मूल ग्रन्थ के विषयों को सुन्दरतम बनाने में, मूल ग्रन्थ के अनौचित्यों को दूर करने में, मूल विषयों को देश, काल परिस्थितियों एवं वांछित प्रयोजन के अनुरूप लिखने में और मौलिक प्रसंगों की उद्‌भावना करने में तेलुगु के पुराण कवि सिद्धहस्त थे । संस्कृत के पुराणों में निहित अपार एवं अमूल्य ज्ञानराशि का सामान्य प्रजा में प्रचार करने के लोक कल्याण की भावना से ही तेलुगु के कवियों ने पुराणों की रचना की थी । राजाओं के प्रोत्साहन ने भी कुछ अंश तक कवियों को पुराणों की रचना के लिये प्रवृत्त किया । तत्कालीन कवियों की आध्यात्मिक तत्परता, प्रजा को धार्मिक अभिरुचि, तत्कालीन परिस्थितियाँ आदि अनेक कारण पुराणों की रचना के मूल में निहित हैं ।

पौराणिक साहित्य अपभ्रंश में भी प्रचलित रहा और हिन्दी में भी। पुराण-साहित्य भी लोकोन्मुखी ही है। यह अनुश्रुति है कि वेदों को समझने के लिये पुराण साहित्य की लोक को आवश्यकता हुई। तेलुगु से जिस प्रकार पुराणों का अनुवाद और उनके आधार पर काव्य-रचना हुई, वैसे ही हिन्दी में भी। "सूर-सागर" को हम "भागवत" का पूर्ण अनुवाद नहीं कह सकते; केवल उससे प्रेरणा-ग्रहण किया हुआ मान सकते हैं। संस्कृत पुराणों के अनुकरण पर लिखे हुये हिन्दा ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है :—

भागवत से सम्बन्धित पुराण (३) :—दशम भागवत दूहा (पृथ्वीराज राठौड); भागवत दशम स्कंध (नन्ददास); हरिचरित्र भागवत दशम स्कंध (लालचदास तथा असनंद)।

गरुड पुराण से सम्बन्धित पुराण (१) :—गरुड पुराण (हंसरदास बारहट)।

हरिचन्द्र पुराण (जाखेमणिहार) ई० १४५३

कुल हिन्दी वैष्णव पुराण=५

हिन्दी में आलोच्य युग में पुराणों के ये निम्नलिखित भाष्य ग्रन्थ भी लिखे गये थे :— एकादशस्कंध भाषा—चतुरदास; भागवत दशम स्कंध भाषा—लालचराम; भागवत भाष्य—बलभद्र; महाभारत भाषा—विष्णुदास ई० १४९२; वामन पुराण भाषा—ध्रुवदास।

उपर्युक्त सूचियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि तेलुगु में वैष्णव-पुराणों की लोकप्रियता, हिन्दी से भी अधिक थी। यदि परिमाण की दृष्टि से देखें तो दोनों ही क्षेत्रों में सब से अधिक लोकप्रिय पुराण "भागवत" ही है। तेलुगु में भागवत से सम्बन्धित छे पुराण मिलते हैं। हिन्दी में भाष्य ग्रंथों को भी जोड़ने से भागवत से सम्बन्धित पुराण छे हो जाते हैं। भागवत पुराण वस्तुतः समस्त कृष्ण-भक्ति-साहित्य का मूल उत्स ही है। भागवत के साथ हरिवंश, पद्मपुराण और महाभारत आदि पुराणों को जोड़ देने से कृष्णप्रधान पुराण तेलुगु में ग्यारह हो जाते हैं। हिन्दी में "महाभारत भाषा" को भी सम्मिलित कर लेने से कृष्ण-प्रधान पुराण सात हो जाते हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि हिन्दी और तेलुगु वैष्णव पुराण-साहित्य में कृष्ण को ही अधिक महत्व दिया गया है।

पुराणों के अनुवाद की जो परम्परा तेलुगु में बहुत पहले ही लोकप्रिय हो गयी थी, वह हिन्दी में कुछ देर से प्रारंभ हुई, यद्यपि अपभ्रंश में कुछ जैन-पुराण अवश्य लिखे गये थे।[१] पर आलोच्ययुग के पश्चात् यह परम्परा अधिक बलवती हुई। नीचे की सूची से यह परवर्ती परम्परा स्पष्ट होती है। फिर भी काव्य के इस पक्ष में तेलुगु वैष्णव-साहित्य निश्चित रूप से हिन्दी से कुछ आगे है। तेलुगु में प्रायः संस्कृत पुराणों का पूरे का पूरा अनुवाद होता था, किन्तु हिन्दी में प्रायः पुराण के कुछ

[१] देखिये "ब्रजभारती", मथुरा, वर्ष १९१४, अंक १, पृष्ठ ११

मार्मिक स्थलों को ही कवि ग्रहण करते थे। इस दृष्टि से भी तेलुगु के वैष्णव पुराणों के परिमाण का हिन्दी की अपेक्षा अधिकतर होना विदित होता है।

५.२१. ख. शास्त्रीय

हिन्दी-क्षेत्र में प्रबन्ध की ओर प्रवृत्ति बहुत कम रही। रामकथा और सूफी प्रेमकथा में प्रबन्ध के माध्यम से ही अपने धर्म-दर्शन को प्रकट करते थे। पर समस्त निर्गुण धारा और कृष्णभक्ति साहित्य मुक्तक साहित्य ही है। रामकथा का विधान कुछ ऐसा ही है कि वह प्रबन्ध के लिये उपयुक्त हो जाता है। उस कथा में एकसूत्रता, कथानक के विकास की उचित सरणियाँ और महाकाव्योचित गौरव हैं। इसीलिये हिन्दी-क्षेत्र में रामकथा सम्बन्धी प्रबन्ध-साहित्य मिलता है। रामकथा के भी दो रूप मिलते हैं—संस्कृत शास्त्रीय शैली का तथा प्राकृत शैली का। संस्कृत शैली में भवभूति का "उत्तररामचरित्र" और कालिदास का "रघुवंश" जैसे ग्रन्थ आते हैं। प्राकृत-परम्परा में सबसे प्रमुख स्वयंभू का "पउमचरिउ" है। प्रथम परम्परा में केशव की "राम-चन्द्रिका" और द्वितीय परम्परा में तुलसीदास कृत "रामचरित मानस" आते हैं। तेलुगु-क्षेत्र में शास्त्रीय शैली में अय्यलराजुरामभद्र कवि कृत "रामाभ्युदयमु" और लोक शैली में "मोल्लरामायण" की गणना की जाती है। "रामाभ्युदयमु" और "रामचंद्रिका" तुलनीय हैं तथा दूसरी ओर "रामचरितमानस" और "मोल्लरामायण"। केशव की दृष्टि काव्य के विभिन्न उपकरणों के प्रयोग और उनकी समृद्धि की ओर विशेष रूप से है, पर तुलसी की दृष्टि लोकमानस की परितृप्ति और एक विस्तृत पुराण-परम्परा को समेटने की ओर है।

यह अन्तर तेलुगु-क्षेत्र में भी बना हुआ है। कुछ कवि शास्त्रीय दृष्टि से प्रबन्ध-कल्पना में प्रवृत्त हुये और कुछ कवि लोक की ओर झुके रहे। पर तेलुगु-क्षेत्र में अधिक मान्यता और मूल्य शास्त्रीय पद्धति को ही प्राप्त हुआ और इसका कारण आलोच्ययुगीन तेलुगु-क्षेत्र के परिक्षेत्र में है। इसके विपरीत हिन्दी-क्षेत्र में लोक शैली को मान्यता प्राप्त हुई, शास्त्रीय शैली को नहीं। इसका कारण यह है कि अभिजात वर्ग के शास्त्रोक्त अभिरुचि से हिन्दी-क्षेत्र प्रबन्ध बंधे हुए नहीं थे।

एक और बात यहाँ उल्लेखनीय है। कृष्णवार्ता के प्रबन्ध काव्य हिन्दी क्षेत्र में नगण्य ही हैं। इसका कारण यह है कि ब्रजकृष्ण का चरित्र हिन्दी-क्षेत्र के कवि और उस क्षेत्र के भक्त आचार्यों को आकर्षित करता रहा। अष्टमहिषियों से अभि-मंडित कृष्ण की झाँकी तेलुगु के भक्त-कवियों को तो मनोरम लगती थी, पर हिन्दी क्षेत्र के भक्त-कवियों को नहीं। कृष्णवार्ता में यदि कहीं आभिजात्य के तत्व मिलते हैं तो उनके द्वारका-जीवन में ही। ब्रजजीवन में जो लीलायें घटित हुईं, वे या तो अत्यन्त अलौकिक थीं या बिना किसी प्रबन्धोचित भूमिका और समीचीन घटना विधान के ही घटित हो गयीं। अतः वे प्रबन्ध काव्य के उपयुक्त नहीं बन सकतीं। जहाँ तक उनकी मधुर लीलाओं का सम्बन्ध है वे तो आत्मचुम्बी रसानुभूतियों के ही

दिव्य क्षणों में अवतरित हुईं। उनके लिये जो वस्तु विधान खड़ा हुआ वह न धार्मिक मर्यादाओं पर बन सकता था, न महाकाव्यों की शास्त्रीयता में। तेलुगु-क्षेत्र में सत्यभामा और रुक्मिणी नायिकायें हैं और कृष्ण नायक। इनके प्रेम-प्रसंग प्रबन्धोचित हैं।

चिन्तलपूडि एल्लनार्युडु का "राधामाधव" तेलुगु के कृष्णमार्गीय प्रबन्ध-काव्यों में एक अपवाद है। इसमें रुक्मिणी के स्थान पर राधा है। पर ध्यान से देखने पर प्रतीत होता है कि रुक्मिणी-कल्याण की कथा "राधामाधव" पर आरोपित कर दी गयी।

कृष्ण-संबन्धी तेलुगु-प्रबन्धों को प्रेम कथा की शैली में रक्खा जा सकता है। इन प्रसंगों पर हिन्दी-क्षेत्र में भी कुछ प्रेम कथायें रची गयी हैं :— अग्रवाल—प्रद्युम्न चरित; (ई० १४११) वासुदेव कुमार चाउपइ[1]; नंददास—रूपमंजरी; पृथ्वी-राज राठौड—बेलिकृष्णरुक्मिणी री।

हिन्दी-क्षेत्र में कृष्णाश्रित कथा-प्रसंगों के आधार पर प्रेम-कथाओं की परम्परा तेलुगु-क्षेत्र की अपेक्षा कुछ पीछे चली।[2] पर यह प्रेमकथा-परम्परा जैन-साहित्य में भी मिलती है। पीछे प्रेमकथाओं को धार्मिकता से युक्त करके उपस्थित किया जाने लगा।

यहाँ एक और बात द्रष्टव्य है। मध्यकालीन तेलुगु-साहित्य के लगभग समस्त प्रबन्ध काव्यों की रचना चंपू शैली में ही हुई है। केवल तिक्कना एक अपवाद हैं जिन्होंने "निर्वचनोत्तररामायण" की रचना की, यद्यपि "महाभारत" में उन्होंने चंपू शैली का ही प्रयोग किया है। तेलुगु-साहित्य में द्विपदा छन्द में भी पुराण और अनेक प्रबन्ध काव्य रचे गये थे। इनमें गद्य का प्रयोग कदाचित नहीं हुआ। यही वह रेखा है जो हिन्दी के प्रबन्ध-साहित्य को तेलुगु के प्रबन्ध-साहित्य से पृथक करती है और यही वह मिलन-रेखा भी है जहाँ द्विपदा-प्रबन्ध हिन्दी-प्रबन्ध से मिलते हैं।

तेलुगु काव्यों में प्रयुक्त "वचनमुलु" (गद्य) के स्वरूप पर प्रकाश डालना नितान्त आवश्यक प्रतीत होता है। "वचनमुलु" का प्रयोग कवियों ने कहीं अपने वंश-परिचय के लिये किया है और कहीं अपने जीवन की घटनाओं के चित्रण में। कहीं-कहीं गुरु और इष्टदेव का परिचय भी वचनमुलु के माध्यम से कराया गया है। तेलुगु के प्रबन्ध काव्यों में इसका प्रयोग निम्नलिखित रूपों में होता था :—

१. दो पद्य या सन्निवेशों के मध्य सम्बन्ध वाक्यों की तरह प्रयुक्त होना;
२. कभी-कभी पात्रों के नामों को सूचित करने के लिये।

[1] परिचय के लिये देखिये—"भारतीय साहित्य", अक्तूबर, १९५६, पृ० २४

[2] "सब से अधिक कथा लेखन का प्रेम ई० १७वीं, १८वीं और १९वीं शताब्दियों में मिलता है।"—डा० सत्येन्द्र, "मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन", पृ० २३५

३. प्रायः पुराणों में प्रयुक्त वचन सुबोध, सरल, दीर्घ और विषय-प्रधान होता है। इसमें कथा की गति को क्षिप्रता मिलती है। इसके विपरीत शास्त्रीय प्रबन्ध का वचन प्रायः सुदीर्घ, आलंकारिक, वर्णनात्मक, समासगुंफित और शब्दालंकारों से मंडित होकर शास्त्रीयता से बोझिल रहता है। "श्रीमद् आन्ध्र भागवत" पुराण होने पर भी इसमें प्रबन्ध-तत्व अधिक मिलते हैं। इसलिये इसके वचनों का स्वरूप प्रबन्ध के वचनों से सादृश्य रखता है। प्रबन्ध के वचन कथावेग के साथ सहयोग नहीं करते। कथा-स्रवन्ती वचन-पर्वत के पास आकर एकदम रुक जाती है। तदनन्तर वचन-पर्वत को पार करके पुनर्प्रवाहित होती है। अतः प्रबन्ध काव्यों में कथा में निहित सन्निवेशों का अधिक वर्णन करना ही वचन की उपयोगिता है। पोतना के "भागवत" में इस प्रकार के सुदीर्घवचन अनेक प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ "गजेन्द्रमोक्ष" के प्रसंग में उन्होंने २२ पंक्तियों के एक वचन का प्रयोग किया है। इस समस्त वचन में गजेन्द्र विहार करने के लिये गये हुए अरण्य का ही वर्णन है।[1]

४. कथा का आरम्भ करते समय, किसी वृतान्त का स्पष्टीकरण करते समय, पूर्व वृत्तान्त को संक्षेप में कहने के लिये, उपदेश देने के लिये, नीरस तथ्यों का विवरण देते समय भी वचन का प्रयोग होता है।

५. पोतना, श्रीकृष्णदेवराय आदि ने धर्म और दर्शन का विवरण देने के लिए सुदीर्घ गद्यों का प्रवेश कराया है। इस प्रकार धर्म, दर्शन आदि के स्पष्टीकरण के लिये "वचनमु" यत्र-तत्र वाहक बना।

हिन्दी में शास्त्रीय शैली को आधार बनाकर लिखे गये प्रबन्ध काव्यों की संख्या आलोच्ययुग में बहुत ही कम रही। अकेली केशव कृत "रामचंद्रिका" ही इस शैली की रचना है। इसका कारण यही है कि आलोच्ययुग में हिन्दी साहित्य शास्त्र की अपेक्षा लोक से अधिक प्रभावित रहा। ऐसे प्रबन्ध तेलुगु-क्षेत्र में निम्नलिखित हैं :— (१) रामाभ्युदयमु (अय्यलराजु रामभद्रकवि), (२) राधामाधवमु (चिंतलपूडि एल्लनार्युडु), (३) पारिजातापहरण (नंदि तिम्मना), (४) आमुक्तमाल्यदा (श्रीकृष्णदेवराय), (५) कविकर्णरसायनमु (संकुसाल नृसिंहकवि)।

इन प्रबन्ध-काव्यों की विषयवस्तु पर संक्षिप्त परिचयात्मक दृष्टि डाल लेना समीचीन होगा।

आचार्य केशवदासजी की "रामचन्द्रिका":—इसमें कुल ३९ प्रकाश या सर्ग हैं। शब्द-चमत्कार, अलंकार-वैचित्र्य, छन्द-वैविध्य, मार्मिक संवाद, विविध प्रकार के वर्णन आदि की दृष्टि से यह अवश्य एक महत्वपूर्ण काव्य है। इसमें यत्र-तत्र हृदय को स्पंदित करने वाले मार्मिक वर्णन भी हैं। जैसे सीता का विरह-वर्णन आदि। किन्तु ऐसे सन्निवेश अधिक नहीं हैं। इसमें भक्ति, दर्शन, हितोपदेश आदि तत्व अवश्य हैं। किन्तु ये सब एक भक्त-कवि की अभिव्यक्ति के रूप में न आकर कवि-कल्पना-

[1] श्रीमदान्ध्र भागवत, ८/२४

प्रसूत जान पड़ते हैं। एक दरबारी मनोवृत्ति के कवि से भक्ति पूर्ण व्यक्तित्व की आशा करना भी उचित नहीं है।

अय्यलराजु रामभद्रकवि कृत "रामाभ्युदयमु" :—यह रामचरित्र ही है जिस का आरंभ राम के जन्म से और अन्त रावण के वध के उपरान्त राम के राज्याभिषेक से होता है। इसमें कवि ने शास्त्रीय शैली को अपनाकर शास्त्रसम्मत विशद वर्णनों से इसके आकार का विस्तार किया। कवि की प्रवृत्ति भाषा, शब्द और अलंकार की ओर विशेष है। यह प्रबन्ध आठ आश्वासों में समाप्त हुआ है। इसमें पंडितवर्ग को चकित करने वाला पांडित्यप्रदर्शन दृष्टिगोचर होता है।

चिंतलपूडि एल्लनार्युडु कृत "राधामाधवमु" :—यह भी प्रबन्ध काव्य है। इसकी कथा का सूत्र-विधान इस प्रकार है :—माधव का सहस्रगोप की पुत्री राधा की ओर आकर्षित होना—प्राप्ति के लिये भारती देवी से प्रार्थना और भारती देवी का सुन्दर वेष धारण करके राधा के यहाँ प्रस्थान और उनके द्वारा राधा के हृदय में कृष्ण के प्रति प्रेम उत्पन्न करना—सहस्रगोप के पुत्र भद्रक की अस्वीकृति—स्वयंवर की योजना और राधा द्वारा माधव का वरण—कृष्ण के द्वारा राधा का हरण—राधा-माधव का वृन्दावन-गमन और विविध क्रीडायें।

उक्त कथा का सूत्र-विधान प्रेम-कथाओं के रूप में हुआ है। यह पाँच आश्वासों में समाप्त हुआ है। पर यह निश्चित है कि इसका कथा-विधान "आमुक्त-माल्यदा" के समान पौराणिक शैली में लिखा हुआ नहीं है। इसकी शैली प्रेमगाथा की है। साथ ही "आमुक्तमाल्यदा" का उद्देश्य भक्तों की कथा कहना है, "राधा-माधव" का उद्देश्य लीलाकथा कहना नहीं है। पर गोदा देवी के प्रसंग से "राधा-माधव" की कथा का साम्य अवश्य है। राधा और गोदा दोनों ही भगवतप्रिया के रूप में चित्रित हैं और दोनों ही को आरम्भ में भगवान को वरण करने में कुछ कठिनाई होती है।

नंदितिम्मना कृत "पारिजातापहरण" :—यह हरिवंश पुराण पर आधारित एक प्रसिद्ध प्रेमकथा है। इस कथा का सूत्र-विन्यास इस प्रकार हुआ :—नारदजी स्वर्ग से एक पारिजात पुष्प लाकर श्रीकृष्ण को देते हैं—श्रीकृष्ण पहले दुविधाग्रस्त होते हैं कि यह पुष्प रुक्मिणी को दिया जाय या सत्यभामा को। अन्त में रुक्मिणी को अपने सामने रहते देखकर वे उन्हीं को पुष्प समर्पित करते हैं—एक सखी के द्वारा सत्यभामा इस प्रसंग को सुनकर श्रीकृष्ण से मान करती हैं और श्रीकृष्ण की सेव-चर्या से भी उनका मान मोचन नही होता। अन्ततः मानिनी कृष्ण के मस्तक पर पाद-प्रहार करती हैं[1]—कृष्ण रुष्ट नहीं होते, इस घटना को अपना सौभाग्य समझते हैं। उन्हें चिन्ता इसलिये होती है कि कहीं उस तन्वी के पाद में बाधा उत्पन्न हुई हो।

[1] पारिजातापहरण, १/१२१

कृष्ण पारिजात वृक्ष लाने का वचन देते हैं ।—श्रीकृष्ण इन्द्र को युद्ध में पराजित करके अभीष्ट की प्राप्ति करते हैं और मानिनी नायिका को प्रसन्न करते हैं ।

यह कथा भी पौराणिक शैली की न होकर प्रेमकथा के रूप में ढाली गयी है। एक नायिका को शास्त्रीय रूप में चित्रित करके कथा को शास्त्रीय रूप प्रदान किया गया है । साथ ही नायिका की इच्छा को पूर्ण करने का अभिप्राय अनेक लोककथाओं और पुराण-कथाओं में है । उदाहरणार्थ राम का मारीच वध-प्रसंग नायिका की इच्छा को पूर्ण करने के लिये ही है । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि "पारिजातापहरण" की कथा शास्त्रीय उपकरणों से सुसज्जित एक प्रेमकथा ही है ।

इस प्रेमकथा का धर्म के साथ समन्वय करने के उद्देश्य से कवि ने यत्र-तत्र कुछ अलौकिक तत्वों का भी समावेश इस काव्य में किया है । नारद पात्र की कल्पना कलह उत्पन्न[1] करने के लिये ही नहीं, वरन् श्रीकृष्ण के दैवत्व-प्रदर्शन के लिये भी कवि ने की है । नारद के द्वारा श्रीकृष्ण के प्रति कहे गये स्तोत्रों में यही तथ्य निहित है । साथ ही कवि ने पुण्यक व्रत का विस्तृत वर्णन भी इसमें किया है ।

श्री कृष्णदेवरायलु कृत "आमुक्तमाल्यदा"[2] :—इस ग्रन्थ का सांस्कृतिक महत्व इस बात से है कि तत्कालीन जीवन के सम्बन्ध में इसके वर्णन प्रचुर सूचनायें देते हैं । इसीलिये आन्ध्र देश के सांस्कृतिक इतिहासकार इसके महत्व को ऐतिहासिक दृष्टि से आँकते हैं । यह कुछ वैष्णव आळ्वार भक्तों के जीवन, दार्शनिक सिद्धान्त, संदेश आदि पर टिप्पणियाँ देनेवाला ग्रन्थ है । आलोच्य युग में हिन्दी वैष्णववार्ता साहित्य में भक्तों के चरित्रों को अवश्य कहा गया है । किन्तु इस प्रकार प्रबन्धों के रूप में कदाचित् नहीं । पर श्रीकृष्णदेवराय ने तीन आळ्वार भक्तों से सम्बन्धित प्रसंगों को इस काव्य में प्रबन्धबद्ध किया है । इस काव्य में दो अवान्तर-कथायें भी हैं । उक्त पाँचों चरित्र कथाओं को कवि एक ही कथा-सूत्र में प्रस्तुत करना चाहते हैं । ऐसा करने में चाहे कालक्रम-सम्बन्धी व्यवधान आ गये हों, पर भावात्मक संगतियाँ बिठाने की चेष्टा अवश्य की गयी है । इस नियोजन में लेखक संवादों और उपकथाओं की कड़ियाँ जोड़ता है । इसका कथानक लौकिक और अलौकिक तत्वों से मिश्रित है । विष्णुचित्त इस कथा का केन्द्रीय चरित्र है । अवान्तर सूत्रों या संवादों के द्वारा

[1] "पारिजातापहरण", १/९६

[2] इस के नामकरण के सम्बन्ध में दा स्वयं श्रीकृष्णदेवराय ने एक कारण-कथा कही है। विष्णुचित्त की अनुपस्थिति में गोदा देवी पूजार्थ संचित पुष्प-मालाओं को धारण कर लेती थी । इन्हीं गोदा देवी-सेवित पुष्पहारों को विष्णुचित्त श्रीरंगनाथ को निवेदित करते थे । इस रहस्य के ज्ञात होने पर विष्णुचित्त बहुत बिगड़े, पर रंगनाथ जी ने गोदा के प्रेम की अलौकिकता सिद्ध की । इसीलिये इस काव्य का नाम "आमुक्तमाल्यदा" हुआ । केन्द्रीय चरित्र के आधार पर इसका नाम "विष्णुचित्तीय" भी पड़ गया ।

कथांशों को विष्णुचित्त से सम्बद्ध किया गया है। कथावस्तु का विधान इस प्रकार है :—

१. विष्णुचित्त भक्त के रूप में :—विष्णु द्वारा पांड्य-राजा के दरबार में होनेवाले बहुधर्म सम्मेलन में जाने की प्रेरणा—वहाँ विष्णु की कला से वैष्णव धर्म की विजय का निमित्त बनना—उद्देश्य, वैष्णव धर्म की श्रेष्ठता की घोषणा।

२. यामुनाचार्य की कथा :—विष्णुचित्त फूलमाला लेकर मंदिर में प्रवेश करते हैं। विष्णु लक्ष्मी को उनका परिचय देते हुये उन्हीं के समान भक्त यामुनाचार्य का उल्लेख करते हैं और लक्ष्मी की जिज्ञासा पर यामुनाचार्य का वृत्तान्त कहते हैं। इस प्रसंग का विष्णुचित्त से जो सम्बन्ध जोड़ा गया है, वह अत्यन्त झीना है। वस्तुतः कवि यामुनाचार्य का वृत्तान्त ही कहना चाहता है। पर प्रबन्ध के आग्रह से इस वृत्तान्त को विष्णुचित्त से सम्बद्ध करने की चेष्टा करता है। वस्तुतः यह एक स्वतंत्र प्रसंग-जैसा लगता है। यामुनाचार्य की कथा का अभिप्राय-गत विश्लेषण इस प्रकार है। सर्वप्रथम विष्णु भगवान से प्रेरित होकर वे पांड्य राजा के एक धर्म सम्मेलन में जाकर शैव पंडितों को पराजित कर देते हैं। इस पर राजा प्रभावित होकर वैष्णव-धर्म में दीक्षित हो जाता है और अपनी बहिन का विवाह उनके साथ करके आधा राज्य उन्हें दान कर देता है। तीसरा अभिप्राय यह है कि वे विष्णुभक्ति को विस्मृत कर देते हैं। तब श्रीराम मिश्र द्वारा उनको फिर विष्णुभक्ति के मार्ग पर लाया जाता है। इस प्रकार विष्णुचित्त की कथा से आरंभ में यह मिलता है और एक नवीन अभिप्राय भी इसके साथ सम्बद्ध है। यह भी भक्तों की दृष्टान्त कथाओं का एक प्रकार है।

३. गोदादेवी का चरित्र :— विष्णुचित्त को सन्तान का अभाव—विष्णुचित्त वन मार्ग में गोदा देवी को पाते हैं। भगवान का दान समझकर उसका पुत्रीवत पालन-पोषण करते हैं। बाल्यकाल में ही भगवान श्रीरंगनाथ के प्रति गोदा की विरह भावना को देखकर वे आश्चर्य-चकित होते हैं। गोदा की विरह भावना का चित्रण—गोदा और रंगनाथ का भावात्मक और आध्यात्मिक विवाह सम्पन्न होता है। इस कथा का उद्देश्य वस्तुतः गोदा का वृत्तान्त कहना ही है, पर विष्णुचित्त से उचित अनुचित का विचार न करते हुये इसका सम्बन्ध जोड़ा गया है। गोदा देवी के माध्यम से माधुर्य भक्ति की उज्ज्वल स्थिति की स्थापना करने में कवि सफल हुये हैं।

उक्त तीनों सूत्र तीन स्वतंत्र कथाओं के रूप में ही हैं। इन तीनों के साथ दो अवान्तर प्रसंग भी हैं।

अवान्तर प्रसंग— १. खांडिक्य और केशिध्वज का संवाद :—प्रथम कथासूत्र में यह अवान्तर प्रसंग अनुस्यूत है। खांडिक्य और केशिध्वज ये दोनों भाई थे। दोनों में राज्यकांक्षावश संघर्ष होता है। इनमें से खांडिक्य पराजित होकर वन की ओर प्रस्थान करता है। दूसरा भाई राज्य प्राप्ति के उपरान्त अश्वमेध यज्ञ करने लगता है, पर वह अश्व बीच में ही मृत्यु के वश में हो जाता है। इस परिस्थिति में उन्हें कर्त्तव्य-

बोध करानेवाले योग्य व्यक्ति खांडिक्य ही थे । अतः निर्भीक होकर वे खांडिक्य के यहाँ जाते हैं और उनसे कर्त्तव्य बोध प्राप्त कर लेते हैं । इस उपकार के लिये केशिध्वज ने खांडिक्य के समकक्ष 'गुरुदक्षिणा लेने का प्रस्ताव रक्खा । खांडिक्य राज्यभ्रष्ट होने पर भी केशिध्वज से राज्य की कामना न करके केवल मोक्ष-प्राप्ति का उपाय बताने का आग्रह करते हैं । तब केशिध्वज उन्हें धर्मोपदेश देकर अपनी कृतज्ञता को व्यक्त करता है । इस कथा के व्याज से धर्म और दर्शन की अनेक गुत्थियों पर प्रकाश डाला गया है । यह कथा जैनों के प्रसिद्ध व्यक्ति भरत और बाहुबली की कथा से तुलनीय है ।

२. चांडाल और ब्रह्मराक्षस का प्रसंग :—यह गोदावरी के कथासूत्र के साथ संबद्ध है । सोमशर्मा नामक ब्राह्मण अपने गर्व के कारण ब्रह्मराक्षस बन जाता है । और उसकी समस्त विद्यायें समाप्त हो जाती हैं । एक चांडाल भक्त अर्ध-रात्री में प्रातःकाल हो जाने के भ्रम में पड़कर संकीर्तन करने के लिये जा रहे थे । मार्गमध्य में ब्रह्म राक्षस दिखाई पड़ा और उसने इसका भक्षण करना चाहा । उन्होंने कीर्तनोपरान्त खा जाने के लिये ब्रह्मराक्षस से कहा । वे कीर्तन गाने लगे । कीर्तन की अन्तिम पंक्तियों के श्रवण के प्रभाव से ही वह अपने पूर्वरूप में परिणत हो जाता है । इस प्रसंग में संकीर्तन-माहात्म्य ज्ञापित करना उद्दिष्ट है । यह प्रसंग विष्णु ने विष्णुचित्त से कहा जब वे गोदादेवी की दशा का वर्णन करने विष्णु के यहाँ गये थे । विष्णु ने यह भी संकेत किया कि संकीर्तन गाने के लिये भूदेवी ही इस रूप में अवतरित हुई ।

उक्त मुख्य और अवान्तर-प्रसंगों की शृंखला में हमें वस्तु-विधान की पुराण शैली का ही परिचय मिलता है । दृष्टान्त और माहात्म्य कथा एवं कथा के पूर्व संवाद की योजना पुराण शैली के ही प्रमुख उपकरण हैं । इस प्रकार का कथा-विधान शुद्ध महाकाव्य के उपयुक्त नहीं हो सकता जो तत्वतः अत्यन्त सुघटित और कार्यकारण और क्रमनिर्वाह की सुदृढ़ कड़ियों से निर्मित होना चाहिये । पर कथासूत्र के अव्यवस्थित होने पर भी शास्त्रोक्त वर्णनों से तथा भाषा, अलकार और छन्द के शास्त्रीय विधान से इस पौराणिक शैली के कथानक को शास्त्रीय गौरव दिया गया है ।

वर्णनों के आधिक्य ने ग्रन्थ का आकार बढ़ा दिया है । इतना ही नहीं, इनके सुदीर्घ वर्णनों से कथावस्तु में बहुत ही शिथिलता आयी है । इसमें अनेक छंदों का प्रयोग मिलता है ।[१] इसमें कुल छः अध्याय हैं । इसमें व्यवहार में नहीं रहने वाले

[१] "आमुक्तमाल्यदा" के विविध छंदों के नाम और उनकी संख्या द्रष्टव्य है :—कंदमु—२००, तेटगीति—१५७, चंपकमाला—११७, सीसमु—९६, मत्तेभ विक्रीडितमु—७४, उत्पलमाला—७२, शार्दूल विक्रीडितमु—४१, आटवेलदि—३१, महास्रग्धर—७, स्रग्धर—२, उत्साहमु—१, कविराज विराजितमु—१, तोटकमु—१, भुजंग प्रयातमु—१, मत्तकोकिल—१, मालिनि—१, स्रग्विणि—१;

इस प्रकार इसमें ८०५ पद्य हैं । इनके अतिरिक्त इसमें ७३ "वचनमुलु" (गद्य) भी पद्यों के मध्य में गुंफित किये गये हैं ।

अनेक शब्दों को कवि ने निघंटु के आधार से प्रस्तुत किया है। इससे प्रतीत होता है कि कवि इस काव्यरूप के बाह्य पक्ष की ओर भी सजग है।

निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि कथावस्तु का विधान पुराण शैली में हुआ है जिसका सूत्र निम्नलिखित है—

लौकिक पुरुष की साधना +
अलौकिक प्रेरणा और शक्ति } → उद्देश्य की सिद्धि →
मूलभावना का दृष्टांतपुष्ट माहात्म्य-कथन

पर वर्णन-चित्रण-पद्धति शुद्ध शास्त्रीय है। कथाकथन में यथा अवसर विभिन्न सांस्कृतिक या प्राकृतिक वर्णनों की शास्त्रीय परिपाटी को अपनाया गया है। इस प्रकार कथानक का मूल केन्द्र वर्णनों की परिधि से परिवेष्ठित हो जाता है।

संकुसाल नृसिंहकवि कृत "कविकर्णरसायनमु" :—इसमें लौकिक शृंगार ही विशेष रूप से आया है। पर इसके ६ आश्वासों में से लगभग एक आश्वास में कुछ दर्शन, उपदेश और भक्ति का समावेश भी मिलता है। तथापि यह शुद्धरूप से वैष्णव भक्ति साहित्य के अन्तर्गत नहीं आता।

५.२१. ग. चरित

किसी भी पौराणिक, ऐतिहासिक, अथवा धार्मिक पुरुष को आधार मानकर उनके जीवन की संपूर्ण अथवा कुछ घटनाओं का जिन रचनाओं में भावपूर्ण शैली में चित्रण होता है, उन्हें चरितकाव्य की संज्ञा दी जा सकती है।[1] यद्यपि "आमुक्तमाल्यदा" भक्तों के चरित्र से संबद्धकाव्य है, तथापि वहाँ कवि की दृष्टि चरित्रविकास पर कम और काव्योत्कर्ष पर विशेष है। किन्तु इस काव्यरूप के अंतर्गत वर्णित चरितकाव्यों में दृष्टि चरित-चित्रण और कथाविकास पर विशेष रहती है। इन चरित काव्यों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम में पुराण-प्रसिद्ध व्यक्तियों या अवतारों के चरित्र आते हैं और द्वितीय में भक्तों के चरित्र।

हिन्दी के चरितकाव्य :—आलोच्ययुग में हिन्दी के मुख्य चरितकाव्य ये हैं—आशानंद—लक्ष्मीनायण ; तुलसीदास—रामचरितमानस ; नंददास—रूपमंजरी ; नरोत्तमदास—ध्रुवचरित्र ; नरोत्तमदास—सुदामाचरित ; परमानंददास—ध्रुवचरित्र ; श्री परशुरामजी—रघुनाथ चरित ; श्री परशुरामजी—द्रौपदी का जोडा ; श्री परशुरामजी—प्रह्लाद चरित्र ; सुन्दरदास—हनुमानचरित्र (ई० १६१६)। ऊपर के काव्यों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी में पौराणिक एवं भक्त दोनों के आख्यानों को आधार बनाकर चरितकाव्य लिखे गये। हाँ, पौराणिक

---

[1] "हिन्दी साहित्य के काव्यरूपों का अध्ययन—ई० १५वीं से १७वीं शताब्दी तक", डा० रामबाबू शर्मा, अमुद्रित प्रबन्ध, पृ० १७३

आख्यानों की संख्या अधिक और भवत संबंधी आख्यानों की संख्या कम है। नंददास कृत "रूपमंजरी" ही इस प्रकार का एकमात्र काव्य है। भक्त सम्बन्धी आख्यान तो हिन्दी में बहुत हैं, किन्तु वे वैष्णव-साहित्य की परिधि में नहीं रखे जा सकते। पौराणिक आख्यानों में सबमें प्रसिद्ध आख्यान राम संबंधी है, इसलिये उसको आधार बनाकर अनेक काव्य लिखे गये। अन्य प्रसिद्ध आख्यान ध्रुव, प्रह्लाद, द्रौपदी आदि से संबंधित हैं।

"रामचरितमानस" हिन्दी का सर्वोच्च चरित-काव्य है। ग्रन्थारंभ में संस्कृत महाकाव्यों की सभी रूढ़ियों का पालन हुआ, जैसे गणेश, शिव, विष्णु, गुरू आदि की वन्दना के पश्चात् कवि ने "रघुवंश" में गृहीत "कवि की आत्मलघुता" का वर्णन किया है। अपभ्रंश के चरितकाव्यों के समान कवि ने सज्जनवन्दना की है और साथ-साथ दुर्जन वन्दना भी। पुराणों के समान इन्होंने कई वक्ता-श्रोताओं के जोड़ों का पूर्ण निर्वाह किया है। कवि ने रामचरित्र का रूपक "मानस" से बाँधा है जिसके कारण इस ग्रन्थ का नामकरण "रामचरितमानस" किया गया। राम के जन्म का कवि ने विशद विवेचन प्रस्तुत किया है। कथा राम के जन्म से आरम्भ होकर लंका-विजय के पश्चात् अयोध्या में पट्टाभिषेक होने तक चलती है। इसमें सात कांड हैं जो उस अगम्य-मानस तक पहुँचाने वाले सप्त सोपान हैं।[1] "मानस" में दानव वर्ग को छोड़कर अन्य सब पात्र किसी-न-किसी आदर्श के प्रतीक हैं। "रामचरितमानस" का उद्देश्य लोक-मंगल ही प्रतीत होता है यद्यपि तुलसी ने "स्वांत: सुखाय" इस काव्य की रचना करने का उल्लेख आरम्भ में किया है। "रामचरितमानस" के कुछ पौराणिक तत्वों की उपेक्षा कर दी जाय तो यह निस्संशय रूप से उच्चकोटि का महाकाव्य कहला सकता है। इस दृष्टि से देखा जाय तो "मानस" के पौराणिक तत्व निम्नलिखित हैं :—१. कथानक का शैथिल्य और अवांतर कथाओं एवं प्रसंगों का आधिक्य होना (विशेषतया बालकांड और उत्तरकांड में); २. माहात्म्य कथन, स्तोत्र, विभिन्न अवसरों पर देवताओं द्वारा पुष्पवर्षा की योजना, दर्शन-हितोपदेश की विस्तृत चर्चा आदि।

इतना होने पर भी मानस के काव्यात्मक पक्ष में कोई भी कमी नहीं दीखती।' "रामचरितमानस" की विशेषता यह है कि धर्मग्रन्थ और काव्य दोनों ही रूपों में यह करोड़ों लोगों से विशेष रूप से समादृत हुआ। इस प्रकार धर्म और काव्य का मणिकांचन समन्वय करने वाले काव्य विरले ही मिलते हैं।

तेलुगु के चरित्र-काव्य :—पौराणिक चरित-काव्य—अन्नमाचारी कृत द्विपद रामायण (अनुपलब्ध); कोटिकेलपूडि सोमनाथ कवि कृत विष्णुमित्रोपाख्यानमु;

[1] सप्त प्रबन्ध सुभग सोपाना।
ज्ञान नयन निरखत मन माना।।
—रामचरितमानस, बालकांड, ३६ दोहा, १ चौपाई

घट्टु प्रभुवु कृत कुचेलोपाख्यानमु (सुदामा चरित्र); घट्टु प्रभुवु कृत सत्यभामा परिणयमु[1]; चरिगोंड धर्मना कृत चित्र भारत; चिरुमूरि गंगराजु कृत कुशलवोपाख्यानमु (अनुपलब्ध); नादेंड्ल गोपमंत्री कृत कृष्णार्जुन संवादमु; बम्मेर केसना और बम्मेर मल्लना कृत विष्णुभजनानंदमु; माडय कवि कृत मैरावण चरित्रमु; मोल्लमांबा कृत मोल्लरामायण; रेवणूरि वेंकटार्युडु कृत रामचन्द्रोपाख्यानमु (अनुपलब्ध)।

इनमें से "मोल्लरामायण", "कृष्णार्जुन संवाद" और "चित्र भारत" विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। आलोच्ययुग में सब से प्रसिद्ध रामचरित "मोल्ल-रामायण" है। तुलसी की भाँति इन्होंने भी इस ग्रन्थ का अन्त राम के पट्टाभिषेक से किया। इसकी एक विशेषता यह है कि शास्त्रीयता के लोभ में कवयित्री अप्रासंगिक वर्णनों को कथा से संबद्ध नहीं करती। संक्षिप्तता और सरलता इस कथानक की विशेषताएँ हैं जो इस के काव्य-रूप को शुद्ध शास्त्रीय या अर्धशास्त्रीय प्रबन्ध काव्यों से पृथक करती हैं। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण यह ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय है।

"कृष्णार्जुन संवाद" की कथा किसी परम्परा से अधिक संबद्ध नहीं है।[2] "मैरावण-चरित्र", "शतमुख रामायण", "गंगागौरी संवाद", "जैमिनी भारत" आदि इसी प्रकार के काव्य हैं।[3] किन्तु प्रस्तुत कथा अपनी विचित्रता के कारण अधिक लोकप्रिय हो गयी। तेलुगु के अन्य शास्त्रीय काव्यों की अपेक्षा यह जनसामान्य के अधिक समीप है। यह कथावस्तु कुछ हद तक "मरुत्तराट्-चरित्र" की कथा से साम्य रखती है।[4] किन्तु इस काव्य की कथावस्तु का स्वरूप चरिगोंड-धर्मना कृत "चित्र-भारत" से अधिक मिलती है। इस काव्य का कथा-विधान इस प्रकार है—

१. गय नामक गंधर्व का आकाश मार्ग से गमन। मार्ग में पान की पीक को थूकना। २. श्रीकृष्ण की जलांजलि में उस पीक का गिरना और श्रीकृष्ण का उस के वध का प्रण करना ३. गय का नारद से प्रेरित होकर अपनी रक्षा के लिये अर्जुन की शरण में जाना। ४. इस बात पर कृष्णार्जुन युद्ध और देवताओं के द्वारा समझौता।

"चित्र भारत" की कथा "कृष्णार्जुन संवाद" ऐसी ही हैं। केवल गय के स्थान पर चतुर्दन इस कथा में है। दूसरा अन्तर यह है कि कृष्ण की जलांजलि में चतुर्दन

[1] यह नंदि तिम्मना कृत "पारिजातापहरण" के आधार पर रचा हुआ आठ आश्वासों का द्विपदा-काव्य है।

[2] "A mere fiction the name is given to apocryphal poems that are not grounded on any classical tradition."
—*Brown's Dictionary* 1852, p. 516.

[3] *Brown's Dictionary*, 1852, p. 516.

[4] "आधुनिक आन्ध्र वाङमय विकासवैखरि", श्रीजयंतिरामय्यपंतुलु, पृ० ७८, ७९

के अश्व का मुख-फेन ही गिरता है।[1] कृष्ण उसी प्रकार चतुर्दन का वध करने का प्रण करते हैं और दूसरी ओर अर्जुन उसे अभयदान देता है। इस बात पर पांडव-यादव-युद्ध होता है। धर्मराज और श्रीकृष्ण के अतिरिक्त सभी वीर वीरगति प्राप्त करते हैं। कृष्ण युधिष्ठिर के चिन्तित होने पर किसी एक को प्राणदान देने का वरदान देते हैं। तब युधिष्ठिर नकुल के प्राणदान की याचना करते हैं। कृष्ण उनकी उदात्त गुणसम्पन्नता से अभिभूत होकर सभी को प्राणदान देते हैं।

भक्ति विषयक चरित्रकाव्य:—इसके अन्तर्गत ये निम्नलिखित काव्य आते हैं:—अन्नमाचार्य चरित्रमु (द्विपदकाव्य)—ताळ्ळपाक चिनतिरुवेंगळनाथ; परमयोगी विलासमु (द्विपद काव्य)—ताळ्ळपाक चिनतिरुवेंगळनाथ; परमयोगी विलासमु (द्विपद काव्य)—सिद्धराजु तिम्मराजु; विप्रनारायण चरित्रमु—चेदलवाड मल्लना; वैजयन्ती विलासमु—सारंगुतम्मय। उक्त सूची को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है:—१. किसी एक भक्त के कथानक को लेकर चलने वाले काव्य। इसमें उक्त सूची के प्रथम और अन्तिम दो काव्य आते हैं, तथा २. भक्तों के चरित्रों के संग्रह-ग्रन्थ, जिस के अन्तर्गत उक्त सूची के द्वितीय और तृतीय काव्य आते हैं। इस श्रेणी के अन्तर्गत हिन्दी के "चौरासी वैष्णवन की वार्ता" और "दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता" आदि काव्य रखे जा सकते हैं। पर इस श्रेणी के तेलुगु और हिन्दी के काव्यों में दो अन्तर हैं। एक, तेलुगु के काव्य पद्यबद्ध हैं और हिन्दी के काव्य गद्यबद्ध। दूसरा, तेलुगु के इन काव्यों में काव्यात्मकता को भी बहुत प्रधानता प्राप्त हुई, क्योंकि इनके रचयिता प्रसिद्ध भक्त कवि ठहरे। किन्तु हिन्दी के इन काव्यों में यह विशेषता अपेक्षाकृत बहुत ही गौण है।

"विप्रनारायण चरित्र" काव्य की दृष्टि से विशेष सम्मोहक रहा। इसीलिये कई कवियों ने इस इतिवृत्त को लेकर कई काव्यों की रचना की थी। "वैजयन्ती विलासमु" काव्य का इतिवृत्त भी लगभग यही है। "परमयोगी-विलासमु" के सर्वप्रथम रचयिता ताळ्ळपाक चिनतिरुवेंगळनाथ हैं। यह काव्य द्विपदा छन्द में लिखा गया था। अतः इसे "चंपू" शैली में लिखने के उद्देश्य से बाद में सिद्धराजु तिम्मराजु ने इस काव्य की रचना की थी। इन दोनों काव्यों में बारह वैष्णव आळ्वारों की कथाओं में विप्रनारायण की कथा भी एक है। वैष्णवधर्म का आदिपीठ श्रीरंगम है। श्रीरंगनाथ के भक्तों में विप्रनारायण भी एक प्रसिद्ध भक्त थे। ताळ्ळपाक चिनतिरुवेंगळनाथ ने इस कथा को वैष्णव आचार-विचारों के अनुकूल प्रस्तुत किया है, और सिद्धराजु तिम्मराजु ने भक्तिप्रधान रूप से। बाद में विप्रनारायण चरित को स्वतंत्र काव्य के रूप में रचने वाले समकालीन कवि चेदलुवाड मल्लना और सारंगुतम्मया ने

[1] इस अश्व के साथ भी एक शाप-कथा संलग्न है। इन्द्र ने तुल्य नामक ऋषि का तपोभंग करने के लिये रंभा को भेजा जो शापवश अश्व बन गयी। शापमोचन का एक ही उपाय बताया गया कि वह चतुर्दन को लोक भ्रमण करा दे।

इस कथा को शृंगार प्रधान रूप से प्रस्तुत किया है। आलोच्यकाल में "विप्रनारायण चरित्र" नाम से एक यक्षगान काव्य भी रचा गया था। विप्रनारायण चरित्र का कथासूत्र इस प्रकार है :—

विप्रनारायण नाम के एक वैष्णव ब्रह्मचारी का श्रीरंगम नगर के एक उपवन में निवास—श्रीरंगनाथ भगवान की पूजा के लिये नित्यप्रति मंदिर में जाना—वहाँ एक दिन इससे देवदेवी नामक एक वेश्या की भेंट—उस सौन्दर्यगर्विता का आकर्षित होना—देवदेवी का विप्रनारायण के संयम और वैराग्य का भंग करने का प्रण करना—उन्हीं की पुष्पवाटिका में दासी के रूप में नियुक्त—एक दिन घोर वर्षा और आँधी—अपनी झोंपड़ी से उन्होंने उसे भीगी हुई देखा और उसे अपनी झोंपड़ी में आने के लिये कहा। वहाँ अपने हाव-भाव से देवदेवी का विप्रनारायण पर विजय। निर्धन होने के कारण वेश्यामाता के द्वारा उनका त्याग और विप्रनारायण का विरह पीड़ित होना। एक दिन भगवान श्रीरंगनाथ जी का विप्रनारायण के शिष्य के वेष में जाकर अपना स्वर्णपात्र वेश्यामाता को देना और विप्रनारायण का वेश्यामाता के यहाँ स्वागत। विप्रनारायण पर स्वर्णपात्र की चोरी करने का अभियोग लगाया जाना—अन्त में भेद का खुलना और विप्रनारायण तथा देवदेवी का भजन करते करते श्रीरंगनाथजी में विलीन हो जाना।

उक्त कथासूत्र निश्चित रूप से एक भव्य कथा के संविधान के लिये पर्याप्त है। विशेषता यह है कि चेदलुवाड मल्लना कृत "विप्रनारायण चरित्र" और सारंगु तम्मय कृत "वैजयन्ती विलासमु" में शास्त्रीय उपकरणों की भीड़ नहीं है और चरित्र-कथा पर ही इन कवियों की विशेष दृष्टि रही। इसीलिये इन्हें चरितकाव्यों के अन्तर्गत रखना ही अधिक उपयुक्त दीखता है। साथ ही भगवान श्रीरंगनाथ की विनोदी प्रवृत्ति और भक्तोद्धारक लीला को भी ये कवि स्पष्ट करना चाहते हैं और अन्त में इस चरित्र से भी अधिक पाठक का ध्यान भगवान की इस भक्तवत्सलता पर केन्द्रित हो जाता है। चेदलुवाड मल्लना कृत "विप्रनारायण चरित्र" और सारंगु तम्मया कृत "वैजयन्ती विलासमु" में एक ही कथावस्तु ग्रहण की गयी, फिर भी प्रथम को नायक-प्रधान काव्य और दूसरे को नायिका-प्रधान काव्य कहा जा सकता है। शृंगार और हास्य रसों के चित्रण में प्रथम ने मर्यादा और औचित्य का पालन किया, किन्तु दूसरे ने यत्र-तत्र इनका पूर्ण उल्लंघन भी किया।[१] इसीलिये सारंगुतम्मया कृत "वैजयन्ती विलासमु" को उतनी लोकप्रियता नहीं प्राप्त हुई जितनी चेदलुवाड मल्लयाकृत "विप्रनारायण चरित्र" को।

[१] वैजयन्ती विलासमु, प्रकाशक वाविळ्ल रामस्वामि शास्त्रुलु एण्ड सन्स, ई० १६०६ का संस्करण, Scholar's Edition इसमें विशेष रूप से तृतीय आश्वास द्रष्टव्य है जिसमें विप्रनारायण और देवदेवी के संभोग वर्णन के प्रसंग में कवि ने मर्यादा और औचित्य का पूर्ण उल्लंघन किया है।

ताळ्ळपाक चिनतिरुवेंगळनाथ कृत "अन्नमाचार्य-चरित्रमु", उनके पितामह ताळ्ळपाक अन्नमाचारी के जीवन-वृत्तान्त से सम्बन्धित द्विपदकाव्य है। अन्नमाचारी के जीवन के संबन्ध में सब से अधिक प्रामाणिक सूचनायें इसी ग्रन्थ से प्राप्त होती हैं।[१]

ताळ्ळपाक चिनतिरुवेंगळनाथ कृत "परमयोगी विलासमु" कई चरित्र-कथाओं का संग्रह है। इसमें आळ्वारों और वैष्णवाचार्यों का चरित्र-कथन किया है। इस काव्य में काव्यशास्त्रीय उपकरणों का बहुल प्रयोग नहीं हुआ है। तथापि यत्रतत्र शास्त्रीय प्रबन्ध काव्यों के समान भावाभिव्यक्ति और वर्णन प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिये गोदा देवी के विरहताप का कवि ने शास्त्रीय प्रबन्ध काव्य की नायिका के विरहताप के समान वर्णन किया है ।[२] इस ग्रन्थ में छोटी छोटी उपकथाओं की भी कवि ने योजना की है। यह कथावस्तु प्रधान काव्य होने पर भी इसमें काव्यत्व लाने के उद्देश्य से ही कवि ने वर्णनों की सहायता ली है। विप्रनारायण, विष्णुचित्त और गोदा देवी के वृत्तान्तों के वर्णन में कवि-हृदय की स्पष्ट झलक हमें परिलक्षित होती है। इस काव्य की कथायें और उपकथायें संस्कृत साहित्य में यत्र-तत्र बिखरी हुई थीं। इन सब का एक साथ संग्रह करके काव्य-रचना करने का सर्वप्रथम गौरव तेलुगु साहित्य में इन्हीं को प्राप्त हुआ। इस समस्त ग्रन्थ में २५५१० द्विपदा की पक्तियाँ हैं। वैष्णव धर्म का प्रचार करना ही इस ग्रन्थ का सर्वप्रमुख ध्येय जान पड़ता है।[3] सिद्धराजु तिम्मराजु कृत "परमयोगी विलासमु" में भी यही दृष्टि है। इन दोनों में अन्तर यह है कि प्रथम काव्य द्विपदा छन्द में लिखा गया है और द्वितीय चंपू शैली में। दो भिन्न व्यक्तित्ववाले कवियों से एक ही विषयवस्तु अपनाये जाने के कारण इसमें कुछ अन्तर भी अवश्य दिखाई देते हैं, किन्तु कथा-विधान में लगभग पूर्ण साम्य प्राप्त होता है।

तेलुगु-क्षेत्र में आळ्वारों की कथायें अधिक लोकप्रिय रहीं, पर हिन्दी में यह प्रवृत्ति नहीं दीखती। हिन्दी और तेलुगु में पौराणिक व्यक्ति या इष्टदेव समान रूप से चरित काव्यों की भूमिका में रहे। जो भक्त आलोच्ययुग में हुए या उसके पूर्व उनका चरित्र "भक्तमाल" या गंगासूत्र कृत "भक्तमाहात्म्य" जैसे ग्रन्थों में प्रबन्ध के रूप में नहीं, विशेषता-कथन के रूप में मिलता है। पर ये ग्रन्थ आलोच्ययुग के

[१] यह ग्रन्थ प्रकाशित भी हो गया है :—

'Annamacharya charitramu',

Tirupati, Tirumalai Tirupati Devasthanam's Press, 1949.

[२] "परमयोगी विलासमु", पृ० ३५०, ३५१.

[3] "This book is intended to teach the principles of the Vishnu creed". —C.P. Brown, M.S. (No. 1105)

पश्चात् ही रचे गये थे। समकालीन या पूर्ववर्ती भक्तों के चरित्र आलोच्य युग में भी मिलती हैं, पर वे काव्य-ग्रन्थ नहीं हैं, गद्य-ग्रंथ मात्र हैं।

५.२१. घ. अनेकार्थ-काव्य

इस काव्य-रूप के दो आधार हो सकते हैं :—कोश और श्लेष। कोश के आधार पर हिन्दी क्षेत्र में नंददास-कृत "अनेकार्थ मंजरी" और "मान मंजरी-नाममाला" प्रसिद्ध हैं। इसमें पर्यायकथन ही कवि को अभीष्ट है। श्लेष के आधार पर भी अनेकार्थ-काव्यों की रचना होती है। तेलुगु-क्षेत्र में आलोच्य-युग में श्लेष के आधार पर निम्नलिखित वैष्णव-काव्यों की रचना हुई हैं :—१. पिंगळि सूरना—राघव पांडवीयमु ; २. एलकूचि बालसरस्वती—राघवयादवपांडवीयमु। वास्तव में इस काव्यरूप का उद्देश्य भक्ति-भाव का इतना परिपाक नहीं जितना चमत्कार-प्रदर्शन का है। आलोच्य-युग में और बाद में भी इसकी विशेष लोकप्रियता इसीलिये नहीं हुई।

पिंगळि सूरना कृत "राघवपांडवीयमु" तेलुगु का सर्वप्रथम और सर्वोत्तम अनेकार्थ काव्य है। इसमें दो अर्थों को ज्ञापित किया गया है। श्लिष्ट शब्दों के एक पक्ष को लेकर रामकथा घटित की जाती है और दूसरे पक्ष को लेकर महाभारत की कथा। कवि ने रामायण और महाभारत कथाओं में बल, पराक्रम, पौरुष इत्यादि समान विषयों की योजना की है। जड़-चेतन विषयों में कवि ने निम्नलिखित रूप से दक्षता के साथ समन्वय प्रस्तुत किया है, यथा—अयोध्या और हस्तिनापुर ; दंडकारण्य और द्वैतवन ; दशरथ और पांडु राजा ; राम-लक्ष्मण-भरत-शत्रुघ्न और पंचपांडव ; सुग्रीव और कर्ण; हनुमान और भीमसेन आदि। कवि ने श्लेष का छः रूपों में प्रयोग किया है—१. तेलुगु एवं संस्कृत में श्लेष[1] ; २. एक ही भाषा के दो शब्दों में श्लेष[2] ; ३. वाच्यार्थ और लक्षणार्थों में श्लेष[3] ; ४. शब्द के अर्थ को भिन्न-भिन्न

एक उदाहरण देखिये :—

मनवि युक्ति तेरंगु (रामायण के अर्थ में)
मन वियुक्ति तेरंगु (महाभारत के अर्थ में)
—"राघवपांडवीयमु", १/३८

इसमें सभंगपदश्लेष का प्रयोग किया गया है। कवि ने अभगपदश्लेष का भी प्रयोग किया है।

देखिये :—

एमन सुतोदार संग सुखमु (रामायण के अर्थ में)
ए मनसुतो दार संग सुखमु (महाभारत के अर्थ में)
—"राघवपांडवीयमु", १/३१

[3] विश्वामित्र (रामायण के अर्थ में)
विश्व आमित्र (महाभारत के अर्थ में)
—"राघवपांडवीयमु", २/८

रूप में अन्वय करके श्लेष को उत्पन्न करना ; ५. शब्द को भिन्न-भिन्न रूप से अन्वय करके श्लेष उत्पन्न करना ; ६. दो या तीन श्लेषों का सांकर्य करना। अन्य श्लेष काव्यों में भी प्राय: उपर्युक्त श्लेषों का प्रयोग होता है।

एलकूचि बालसरस्वती कृत "राघवयादवपांडवीयमु" में तीन अर्थों की अभिव्यक्ति की गई है। पूरे का पूरा ग्रन्थ राम, कृष्ण और पांडव कथाओं में घटित हो सकता है।

यह काव्यरूप हिन्दी में पृथक् रूप से विकसित नहीं हुआ। साथ ही चमत्कार का मुक्तक की सीमा से बाहर निकलकर प्रबन्ध तक व्याप्त हो जाना हिन्दी में प्राय : नहीं मिलता।[1] केशव के "कविप्रिया" में कई छंदों में इस काव्यरूप का प्रयोग किया है। इन छंदों के चार-चार, पाँच-पाँच अर्थ भी निकाले जा सकते हैं और उनकी विषयवस्तु भी अधिकांशत: भक्तिकथायें ही हैं। पर इनकी सीमा एक मुक्तक की ही है। पूरा प्रबन्ध इस रूप में घटित नहीं होता है। केशव के कुछ अनेकार्थ छंद निम्नलिखित हैं :—

१. कविप्रिया ११/६०—दो अर्थ (नृसिंह और अमरसिंह)
२. ,, ११/३१—तीन अर्थ (शिव, समुद्र और अमरसिंह)
३. ,, ११/३२—चार अर्थ (राम, बलराम, परशुराम और अमरसिंह)
४. ,, ११/३३—पाँच अर्थ (ब्रह्म, कृष्ण, शंकर, रघुनाथ और अमरसिंह)

तेलुगु में अनेकार्थमंजरी और मानमंजरी—नाममाला जैसे श्लेष से युक्त कोश ग्रन्थों का अभाव है। हिन्दी के आलोच्ययुग के वैष्णव-साहित्य में अनेकार्थ काव्यों का अभाव है जिनमें आदि से लेकर अन्त तक श्लेष का निर्वाह करते हुये प्रबंध-सूत्र को आगे बढ़ाया गया हो। तथापि स्फुट रूप से श्लेष काव्य की प्रवृत्ति हिन्दी में भी दृष्टिगत होती है।

५. २१. ङ. मंगल

मंगल अथवा कल्याण दो अर्थों में प्रयुक्त होने वाले शब्द हैं। इनका प्रथम अर्थ कोश के अनुसार है जिसका तात्पर्य है "शुभकामना" या "हितकारी भावना"। दूसरा अर्थ साहित्यरूढ़ है जिसका तात्पर्य है विवाह। तेलुगु-क्षेत्र में कल्याणमु, परिणयमु और विवाहमु नाम से बहुत ही काव्य मिलते हैं जिनमें दिव्य या अदिव्य विवाहों का गायन किया गया है। हिन्दी-क्षेत्र के मंगल-काव्य विवाह काव्य हैं, कुछ स्थानों पर भगवान की स्तुति या मंगलमय भावनाओं से युक्त काव्यों को भी मंगलकाव्य की संज्ञा दी गयी, पर यह अधिक प्रचलित नहीं। श्रीहनुमच्छास्त्री ने कल्याण-भावना से युक्त काव्यों को मंगल काव्य कहा है चाहे उनमें विवाह प्रसंग न

[1] कुछ ऐसे अप्रकाशित चरित्र-काव्यों की सूचना मिलती है जिनमें पूरे के पूरे काव्य ही दो अर्थों में घटित हो जाते हैं।

[2] मातृभाषा मन्दिर, दारागंज, प्रयाग, ई० १९५२ का संस्करण।

हो और वे स्तवन-मात्र हों—"मंगल काव्य अधिकांश में तेलुगु के शतक-साहित्य में उपलब्ध होते हैं। कवि लोग उनकी दरिद्रता, विपत्ति और रुग्णता दूर करने के लिये अपने इष्टदेव के नाम पर सौ छंदों की कविता करते थे। कभी देश पर भारी आपदा के आने के समय भी, राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर तथा विवशता अनुभव करके भगवान से प्रार्थना करते थे। जनश्रुति के अनुसार ये प्रार्थनायें सफल भी होती थीं। कुछ ऐसे फुटकल छंद भी मिलते हैं जिनमें कवि अपनी इच्छा के अनुसार किसी की मंगल-कामना करता हनुमच्छास्त्री ने इस दृष्टि से निर्दिष्ट मंगल काव्यों की सूची भी दी है।[2] गुरुनाथ जोशी ने भी कन्नड में दोनों प्रकार के साहित्यों को मंगलकाव्य के अन्तर्गत रखा है।[3] श्री बज्जल सुब्रह्मण्यम् ने तो सभी भक्तिमूलक मुक्तकों (दंडक, शतक और गेये) को मंगल काव्य ही कहा है।[4] किन्तु प्रस्तुत अध्याय में इन सब को मुक्तक के अन्तर्गत रखा गया है और विवाह या परिणय से संबंधित काव्यों को ही मंगल या कल्याण काव्यों के अन्तर्गत रखा गया है। तेलुगु क्षेत्र के आलोच्ययुगीन वैष्णव-मंगल-काव्य ये हैं :—अष्टमहिषि कल्याणमु—ताळ्ळपाक चिनतिरुवेंगळनाथ; अष्टमहिषी-कल्याणमु[5]—रेड्डिपल्ले मुद्दमराजु; उषाकल्याणमु—ताळ्ळपाक चिनतिरुवेंगळनाथ; पद्मावती कल्याणमु—नेल्लूरि मुत्तराजु (अनुपलब्ध); पांचाली परिणयमु—काकमानि मूर्तिकवि; मित्रविंदा परिणयमु—रावूरि एल्लयकवि; रुक्मिणी कल्याण—बम्मेर पोतना; लक्षणा परिणयमु—सिंहाद्रि वेंकटाचार्युलु; लक्ष्मी विलासमु—रायसमु वेंकटपति; सांबोपाख्यानमु—रामराजु रंगपराजु; सुभद्रा कल्याणमु—ताळ्ळपाक तिम्मक्क।

हिन्दी में "मंगल काव्य" नाम से तीन प्रकार के काव्य प्राप्त होते हैं: १. विवाह के वर्णन से युक्त काव्य; २. विवाह आदि मांगलिक अवसरों पर गाने के लिए मंगलछंद में लिखे गये काव्य; और ३. शास्त्रीय प्रभाव से प्रभावित रहने वाले सृष्टि-प्रक्रिया अथवा धर्म-निरूपण से युक्त काव्य। इनमें से प्रथम दो ही यहाँ पर हमारे लिये अभीष्ट हैं। आलोच्ययुग के हिन्दी वैष्णव-साहित्य में निम्नलिखित मंगल

[1] हनुमच्छास्त्री का तेलुगु मंगल-काव्यों पर रचित एक निबंध, "भारतीय साहित्य" पत्रिका, आगरा, जनवरी, १९५६, पृष्ठ १४९

[2] यह सूची अधिकांशतः शतक-साहित्य की है।

[3] "यदि मंगल काव्य का अर्थ "विवाह" मान लिया जाय तो कई देवियों के विवाहों के सुन्दर वर्णनों से युक्त काव्य भी कन्नड साहित्य में मिलते हैं। इनके अतिरिक्त अष्टक और सप्तक भी हैं।"

—"भारतीय साहित्य", जनवरी, १९५६, पृ० १५४

[4] "भारतीय साहित्य"—"आंध्र के मंगल काव्य" निबन्ध, पृ० १५९

[5] इस काव्य के केवल दो पद्य "प्रबन्ध रत्नावलि" में मिलते हैं।

काव्य मिलते हैं :—उषाहरण—परमानंद; जानकी मंगल[१]—तुलसीदास; मंगल—लालदासस्वामी; रुक्मिणी मंगल—नंददास; रुक्मिणी मंगल—नरहरि; रुक्मिणी मंगल—विष्णुदास; रुक्मिणी हरण—चक्रपाणि व्यास; व्याहलो—दामोदरस्वामी। सूरसागर की अपेक्षा तेलुगु के भागवतों में श्रीकृष्ण आदि के विवाहों का विस्तृत वर्णन मिलता है। क्योंकि तेलुगु के कवि विवाह-प्रसंगों के वर्णन में अधिक रुचि लेते थे।

दोनों ही क्षेत्रों में "रुक्मिणी मंगल" और "उषा परिणय" काव्य अधिक लोकप्रिय रहे। सत्यभामा का चरित्र तेलुगु में अधिक लोकप्रिय रहा। पर उसका विवाह इतना लोकप्रिय नहीं रहा जितना विवाहोपरान्त उसका मानशृंगारपक्ष। तुलसीदासजी ने जानकी-मंगल के अतिरिक्त पार्वती मंगल[२] की भी रचना की, किन्तु यह वैष्णव भक्ति के अन्तर्गत नहीं आता। आलोच्ययुग में तेलुगु में रामायण से पृथक् जानकी मंगल की रचना नहीं हुई। तुलसी ने मंगल काव्य की लोकगत आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए "जानकी मंगल" को एक पृथक काव्यकृति के रूप में रक्खा था। पर तेलुगु साहित्य में आलोच्य-काल के पश्चात् "जानकी मंगल" को लोकप्रियता प्राप्त हुई। मेरत्तूरु वेंकटराम शास्त्री कृत "सीता कल्याण नाटक" (ई० १९वीं शताब्दी); विजयराघवनायकुड कृत 'जानकी कल्याण" नामक यक्षगान (ई० १७वीं शताब्दी); रघुनाथ नायकुडु कृत "जानकी परिणय" नामक यक्षगान (ई० १७वीं शताब्दी); और कूचिमंचि तिम्मकवि कृत "जानकी परिणय" (ई० १८वीं शताब्दी) इसके लिये प्रमाण हैं। पर इनमें अन्तिम को छोड़कर शेष तीन दृश्यकाव्य संबंधी हैं। तुलसी ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि यह मंगलकाव्य मांगलिक होता है और इसका गायन फल प्राप्ति में सहायक होता है।[३] पर सूर ने "रुक्मिणी कल्याण" कथा के अन्त में माहात्म्य कथन नहीं किया। रुक्मिणी की परीक्षा को भी यदि इसके साथ सम्मिलित कर लिया जाय तो सूर ने अन्त में इसका माहात्म्य भक्ति-प्राप्ति माना।[४] अनिरुद्ध-विवाह के अन्त में भी इस प्रकार का फलकथन है।[५] इससे यह प्रकट होता है कि सूर ने भी स्वतंत्र रूप से व्यवहृत होने के लिये इन कल्याणलीलाओं

[१] तुलसी ग्रन्थावली, भाग २, पृ० ३७-५४

[२] तुलसी ग्रन्थावली, भाग २, पृ० २५-३६

[३] उपवीत ब्याह उछाह से सियराम मंगल गावहीं।
तुलसी सकल कल्याण तें नरनारि अनुदिन पावहीं।
—तुलसी ग्रन्थावली, भाग २, पृ० ५४

[४] "जो यह लीला हितकरि गावै सूर सो प्रेम भक्ति कौं पाये।"
—सूरसागर, द्वितीय भाग, पृ० १५१८

[५] यह सकल कथा जो रुद्र अस्तुति सहित।
करै सुमिरन ताहि भय न होइ॥ —सूरसागर, पृ० १५२

की रचना की थी।[1] हिन्दी में मंगल काव्य पृथक इसलिये रखे जाते हैं कि लोक में विवाह के समय इसका गायन होता था।[2] आज भी हिन्दी-क्षेत्र में विवाहों के अवसर पर इनका गायन होता है। तेलुगु-क्षेत्र में भी पोतना का "रुक्मिणी कल्याण" आदि काव्यों का शुभ अवसरों पर पाठ किया जाता है।

तेलुगु में आलोच्ययुग के पश्चात् वैष्णव, शैव और कुछ ऐतिहासिक मंगल काव्यों की एक सुदीर्घ-परम्परा चलती रही। इन मंगल-काव्यों में विषय की दृष्टि से वैविध्य भी मिलता है। हिन्दी में कुछ गिने चुने विवाहों ने ही भक्तों का ध्यान आकर्षित किया था। पर तेलुगु-क्षेत्र में कुछ लौकिक विवाह भी मंगल-काव्य के विषय बने। इन लौकिक विवाहों पर आधारित काव्यों को पारिभाषिक रूप से मंगलकाव्य के अन्तर्गत न रखकर, विवाह विषयक प्रबन्ध-काव्यों के अन्तर्गत रखना अधिक उचित होगा। पारिभाषिक रूप से मंगलकाव्य उन विवाहकाव्यों की संज्ञा है जो दिव्य हों और जिनका गायन विवाहों के समय मंगलदायक समझा जाता हो।

हिन्दी के भक्ति साहित्य में मंगल काव्यों की परम्परा चाहे कम हो, पर लौकिक साहित्य में इसकी लोकप्रियता बहुत अधिक मिलती है।[3] जैनाचार्यों ने दिव्य-विवाह का कोई प्रसंग नहीं लिखा क्योंकि वे प्रायः बालब्रह्मचारी होते थे। आध्यात्मिक रूपकों में दीक्षा-ग्रहण के समय को लेकर "दीक्षाकुमारी", "संयमश्री" को कन्या मानकर इनको "संयमश्री विवाह वर्णन काव्य" कहा जाता था। दूसरे प्रकार के ऐसे भी रूपक थे जिनमें आत्मा के विशिष्ट गुणों को कन्या के रूप में वर्णन करके आत्मा का विवाह कराया जाता है। ये ही काव्य विवाह कहलाते थे।[4] पति-पत्नी का

[1] किन्तु पोतना ने अपने "भागवत" में विवाह प्रसंगों के अन्त में इस प्रकार माहात्म्य-कथन नहीं किया है, यद्यपि कुछ अन्य कथा-प्रसंगों के अन्त में जैसे उल्लेख अवश्य हैं, जैसे "गजेन्द्रमोक्ष" का कथा-प्रसंग।

[2] "मंगल का संबन्ध विवाहों से होता है। विवाह के अवसर पर ही यह मंगल-गीत गाया जाता है। असंस्कृत जातियों में तो इस मंगल-गीत को ही मंत्र का स्थान मिला हुआ है और इसमें दी गयी विधियों से ही भवरें पड़ जाती हैं।"
—डा० सत्येन्द्र कृत "मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन", पृ० ४७७

[3] "ई० चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ से लोकभाषा में रचित ऐसी स्वतंत्र रचनायें मिलने लगती हैं जिनकी परम्परा ई० बीसवीं शताब्दी तक निरंतर चली जाती है। इस संज्ञावाली प्राचीन धार्मिक रचनायें जैन विद्वानों की हैं और उनमें "दिव्य" और "भव्य" दोनों प्रकार के विवाहों का सुन्दर वर्णन मिलता है। "दिव्य विवाह" पति-पत्नी के सम्बन्ध जोड़ने से सम्बद्ध हैं। "भव्य-विवाह" में आध्यात्मिक रूपकों की प्रधानता है।"
—अगरचन्द नाहटा का निबन्ध, "मंगल काव्य", "भारतीय साहित्य", जनवरी १९५६, पृ० १४०

[4] अपभ्रंश भाषा में आगमिक गच्छीय जिनप्रभुसूरि का "अंतरंगविवाह" प्रकाशित हो चुका है।

सम्बन्ध जोड़नेवाली और दिव्य-विवाह का वर्णन करनेवाली प्राचीन रचनायें जैन तीर्थंकरों और पौराणिक पुरुषों से सम्बन्धित हैं।[१] श्री अगरचन्द नाहटा ने गुजरात के जैनेतर कवियों की ४० विवाह प्रबन्धों की खोज की है।[२] राजस्थान में भी इस प्रकार के अनेक काव्यों की रचना हुई। हिन्दी में "पृथ्वीराजरासो" के अन्तर्गत "विनय-मंगल" और "प्रस्ताव खंड" सर्वप्रथम मिलते हैं।[३] उसके पश्चात् ग्वालियर के कवि विष्णुदास का "रुक्मिणी मंगल" मिलता है।[४] फिर कबीर की रचना में "आदि मंगल" का नाम मिलता है, पर इसकी प्रामाणिकता में सन्देह है। तत्पश्चात् नरहरि-रचित "रुक्मिणी मंगल"[५] तथा नन्ददास और तुलसीदास के मंगलकाव्य आते हैं जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। जैनों के रूपक विवाहों या दिव्य-विवाहों के समकक्ष आनेवाले कुछ सन्तों के मंगल मिलते हैं। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने इस प्रकार के "विनोदमंगल" और "भक्तिमंगल" का उल्लेख किया है।[६]

इस प्रकार हिन्दी में भी एक दीर्घ मंगल काव्यों की परम्परा और उनकी विविधता मिलती है। यदि सभी छोटे बड़े मंगल काव्यों की सूचना मिल जाय तो परिमाण भी कुछ कम नहीं रहता। हिन्दी के मंगल काव्यों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। पहला वर्ग लौकिक विवाहों का है (रासो का मंगल), दूसरे वर्ग में वे मंगलकाव्य आते हैं जिनमें दिव्य विवाहों का वर्णन है। आध्यात्मिक विवाह-रूपक तीसरे प्रकार के मंगलकाव्य हैं। तेलुगु में प्रथम दो प्रकार के मंगल तो उपलब्ध हैं, पर रूपकात्मक मंगल नहीं मिलते।

निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि हिन्दी और तेलुगु-क्षेत्र में मंगलकाव्य की प्रवृत्ति और लोकप्रियता समान ही है। पर परिमाण की दृष्टि से तेलुगु-क्षेत्र में मंगल काव्यों की संख्या बहुत अधिक रही।[७] इसका कारण यह है कि तेलुगु-साहित्य में ई० १६वीं शताब्दी के पूर्व का काल पुराण-युग कहलाता है जो उत्तरार्द्ध की प्रबन्ध प्रवृत्ति के लिये पोषक-क्षेत्र रहा। प्रबन्धों के और पुराणों के आग्रह से भी मंगलकाव्य बहुत अधिक लोकप्रिय हुये। हिन्दी-क्षेत्र में प्रबन्ध की अपेक्षा मुक्तक अधिक लोकप्रिय रहा, अतः मंगलकाव्य की ओर हिन्दी कवि कुछ कम झुके।

५.२१. च. दृश्य (यक्षगान-रासलीला और रामलीला) :—यक्षगान तेलुगु-क्षेत्र का एक नृत्यनाटक है। आन्ध्र के तत्कालीन नाट्य रूपों का विभाजन[८] इस प्रकार है :

---

[१] बाइसवें जैन तीर्थंकर और नेमनाथ के विवाह के सम्बन्ध में कई रचनायें प्राप्त हैं।
[२] "भारतीय साहित्य", जनवरी १९५६, पृ० १४१
[३] रासो के लघुतम संस्करण में यह रूप नहीं मिलता।
[४] इसकी ओर प्रथम संकेत श्रीहरिहरदास द्विवेदी ने किया था।
[५] "अकबरी दरबार के हिन्दी कवि", डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल, पृ० ३३४-३४४
[६] "उत्तरभारत की सन्त परम्परा", पृ० ५४७

आलोच्ययुग में दोनों क्षेत्रों में मंगल काव्य के परिमाण में अधिक अन्तर दृष्टिगत नहीं होता। दीर्घपरम्परा की दृष्टि से देखने से ही तेलुगु के मंगल-काव्यों का परिमाण हिन्दी की अपेक्षा बहुत अधिक दिखाई देता है।

इस विभाजन का आधार "संग्रहान्ध्र विज्ञान कोशमु", वाल्यूम २, पृष्ठ ७७० है।

नृत्य

गोल्ल कलापमुलु[८]

इसे "एकमात्राहायमुलु (Solo-type dances) की संज्ञा दी जाती ।

२ प्रत्येक राज-दरबार में एक ही राजनर्तकी रहती थी ।

३ यह भगवत्सान्निध्य में बलिपीठ पर किया जाता था । यह अधिकार केवल देव-दासियों को ही था । उस समय कुछ देवालयों में एक से अधिक देवदासियाँ भी रहती थीं ।

४ यह विनोदार्थ या मनोरंजनार्थ किया जानेवाला नृत्य था जो मन्दिरों के कल्याण-मंडपों में प्रदर्शित किया जाता था । इसमें देवदासियों के अतिरिक्त अन्य वार-वनितायें भी भाग ले सकती थीं ।

५ इसमें नृत्य करनेवालों की संख्या अधिक रहती है । इसलिये इसे "समवेत नृत्य" भी कहा जा सकता है । इस नृत्य के प्रवर्तक कूचिपूडि के "ब्राह्मण भागवत" थे । बाद में इन्हीं से सीखकर अन्य भागवतों ने कलापमुलु और नृत्य-नाटकों का प्रदर्शन किया था । इसीलिये नाट्यमेळमुलु, भामाकलापमु, नृत्यनाटक आदि को कूचिपूडि-नृत्य की संज्ञा भी दी जाती है । नाट्यमेळमुलु के आदि गुरु सिद्धेन्द्रयोगी थे (ई० १४ या १५वीं शताब्दी के लगभग) । इनके पूर्व जय सेनापति (ई० १२५३-१२५४) ने "नृत्य रत्नावळी" नामक लक्षण-ग्रन्थ की रचना की थी जिसमें शास्त्रीय नृत्य तथा तत्काल में समाज में प्रचलित देशीय नृत्य-पद्धतियों का विवरण भी मिलता है । सिद्धेन्द्रयोगी ने "भामाकलाप" नामक लक्ष्य-ग्रन्थ की रचना की । इस ग्रन्थ की रचना करने में इन्हें जयदेव कृत "गीतगोविन्दम्" से ही अधिक प्रेरणा मिली होगी ।

६ इसमें केवल श्रृंगार रस स्थाई भाव के रूप में रहता है और इसी के अन्तर्गत विभिन्न संचारी भावों का समावेश रहता है ।

७ इसमें आद्यंत कृष्ण-सत्यभामा की श्रृंगार-लीलाओं का प्रदर्शन होता है ।

८ इसमें आद्यंत कृष्ण-गोपिका की प्रेम-लीलाओं का समावेश रहता है ।

उक्त तालिका को देखने से प्रतीत होता है कि एक-नृत्याभिनय तथा समवेत नृत्याभिनय दोनों ही आलोच्य-युग में प्रचलित थे। इसका क्षेत्र या तो देवमन्दिर था या राजदरबार। देवमन्दिरों से सम्बद्ध देवदासियों और राजदरबार से सम्बद्ध राज-नर्तकियों के नृत्याभिनय ने साहित्यकों को भी यक्षगान-सम्बन्धी साहित्य-रचना के लिये प्रेरणा दी। इस साहित्य में अनेकानेक छंदों का प्रयोग हुआ और सभी को संगीत और नृत्य के लिये और ताल के अनुसार संयोजित किया गया। इन छंदों का संगीत नृत्य की पृष्ठभूमि में रहता था। यक्षगान अत्यन्त लोकप्रिय शाखा थी। वैष्णव-साहित्य का सम्बन्ध भागवतसम्बन्धी कथा-प्रसंगोपेक्षित यक्षगान से है। इसमें भगवान की विभिन्न लीलाओं को काव्य, संगीत, नृत्य और अभिनय के समन्वित कलारूप के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता था। आज भी यक्षगान की परम्परा चल रही है। आलोच्यकाल में रचित वैष्णव-यक्षगानों की सूची निम्नलिखित है:—१. प्रोलुगंटि चिन्नशौरि—सौभरिचरितमु (अनुपलब्ध)[१]; २. चक्रपुरि राघवाचार्युडु—विप्रनारायण चरित्र[२]; ३. कंदकूरि रुद्रकवि—सुग्रीवविजयमु ; ४. श्री नारायण तीर्थुलु—पारिजातापहरण।

प्रथम यक्षगान प्रसिद्ध भावात्मक शबरी प्रसंग से संबद्ध है। "विप्रनारायण चरित्र" तेलुगु-क्षेत्र के एक अत्यन्तलोकप्रिय कथानक से सबंधित है। इस रचना में रेंडिटि द्विपदा, जंपे, त्रिपुटा आदि ताल-प्रधान ध्वनियों को ही प्रधानता दी गयी है। "सुग्रीव विजयमु" में सुग्रीव की विजय और उसकी पृष्ठभूमि में स्थित राम की करुणा और वत्सलता के भाव आये हैं। श्रीरामजी का विरह क्लेश, राम-बाण से पृथ्वी पर गिरे हुये बालि का वार्तालाप, तारा-विलाप, अंगद का राम को समर्पित किया जाना इत्यादि विषयों का इसमें वर्णन हुआ है। पात्रों के कथोपकथन में प्रवाह बहुत अधिक है। श्री रामजी के सीता-वियोग-दुःख (करुण विप्रलंभ) से कथा का आरम्भ होता है। शाश्वत भर्तृ-वियोग-वेदना में पराकाष्ठा का स्पर्श करने वाली तारा का रोदन ग्रन्थ के अन्तिम भाग का मुख्य सन्निवेश है। स्पष्ट है कि इस काव्य में करुण-अंगीरस है और वीर-अंग रस। यक्षगान वाङ्मय-संसार में यह भी एक उत्कृष्ट कृति है। इस ग्रन्थ में त्रिपुट, जंपे, कुरुच जंपे, मंगळमुलु, धवळशोभनमुलु, एललु, अर्द्धचंद्रिकलु, द्विपदायें (१००), वृत्त (१), सीसपद्य (२), कंदपद्य (१), गीतपद्य (३), संधि वचनों से युक्त अल्पवचनमुलु इत्यादि विभिन्न छंदों का प्रयोग हुआ है। इस यक्षगान में कथानक पद्य एवं वचनों में गतिशील हुआ है जिनका पाठ सूत्रधार करता है। "वेडले सुग्रीवुडु"—जैसी पद्धति में अन्य यक्षगानों में जो "प्रवेशिकि" नामक रागताल प्रधान गीत होते हैं वे इसमें नहीं हैं। प्रवेश एवं निष्क्रमण इत्यादि

[१] हरिभट्ट के "नृसिंह पुराण" में इसका संकेत मिलता है।

[२] उपलब्ध यक्षगानों में यह सर्वप्रथम है—'The Yakshagana in Telugu', by S. V. Joga Rao, Thesis Submitted to Andhra University, Part II, p. 6 (manuscript).

को सूत्रधार ही पद्य एवं वचनों के द्वारा प्रस्तुत करता है। यह दृश्यकाव्य[1] होने के साथ साथ श्रव्यकाव्य[2] भी है। "पारिजातापहरण" की कथा चौथे यक्षगान का विषय है।

यक्षगान कूचिपूडि शैली के भामाकलापों की एकरसता से ऊबने की प्रतिक्रिया-स्वरूप उत्पन्न हुआ माना जा सकता है।[3] क्योंकि भामाकलापों की कथावस्तु केवल सत्यभामा की ही रहती है। तब कुछ कवियों की दृष्टि लोकनाट्य (वीथिनाटक) पर गयी। इनमें कथा चलती है और पात्रों का नृत्याभिनय भी। इनको उच्चस्तरीय अभिरुचि और शास्त्रीय सज्जा प्रदान करके यक्षगान को स्थापित किया गया।[4] इस प्रकार लोकसम्मत अभिनय के ढाँचे को शास्त्रीय संस्कारों से युक्त करके विशुद्ध भक्ति और वैष्णव-उद्देश्य से इनका पुनर्नियोजन हुआ। इसका फल यह हुआ कि लोक-प्रियता में द्विपदा से द्वितीय स्थान यक्षगान को ही प्राप्त हुआ। आलोच्य-युग यक्षगान-काव्यों की रचना का आरम्भिक काल था, इसलिये इस काल में कम यक्षगान हमें प्राप्त होते हैं। किन्तु आलोच्ययुग के पश्चात् तेलुगु-साहित्य में सैकड़ों यक्षगानों की रचना हुई।

[1] इस यक्षगान को कवि ने भगवान् कंदुकूरि जनार्दन स्वामी के सम्मुख वसन्तोत्सव में पहली बार प्रदर्शित किया था :—डा० नेलटूरि वेंकटरमणय्यगारु से रचित "यक्षगानमु-तंजाऊर" नामक निबन्ध, "आन्ध्र पत्रिका"—खर संवत्सरादि संचिका।

यह काव्य वीथिनाटक के रूप में भी प्रदर्शित किया जाता था—प्रत्येक पात्र के गीत उस पात्र से संबंधित वेषधारी आकर गाता था। एक या दो सूत्रधारी संधिवचनों का पाठ करते थे—वेटूरिवारि "सुग्रीवविजयमु" की पीठिका

[2] रुद्रकवि कृत "सुग्रीव विजयमु" के गीतों को बहुत ही सामान्य प्रजा गाया करती थी—वेटूरिवारि "सुग्रीव विजयमु"

[3] "विज्ञान सर्वस्वमु", वाल्यूम ३, पृ० ७६१.

[4] यक्षगान के प्रदर्शन की संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार है। जिस दिन यक्षगान का प्रदर्शन होना चाहिये, उसी दिन गाँव या मंदिर के पास एक निराडंबर "पंडाल" का निर्माण किया जाता है। इसके नीचे स्थित कठोर पृथ्वी ही रंगस्थल है। दो आदमियों से पकड़ा हुआ एक कपड़ा ही पर्दा है। पर्दे की दोनों तरफ तेल की "दिविटीलु" जलते रहते हैं। पर्दे के पीछे संगीतज्ञ अपने सामान के साथ उपस्थित रहते हैं। पर्दे के सामने सूत्रधारी रहता है। वही प्रदर्शन को नियंत्रण में रखनेवाला है। प्रार्थना, कथा सन्दर्भ का विवरण, पात्र-प्रवेश की सूचना, पात्रों से बातचीत करना, पात्रों एवं पीछे के संगीतज्ञों को "प्राम्प्टिंग" देना, पात्रों के अभिनय के अनुरूप ताल-प्रयोग करना, संधिवचनों का पाठ करना, बीच बीच में हास्य-रस के प्रसंगों के द्वारा हास्य उत्पन्न करना—ये सब उनके कर्त्तव्य हैं। विभिन्न प्रान्तों के प्रदर्शकों की रुचि एवं अवकाशों के अनुसार कुछ अन्य विशेषतायें भी प्रदर्शन में आ जाती हैं। —"विज्ञान सर्वस्वमु", वाल्यूम ३, पृ० ६८७

रेकु, दरुवु, पदमु, कीर्तन, द्विपदा, संस्कृत वृत्त, संस्कृत श्लोक, वचनमु इत्यादि विभिन्न छंदों को संगी में ढालकर यक्षगानों के रूप में काम में लाया जाता है। इस प्रकार इनका मुख्य तत्व गीत और ताल है।[1]

यक्षगान में छन्द, भाषा, राग आदि का विपुल वैविध्य मिलता है। इसमें पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक तथा लोक-कथानक भी सन्निविष्ट हो जाते हैं। तत्कालीन साहित्य में भक्ति, माधुर्य, शृंगार आदि रसों के घटाटोप में हास्यरस खोसा गया था। यक्षगानों ने हास्य रस का भी संस्पर्श प्राप्त किया। सबसे बड़ी बात यह है कि यह सभी साहित्य रूपों से अधिक जनरुचि और जनभावना के समीप है। इसलिये आज भी यत्रतत्र यक्षगान के प्रदर्शन होते रहते हैं।

तेलुगु-क्षेत्र में जिस प्रकार शृंगार तथा शृंगारेतर लीलाओं का लोकोन्मुख संवहन यक्षगान ने किया, उसी प्रकार हिन्दी-क्षेत्र में भी "रास" भक्ति के श्रव्य भावों को दृश्यरूप प्रदान करने का माध्यम बना। यक्षगान का उन्नयन और उदात्तीकरण भक्ति संवलित साहित्य के समन्वय से हुआ। उसी प्रकार रास के साथ भी जब श्रीहितहरिवंश या वल्लभाचारी जैसे आचार्यों ने लोकोत्तर अभिप्राय सम्मिलित कर दिये और जब इसकी पृष्ठभूमि में भक्त-कवियों का साहित्य और उनकी दिव्य संगीत समाविष्ट हो गये तब रास लोकभूमि पर रहते हुये भी दिव्य-वातावरण और उन्नत अभिरुचि का प्रतिनिधित्व करने लगा।

तेलुगु-क्षेत्र में यक्षगान के उपयुक्त एक काव्य-रूप-विधा का जन्म हुआ। इस काव्यरूप में व्रज की लीलाओं का समावेश न होने के कारण प्रसंगापेक्षी भावमुक्तक तत्व कम रहा और प्रबन्ध तत्व के बढ़ जाने से उसमें कथात्मकता और नाटकीयता रास की अपेक्षा अधिक हो गयी। इसके विपरीत हिन्दीक्षेत्र में रास-लीलायें व्रज लीलाओं से सम्बद्ध होने के कारण प्रबन्धत्व में शिथिल रहीं, पर राग-संवर्धन, भाव विस्तार आर रसानुभूति में अधिक सफल हो सकीं। रास का दूसरा तत्व संवाद है। इन संवादों की भाषा व्रजभाषा । अतः रास की भाषा व्रजभाषा ही रहती है। यह भाषा भी एक विशिष्ट शैली को लेकर चलती वाक्यों की सुरसरणियाँ संगीतात्मक होती हैं और आरोह-अवरोह के साथ इन वाक्यों का कथन किया जाता । यक्षगान में भी इसी शैली के संवादों की योजना होती ।

रास का तीसरा तत्व अभिनय है। इस अभिनय में रसाश्रयी मुद्राओं और अर्धशास्त्रीय या पूर्ण शास्त्रीय नृत्य का विधान रहता है। नृत्याभिनय सामूहिक होता

[1] विशेष विवरण के लिये देखिये:—"दि यक्षगान इन टेलुगु"—डा० जोगराव (आन्ध्र विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में सुरक्षित प्रति);—यक्षगान वह है जिसमें वेलपुपदंबुलु, दरुवुलु, एललु, धवळंबुलु, मंगळहारतुलु शोभनंबुलु, उय्यल जोललु, जक्कुलरेकुपदंबुलु, चंदमामसुद्दल, अष्टकंबुलु, एकपदद्विपदा, त्रिपदचतुष्पदाष्टपदुलु इत्यादि अनेकानेक छन्दों का प्रयोग होता है।

—"आन्ध्रवाग्गेयकारचरित्रमु", पृ० १५८

है। यह तत्व दृश्य काव्य के अन्तर्गत आता है। अभिनय तत्व की प्रविधि रास और यक्षगान में समान ही है। वही खुला हुआ रंगमंच दोनों जगह उपयोग में आता है।[1] बड़े शास्त्रीय संगीतज्ञ संगीत यंत्रों की सहायता से गायन करते हैं। जहाँ तक अभिनय से सम्बद्ध नृत्य का सम्बन्ध है, यह दोनों क्षेत्रों में भिन्न है। नृत्य की शैलियों पर विचार करना यहाँ अभीष्ट नहीं है, क्योंकि वह साहित्य के अन्तर्गत नहीं आता।

रासलीला या अन्य कृष्ण लीलाओं के अतिरिक्त हिन्दी-क्षेत्र में रामलीलायें भी प्रचलित हैं। समस्त हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र के बड़े छोटे नगरों में प्रतिवर्ष दशहरे के समय रामलीला का अभिनय किया जाता है। अन्य अवसरों पर भी रामलीला हो सकती है। इसकी पृष्ठभूमि में सामान्यरूप से तुलसी के "रामचरितमानस" का गायन रहता है। तेलुगु-यक्षगानों की भाँति इसमें भी इतिवृत्ति का विकास विधिवत् होता है।

रामलीला की कथा लम्बी होने के कारण इसके अभिनय में कई दिन लगते हैं। रासलीला में यह बात नहीं। एक लीला की समाप्ति पर दूसरी लीला से कोई कड़ी नहीं जुड़ती। पर तेलुगु-क्षेत्र में यक्षगान कई दिनों तक भी निरन्तर प्रबन्ध सन्धियों का निर्वहण करते हुये चल सकता है। इस दृष्टि से यक्षगान और रामलीला को रास से पृथक किया जा सकता है, पर रामलीला और यक्षगान में भी एक अन्तर है। रामलीला में पात्रों के द्वारा भाव-प्रदर्शन के लिये नृत्य का उपयोग नहीं किया जाता। केवल रामायण की चौपाइयों का गायन होता है, और अभिनेता गद्य में भावार्थकथन करता है। यही इसकी संवादयोजना है। यक्षगान में नृत्य का तत्व अनिवार्य है। इसका एक कारण है। यक्षगान के जन्मदाता मुख्यतः नृत्य में रुचि रखते थे। भक्ति के प्रभाव से और राजरुचि को सन्तुष्ट करने के लिये अथवा भक्ति से मुखर जनमानस को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये कूचुपूडिवालों ने नृत्य की विषयवस्तु या भावविभूति के रूप में भक्ति-साहित्य को अपनाया। पर रास और रामलीला के सम्बन्ध में यही नहीं कहा जा सकता। वहाँ भक्तों ने भक्ति-भावना को दृश्य बनाने के लिये इस लोकनाट्य शैली को ग्रहण किया।

इस प्रकार उक्त तीनों विधायें एक मिश्रित काव्य-रूप के अन्तर्गत मानी जा सकती हैं:—साहित्य (= श्रव्य + दृश्य) + संगीत + नृत्य। इसके तत्वों में दोनों

[1] यक्षगान मन्दिरों में किसी ऊँचे, खुले चबूतरे पर भी होता है और मन्दिरों के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर भी। ऊँचे चबूतरे का होना भी इसके लिये अनिवार्य नहीं। रास के लिये ब्रजक्षेत्र में कृष्ण की तथाकथित विशेष लीलाभूमियों पर एक सिंहासन के रूप में 'रासमंडल" बने हुये हैं। रासलीलायें रासमंडल में भी हो सकती हैं या मन्दिर में भी। बिना रासमंडल के भी रास सम्भव है। यही बात रामलीला के सम्बन्ध में भी है।

क्षेत्रों में साम्य भी हैं और वैषम्य भी। निम्न तुलनात्मक तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है :—

	साहित्य				संगीत	नृत्य
	श्रव्य		दृश्य			
	कथातत्व	मुक्तकतत्व	अभिनय	संवाद		
यक्षगान	√	०	√	√	√	√
रामलीला	√	०	√	√	√	०
रासलीला	√ (गौण)	√	√	√	√	√

इसको देखने से यह स्पष्ट होता है कि प्रबन्ध के तत्व पर रामलीला और यक्षगान अधिक समान हैं और नृत्य के तत्व पर रास और गक्षगान। शेष तत्व तीनों में समान हैं।

यक्षगान की लोकप्रियता ने तेलुगु के रंगमंच को इतना प्रभावित किया कि इस युग में किसी प्रमुख नाटक की रचना नहीं हुई। यदि रचे भी गये हों तो वैष्णव भक्ति के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहा। हिन्दी क्षेत्र में भी नाटक को प्रोत्साहन नहीं मिला। केवल दो-एक नाटक की सूचना मिलती है[१] जिसके आधार पर किसी परम्परा को स्थापित नहीं किया जा सकता।

तेलुगु में जिस प्रकार यक्षगान नाम से ही कुछ रचनायें हुईं या कुछ रचनायें उसके लिये समझी गयीं, उस प्रकार हिन्दी साहित्य में नहीं। वहाँ किसी भी भक्त-कवि के द्वारा रचित काव्य-संगीत-वाणी का प्रयोग एतदर्थ हो सकता था।[२] तेलुगु-क्षेत्र में भी यह असम्भव नहीं कि कीर्तन-काव्यकारों अथवा गेयकारों की रचनाओं की भूमिका में यक्षगान का प्रदर्शन हो। अन्नमाचार्य, क्षेत्रय्य, रामदास, त्यागराज जैसे सिद्ध कवि और संगीतज्ञों की वाणियों का उपयोग भी यक्षगानों में होता है। यही

[१] बलभद्र कृत "हनुमान्नाटक" (अनुपलब्ध), हरिराम कृत जानकीरामचरित नाटक
[२] हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ६५७

पद्धति हिन्दी-क्षेत्र में अब तक प्रचलित है। सूर, परमानन्ददास, कुंभनदास और श्री हितहरिवंश या हरिदास जी के पदों का प्रयोग रासलीला में चलता है।

रासलीला के स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में लिखे जाने का प्रचलन हिन्दी क्षेत्र में आलोच्यकाल के पश्चात् हुआ। "रसिक" भावना को लेकर साधना करनेवाले राम-भक्त कवियों ने तो राम की अन्य लीलाओं से संतोष नहीं किया। इन्होंने तो राम की रासलीलाओं का भी वर्णन किया। रासलीला और रामलीला में जनता की रुचि उत्तरोत्तर इतनी तीव्र रूप से बढ़ने लगी कि आलोच्यकाल के पश्चात इन लीलाओं की एक समृद्ध साहित्यिक परम्परा भी प्रवाहित हुई।

५.२१. छ. धर्मकथा

धर्मकथा काव्य सभी क्षेत्रों में प्रचलित हैं। इन्हें दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :—१. माहात्म्य काव्य, २. उपदेशात्मक काव्य।

माहात्म्य काव्य :—किसी व्रत या अनुष्ठान के माहात्म्य का अनुकथन करके उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने के उद्देश्य से लिखे हुये कथाकाव्य इस श्रेणी में आते हैं। और भी अनेक लोक-कथायें गृहस्थों में इसी रूप में प्रचलित हैं। किसी व्रत या अनुष्ठान के अतिरिक्त पवित्रस्थल, व्यक्ति, इष्टदेव आदि का महत्व भी इन माहात्म्य कथाओं में प्रतिपादित रह सकता है। पर इस महत्व-प्रतिपादन की शैली कथात्मक होती है। उस कथा के अभिप्राय लोक या पुराणकथा के अनुसार नियोजित हो सकते हैं। पर उस योजना में एक सुनिश्चित उद्देश्य होता है, यह उद्देश्य पाठक या श्रोता पर माहात्म्य के प्रभाव का होता है। हिन्दी-क्षेत्र में आलोच्य-युग धार्मिक प्रवृत्तियों के उत्थान का ही युग था। अतः इस प्रकार की कथायें पर्याप्त मात्रा में बनीं। प्रत्येक भक्ति-ग्रन्थ के अन्त में, अथवा उस ग्रन्थ के अन्तर्गत आये हुये मुख्य प्रसंगों के श्रवण-गायन के सम्बन्ध में फलकथन की शैली मिलती है। इस फलकथन के मूल में उस रचना का माहात्म्य ही सूचित किया जाता है। पर पृथक रूप से भी कुछ माहात्म्य-कथाओं की रचना हुई है। इन कथाओं की परम्परा अत्यन्त प्राचीन काल तक खोजी जा सकती है। पर निकट अतीत में जैन-साहित्य में ऐसी कथाओं का बाहुल्य है। वहाँ पर तीर्थ और व्रत दोनों के ही माहात्म्य का कथन किया गया है। हो सकता है कि जैन और बौद्ध तीर्थों के माहात्म्यकथन से प्रेरणा लेकर शैव या वैष्णव तीर्थों की माहात्म्य-कथायें आलोच्य-युग में विकसित हुई हों। हिन्दी-क्षेत्र में इस प्रकार की कथायें लोक में मौखिक रूप से भी प्रचलित हैं,[1] और कुछ साहित्य में गृहीत

[1] श्रीगणेशजू की कथा, सत्यनारायण की कथा, पूर्णमाजी और शक्ति की कथा, हरतालिका कथा आदि। पर इनका संस्कृत धार्मिक-साहित्य में मूल खोजना कठिन नहीं है।

हैं।[१] इन धार्मिक कथाओं को भी सुन्दर और पुष्ट बनाने की दृष्टि रहती है। विशेष रूप से इन में प्रेम का तत्व जोड़ दिया जाता था।[२] इसलिये इन कथाओं में साहित्यिकता के समावेश की भी संभावना हो सकती थी चाहे धार्मिक उद्देश्य के कारण इनका साहित्यिक मूल्यांकन न हो पाया हो। आलोच्य-युग में हिन्दी में लिखी हुई किसी प्रमुख माहात्म्य-कथा को देखने का अवसर तो नहीं मिला, पर पीछे इसकी परम्परा चलती हुई दीखती है जिसका रूप आलोच्ययुग में भी लुप्त नहीं हो गया था। हिन्दी के कुछ ऐसे ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है[३] :—एकादशी माहात्म्य—सुदर्शन; भक्त-माहात्म्य—गंगासुत; रविवृत्त की कथा—सुरेन्द्रकीर्ति; व्रतकथाकोश—चंदखुशियाल। तेलुगु के आलोच्ययुगीन वैष्णव माहात्म्य काव्यों की सूची इस प्रकार है :—आन्ध्रकवि रामय्य—त्रिष्णकांची माहात्म्यमु; तेनालि रामकृष्ण—घटिकाचल माहात्म्यमु; तेनालि रामकृष्ण—पांडुरंग माहात्म्यमु; पिल्ललमर्रि पिनवीरभद्रकवि— माघमाहात्म्यमु; पेनुमेत्स गोपराजु—अंतर्वेदि माहात्म्यमु; प्रौढ़कवि मल्लन—एकादशी माहात्म्यमु; भैरव कवि—श्रीरंगमाहात्म्यमु (हस्तलिखित प्रति); लिंगमकुंट रामकवि—वेंकटमाहात्म्यमु।

उक्त सूची के काव्यों में तेनालि रामकृष्णकवि कृत "पांडुरंग माहात्म्यमु" सर्वोत्तम काव्य है। यह पाँच आश्वासों का एक पुराण ही है। इसमें तीर्थक्षेत्र का माहात्म्य-प्रदर्शन ही कवि का मुख्य लक्ष्य है। इस उद्देश्य-पूर्ति के लिये कवि ने अनेक कथागुच्छों से इस काव्य को सजाया है। इस ग्रन्थ की विषयवस्तु निम्नलिखित प्रकार है :—प्रथम आश्वास—अगस्त्य तथा कुमारस्वामी के वृत्तान्त[४]; द्वितीय आश्वास—पुंडरीक क्षेत्र का वृत्तान्त[५]; तृतीय आश्वास—निगमशर्मा का उपाख्यान और राधा का

१ "दूसरे प्रकार का लोकवार्ता-साहित्य जो ग्रन्थरूप में खोज में मिला है, धर्ममाहात्म्य कथा है। ये ग्रन्थ कई विभागों में रखे जा सकते हैं। इनमें से तो पहले ऐसे ग्रन्थ हैं जो धार्मिक व्रतों के अनुष्ठान के प्रधान अंग हैं ...... इनमें एक वर्ग ऐसे ग्रन्थों का है .... जो किसी व्रत का माहात्म्य और आवश्यकता बताते हैं"।
—डा० सत्येन्द्र, "मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन", पृ० १९४-९५

२ "The author of the prakrit poem Vasudeva—Hindi insisted that romantic stories should be utilised for writing Dharma-Kathas."
—Preface 'Madhavanal-kam-kandala' prabandha, 1942. Oriental Institute, Baroda.

३ प्रायः सभी तीर्थ स्थानों पर काव्य मिलते हैं। किन्तु वैष्णव साहित्य की दृष्टि से इस साहित्य का विशेष परिशीलन प्रस्तुत प्रबन्ध में नहीं किया गया है।

४ इसमें काशी नगर का वर्णन, कार्तिकेय का यात्रा-वर्णन, षट्ऋतु-वर्णन, पार्वती-परमेश्वर का उद्यानविहार और संभोग वर्णन आदि को कवि ने प्रस्तुत किया है।

५ इसमें उस क्षेत्र में स्थित भगवान पांडुरंग का विशेष रूप से एवं अन्य देवताओं का सामान्य रूप से वर्णन किया गया है।

वृत्तान्त[1]; चतुर्थ आश्वास—राधा का तपोविधान और सुशीला का वृत्तान्त[2]; पंचम आश्वास—सुगम शर्मा का उपाख्यान और अयुत तथा नियुत के वृत्तान्त।[3]

यद्यपि यह एक क्षेत्र—माहात्म्य से संबन्धित (स्थल) पुराण है, तथापि उच्चवर्गीय रुचि और कवि के रूप में प्रतिष्ठा पाने की अभिलाषा से प्रेरित होकर कवि ने इस काव्य की पौराणिकता को सुरक्षित रखते हुये भी शास्त्रीयता का गहरा रंग चढ़ा दिया। ये वर्णनप्रिय कवि हैं और अलंकार विधान में भी पूर्ण रूप से सचेष्ट हैं। इसीलिये इसे शुद्ध पुराण-काव्य न कहकर विद्वानों ने शास्त्रानुगत प्रबन्धों की कोटि में ही इसे स्थान दिया है। केवल वस्तुगत ऐक्य छिन्नविच्छिन्न रहता है, अन्यथा यह एक पुष्ट महाकाव्य की संज्ञा प्राप्त करता। तत्कालीन परिस्थितियों का चित्रण, मानवस्वभाव का निरूपण, कौटुम्बिक मनोविज्ञान, षट्ऋतु वर्णन, विभिन्न प्रकार के वर्णन, उचित पद-गुंफन, मर्मस्पर्शी अप्रस्तुत विधान, कांतासम्मित हितोपदेश—संक्षेप में ये ही इस काव्य की प्रमुख विशेषतायें हैं।

उपदेशात्मक काव्य :—इनका उद्देश्य मनुष्य के मनोविकारों के विकृत रूपों को स्पष्ट करके उनके प्रति एक वैराग्य-भावना उत्पन्न करना होता है। हिन्दी में इस प्रकार के काव्यों की आलोच्ययुग में एक विस्तृत परम्परा प्राप्त होती है। कुछ काव्य ये हैं :—कृष्णदास पयहारी कृत प्रेमतत्व निरूपण, कृष्णदास कृत प्रेमतत्व-निरूपण, तुलसीदास कृत कलिधर्माधर्म निरूपण, ध्रुवदास कृत सिद्धांत-विचार, परशुराम कृत हरिलीला, तिथिलीला, बारलीला, गदाधरभट्ट कृत ध्यानलीला, ध्रुवदास कृत जीवदशालीला, मनशिक्षालीला, बृन्दावन सतलीला, भजनसत लीला, युगलध्यान-लीला आदि।[4]

इस श्रेणी में आने वाले तेलुगु काव्य ये हैं :—विष्णु माया नाटक—चिंतलपूडि एल्लनार्युडु; विष्णु माया नाटक—मडिकि अनंतय्य; श्रीरामस्तवराजमु—मुम्मडि मल्लनार्य; ज्ञानवासिष्ठ रामायण—मडिकि सिंगना। इनमें प्रथम दो काव्यों की कथावस्तु एक ही है। पर इनमें से द्वितीय पुस्तक अमुद्रित है। अतः यहाँ पर केवल प्रथम काव्य का ही रूपगत परिचय दिया जा रहा है। इसकी पृष्ठभूमि में विष्णु की माया की स्थिति है जो मनुष्य के मनोविकासजन्य पतन के लिये उत्तरदायी होते हैं। इसमें पाँच कथायें हैं। ये कथायें निम्नलिखित हैं :—

नृसिंह तीर्थ के माहात्म्य को निरूपित करने के लिये उक्त विषय साधनस्वरूप हैं।

[2] इसमें षट्ऋतु वर्णन (यह राधा से संबद्ध किया गया है), बालकृष्ण वर्णन, हंस, शुक, नाग, गाय आदि से संबंधित कथायें आदि को प्रस्तुत किया गया है।

[3] पद्मतीर्थ, संगम तीर्थ और पुंडरीक क्षेत्र के माहात्म्यों को निरूपित करना ही इसमें कवि का लक्ष्य है।

[4] इन ग्रन्थों के विस्तृत परिचय के लिए देखिये :—डा० रामबाबू शर्मा कृत "हिन्दी साहित्य के काव्यरूपों का अध्ययन" (अमुद्रित शोध प्रबन्ध), पृ० ११५, ११६, ११७

सत्यभामा की कथा :—पारिजातापहरणोपरान्त सत्यभामा को गर्व—श्री कृष्ण का तुलादान—सत्यभामा के समस्त आभूषण आदि भी कृष्ण को नहीं तोल पाते—रुक्मिणी अनन्य प्रेम से एक तुलसी-दल से तोलने का प्रयास करती है और उसका भार कृष्ण के अंगभार से अधिक हो जाता है। इस प्रकार अपमानित होकर सत्यभामा अपने गर्व को भूलकर कृष्ण में स्वच्छन्द भाव से अनुरक्त हो जाती है।

विष्णु-लक्ष्मी की कथा—लक्ष्मी और विष्णु द्यूतक्रीडा में संलग्न—लक्ष्मी का दाँव हारना—इस पर क्रुद्ध होकर वह विश्वव्यापी अपनी शक्तियों को वापस ले लेती है—विष्णु के द्वारा कृत्रिम लक्ष्मी की सृष्टि—इससे उसका अहंभाव लुप्त—उद्देश्य :—क्रोध और अभिमान से वैराग्य।

ब्रह्माजी की कथा :—ब्रह्मा को अपने सृष्टि-सम्बन्धी कर्तृत्व पर गर्व—विष्णु द्वारा कृत्रिम सरस्वती की रचना—ब्रह्मा का उसमें आसक्त होना—कुछ कालोपरान्त ब्रह्मा को यथार्थ स्थिति का ज्ञान—उनका गर्व चूर—तब विष्णु में भक्ति।

शिवजी की कथा :—शिव को अपने इंद्रियदमन पर गर्व—विष्णु का मोहिनी रूप में अवतरित होना—शिवजी की मोहिनी में आसक्ति—फिर मोहिनी रूप विष्णु का अन्तर्धान हो जाना—इससे शिव का गर्व-भंग और उनकी विष्णु से प्रार्थना।

नारदजी की कथा :— नारद का अपनी अनासक्ति पर गर्व—विष्णु की माया से उनका स्त्री रूप में परिणत होना—स्त्रीरूप नारद का एक राजा से विवाह, उनसे स्वपुत्रों की प्राप्ति—पड़ोसी राजा का आक्रमण—पति, पुत्र, सेना आदि सब कुछ समाप्त—एक ब्राह्मण द्वारा आत्महत्या का परामर्श—आत्महत्या के लिये स्त्री-रूपी नारद का एक सरोवर में कूदना—यहीं यथार्थ स्थिति का ज्ञान और गर्व-भंग।

उक्त पाँच कथाओं का सूत्रविधान पांचतंत्रीय नीतिकथाओं के समान ही है, पर इनमें धार्मिक भावना ही विशेष है। साथ ही सभी में विष्णु के महत्व की घोषणा है। विष्णु का एक नाम "गर्व प्रहारी" भी है। इस रूप में इन कहानियों में विष्णु की प्रतिष्ठा हुई है।

मडिकि सिंगना कृत "ज्ञानवासिष्ठ रामायण" में कथा की अपेक्षा ज्ञान और दर्शनपक्ष को विशद बनाया गया है। यह संस्कृत के "ज्ञानवासिष्ठ रामायण" का तेलुगु में संक्षिप्त रूपान्तर है। गहनतम-दुरूह वेदान्त विषयों को भी कवि ने अपनी सरल भाषा और शैली में ढालकर बहुत ही सुबोध बनाया है।

मुम्मडि मल्लनार्य कृत "श्रीरामस्तवराजमु" भी इसी प्रकार वेदान्त बोधक काव्य है। यह तीन आश्वासों का काव्य है। इसकी शैली बहुत सरल है। इस काव्य का अभी तक प्रकाशन नहीं हुआ है।

५.२१. ज. लीला

अधिकांश कवियों ने कृष्ण की लीलाओं को पद-शैली में ही लिखा है। कुछ कवियों ने कृष्ण की विशिष्ट लीलाओं को लेकर अन्य छन्दों के माध्यम से भी रचना की है। पदबंद्ध लीलाओं और किसी लीला पर अन्य छन्दों में रचित लीलाओं में एक

अन्तर है। प्रथम में प्रबन्ध-सूत्र इतना सम्बद्ध नहीं रहता। एक ही लीला-प्रसंग पर कई पद होने के कारण पुनरावृत्ति भी हो जाती है। किन्तु जिन कवियों ने विशेष लीलाओं पर स्वतंत्र रचनायें की हैं, उनमें प्रबन्ध-सूत्र का विधिवत् विकास होता है और पुनरावृत्ति का तत्व नहीं मिलता। हिन्दीक्षेत्र में आलोच्य-युग में इस काव्यरूप का प्रचलन विशेष रूप से है। तेलुगु-क्षेत्र में आलोच्य-युग में तो इस काव्यरूप के दर्शन नहीं होते। हिन्दी-साहित्य की प्रमुख लीलायें इस प्रकार :—कृष्णदासचालक —कृष्ण-रुक्मिणी केलि; कृष्णदास चालक रासपंचाध्यायी; ध्रुवदास- (बाईस दोहों में); ध्रुवदास—ब्रजलीला (आख्यानात्मक शैली में राधाकृष्ण मिलन); ध्रुवदास[1]—मानलीला[2]; नंददास—दानलीला; नंददास—पनिहारिन लीला; नंददास —मानलीला; नंददास—रासपंचाध्यायी; नंददास—रास लीला; नंददास—श्याम सगाई; परमानन्ददास—दधिलीला; परमानन्ददास—दानलीला; विष्णुदास—सनेह लीला; हितकृष्णचन्द्र गोस्वामी—राधानुनय विनोद।

ऊपर की सूची को देखने से प्रतीत होता है कि ब्रजलीलाओं ने आलोच्ययुग के कवियों को विशेष आकृष्ट किया। इन लीलाओं में से भी लोकमंगलकारी लीलाओं को इस काव्यरूप में न रखा गया। केवल शृंगार लीलाओं के प्रबन्ध सूत्र के विकास की दृष्टि से इस काव्यरूप को रखा गया। इन लीलाओं को प्रबन्ध के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। इस के दो कारण हैं :—१. कथा या इतिवृत्ति जो प्रबन्धकाव्य का आधार है, इनमें प्रायः शिथिल है। इसके स्थान पर एक सरस प्रसंग-मात्र होता है जिसका विकास कभी वृत्ताकार होता है और कभी सीधी रेखा के समान। इस लीला-प्रसंग की उपयुक्तता मुक्तककाव्य के लिये ही होती है। केवल विधिवत् कड़ियाँ जोड़कर उनको इसके रूप में रखा जाता है कि पदबद्ध लीलाओं से ये भिन्न हो जाती हैं। २. दूसरा कारण यह है कि कवि का ध्यान प्रबन्ध-विशेष पर अधिक न रहकर भाव-विकास पर ही रहता है। सूर आदि कवियों ने अपने पदों में कुछ ऐसे लम्बे पद भी रखे हैं जिनमें पूरी लीला, प्रसंग की सम्बद्धता के साथ वर्णित है। कुछ में अन्य छन्दों का प्रयोग भी इन कवियों ने किया है।

कुछ लीला-साहित्य ऐसा भी है जिसमें कृष्ण या राम की लीलायें वर्णित नहीं हैं। केवल सिद्धान्त या माहात्म्य का कथन किया गया है और नाम उसकी लीला ही रखा गया है। यह काव्यरूप सम्भवतः निर्गुणिया सन्तों में भी मिलता था। निम्बार्क सम्प्रदाय के परशुराम-रचित तिथि-लीला, वारलीला, बावनी-लीला[3] आदि

[1] विशेष परिचय के लिये विजयेन्द्र स्नातक का "राधावल्लभ सम्प्रदाय" ग्रन्थ द्रष्टव्य है।

[2] अड़तीस दोहों की यह छोटी सी लीला है।

[3] "विषय और नाम दोनों ही दृष्टियों से कबीर की कही जानेवाली इन्हीं नाम की रचनाओं से साम्य रखती हैं।" —डा० शिवप्रसाद सिंह, "सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य"।

इसी प्रकार के लीलाकाव्य हैं। तिथि-लीला में अमावाश्या से पूर्णिमा तक का वर्णन सन्तोचित ढंग से किया गया है। इन्होंने अमरबोधलीला, नामनिधिलीला, शौच-निषेध-लीला आदि ग्रन्थ भी लिखे हैं जिनमें सिद्धान्तकथन ही विशेष है। इसी कारण इस प्रकार की लीलाओं को धर्मकथा काव्यों के अन्तर्गत रक्खा जा सकता है।

निम्बार्क सम्प्रदाय में ही नहीं, राधावल्लभ सम्प्रदाय में भी इस प्रकार के सिद्धान्तमूलक लीला-काव्यरूप का प्रचलन था। ध्रुवदासजी की जीवनदशालीला, वैद्यज्ञान आदि को इस काव्यरूप के अन्तर्गत रखा जा सकता है। पर अधिकांश भक्त-कवियों ने इस प्रकार के दार्शनिक लीलाप्रसंगों या रूपकों को प्रश्रय नहीं दिया।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि लीला काव्यरूप पहले राम और कृष्ण के लीला-प्रसंगों से सम्बन्धित था, पीछे यह रूढ़ हो गया और व्यापक रूप से भगवान की लीलाओं को रूपबद्ध करके या सामान्य रूप से इनमें रखा गया।

५.२२. मुक्तक

५.२२. क. पद

प्रस्तावना :—आलोच्य-युग में प्रबन्ध का प्रवाह बहुत क्षिप्र और गतिवान रहा। भक्ति-साधना में संगीत और नृत्य दोनों ही प्रवेश कर चुके थे। दक्षिण और उत्तर दोनों ही क्षेत्रों में मन्दिर का वातावरण संगीत और नृत्य से भर गया था। संगीत को भक्ति की देन यह थी कि उसमें अर्थ को महत्व प्राप्त हुआ और शुद्ध आरोह-अवरोह सरणियों का शास्त्रीय खिलवाड़ संगीत नहीं रह गया। वैसे राज्याश्रय में भी संगीत और नृत्य को आश्रय मिला, पर काव्य और संगीत का समन्वित रूप वहाँ समादृत नहीं हो पाया। दोनों ही अलग अलग अपना विकास करते रहे। राज्याश्रय के साथ साथ मन्दिरों में देवाश्रय भी कला-साधना के पोषण और प्रोत्साहन में सक्रिय था। दोनों ही क्षेत्रों में कीर्तन-साहित्य को साहित्य में नये काव्यरूप के रूप में प्रति-ष्ठित करने का श्रेय मन्दिरों की अर्चा-पूजा-पद्धति को ही है। दक्षिण में श्री वेंकटेश्वर जी का मन्दिर ताळ्ळपाक श्री अन्नमाचारी और उनके पुत्र के कीर्तन-साहित्य की मधुरिमा से भर उठा और उत्तर में कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायों के मन्दिरों में सूरदास, परमानन्ददास, हरिवंश, ध्रुवदास, हरिदास आदि भक्त-कवियों के लीलात्मक कीर्तन गूँज उठे।

तेलुगु-क्षेत्र में यह काव्यरूप लोकप्रिय तो हुआ, पर इस साहित्य की विशेष उन्नति परवर्तीकाल में हुई। वस्तुतः प्रबन्ध के प्रवाह को झेलता हुआ यह एक शक्ति-शाली अपवाद अटल शिखर के रूप में इस काव्य में बना रहा, पीछे इसमें से अनेक उपधारायें प्रस्फुटित हो उठीं। कभी लोक साहित्य के कगार को स्पर्श करती हुई और कभी शास्त्रीय तटों से होकर ये धारायें बहती रहीं। वेमना मुक्तक की लोका-श्रित परम्परा को जनप्रिय साहित्य के रूप में परिणत करनेवाले एक विभूति थे। इसी कोटि के अन्य सन्त भी होते रहे होंगे जो गीतितत्व का समन्वय मुक्तकों में नहीं

कर सके, पर प्रबन्ध की धारा में भी नहीं बह गये। इसी कोटि में हिन्दी के निर्गुणिया सन्तों की अटपटी स्फुट वाणियाँ आती हैं, जो संगीतात्मक गेय मुक्तकों की पृष्ठभूमि में हैं। इस प्रकार दोनों ही स्थानों पर पृष्ठभूमि का साम्य है।

दोनों ही क्षेत्रों में पद-साहित्य को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है :—

प्रसंगापेक्षी या लीलावर्णन :—इन गीतों में भक्त की मर्मानुभूति की आधारभूमि के रूप में एक दिव्यलीलाप्रसंग रहता है। यह प्रसंग विस्तृत नहीं, गीत की सीमा की दृष्टि से संकुचित ही रहता है। भक्त की अनुभूति उस वर्णित लीला के पृष्ठभाग में रहकर अभिव्यक्ति को रससिक्तता और गेयता प्रदान करती रहती है। इस लीला कीर्तन का उद्देश्य मनोवृत्तियों को विभिन्न दशाओं से खींचकर एक ऐसे दिव्य प्रसंग में केन्द्रित करना होता है जो लौकिकता और अलौकिकता के छोरों को मिलाता है।

लीला भगवान की एक लोकोन्मुख क्रीड़ा ही है। लीला का वैविध्य सभी अवतारों की अपेक्षा राम और कृष्ण में अधिक है। इन दोनों में भी कृष्ण की लीलायें अधिक स्वच्छन्द और आकर्षक हैं। अतः लीला कीर्तन में मुख्यतः कृष्ण की व्रज-लीलाओं का ही समावेश हुआ है। गौणरूप से राम, नृसिंह आदि अवतारों के सम्बन्ध में भी लीला वर्णन के पद मिलते हैं। हिन्दी के कीर्तनकार-कवियों ने राम और कृष्ण के सम्बन्ध में ही पद-रचना की है। तेलुगु-क्षेत्र में अन्नमाचारी ने नृसिंह भगवान के जो कीर्तन लिखे हैं उसका एक कारण यह है कि वे अहोबिळ नामक स्थान पर वैष्णव मठ में कुछ दिन अपने गुरु के पास रहे थे। यह नृसिंह-क्षेत्र था। श्रीवेंकटेश्वरजी के मन्दिर में कीर्तनिया के रूप में निवास करते हुये उन्होंने श्रीवेंकटेश्वर, राम या कृष्ण के सम्बन्ध में ही लीला-कीर्तनों की रचना की।

भगवान की लीलायें भी दो प्रकार की मानी जाती हैं। एक प्रकार की लीलाओं का सम्बन्ध लोक-रक्षण से है और दूसरी कोटि की लीलायें लोकरंजन से सम्बन्ध रखती हैं। लोकरक्षक लीलाओं में शिवत्व का प्राधान्य रहता है और रंजनकारी लीलाओं में सौन्दर्य का। कीर्तन दोनों ही प्रकार की लीलाओं से सम्बद्ध हैं। पर मनुष्य की सौन्दर्यप्रियता के कारण परिमाणतः सौन्दर्यात्मक लीलायें ही अधिक होती गयीं। इसके अपवाद भी मिलते हैं। इन सौन्दर्य लीलाओं में भी शृंगारपरक लीलाओं का प्राधान्य हुआ।

दास्य भक्तिवाले कीर्तन-पद :—प्रविधि (Technique) की दृष्टि से ये लीला-कीर्तनों से भिन्न हैं। क्योंकि ये प्रसंगापेक्षी नहीं होते। भक्त इस मिथ्यासंसार की उत्पीड़क परिस्थितियों से जर्जर होकर विश्व में प्रतिभासित भगवदैश्वर्य के आलम्बन से भगवान के सामीप्यलाभ की दृष्टि से चलता है। प्रसंगापेक्षी लीला पदों में जहाँ एक लीलावृत्त रहता है वहाँ इनमें संसार का एक छाया-चित्र रहता है जिसके आधार पर निर्वेद की भूमिका प्रस्तुत की जाती है और भगवान की शरण में भक्त जाता

है। इसमें प्रबोध शैली, दृष्टान्त शैली और स्तवन शैली का प्रायः संयोग रहता है जब कि लीला कीर्तनों में चित्रात्मक विवरण-शैली ही बहुधा प्रयुक्त होती है। कभी-कभी आध्यात्मिक चिन्तन और दार्शनिक सिद्धान्तों का संस्पर्श आ जाने से रहस्यमय प्रतीकों और रूपकादि अलंकार-शैलियों का प्रयोग अनिवार्य हो जाता है। लीला-कीर्तनों में उपमा-जैसे सामान्य-अलंकार प्रयुक्त होते हैं। दोनों प्रकारों के कीर्तनों का यह अन्तर उद्देश्यभेद के कारण ही हो जाता है। लीलापदों में उद्देश्य, विशद-चित्रण होता है जिसमें मन रम सके। दास्य-कीर्तनों में उद्देश्य आत्मप्रबोध होता है जिसमें अनुभूति की सघनता के स्थान पर वैराग्य की सात्विकता विशेष होती है।

हिन्दी और तेलुगु दोनों ही साहित्यों में दास्य भक्तिवाले कीर्तन प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। सूर के आरम्भिक पद, तुलसी की "विनयपत्रिका" और अन्नमाचारी के "आध्यात्मिक कीर्तन" इसी कोटि में आते हैं। पर आगे के युग में लीलाकोर्तन ही प्रमुख होते गये। इस काव्यरूप की, आलोच्ययुग में, इतनी महत्ता बढ़ी कि अन्य मुक्तक काव्यरूप इनके सामने गौण बन गये। इसके प्राधान्य का एक कारण यह भी हुआ कि तेलुगु और हिन्दी, दोनों ही क्षेत्रों में दृश्य-मुक्तकों या प्रबन्धों (रास या यक्षगान) के साथ पद-साहित्य संलग्न हो गया था।

इस काव्यरूप की प्रतिष्ठा के लिये अन्नमाचारी ने एक छोटे लक्षणग्रन्थ की भी संस्कृत में रचना की।[1] इसका अनुवाद उनके पौत्र ताळ्ळपाक चिनतिरुवेंगळनाथ ने किया।[2] हिन्दी में संकीर्तन-लक्षण पर किसी पृथक् ग्रन्थ की रचना तो नहीं हुई, पर अकबर के समय में यह काव्यरूप पूर्णतः पुष्ट हो गया। "आइने-अकबरी" में अबुलफजल ने सत्रह प्रकार के गायकों का उल्लेख किया है। इनमें से दसवाँ प्रकार कीर्तनिया-गायक का है। इनके सम्बन्ध में वहाँ ये सूचनायें मिलती हैं[3] :—कीर्तनिया ब्राह्मण ही होते थे, वे प्राचीन वाद्ययन्त्रों का उपयोग करते थे। वे सुन्दर बालकों को स्त्रियों का वेष धारण कराके उनसे कृष्ण की स्तुति और उनके लीलाओं का गान कराते थे। इस प्रकार रास और कीर्तन मिले हुये थे। वल्लभाचार्य जी ने सूरदास को कीर्तिनिया के रूप में ही नियुक्त किया था। इसके साथ संगीत का विधान और कथापीठ आवश्यक है। अभिनय और नर्तन केवल लीला कीर्तनों का ही सम्भव है।

नाम-संकीर्तन :—नाम-संकीर्तन नामोपासना का संगीतात्मक काव्यरूप है। बंगाल के चैतन्य सम्प्रदाय में इस प्रकार के संकीर्तनों का विशेष स्थान रहा। नाम-

[1] "संकीर्तन लक्षण" —यह अनुपलब्ध है।

[2] "संकीर्तन लक्षणमु" पृष्ठ १३७ से १५० तक। —"दि मैनर ओर्क्स आफ़ अन्नमाचार्य अण्ड हिस सन्स", १९३५ में तिरुमलै—तिरुपति देवस्थानम् से प्रकाशित।

[3] यहाँ उसका सारांश डा० सत्येन्द्र की "सूर की झाँकी", पृष्ठ १४४ के आधार पर दिया गया है।

कीर्तन के अन्तर्गत दशावतार-चरित्र या उनके नामों का क्रमशः उल्लेख भी समाविष्ट हो गया। जयदेव ने दशावतार के गायन से ही "गीत गोविन्द" का आरम्भ किया था। दशावतार-वर्णन की पद्धति आलोच्य युग में प्रायः सभी भक्त-कवियों ने अपनायी थी।[१] नाम-संकीर्तन के साथ भी संगीत-वाद्यों और रागों का संयोग रहता था। तेलुगु में दशावतार-कीर्तन की और भी अधिक मान्यता थी। सूर के कुछ पदों में कई कई अवतारों का वर्णन मिल जाता है। "सूरसागर" में सभी अवतारों का वर्णन है ही।

५.२२.ख. हिन्दी का पद-साहित्य

हिन्दी के पद-साहित्य की परम्परा बहुत पुरानी है।[२] आलोच्ययुग में कबीर आदि निर्गुणिया सन्तों का पद-साहित्य भी प्रचुर परिमाण में मिलता है। इनमें से अधिकांश को हम योगमार्गी और ज्ञानमार्गी सन्त कहकर छोड़ सकते हैं। पर कबीर को वैष्णव-भक्ति की प्रेरणा मिली थी। उन्होंने वैष्णवों की अनेक स्थानों पर प्रशंसा भी की है।[3] साथ ही रामानन्द की शिष्य-परम्परा में भी कुछ निर्गुणवादी भक्त थे[४] जो पद और सबदों की रचना करते थे। पर इस पद-साहित्य को हम शुद्ध वैष्णव

---

[१] "उस युग में दशावतार का वर्णन करना एक प्रसिद्ध परिपाटी थी। जो भक्ति और सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थ नहीं होते थे, उनमें भी दशावतार वर्णन मिलता है।" —डा० सत्येन्द्र, "सूर की झाँकी", पृ० १४७

[२] "व्रजभाषा में पद-रचना का आरम्भ कब से हुआ, यह कहना कठिन है। पद-साहित्य का प्रयोग निर्गुणिया सन्तों ने किया ही, बाद के वैष्णवभक्त कवियों की रचनाओं में ता यह प्रमुख काव्य-प्रकार ही हो गया। वस्तुतः ब्रजभाषा के गेय पदों का प्रचलन ई० १२, १३वीं शताब्दियों में ही हो गया था। यद्यपि इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। किन्तु "प्राकृतपैंगलम" की रचनाओं, ई० तेरहवी शती के खुसरो, गोपाल नायर आदि संगीतज्ञ कवियों के गेय पदों के आधार पर यह धारणा पुष्ट होती है।" —"सूर पूर्व ब्रजभाषा", पृ० १३९

[3] एक स्थान पर कबीर ने लिखा है —"वैष्णव की कुटिया भली, नहिं शाकट का वड गाँव।" इससे व्यक्त होता है कि शाक्त और शैव-सम्प्रदायों की अपेक्षा कबीर वैष्णव-सम्प्रदाय के अधिक निकट थे।

[४] रैदास का सम्बन्ध एक ओर रामानन्द से और दूसरी ओर मीरा से जोड़ा जाता है। धन्नाभगत को भी रामानन्द का शिष्य माना गया। रैदास के चालीस के लगभग पद "गुरुग्रन्थसाहब" में संगृहीत हैं। पीपा भी सम्भवतः रामानन्द के शिष्य थे। गुरु-ग्रन्थ में पीपा का एक पद है। सुनते हैं कि उनकी वाणियों का एक संग्रह भी निकला था। धन्ना के चार पद "गुरुग्रन्थसाहब" में मिलते हैं। गुरु नानक के पदों का विस्तृत संकलन "गुरुग्रन्थसाहब" में है ही। इनके अतिरिक्त हरिदास, निरंजनी, सुन्दरदास आदि के नाम भी उल्लेखनीय हैं। हरिदास निरंजनी का तो प्रचुर साहित्य प्राप्त है। इनके परिचय के लिये देखिये :—"परशुराम चतुर्वेदी की "उत्तरी भारत की सन्त परम्परा"; सुन्दरग्रन्थावली की भूमिका; डा० पीतांबरदत्त बडथ्वाल द्वारा सम्पादित "सुन्दर विलास" की भूमिका।

पद-साहित्य से पृथक् कर सकते हैं। पहली बात तो यह है कि इनमें कीर्तनतत्व का अभाव है क्योंकि कीर्तन नाम और रूप से युक्त सगुण भक्ति का ही अंग है। दूसरी बात यह है कि उनमें भक्ति शुद्ध रूप में नहीं है, ज्ञान और योग के तत्व भी मिश्रित हैं।

रसात्मक पद-साहित्य आलोच्ययुग में विद्यापति से ही आरम्भ होता है। विद्यापति ने शृंगार के विभाव के रूप में राधाकृष्ण को अवश्य लिया, पर शृंगार-चित्रण में उनकी प्रवृत्ति सम्भवतः भक्तिमय नहीं है।[१] यदि भक्तिभाव विद्यापति में मिलता है तो वह शिव और पार्वती के माध्यम से। इसलिये वैष्णव-भक्ति के हिन्दी पद-साहित्य का कृष्णभक्त कवियों से ही आरम्भ मानना चाहिये।

इन भक्त-कवियों को सम्प्रदायों के अनुसार विभाजित किया जा सकता है। इन सम्प्रदायों में अनेक पदकार हुये हैं।[२] उनमें से मुख्य पदकारों की सूची नीचे दी गयी है :—

निम्बार्क संप्रदाय :—यह एक विशेष बात है कि इस संप्रदाय का जन्म ई० १२वीं शताब्दी में आन्ध्र प्रदेश में ही हुआ था, पीछे इसके प्रवर्तक आचार्य श्री निम्बार्क बृन्दावन में आकर रहने लगे थे। आज भी बृन्दावन में इनकी एक प्रमुख संस्था है।[३] इस संप्रदाय के तीन प्रमुख पदकार आलोच्ययुग में आते हैं :—श्री भट्ट[४], हरिव्यास-देवाचारी और परशुरामाचारी। श्रीभट्ट की एक पुस्तक "युगलशत" (आदिबानी) मानी जाती है। हरिव्यासदेवाचारी का समय डा० दीनदयालु गुप्त ने सूर के समान माना है यद्यपि ये सूर से आयु में बड़े थे।[५] श्रीपरशुराम जी का समय सं० १४५० वि०

[१] इस प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद हैं। अधिकांश मत यही है कि विद्यापति का राधाकृष्ण विषयक साहित्य भक्ति-साहित्य के अन्तर्गत नहीं आता।

[२] केवल ई० १६वीं शताब्दी के ७६ पदकारों की सूची डा० रत्नकुमारी ने अपने प्रबन्ध "ई० १६वीं शती के हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवि" पृ० ८७, ८८ में दी है। ई० १५वीं शताब्दी के अनेक पदकारों की सूची डा० शिवप्रसादसिंह ने अपने प्रबन्ध "सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य" में दिया है।

[३] निम्बार्क संप्रदाय के कवियों पर एक प्रबन्ध भी डा० नारायणदत्त शर्मा के द्वारा लिखा गया है।

[४] शुक्लजी ने इनका जन्म संवत् १५९५ विक्रम तथा कविताकाल सं० १६२५ से कुछ आगे तक माना है :—'हिन्दी साहित्य का इतिहास", सं० २००७, पृ० १८८. श्री बिहारी शरणजी ने इनका समय सं० १३५२ विक्रमी माना है। (निम्बार्क माधुरी)। डा० दीनदयालु गुप्त ने इनका खण्डन करते हुये इनका समय सं० १६१० वि० ही माना है। ("अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय" डा० दीनदयालु गुप्त, प्रयाग, सं० २००४, पृ० २५)। पर संप्रदाय में इनका समय सं० १३५२ भी माना गया है। यदि यह समय माना जाय, तो ये हमारे आलोच्ययुग में नहीं आते।

[५] "अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय", पृ० २५

माना जाता है ।[१] संप्रदाय में "सूरसागर" की भाँति एक "परशुराम सागर" ही है। इसके रचना काल के संबन्ध में मतभेद हैं। पं० मोतीलाल मेनारिया इसको सं० १६७७ वि० का मानते हैं।[२] पर संप्रदाय में इनका समय सं० पंद्रहवीं शताब्दी के अंत में माना जाता है। "परशुराम सागर" "सूर सागर" की शैली पर ही लिखा हुआ है। इसमें तेरह रचनायें सम्मिलित हैं।[३] डा० मोतीलाल मेनरिया ने इनके बाईस ग्रन्थों की सूची दी।[४] इन दोनों सूचियों से यह प्रतीत होता है कि उन्होंने पद-शैली में हरिलीला का गायन किया। इस लीला कीर्तन का सम्बन्ध किसी मंदिर के पूजा-विधान से नहीं है। "परशुराम सागर" में काव्यरूपों का वैविध्य भी मिलता है। इनमें स्वर कुछ निर्गुणिया सन्तों का-सा है, अर्थात् आध्यात्मिक पदावली की इन्होंने रचना की और कुछ ग्रन्थ कृष्ण से भी संबंधित हैं। अतः सभी रचनाओं को वैष्णव भक्ति के अन्तर्गत नहीं लिया जा सकता। मेनारिया जी की सूची में से निम्न-लिखित रचनाओं को वैष्णव-भक्ति के अन्तर्गत लिया जा सकता है :—सवैय्यादसा-वतारका, रघुनाथ-चरित, श्रीकृष्णलीला, शृंगार-सुदामा चरित, द्रोपदी का जोड़ा, छप्पयगज ग्राहको, प्रह्लाद चरित्र, नंदलीला, विप्रमती तथा फुटकर पद। इनमें से कुछ रचनायें विविध छन्दों में रचित हैं और चरित काव्यों के अन्तर्गत आती हैं। पर इनकी विशेष शैली पदशैली ही है।

इनकी एक विशेषता यह मानी जा सकती है कि इन्होंने राधा और कृष्ण के शोभा-शृंगार और स्तुति के अतिरिक्त प्रेम, वैराग्य, सत्सग, गुरुनिष्ठा आदि पर पर्याप्त लिखा है। फिर भी प्राधान्य विनय का ही कहा जाना चाहिये।[५] इन्होंने सिद्धान्त या दर्शन पक्ष का निरूपण अन्य छंदों में किया और दास्य और शृंगार को पदबद्ध किया है। आगे चलकर इस संप्रदाय में निम्नलिखित प्रसिद्ध पदकार हुये :—

१. **रूप रसिक** :—"बृहदोत्सव मणिमाल", "हरिव्यास यशामृत" और "नित्यविहार-पदावली"। इनकी रचनाओं से कृष्ण के उत्सव और शृंगार-लीला संबन्धी पदावली मिलती है।

२. **तत्ववेत्ता** :—इनका ध्यान फिर सिद्धान्त पक्ष की ओर अधिक हुआ और इन्होंने इसीलिये पदशैली की अपेक्षा छप्पय आदि छंदों को विशेष प्रश्रय दिया। आगे यह परम्परा चलती रही।

[१] पोद्दार का अभिनन्दन ग्रन्थ।
[२] "राजस्थानी भाषा और साहित्य", प्रयाग, सं० २००६ वि०, पृष्ठ १४१, १४२
[३] १. तिथिलीला, २. बारलीला, ३. बावनलीला, ४. विप्रमतीजी, ५. नाथलीला, ६. पदावली, ७. रागरथनामलीला निधि, ८. शोचनिषेधलीला, ९. हरिलीला, १०. लीलासमझनी, ११. नक्षत्रलीला, १२. निजरूपलीला, १३. निर्वाणलीला—"सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य", डा० शिवप्रसादसिंह, पृ० २०४
[४] "राजस्थानी भाषा और साहित्य", पृ० १४२
[५] डा० सत्येन्द्र, "पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ", पृ० ८१

३. नरहरि भट्ट :—इनके काल के संबंध में मतभेद है।[१] वास्तव में इनका समय सूर से कुछ पहले निश्चित होता है।[२] काव्यरूप की दृष्टि से इन्होंने पदशैली की अपेक्षा छप्पय और कवित्त शैली को विशेष रूप से अपनाया है।

हरिदासी सम्प्रदाय :—श्री हरिदासजी ने कीर्तन-साहित्य का विशेष रूप से पोषण किया ; श्री बाँकेविहारी का विग्रह इनका इष्ट था। उनकी विविध शृंगार-लीलाओं को इस कवि-संगीतज्ञ ने पदशैली में वर्णन किया है। इनके समान संगीतज्ञ उस काल में कोई नहीं था। इनकी एक दीर्घपरम्परा चली। इनमें सखी-संप्रदाय[३] की तरल भावनायें संगीत की सरणियों से एक अद्भुत मैत्री के साथ समन्वित हैं। इनके पदग्रन्थ "केलिमाला" और "सिद्धान्त के पद" हैं। "केलिमाला" में नित्यविहार के १०८ पद हैं और सिद्धान्त पदों की संख्या १८ है। इस प्रकार हरिदास जी का काव्यरूप यह बना :—माधुर्यभाव + विग्रहोन्मुख कीर्तन + शास्त्रीय संगीत = हरि-दासीपद।

राधावल्लभ सम्प्रदाय :—तात्विक दृष्टि से यह सम्प्रदाय भी बृन्दावन के राधावादी सम्प्रदायों में से एक था। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक स्वयं श्री हितहरिवंश जी ने राधा के बिना कृष्णोपासना की कल्पना को एक भ्रम माना।[४] अतः इस सम्प्रदाय की पदावली में माधुर्य भाव की सखि-सुलभ अनुभूतियाँ विशेष रूप से व्यक्त हुई हैं। इस सम्प्रदाय में राधावल्लभ की उपासना थी। यह विग्रह आज भी बृन्दावन में हैं। अनेक कवियों ने उच्चकोटि की पदरचना इस सम्प्रदाय में की है। इनकी सूची नीचे दी जा रही है :—

[१] पं० रामचन्द्र शुक्ल इनका जन्म सं० १५६२ वि० मानते हैं। (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १०९)। डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल के अनुसार सं० १५९० वि० के आसपास ("अकबरी दरबार के हिन्दी कवि", लखनऊ, पृ० २२८)। डा० विपिनबिहारी त्रिवेदी इनका सम्बन्ध बाबर के दरबार से मानते हैं। ("महाकवि नरहरिमहापात्र" —"विशाल भारत", मार्च, १९४६, पृ० २२८)

[२] "सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य", पृ० २१०, लेखक : शिवप्रसादसिंह।

[३] नाभादास जी ने इनकी मधुरभक्ति का परिचय इस प्रकार दिया है—

जुगलनाम सौं नेम जपत नित कुंज बिहारी।
अवलोकत रसकेलि सखी सुख के अधिकारी॥
—"भक्तमाल"

[४] राधा दास्यमपास्य यः प्रयबते गोविन्द संगाशया
सोऽयं पूर्णसुधारुचः परिचयं राकां बिना कांक्षति।
किंचश्याम रतिप्रवाहलहरी बीजं न ये तां विदु-
स्ते प्राप्यापि महामृताम्बुधिमहो बिन्दुं परं प्राप्नुयुः॥
—"राधासुधानिधि", श्लोक ७९

श्री हितहरिवंश—हितचौरासी[1]; श्रीहितहरिवंश—स्फुटवाणी[2]; सेवकजी[3]—सेवकवाणी[4]; हरिरामव्यास[5]—व्यासवाणी[6]; चतुर्भुजदास[7]—द्वादश यश, और फुटकर पद[8]; श्रीध्रुवदास[9]—बाईसलीला, बृन्दावन सतलीला, भजन शृंगार सतलीला आदि अनेक ग्रन्थ[10]; नेही नागरीदास[11]—अष्टक तथा सिद्धान्त दोहावली, पदावली तथा रसपदावली[12]।

उक्त कवियों के अतिरिक्त आगे भी इस सम्प्रदाय में परम्परा चलती रही। निम्बार्क सम्प्रदाय की भाँति इन कवियों ने भी सिद्धान्तपक्ष का विवेचन दोहा और अन्य छदों के माध्यम से किया। कभी कभी शृंगार लीलाओं का चित्रण भी विविध छंदों में किया है। जहाँ तक नित्यविहार लीलाओं का सम्बन्ध है, इन्होंने संगीतात्मक पदों का ही प्रयोग किया है।

वल्लभ सम्प्रदाय :—जिस समय बृन्दावन में निम्बार्क, हरिदासी तथा राधावल्लभ सम्प्रदाय पदकीर्तन-काव्यरूप का उन्नयन कर रहे थे, उसी समय गोकुल और गिरिराज जी

[1] यह चौरासी पदों का संग्रह है। इनका विषय के अनुसार विभाजन इस प्रकार है :—सुरतान्त समय अर्थात् मंगला के पद १९; शैया समय के पद १९; रास के १७ पद; बन बिहार के ३ पद; स्नान शृंगार के ४ पद; राजभोग (शैया-बिहार) के २ पद; बसंत वर्णन के २ पद; होली वर्णन के २ पद; फुलडोल-झूलन का १ पद; मलार के ४ पद; तथा मान के १३ पद।

[2] इस ग्रन्थ में सिद्धान्त-प्रतिपादन विशेष रूप से हुआ। अतः पदों के साथ अन्य छन्द भी इसमें प्रयुक्त हैं। इसमें २७ पद हैं।

[3] इनकी मृत्यु सं० १६१० वि० मानी जाती है। —डा० विजयेन्द्र स्नातक, "राधावल्लभ सम्प्रदाय", पृ० ३४९

[4] सम्प्रदाय में इसकी बड़ी मान्यता है। इसको "हितचौरासी" के समान ही सम्मान प्राप्त है।

[5] इनका जन्म सं० १५६७ वि० को माना जाता है। —"भक्तकवि व्यासजी, ले० वासुदेव गोस्वामी, पृ० ३९

[6] इसमें ७५८ पद और १४८ दोहे हैं।

[7] आपका जन्म सं० १५८५ वि० के आसपास ठहरता है।

[8] इनके पदों का एक विशेष संग्रह श्री बाबाबंसीदास (बृन्दावन) के पास सुरक्षित है। —डा० विजयेन्द्र स्नातक, "राधावल्लभ सम्प्रदाय", पृ० ४१०

[9] श्री राधावल्लभ भक्तमाल में इनका जन्म सं० १६२२ वि० है। ("राधावल्लभ भक्तमाल", प्रियादास शुक्ल, पृ० ३२८)

[10] इनके ४२ ग्रन्थों की सूची श्री विजयेन्द्र स्नातक ने दी है। ("राधावल्लभ सम्प्रदाय", पृ० ४४१)

[11] जन्म लगभग सं० १५९० वि०

[12] "राधावल्लभ सम्प्रदाय",—डा० विजयेन्द्र स्नातक, पृ० ४७७

में वल्लभ सम्प्रदाय के कवि काव्यरूप को काव्य-गत सौष्ठव, भक्तिगत मार्मिकता और संगीत की सूक्ष्मता प्रदान कर रहे थे। अन्तर यह था कि वृन्दावन के राधावादी सम्प्रदाय अधिकांश बिहारसुख अथवा माधुर्यभाव पर पदगायन करते थे, जबकि वल्लभ-सम्प्रदाय में विषय की दृष्टि से वात्सल्य, सख्य और माधुर्य तीनों भावों के पद मिलते हैं। दास्य भाव के पद भी सूर के आरम्भिक साहित्य में मिलते हैं। दूसरा अन्तर यह है कि शुद्ध माधुर्याश्रित सम्प्रदायों में सिद्धान्त-पक्ष की विवेचना विविध छन्दों में हुई है। वल्लभ सम्प्रदाय में सिद्धान्त-निरूपण मिलता तो अवश्य है, पर उसका पृथक् रूप से विवेचन प्रायः कवियों द्वारा नहीं किया गया। अष्टछाप के कवि अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। उनकी सूची इस प्रकार है[1] :—महाकवि सूरदास, कृष्णदास, परमानन्ददास, कुंभनदास, नन्ददास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी और गोविन्द-स्वामी।

फुटकर पदकार :—उक्त सम्प्रदायों के कीर्तन-कवियों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी संगीतज्ञ मिलते हैं जो शुद्धरूप से वैष्णव भक्ति के अन्तर्गत तो नहीं आते पर पद काव्यरूप की उन्नति करने में उनका विशेष हाथ है। विशेष बात यह है कि भक्तों ने काव्य, संगीत और कृष्णवार्ता का ऐसा समन्वय कर दिया था कि संगीतज्ञ भी कृष्णवार्ता को नहीं छोड़ते थे। ब्रजभाषा भी उनको पदसंगीत के लिये उपयुक्त और मधुमय प्रतीत हुई। इस परम्परा में निम्नलिखित गायक आ सकते हैं :—खुसरो, गोपालनायक, बैजूबावरा और तानसेन। इनमें से खुसरो और गोपालनायक तो आलोच्ययुग के पूर्व के हैं। शेष दोनों ने पद-साहित्य को उच्च संगीत की प्रतिष्ठा दिलाने में वही कार्य किया जो त्यागराज ने तेलुगु-क्षेत्र में। पर त्यागराज की भाँति ये संगीतज्ञ भक्त नहीं थे, और राज्याश्रित भी थे।

मीरा :—मीरा हिन्दी के पद-साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान रखती है। भाषा की दृष्टि से कहीं गुजराती, कहीं राजस्थानी और कहीं ब्रज की झलक उनके पदों में मिलती है। मीरा की पदावली को हम रूप की दृष्टि से दो विभागों में विभाजित कर सकते हैं :—पहला वर्ग प्रसंगापेक्षी लीलापदों का है। इनमें कृष्ण-लीला सम्बन्धी पद आते हैं। दूसरे वर्ग में आत्मनिवेदनात्मक और विरहानुभूति से उद्वेलित पद आते हैं जो प्रियतम कृष्ण की ओर उन्मुख हैं। इन पदों की शैली कभी-कभी निर्गुण-मार्गाश्रित शब्दों से युक्त हो जाती है और कभी सगुण भक्तों की सी शब्दावली से। इस प्रकार की लीला-पदावली निर्गुणवादी कवियों की रहस्यात्मक सबद-पद्धति और सगुण भक्तों के रूपमाधुर्य से युक्त गेयपदों के बीच की एक कड़ी है।

तुलसी :—तुलसी ने अपने समय के तथा पूर्व काल के सभी काव्यरूपों का प्रयोग किया है। प्रबन्ध काव्य के लिये उन्होंने स्वयंभू के द्वारा गृहीत दोहा-चौपाई

[1] अष्टछाप के पदसाहित्य के परिचय के लिये प्रस्तुत प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में प्रस्तुत की गयी तालिका द्रष्टव्य है।

की मिश्रित पद्धति को स्वीकार किया था। पर युग का हृत्कंपन गेय-मुक्तकों में प्रतिध्वनित हो रहा था। इसलिये तुलसी-जैसे सिद्ध कवि इस पद्धति को भी नहीं छोड़ सकते थे। तुलसी मुख्यतः प्रबन्धकार हैं। उन्होंने अपने इष्ट प्रबन्धों को पदबद्ध भी किया। "गीतावली" में रामचरित्र के विभिन्न मार्मिक प्रसगों पर पद-रचना तुलसी ने की। इन पदों का प्रसंगों के क्रम के अनुसार संयोजन भी सम्भव है, पर यह निश्चित है कि तुलसी ने कथासूत्र का सप्रयास निर्वाह "गीतावली" में नहीं किया है। यदि एक नया नाम "गीतावली" के काव्यरूप को देना चाहे तो इसे गेयमुक्तक-प्रबन्ध का नाम दिया जा सकता है।

राम के अतिरिक्त कृष्णवार्ता को लेकर भी तुलसी ने कुछ पदों की रचना की। इन पदों को हम सूर आदि के कीर्तन-पद-साहित्य के अन्तर्गत ले सकते हैं। वात्सल्य, शृंगार और कुछ महाभारत-सम्बन्धी पद उनकी "कृष्णगीतावली" में संगृहीत हैं।

"विनय-पत्रिका" में "पत्रिका" नामक काव्यरूप मिलता है। इस पत्रिका में भी एक प्रबन्ध का सूत्र खोजा जा सकता है। तुलसी का अपने मनोविकारों और कलियुग की प्रवृत्तियों से पीड़ित होकर अपने उद्धार के लिये राम को अनुनय विनय से युक्त एक पत्रिका लिखना, राम के दरबार तक पहुँचने के लिये विभिन्न देवताओं की प्रार्थना करना और अन्त में पत्रिका का राम के सामने प्रस्तुत करवाना[1] राम के द्वारा उसकी स्वीकृति[2] एक प्रबन्धविधान के अस्फुट सूत्र कहे जा सकते हैं। किन्तु समस्त पद एक आत्मानुभूति से विह्वल हैं। अतः प्रबन्ध सूत्र की ओर साधारणतः ध्यान नही जाता। इन पदों को चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में स्तोत्र-पद आते हैं। ये विभिन्न देवताओं के सम्बन्ध में हैं। दूसरा वर्ग उन पदों का है जिसमें कलिकाल की प्रवृत्तियों और उनसे उत्पीड़ित मन का चित्रण किया गया है। तीसरे वर्ग में वे पद आते हैं जिनमें मन-प्रबोध अभीष्ट है और चौथे वर्ग में दास्य और विनय की भावना, शरणागति आदि के पद आते हैं। इस प्रकार "कृष्णगीतावली" के पदों को इन के साथ लेते हुये हम कह सकते हैं कि गेय-साहित्य के समस्त प्रचलित रूपों को तुलसी ने ग्रहण किया है।

---

[1] इस पत्रिका के प्रस्तुत होने पर हनुमान, भरत और लक्ष्मण तथा समस्त सभा तुलसी की संस्तुति करते हैं
मारुति मन रुचि भरत की लखि लखन कही है।
कलि-कालहुँ नाथ नाम सों प्रतीति प्रीति एक किंकर की निबही है॥
सकल सभा सुनि लै उठी जानी राति रही है॥
—"तुलसी ग्रन्थावली" भाग २, पृ० ४६६

बिहँसि राम कह्यो सत्य है सुधि मैं हूँ लही है।
मुदित माथ नावत, बनी तुलसी अनाथ की, परी रघुनाथ सही है।
—तुलसी ग्रन्थावली, भाग २, पृ० ४६६

अन्य प्रान्तों में ब्रजभाषा के पदकार :—ब्रजभाषा की पद-परम्परा ब्रजक्षेत्र में ही नहीं रुकी, उसने अन्य प्रान्तों में भी स्थान प्राप्त किया। आसाम के कवि शंकरदेव ने ब्रजभाषा में वीरगीतों[१] की रचना की। माधव देव[२] सूरदास के समकालीन थे। इन्होंने अपने गुरु शंकरदेव की शैली पर ही पद लिखे। ब्रजबुली साहित्य भी भारत के पूर्वी क्षेत्रों में बहुत प्रचलित था। उसकी भाषा बंगाली के अधिक समीप है। पर ब्रजभाषा-रूपों का समावेश भी कम नहीं था। इस पर कुछ कार्य हिन्दी विद्यापीठ, आगरा में हो रहा है।

महाराष्ट्र में भी ब्रजभाषा के पदों की परम्परा बहुत पुरानी रही। महानुभाव पंथ में ब्रजभाषा के कई कवि हुये। इसका प्रचार पंजाब तक हो चुका था। नामदेव ने ब्रजभाषा को स्पष्ट रूप से अपनाया। नामदेव के पश्चात् भानुदास[3] का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने पंढरपुर की विट्ठलमूर्ति को इष्ट मानकर ब्रजभाषा की सुन्दर रचनायें कीं। कृष्ण-लीलाओं के प्रायः सभी भाव इनमें मिलते हैं।

गुजरात क्षेत्र में तो ब्रजभाषा में बहुत से कवि हुये।[४] गुजरात से वल्लभ-संप्रदाय का घनिष्ठ संबन्ध था। भक्ति-आन्दोलन ने वहाँ की जनता को बहुत अधिक प्रभावित किया था। यहाँ के कवियों में भालण[५] का नाम आता है। ये सूर के पूर्वयुग के माने जाते हैं। इन्होंने दशमस्कंध की रचना की। दूसरे उल्लेखनीय कवि केशवकायस्थ थे। इन्होंने सं० १५२९ वि० में कृष्णक्रीड़ा-काव्य लिखा। इसमें ब्रजभाषा के दो पदों का प्रयोग है। नरसी आदि अनेक कवियों ने भी गुजरात, राजस्थान और ब्रज की भाषाओं के मिश्रित रूप में काव्य-रचना की।

५.२२.ग. तेलुगु का पद-साहित्य

पालकुरिकि सोमनाथ ने अपने "पंडिताराध्य चरित्र" में तुम्मेदा, पर्वत, आनंद, निवाळि, गोळि, वेन्नेला इत्यादि अनेक लोकगीतों का उल्लेख किया है।[६] इससे यह स्पष्ट होता है कि नन्नया के पूर्व ही लोकगीतों की एक स्वस्थ परम्परा चल पड़ी थी।

[१] ये गीत सन् १४८१ से १४९३ के बीच लिखे गये थे। —डा० यम, नेयोग, जर्नल आफ़ दि यूनिवर्सिटी ऑफ़ दि गौहाटी, भाग १, संख्या १, ई० १९५० के आपका लेख। इनकी भाषा मिश्रित है।

[२] जन्म ई० १४८९। ये पहले शाक्त थे, पीछे वैष्णव हो गये।

[३] आविर्भाव काल, सं० १५५५ वि०

[४] श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी, "गुजरात के ब्रजभाषी शुकपिक", "पोद्दार अभिनन्दन-ग्रन्थ", पृ० ११४

[५] श्री केशवराय काशीराम शास्त्री, हिन्दुस्तान गुजराती दैनिक, बंबई, १४ नवम्बर, १९४९

[६] "प्राङ्. नन्नया का युग", चागंटि श्रीगोपाल कृष्णमूर्ति, पृ० ५७९
"आन्ध्रविज्ञानसर्वस्वमु" तेलुगु संस्कृति, वाल्यूम ३, पृ० ५७९

बि० रामराजु ने कहा है कि "आन्ध्र पद कविता पितामह" ताळ्ळपाक अन्नमाचारी ने तत्काल में प्रचलित लोकगीतों के ढाँचे के अनुसार ही अपने संकीर्तनों की रचना की थी।[1]

सिंहाचल नृसिंह के भक्त कृष्णमाचारी (ई० १५वीं शताब्दी) तेलुगु के सर्वप्रथम वचनगीनकार थे। इन्होंने "सिंहगिरि नरहरि वचनमुलु", और "शठगोप विन्नप" नाम से कुछ वचन गीतों की रचना की थी।[2] इनके "सिंहगिरि वचनमुलु" मधुर भक्ति से युक्त गेय हैं। इनकी मधुर भक्ति की उपासना आळ्वारों से प्रभावित थी। इसका प्रमाण यह है कि ताळ्ळपाक चिनतिरुवेंगळनाथ ने यह उल्लेख किया है कि कृष्णमाचारी ने तमिल प्रबन्धम् का तेलुगु में रूपान्तर प्रस्तुत किया था।

ताळ्ळपाक अन्नमाचारी ने अपने पूर्ववर्ती कृष्णमाचार्य की वन्दना भी की है। अन्नमाचारी ने कृष्णमाचारी से प्रभावित होकर, लोकगीत-साहित्य को संगीत की सूक्ष्मताओं से युक्त करके अभिजात रुचि के अनुकूल बनाया। इस प्रकार लोकगीत का प्रभाव और संगीत का लय मिलकर एक अद्भुत काव्यरूप साहित्य में स्थापित हो गया। यद्यपि कृष्णमाचारी के "वचनमुलु" गेय ही हैं किन्तु उनमें टेक का अभाव, गद्यात्मकता, संगीत-सरणियों और लय के परिष्कृतरूप का अभाव आदि कुछ लक्षण मिलते हैं। जिससे उन्हें पद-साहित्य की कोटि में नहीं रखा जा सकता। इसी दृष्टि से अन्नमाचारी को "आन्ध्र पद कविता पितामह" कहा गया है। ताळ्ळपाक अन्नमाचारी और उनके पुत्र ताळ्ळपाक पेदतिरुमलाचारी दोनों ने कुल ३२,००० संकीर्तनों की रचना की है। इन कीर्तनों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है :—१. आध्यात्म संकीर्तनलु और २. शृंगार संकीर्तनलु। इनके संकीर्तनों में विषय-वैविध्य भी दृष्टिगत होता है। अनेक मंदिरों की अर्चा-मूर्तियों की स्तुति, शरणागति, धर्मोपदेश, भगवान बालाजी की मधुर लीलायें आदि अनेक विषयों पर इनके कीर्तन प्राप्त होते हैं। सरस संगीत, मृदुभाषा, सूक्तियाँ आदि भी इनके कीर्तनों की विशेषता है। अन्नमाचारी के कीर्तनों में यत्र-तत्र संस्कृत के कीर्तन भी हैं। संस्कृत में "संकीर्तनलक्षण"[3] नामक लक्षण ग्रन्थ की रचना करके उसी के अनुसार इन्होंने अपने कीर्तनों की रचना की थी।

जिस समय तेलुगु क्षेत्र में ताळ्ळपाक अन्नमाचारी अपनी प्रतिभा को पद-साहित्य के रूप में विकीर्ण कर रहे थे, उस समय कन्नड-भाषा में पुरन्दरदास भी भक्ति भाव

[1] बि० रामराजु कृत "आन्ध्र जनपद गेय साहित्यमु" निबन्ध, "भारती" साहित्यिक मास पत्रिका, नवम्बर, १९५६, पृ० १२

[2] "आन्ध्रकवि सप्तशति" पृ० ४०

[3] यह अनुपलब्ध है। उनके पौत्र ताळ्ळपाक चिनतिरवेंगळनाथ ने इसका तेलुगु में अनुवाद किया है। यह एक लघुकाव्य है जो प्रकाशित भी हो चुका है। संकीर्तन लक्षणमु, तिरुपति देवस्थानम् ताळ्ळपाकम, तेलुगु वोर्क्स, वा० १, पृ० १३७-१५०

से पद-रचना कर रहे थे। अन्नमाचारी पुरन्दरदास से भी आयु में लगभग ३० वर्ष बड़े थे। अन्नमाचारी और पुरन्दरदास के कीर्तनों में जो साम्य परिलक्षित होता है, उसके आधार पर पुरन्दरदास को अन्नमाचारी से कुछ प्रभावित बतलाया जा सकता है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है :—

अन्नमाचारी—माळवि राग :—

> शरणमु शरणमु सुरेन्द्र सन्नुत शरण श्रीसतिवल्लभा
> शरणु राक्षस गर्वसंहर शरण वेंकटनायका ॥[1]

पुरन्दरदास—माळवि राग :—

> शरणु शरणु नरेन्द्रवंदित शरण श्रीपति सेविता।
> शरण पार्वति तनय मारुति शरणु सिद्धि विनायका ॥[2]

इस पूरे कीर्तन को पढ़ने से राग, लय आदि में यह अन्नमाचारी के उक्त कीर्तन का अनुसरण-सा प्रतीत होता है। विजयनगर साम्राज्य में श्रीपादराय नामक माध्व ब्राह्मण थे जो कीर्तन रचा करते थे। पुरन्दरदास के गुरु व्यासतीर्थ[3] श्रीपादराय के ही शिष्य थे। अन्नमाचारी और श्रीपादराय विजयनगर साम्राज्य के समकालीन व्यक्ति थे। यह कहना कठिन है कि कीर्तन-रचना करने में इन दोनों में किसने किसको प्रभावित किया था। किन्तु इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वे एक दूसरे से अवश्य प्रभावित थे। इस दृष्टि से देखें तो अप्रत्यक्ष रूप से ही क्यों न हो, पुरन्दरदास का अन्नमाचारी से प्रभावित होना सिद्ध होता है।

अन्नमाचारी ने लोकगीतों को अपनाकर संगीत-सरणियों में उन्हें ढाला है, इस बात के लिये उनकी निम्नलिखित लोकगीत-शैलियाँ प्रमाण हैं[4] :—जाजरलु, गोब्बिळ्ळु, अल्लनेरेळ्ळु, साममुखालु, चांगुभळी, सुव्विपाट, मंगळं, तंदनानलु, चंदमामलु, कोवेल, चिलुक, तुम्मेदपदमुलु, लालि, उय्यल, जोल, जोजो, जेजे, जयजय, विजयीभव, शोभन, वैभोगमुलु, भेल्कोलुपुलु, नलुगुलु, दंपुळ्ळु, कोट्नालु, कूगुलु, गुज्जेनगूळ्ळु, चंदमाम गुटकलु, निवाळुलु, आरतुलु, मंगळहारतुलु, जयमंगळाळु, बळाबळाळु, अवधानमुलु, वेन्नेल्लु आदि। इस प्रकार अन्नमाचारी ने अपने काल तक प्रचार में रहने वाले लगभग समस्त लोकगीतों में पदरचना की। सूर के पदों के समान बड़े बड़े पद भी यत्रतत्र उनकी रचनाओं में प्राप्त होते हैं। अष्टपदुलु, तरंगमुलु, त्रिविध तालों से युक्त सूडादि गीत तथा कथागेय भी इनकी रचनाओं में

[1] आध्यात्म संकीर्तन।

[2] "आंध्रवाग्गेयकारचरित्रमु", रजनीकांतराव में उद्धृत, पृ० १४८

[3] व्यासतीर्थ आयु में छोटे थे। किन्तु संन्यासाश्रम में रहने के कारण ही पुरन्दरदास ने उन्हें गुरु बनाया था।

प्राप्त होते हैं। इनके प्रत्येक पद में "पल्लवि"[२] और "अनुपल्लवि" दोनों मिलते हैं। अन्नमाचारी के पुत्र पेदतिरुमलाचारी के कीर्तन अभी प्रकाशित नहीं हुये। अन्नमाचारी के पौत्र चिनतिरुवेंगळ्नाथ को भी कीर्तनकार कहा गया है। किन्तु उनके कीर्तन अनुपलब्ध हैं। आन्ध्र के प्रसिद्ध आलोचक राळ्लपाल्लि-अनन्तकृष्ण शर्मा ने अन्नमाचारी और त्यागराजस्वामी के संकीर्तनों का परिशीलन करके अपना यह मंतव्य प्रकट किया है कि अन्नमाचारी की अपेक्षा त्यागराजस्वामी में रागों की संख्या लगभग तिगुनी है। (अर्थात् त्यागराज ने अपने ७०० कीर्तनों में २५० रागों को प्रयुक्त किया है।[३]) इससे स्पष्ट होता है कि अन्नमाचारी में संगीत की अपेक्षा काव्य-तत्व को अधिक प्राधान्य प्राप्त हुआ। फिर भी अन्नमाचारी के समस्त कीर्तनों के प्रकाशन के पूर्व ही इस प्रकार का निष्कर्ष निकालना अनुचित होगा। अन्नमाचार्य के कीर्तनों में रागों का तो नामोल्लेख मिलता है, किन्तु ताल का नहीं। राळ्ळपाल्लि अनंतकृष्ण शर्मा ने अक्षरप्रमाण, यतिप्रास आदि का निरीक्षण करके यह निर्णय दिया है कि इनमें आदि, रूपक, जंपे, अट्ट, मिश्रचापु, त्रिपुट इत्यादि अनेक तालों का प्रयोग हुआ है। रजनीकांत राव का अनुमान है कि तत्कालीन यक्षगान, या अन्य "लोकनृत्यप्रदर्शनों" में मौखिक रूप से गाये जानेवाले "दरुवुलु" पद आदि को आधारभूत बनाकर उनके लिये प्रचार में रहनेवाले उन्हीं राग-तालों में ताळ्ळपाक कवियों ने अपने कीर्तनों की रचना की होगी।[४] आलोच्य-युग में नारायणतीर्थ भी उल्लेखनीय कवि हैं जिन्होंने अपने यक्षगान—प्रदर्शन के लिये आध्यात्मबोध से युक्त कीर्तनों की रचना की और भजन-पद्धति के प्राचुर्य के लिये मार्ग प्रशस्त किया। साथ ही उन्होंने गौण रूप से शृंगार-पदों की भी रचना की।

आलोचकों का मत है कि अन्नमाचारी के पदों की दो धारायें आलोच्य युग के पश्चात पृथक् हो गयीं। शृंगार पदों का उन्नयन क्षेत्रय्या ने किया और आध्यात्म पदों का त्यागराज और रामदास ने।[५] रूप की दृष्टि से एक अन्तर यह उपस्थित हुआ कि क्षेत्रय्या और रामदास के पदों में तो शास्त्रीय-संगीत इतना

१ "आन्ध्रवाग्गेयकारचरित्रमु" में उद्धृत अन्नमाचारी के उद्धरण।

२ टेक या रहाउ

३ "आन्ध्रवाग्गेयकार चरित्र" पृ० १४८ में उदधृत राळ्ळपल्लि अनंतकृष्ण शर्मा का मत।

४ वही, पृ० १४८ में उद्धृत राळ्ळपल्लि अनंतकृष्ण शर्मा का मत।

५ "अन्नमाचार्य चरित्र" की पीठिका, पृ० १०१, वेटूरि प्रभाकर शास्त्री—"अन्नमाचारी के शृंगार कीर्तनों का अंश क्षेत्रय्या के रूप में और उनके आध्यात्मिक-संकीर्तनों का अंश रामदास के रूप में प्रकट हुये।"

प्रविष्ट नहीं हुआ, पर त्यागराज ने संगीत कला की सूक्ष्मतम सरणियों से इनको युक्त कर दिया। दूसरा अन्तर क्षेत्रय्या और अन्नमाचारी में यह है कि अन्नमाचारी ने भक्तिभाव को प्रमुख रखते हुये शृंगार के शास्त्रीय-विधान को इतना महत्व नहीं दिया जितना क्षेत्रय्या ने। शृंगार की सभी शास्त्रीय विधियाँ क्षेत्रय्या में मिल सकती हैं, पर उनमें भक्ति-भाव शिथिल हो गया। आध्यात्म संकीर्तनों के कर्ता अन्नमाचारी और रामदास में साम्य अधिक मिलता है। त्यागराजस्वामी अन्नमाचारी की भाँति उच्चकोटि के भक्त थे, पर उनमें संगीत की शास्त्रीयता का तत्व पराकाष्ठा तक उभरा है।[1]

परवर्तीकालीन कवियों में अन्नमाचारी के शृंगार संकीर्तनों से क्षेत्रय्या विशेष प्रभावित दीखते हैं। रजनीकान्तराव ने अन्नमाचारी और क्षेत्रय्या में साम्य बताते हुये कुछ उद्धरणों को प्रस्तुत किया है[2]। उनमें से कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

अन्नमाचारी :—हे सखियों ! मुझे बताओ न, कि प्रेम का रंग श्वेत है या श्याम ?
क्षेत्रय्या :—हे सखियों, मैं नहीं जानती हूँ कि प्रेम कैसी वस्तु है ?
अन्नमाचारी :—पहाड़ पर से कोयल कूकने लगी तो बस मेरा हृदय फट गया, किन्तु हे प्रियतम, तेरे दर्शन-मात्र से मेरे शरीर में फिर प्राणों का संचार हुआ।
क्षेत्रय्या :—अपने प्रियतम से बातचीत करते समय एक मुर्गी ने आवाज़ दी, हे सखियों, तत्क्षण मेरे हृदय में से प्राण निकल गये।
अन्नमाचारी :—(दूती वचन नायक से) नायिका जब कोई चित्र खींचने लगती है तो तत्क्षण तुम्हारा चित्र अपने आप वहाँ अंकित हो जाता है।
क्षेत्रय्या :—हे प्रियतम ! मैं जब तेरे विरहताप से निराश होकर ज़मीन पर व्यर्थ ही रेखायें खींचने लगती हूँ तो न जाने कैसे तेरा रूप वहाँ अपने आप अंकित हो जाता है।

शब्द-साम्य के लिये एक उदाहरण द्रष्टव्य है :—
अन्नमाचारी :—आडदानि ब्रतुकित आरडिकद्दा ?
क्षेत्रय्या :—आडपुट्टुव पुट्टु नन्नलयितुर
अक्करो नामोहमित आरडय्येगा ॥

[1] श्री त्यागरायस्वामी की यह उक्ति द्रष्टव्य है :—"हे मन ! भक्ति स्वर एव राग से समन्वित होकर 'नाद" के रूप में यदि परिणत हो जाय तो उससे बढ़कर स्वर्ग या मोक्षानंद अन्य कौन-सा हो सकता है ? (स्वररागसुधारसयुत भक्ति स्वर्गापवर्गमु बोमनसा—"त्यागराजसंकीर्तनलु", भूमिका, पृ० ३०)। त्रिमूर्ति एवं समस्त देवताओं को भी त्यागराज ने नादब्रह्म से रंजित होनेवाला कहा है।
[2] "आन्ध्र वाग्गेयकार चरित्रमु"।

आलोच्ययुग के तेलुगु कीर्तन-साहित्य के सम्बन्ध में अन्त में यह निष्कर्ष दिया जा सकता है कि तेलुगु में कीर्तनकार-कवि अन्नमाचारी आदि दो-एक को छोड़कर अन्य कोई नहीं दीखते, किन्तु हिन्दी में आलोच्ययुग में ऐसे कवियों की बहुत अधिक संख्या दीखती है। परिमाण और विषय-वैविध्य की दृष्टि से भी हिन्दी का कीर्तन-साहित्य तेलुगु की अपेक्षा बहुत समृद्ध है।

५.२२.ख. **संख्यावाची (शतक)**

प्रस्तावना :—प्राचीन काल में तान्त्रिकों का यह विश्वास था कि नाम अथवा मंत्र का १०७ बार जप करने से बहुत ही लाभप्रद होगा। ऐसे रूढ़िगत धार्मिक विश्वासों ने धार्मिक कार्यकलापों को कुछ न कुछ अंश तक अवश्य प्रभावित किया। १०८ सूर्य नमस्कार करना, मन्दिरों में १०८ बार प्रदक्षिणा करना, जप-माला में १०८ दाने रखना आदि इस के लिये प्रमाण हैं। किसी पंडित को ११६ रुपये दान के रूप में दिया जाता है। यह भी एक प्रकार की रूढ़िगत संख्या है। कुछ ऐसे ही कारणों से संस्कृत एवं प्राकृत के शतकों में प्रायः १०० संख्या को ग्रहण किया जाने लगा। धीरे-धीरे यही संख्या-नियम तेलुगु एवं हिन्दी के साहित्य में गृहीत हुआ और इस प्रकार "शतक" काव्यरूप का जन्म हुआ। "शतक" शब्द ही एक संख्या को सूचित कर रहा है। किन्तु तेलुगु एवं हिन्दी के शतकों में कोई कठोर संख्या-नियम दृष्टिगत नहीं होता। इसीलिये इनमें छंदों की संख्या १०० से १२६ तक के बीच में बदलती रहती है। तेलुगु में शतक के नाम से एक ऐसा भी काव्य है जो संख्या-नियम का पूर्णरूप से उल्लंघन करता है जैसे कि वेमना का "वेमनशतक" जिसमें २००० से कम पद्य नहीं हैं। किन्तु इसे नियम के अपवाद के रूप में समझना चाहिये।

शतकों का संक्षिप्त इतिहास और उनका स्वरूप :—हिन्दी में विवेच्ययुग के पूर्व शतक-परम्परा का हमें कोई आभास नहीं मिलता। इसका कारण तत्काल में प्रबन्ध-काव्य के प्रति अधिक आग्रह होना ही हो सकता है। किन्तु तेलुगु में शतक के कुछ लक्षणों से युक्त पंडिताराध्युलु (ई० ११७०) कृत "शिवतत्वसारमु" काव्य आलोच्ययुग के बहुत ही पूर्व लिखा गया था। पर यह काव्य शतक का शुद्ध रूप नहीं कहा जा सकता। इस दृष्टि से तेलुगु के सर्वप्रथम शतक होने का गौरव पाल-कुरिकि रोमनाथ (ई० ११८०) कृत वृषाधिप शतक (शैव शतक) को ही प्राप्त होना चाहिये जिसमें शतक की सभी प्रमुख विशेषतायें विद्यमान हैं। विवेच्ययुग के पूर्ववर्ती कुछ शतकों की सूची इस प्रकार है —पाल्कुरिकि सोमनाथ कृत बसवलिंगशतक, बेद्दना कृत "नीतिसारमुक्तावळि" (नीतिशतक), यथावाक्कुल अन्नमय्य (ई० १२४१) कृत "सर्वेश्वर शतक" (शैवशतक), शिवदेव मंत्रि (ई० १२६०) कृत "शिवधीमणि शतक" (शैवशतक), राविपाटि त्रिपुरांतकुडु (ई० १३८०) कृत "अंबिका शतक" (इसके दो पद्य मात्र उपलब्ध हुये हैं।) आदि। उक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है

कि शैव कवियों ने अपने मत प्रचारार्थ "शतक" काव्यरूप को भी अपनाया था। आलोच्ययुग में वैष्णव कवियों ने अपने मत-प्रचारार्थ शैव कवियों से परम्परा के रूप में प्राप्त इस काव्यरूप को अपनाया। इसका तात्पर्य यह नहीं कि विवेच्ययुग में वैष्णवेतर शतकों की रचना नहीं हुई थी। ऐसे शतकों की रचना अवश्य हुई थी, किन्तु वैष्णव शतकों की तुलना में उनकी संख्या कम थी।[१] हिन्दी में आलोच्य युग में वैष्णवेतर शतकों की रचना इस अन्तर के साथ हुई कि इनकी संख्या वैष्णव शतकों की संख्या से समता रखती है।[२] तेलुगु एवं हिन्दी दोनों में विवेच्ययुग के पश्चात् ही शतकों की विस्तृत परम्परा देखने को मिलती है। आन्ध्र वाङ्मय में अब तक ज्ञात रूप से लगभग १२०० शतकों की रचना हुई है।[३] हिन्दी में भी आलोच्य-काल के पश्चात् विविध विषयों से सम्बन्धित अनेक शतकों की रचना हुई है। हिन्दी-शतकों की अपेक्षा तेलुगु-शतकों की संख्या बहुत अधिक ज्ञात होती है। इससे यह निष्पक्ष रूप से कहा जा सकता है कि तेलुगु-शतकों को हिन्दी शतकों की अपेक्षा अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई है।

तेलुगु में अन्य शतकों की अपेक्षा भक्ति-शतकों की संख्या ही अधिक है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि तेलुगु में प्रमुखतः भक्त या सन्त कवि ने अपने हृदयस्थ भक्ति, वैराग्य आदि की अभिव्यक्ति के लिये अथवा अपने मत-प्रचार के लिये शतक काव्यरूप को अपनाया। इन भक्त-शतकों में भी शैव शतकों की अपेक्षा वैष्णव शतकों की संख्या ही अधिक है। इससे वैष्णव धर्म की अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रियता का परिचय हमें प्राप्त होता है। तेलुगु में अधिकांश शृंगार शतक कृष्ण आदि से सम्बद्ध होने के कारण भक्ति के अन्तर्गत आ जाते हैं। तेलुगु में शुद्ध लौकिक शृंगार से युक्त शतकों की संख्या बहुत कम है।[४] इस प्रकार तेलुगु में शतक-काव्यरूप जहाँ प्रमुखतः भक्ति की अभिव्यक्ति एवं प्रचार के लिये वाहक बना वहाँ हिन्दी में यह काव्यरूप नीति, शृंगार आदि अन्य विषयों के समान भक्ति के साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन एवं प्रचार के लिये भी वाहन बना।

"मुकुट" (टेक) का प्रयोग तेलुगु शतकों में अनिवार्य है। प्रायः टेक के ही आधार पर शतक का नामकरण होता है, यथा "दाशरथि शतक", "सुमतीशतक"

---

१ वेमना का "वेमन शतक", धूर्जटि का "काळहस्तीश्वर शतक" (शैवशतक). ताळ्ळपाक तिरुवेंगळनाथ कृत "अमरुक शतक" (भावानुवादात्मक शतक), कवि चौडप्पा का "कविचौडप्पा शतक" (दूषण, गुह्यांगवर्णन, हास्य आदि से युक्त शतक) आदि।

२ मुबारिक कृत "तिलशतक", और "अलक शतक", संखाधर कृत "भावशतक" देवकवि कृत "नीतिशतक" तथा रूपचन्द्र कृत "परमार्थी दोहा शतक")।

३ "शतक कवुल चरित्रमु", वंगूरि सुब्बाराव् से लिखित पृष्ठभूमि, पृ० ८८५

४ शतककवुलचरित्र की भूमिका, लेखक :—वंगूरि सुब्बारावुपंतुलु

आदि । इतना ही नहीं शतक का छंद भी प्राय: इसी टेक पर आधारित होता था जैसे विश्वदाभिराम विनुरवेमा" की टेक के कारण ही वेमना को "आटवेलदि" छंद, "सुमती" की टेक के कारण ही सुमती शतककार को "कंद" छंद को अपनाना पड़ा। इस प्रकार की टेक के प्रयोग के अभाव के कारण ही हिन्दी शतक तेलुगु शतकों से पृथक हो जाते हैं। इसलिये शतक के नामकरण और छंद के चुनाव में हिन्दी-शतकों का टेक पर आश्रित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। पर हिन्दी-साहित्य के अष्टक, दशक एवं पंचक आदि मुक्तक काव्यरूपों में टेक का विधान प्राय: सर्वत्र पाया जाता है। हिन्दी के निर्गुण भक्त-कवियों के अष्टक इस के लिये प्रमाण हैं। इस भिन्नता का कारण यह प्रतीत होता है कि जिस रूप को जनता के मध्य प्रचार के लिये कवि ग्रहण करता है, उसमें टेक के प्रयोग के द्वारा आकर्षक बना देने का उद्देश्य ही है।

तेलुगु एवं हिन्दी, दोनों ही शतकों में छन्दों का प्रयोग नियमित रूप से होने का कोई बन्धन नहीं है। दोहा, "कंद" (तेलुगु का एक छन्द) जैसे छोटे-छोटे छन्दों से लेकर, कुंडलिया, "सीस" (तेलुगु का एक छन्द) जैसे बड़े बड़े छन्दों तक का प्रयोग दोनों भाषाओं में प्राप्त होता है। हिन्दी के शतकों में पद का भी प्रयोग किया जा सकता है जैसे श्री भट्ट कृत "युगलशतक" में। किन्तु तेलुगु के शतकों में यह प्रवृत्ति कदाचित नहीं है। पर तेलुगु के भक्ति-शतकों को गाने योग्य बनाने के लिये कवियों ने "चंपक", "उत्पलमाला", 'शार्दूल" आदि संगीत-प्रधान वृत्तछन्दों का प्रयोग किया है। तेलुगु एवं हिन्दी दोनों ही शतकों में प्राय: वर्ण्य-विषय के आधार पर ही छंदों का प्रयोग होता है। तेलुगु में प्राय: शृंगार रस की अभिव्यक्ति के लिये "सीस", नीति और वेदान्त के लिये "आटवेलदि" और "कंद" छंदों का प्रयोग होने के मूल में यही तथ्य निहित है।

जहाँ हिन्दी के भक्ति-शतकों का प्रधान उद्देश्य साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन है वहाँ तेलुगु के भक्ति-शतकों का उद्देश्य भगवान से आत्मनिवेदन करना, एवं भक्त्योद्रेक, वेदान्त, वैराग्य की अभिव्यक्ति करना रहा है। इसीलिये तेलुगु के भक्ति-शतकों को जितनी लोकप्रियता प्राप्त हुई उतना हिन्दी के भक्ति-शतकों को नहीं।

तेलुगु में तीन प्रकार के शतक प्राप्त होते हैं। १. संस्कृत या प्राकृत शतकों के भावानुवाद से सम्बन्धित शतक, यथा—"भर्तृहरि—सुभाषित—रत्नावलि", "अमरुक शतक" आदि। २. छायानुवाद से सम्बन्धित शतक —इस वर्ग में वे शतक आते हैं जिनके अन्तर्गत संस्कृत के शतक आदि काव्यों में यत्र-तत्र बिखरे हुये श्लोकों का भावानुवाद रहता है। कुछ अंश तक धूर्जटि का "काळहस्तीश्वरशतक" इसी कोटि में आता है। ३. मौलिक शतक :— इनमें भाव, भाषा, शैली, छंद[1] आदि सब में मौलिकता रहती है।

[1] तेलुगु में संस्कृत से केवल शार्दूल वृत्त को ही ग्रहण किया गया है। मत्तेभ, चंपक, उत्पलमाला आदि वृत्त और सीस, आटवेलदि, गीत, कंद आदि छंद संस्कृत-प्रसूत नहीं हैं। ये सब तेलुगु के मौलिक छंद हैं।

जहाँ तक आलोच्य युग के शतकों का प्रश्न है, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दी के शतक न भावानुवाद से सम्बन्धित हैं, न छायानुवाद से ही, ये सब मौलिक हैं। पर तेलुगु में उक्त तीन प्रकार के शतक आलोच्यकाल में भी अवश्य मिल जाते हैं।

तेलुगु एवं हिन्दी दोनों के शतकों में विषयवस्तु का वैविध्य दृष्टिगोचर होता है जैसे शृंगार, नीति, भक्ति, दर्शन आदि। किन्तु तेलुगु के शतकों में यह विषय-वैविध्य हिन्दी की अपेक्षा अधिक है। हास्य, निन्दा, स्तुति, योग, गुह्यांगवर्णन, विभिन्न प्रकार के इष्टदेवों के वर्णन आदि से संबंधित तेलुगु के अनेक शतक इसके लिये प्रमाण हैं।

हिन्दी शतक

ध्रुवदास कृत बृन्दावनसत :—इसमें कवि ने ११६ दोहों का प्रयोग किया है—

दोहा बृन्दा विपिन के इकसत षोडश आहि।
जो चाहत रस रीति फल, छिन छिन ध्रुव अवगाहि ॥[1]

इस काव्य में कवि ने बृन्दावन के रासरंग-सुख का वर्णन किया है। कवि के मतानुसार राधा की कृपा के अभाव में इस सुख का वर्णन किया ही नहीं जा सकता। जयप्रिया के चरणों का बल प्राप्त हुआ, तभी कवि इसका वर्णन करने में सफल हुए हैं।[2] इस शतक में कवि ने बृन्दावन की भूमि, वृक्ष, कुंज, पशु, पक्षी का और राधा-कृष्ण की केलि-विहार आदि का वर्णन किया है—

बृन्दा विपिन सुहावनों, रहत एक रस नित्त।
प्रेम सुरंग रंगे तहाँ, एक प्रान द्वै मित्त ॥[3]

बृन्दावनवास को कवि ने इतना श्रेष्ठ एवं इतना आनंदप्रद समझा कि उसके लिये वे अपनी माता, पिता, सुत, पत्नी, आदि समस्त प्राणतुल्य वस्तुओं को भी तत्क्षण त्यागने के लिये कृत-संकल्प हो गये।[4]

ध्रुवदास कृत भजनसत :– इसमें ११२ दोहे और सोरठे तथा १ कुंडलिया हैं। इस काव्य में कुल ११३ छंदों का प्रयोग हुआ है। इस ग्रन्थ में भजन-विधि का वर्णन है। मज्जन, उबटन, तिलक आदि के पश्चात् राधा की तन-सेवा करने से ही कोई भक्त युगलमूर्ति की सेवा करने का अधिकारी हो सकता है। कवि ने सेवा विधि-वर्णन के

[1] व्यासलीला—बृन्दावनसतलीला, पृ० २२

[2] प्रिया चरन बल जानिकै, बाढ़्यौ हिये हुलास।
तेई उर में आनि हैं, बृन्दा बिपिन प्रकास ॥
—व्यासलीला, बृन्दावनसतलीला, पृ० १३

[3] व्यासलीला—बृन्दावनसतलीला, पृ० १४

[4] बृन्दावन के वास को, जिन के नाहिं हुलास।
माता पित्र सुतादि तिय, तजि ध्रुव तिन को पास ॥
—व्यासलीला,—बृन्दावनसतलीला, पृ० १६

उपरान्त अपने मन को युगलमूर्ति से प्रेम करने का उपदेश दिया है।[1] इस पवित्र प्रेम की प्राप्ति के लिये भक्त-कवि ने "शुद्ध भजन" की साधना को नितान्त आवश्यक कहा है।[2]

ध्रुवदास कृत भजन-शृंगार सत :—यह तीन शृंखलाओं में विभाजित किया गया है **और** प्रत्येक में क्रमशः ४३, ४०, ४२ छंद रखे गये हैं। तीनों शृंखलाओं का वर्णन कवित्त और सवैयों में हुआ है। कुल कवित्त-सवैय्यों की संख्या १२५ है। इनके साथ ही इसमें १२५ दोहों का समावेश भी किया गया है। प्रथम शृंखला में लाडलीरूप का, द्वितीय में प्रेम का एवं तृतीय में रति-विलास का कवि ने वर्णन किया है। कवि ने प्रत्येक शृंखला के पूर्व उसके विषय का उल्लेख किया है।[3]

श्रीभट्टकृत युगल शतक :—इस ग्रन्थ में १०० पद तथा १०१ दोहे हैं। ग्रन्थ में एक दोहे के पश्चात् एक पद का क्रम रखा गया है। कवि ने प्रथमतः दोहे में विषय का आभास कराया और पद में उस विषय का स्पष्टीकरण। इस काव्य की विषय-वस्तु राधाकृष्ण का शैली-वर्णन है जिसके अन्तर्गत सिद्धान्त-सुख, सेवा-सुख, सहजसुख, सुरतसुख, उत्साहसुख आदि समाविष्ट हैं।

हितकृष्णचन्द्र कृत "आशा-शतक" :—यह भी राधा-कृष्ण-केलि-वर्णन से सम्बन्धित काव्य है।

तेलुगु शतक

अय्यलराजु त्रिपुरान्तकुडु कृत "रघुवीर शतक":—इस शतक में "रघुवीरा! जानकी नायका!" की टेक का प्रयोग हुआ है। इसमें प्रयुक्त छन्द शार्दूल तथा मत्तेभ वृत्त हैं। इस कवि का आदर्श भक्तिपूर्ण व्यक्तित्व इस निम्नोद्धृत पद्य-भाव के द्वारा स्पष्ट होता है जिसमें कवि ने पोतना की भाँति प्राकृत जनों का तिरस्कार करके अपने भगवतोन्मुख भक्ति की अभिव्यक्ति की—"प्राकृत जनों के सम्बन्ध में

[1] रे मन! रसिकन संग बिनु, रंच न उपजे प्रेम।
या रस को साधन यहे, और करो जिमि नेम॥
—व्यासलीला, बृन्दावनसतलीला, पृ० ७०

[2] तब पावे रस सार, शुद्ध भजन आये हिये।
या तें कह्यो विस्तार, भजन नशेनी प्रेम की॥
—व्यासलीला, बृन्दावनसतलीला, पृ० ७७

[3] प्रथम शृंखला माहिं कछु, कह्यो लाडली रूप।
निरखि लाल सखि रहे छकि, सो छबि अतिहि अनूप॥
—व्यासलीला, बृन्दावनलीला, पृ० ७८

अब सुनि तीजी शृंखला, रति विलास आनंद।
तेहि रस मादिक मत्त, रहैं विधि बृन्दावन चन्द॥
—व्यासलीला, बृन्दावनसतलीला, पृ० १००

रचित काव्य पूर्णतः निरर्थक हैं, क्योंकि उनसे केवल अपयश की प्राप्ति होती है। इनसे यदि यश भले ही मिल जाय, पर यह "बकरी के गले में (लटकनेवाले) स्तन के समान और 'नेतिबीरकाया' के समान निरर्थक, तथा निरुपयोगी है। परन्तु प्रेमार्द्रता से तुम्हारी स्तुति में लिखे जानेवाले काव्य वस्तुतः वेदशास्त्र और रामायण-महाभारत से किसी भी अवस्था में कम मूल्य के नहीं हो सकते।"[१] एक पद्य में कवि ने शतक-रचना का अपना उद्देश्य श्री रामचन्द्रजी की कृपा-प्राप्ति कहा है।[२] तेलुगु के सभी भक्तिशतकों का उद्देश्य भी इसी प्रकार इष्टदेव की कृपा-प्राप्ति ही समझना चाहिये। इस शतक का एक पद्य[३] श्री शंकराचार्य के "भजगोविन्दम्" के एक श्लोक[४] का भावानुवाद है। एक अन्य पद्य[५] में कवि ने पोतना के "श्रीसतिकोप्पुपै" वाले[६] पद्य की शैली का पूर्ण रूप से अनुकरण किया है।

कंसालि रुद्रकवि कृत "बलवदरी शतक":—इस शतक के केवल तीन पद्य उपलब्ध हुये हैं।[७] इनके आधार पर यह स्पष्ट होता है कि कवि ने अपने इस शतक में 'बलवदरीदरीकुहरभास्वदरीयदरीदरीहरि" की टेक का प्रयोग किया है। इस शतक में "चंपक" वृत्त का प्रयोग हुआ है। भगवान के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करते हुये भक्त-कवि ने अपने भक्तिस्निग्ध उद्गारों को इस शतक में प्रकट किया है। दास्यभक्ति से भगवान के ऐश्वर्यरूप का कवि ने जो वर्णन इस निम्नलिखित पद्य में प्रस्तुत किया है यह उक्त बात के लिये प्रमाण-स्वरूप है —"हे भगवान ! एक ओर क्षीरसागर की विकराल तरंगें "हो-हो" ध्वनि के साथ भयंकर गर्जन कर रही हैं। दूसरी ओर तुम्हारी शय्यारूप आदिशेष अपने सहस्र फणों से भयानक रूप से फुफकार रहा है। ऐसी विक्षुब्ध परिस्थिति में भी हे पिता, आप सानन्द और सशान्त सो कैसे रहे हैं, यह बात कदाचित मेरी समझ में नहीं आती। हमारी स्थिति तो इतनी दयनीय है कि चींटी की ध्वनि सुनने-मात्र से हम सो नहीं पाते। इसीलिये तुम्हारी स्थिति को देखकर हम नितान्त आश्चर्यचकित हो रहे हैं।" एक अन्य पद्य में इन्होंने

[१] "रघुवीर शतक" पद्य ६२ विशेष :—"नेतिबीरकाया" एक प्रकार की तरकारी है। यद्यपि यह "नेति" (अर्थात घी) की तरकारी है, तो भी इसमें घी कदाचित् नहीं रहता।

[२] "रघुवीर शतक", पद्य ६५

[३] वही, पद्य ७२

[४] **बालास्तावत्क्रीडासक्तास्तरुणस्तावत्तरुणीसक्तः**
वृद्धस्तावच्चिन्तासक्तः परेब्रह्मणि कोऽपिनसक्तः॥ भजगोविन्दम्॥

[५] "रघुवीरशतक", पद्य ६९

[६] "श्रीमदान्ध्रभागवत" ("वामन चरित्र" के कथा-प्रसंग में बलिचक्रवर्ती अपने गुरु को प्रत्युत्तर के रूप में उक्त पद्य का निवेदन करता है।)

[७] "चाटुपद्यमंजरि", द्वितीय भाग, पृ० ३२

शरणार्थी विभीषण को अभय प्रदान करके उन्हें लंका के सिंहासन पर अधिष्ठित करानेवाले श्री रामचन्द्रजी के प्रति अपनी शरणागति का प्रदर्शन किया है। कुछ तेलुगु वैष्णव भक्त-कवियों की एक विशेषता यह है कि ये विष्णु को ही अपना इष्ट-देव मानकर, उनके समस्त अवतारों के प्रति समभाव से अपनी तन्मयता का प्रदर्शन करते हैं। अर्थात्, वे विष्णु एवं उनके अवतारों में अभेदभाव को स्वीकृत करते हैं। प्रस्तुत शतक में भी यह विशेषता दिखाई दे रही है। क्योंकि कवि ने प्रथम पद्य में विष्णु-स्तुति की और द्वितीय में श्रीराम स्तुति।

चित्रकवि पेद्दना कृत "हनुमान शतक" :—अनुपलब्ध है।

ताळ्ळपाक अन्नमाचारी कृत "वेंकटेश्वर शतक" :—इसमें "वेंकटेश्वर" की टेक का और 'चंपकमाला" आदि वृत्तों का प्रयोग किया गया है। इस शतक की विषयवस्तु भगवान श्रीबालाजी एवं जगन्माता पद्मावती के दिव्य शृंगार का वर्णन है। इसी शतक से प्रभावित होकर इस शतककार के पुत्र ताळ्ळपाक पेदतिरुमलाचारी ने "शृंगारवृत्तपद्यशतक" की रचना आगे की थी।

पेदतिरुमलाचारी कृत "शृंगारवृत्तपद्यशतक" :—इसमें "वेंकटेश्वरा" की टेक का तथा उत्पलमाला, शार्दूल, चंपक, मत्तेभ आदि विभिन्न छन्दों का प्रयोग किया गया है। यह १०३ पद्यों से युक्त माधुर्य भक्ति-शतक है। इस शतक की माधुर्य भक्ति का स्वरूप जानने के लिये एक उदाहरण यहाँ देना पर्याप्त होगा —"हे भगवान श्री बालाजी ! आप कृपया मेरे द्वारा अनन्य प्रेम से समर्पित अपने कुच-दुर्गों का ग्रहण कीजिये और मुझे आप प्रेमातिरेक से अपना मधुर-कोमल अधर दीजिये।"[1] इस शतक के प्रत्येक पद्य में शब्दालंकारों का कवि ने प्रयोग किया है जिससे शैली में क्लिष्टता आई है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

आळीभूतमराळीकेळिगनि भृंगाळीकनाळीकरिं।
छोळिंगन् गोनि बाळिंजेदि मदिलो जोलिन् विराळिन् महां—[2]

प्रत्येक पद्य के प्रथम शब्दों में कवि ने तुक का प्रयोग किया है यथा —चेतु, टात, चेत, ख्यात (पद्य २); चीर, जेर, सार, सारे (पद्य ४); गोर, मेर, वीरु, नारु (पद्य १७); दंड, द्दंड, दंड, दंड (पद्य २९); गीरमु, नेरमु, नीरमु, गोरमु (पद्य ३०)। हिन्दी दोहों के तुकान्त-विधान से इसका साम्य देखने योग्य है। जहाँ तक क्लिष्ट शैली का प्रश्न है, जो इस शतक की विशेषता है, उसको शतक-स्वरूप के अपवाद के रूप में ही समझना चाहिये, क्योंकि तेलुगु-शतकों की शैली प्रायः सरल ही होती है।

[1] "शृंगारवृत्तपद्याल शतक", पद्य ३, "दि मैनर वोर्क्स आफ़ अन्नमाचार्या, वाल्यूम १

[2] वही, पद्य ३

पेदतिरुमलाचारी कृत "नीतिपद्याल शतक":—यह १०० सीस पद्यों से युक्त भक्तिसमन्वित नीति शतक है। इस शतक में निम्नलिखित टेक का प्रयोग हुआ है—

"कलित लक्ष्मीश ! सर्वजगन्निवेश !
विमल रविकोटि संकाश ! वेंकटेश ।"

भक्त को सप्त व्यसनों से विरत रहने की परम आवश्यकता है, अन्यथा वह अन्त में पतित हो जाता है। इसी बात की ओर इंगित करने के लिये कवि ने इस निम्नलिखित पद्य की रचना की है —"परकान्तासक्ति से "सिंहबल" कीचक और रावण; राज्यलोभ से दुर्योधन तथा कटु-वचनों से शिशुपाल का अन्त में सर्वनाश हुआ। द्यूतक्रीडासक्ति से धर्मराज और आखेट की आसक्ति से पांडुराजा क्रमशः धनभ्रष्ट एवं शापग्रस्त हुये। अतः सत्पुरुषों को इन दुरासक्तियों से सावधान होकर रहना चाहिये।"[1] एक अन्य पद्य में कवि ने मांधाता, दुर्योधन, जीमूतवाहन, नहुष, सूर्यवंश चक्रवर्ती आदि दृष्टान्तों के द्वारा यह सन्देश प्रजा को दिया है कि देहान्त के पश्चात् एक तिनका भी किसी का साथ नहीं देता, अतः मोक्षकामी व्यक्तियों को इन क्षणिक ऐहिक भोगों से नितान्त पराङ्मुख रहना चाहिये। किन्तु कवि ने भक्ति आदि पुण्य कर्मों में प्रवृत्त होने का लोगों को उपदेश दिया है, जो मरणपर्यन्त भी किसी जीवात्मा का साथ देनेवाले हैं।[2] इसी प्रकार एक अन्य पद्य में भी कवि ने भक्ति का आश्रय लेने का मनुष्यमात्र को उपदेश दिया है, क्योंकि लौकिक वस्तु एवं भोग बहुत ही क्षणिक हैं —धन का अर्जन एक व्यक्ति करता है, उसका उपभोग दूसरा करता है।......यौवन वर्षाकालीन धारा प्रवाह की भाँति क्षणिक है। देहान्त से समस्त कष्टार्जित लौकिक विद्याओं का नाश हो जाता है........संभोग के समाप्त होते ही तत्क्षण कामसुख का अन्त हो जाता है। अतः इन लौकिक सुखभोगों के वशीभूत होने से प्रयोजन ही क्या है ? अनन्य भक्ति से भगवान को भजनेवालों की पदवी ही सच्ची पदवी है।[3] इन उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि यह शतक भक्ति एवं नैतिक आचरण का मणिकांचन समन्वय करनेवाला है। जहाँ एक ओर कवि आदर्श राजनीति का[4] उपदेश देता है, और धनतृष्णा और राज्यतृष्णा[5] से निरासक्त रहने का उपदेश देता है, वहाँ दूसरी ओर अपने इष्टदेव बालाजी के रूप-सौन्दर्य का मर्मस्पर्शी वर्णन करते हुये उनके प्रति अपनी श्रद्धांजली भी प्रकट करते हैं।[6]

[1] नीतिसीसपद्य शतक, पद्य १७
[2] वही, पद्य ४१, पृ० ३४
[3] वही, पद्य ४५, पृ० ३७
[4] वही, पद्य ३०, ३६, ८२
[5] वही, पद्य ८६
[6] वही, पद्य ६६

शतकारंभ में भी कवि ने अपने इष्टदेव की स्तुति की है, और प्रत्येक पद्य की टेक में भी उनका भक्तिभाव मानों उमड़ पड़ रहा हो। इन कारणों से इस शतक का नाम "नीतिशतक" होने पर भी हमने शोधविषय के अन्तर्गत इसे स्थान दिया है। कवि ने अपने अन्तिम पद्य में भगवान को विभिन्न नामों से सम्बोधित करते हुये अपने शतक को भक्तिपूर्वक उन्हें समर्पित कर देने की बात का उल्लेख किया है। यह शतक उत्कृष्ट कोटि का है। इसी कारण से परवर्ती "वेणुगोपाल शतक", "कुक्कुटेश्वर शतक" और "रामलिंगेश्वर शतक" के लिये यह आधार स्वरूप एवं अनुकरणीय हुआ।

ताळ्ळपाक श्रीनिवासुडु कृत "लक्ष्मीवेंकटेश्वर सीसपद्य शतक :—इन्होंने अपने शतक में टेक का प्रयोग उक्त उल्लिखित ताळ्ळपाक पेदतिरुमलाचार्य के "नीतिसीसपद्यशतक" का अनुकरण करते हुये किया है—

"कमलवसुधेश ! सर्वयुगाधिपेश !
विमल शशिकोटि संकाश ! वेंकटेश !"

परवर्ती काल के कुछ कवियों ने पेदतिरुमलाचारी एवं श्रीनिवासुडु से प्रयुक्त टेक का अपने शतकों में अनुकरण किया है, यथा—

नरसिंह शतक :—"भूषणविकास ! श्रीधर्मपुरनिवास !
दुष्टसंहार ! नरसिंह ! दुरितदूर !"

वेंकटाचल शतक :—"चारुदरहास ! वेंकटाचल विकास !" आदि।

हमारे इस आलोच्य शतक में सीस पद्यों का प्रयोग हुआ है जैसे इस शतक के नाम से ही ज्ञात होता है। इस शतक की विषय-वस्तु भगवान श्री बालाजी एवं पद्मावती के दिव्य शृंगार का वर्णन है। ये शतककार पांडित्यसम्पन्न नहीं होने के कारण ही इनके काव्य में यति, प्रास, व्याकरण और अन्वय सम्बन्धी दोष हमें प्राप्त होते हैं। ताळ्ळपाक पेदतिरुमलाचार्य के "नीतिशतक" और इस शतक के प्रथम पद्य का भावार्थ समान है। इन बातों से यह विदित होता है कि प्रथम का दूसरे पर प्रभाव टेक-सम्बन्धी ही नहीं, अपितु "सीस" छंद के चुनाव और उसकी भावधारा पर भी परिलक्षित होता है।

परमानन्दयति कृत संपगिमन्न शतक :—इसमें "सम्पगिमन्ना" की टेक प्रयुक्त हुई है। यह शब्द विष्णु का ही द्योतक है। निम्नलिखित सम्बोधन भी विष्णु-वाची ही हैं :—"नीलमणिश्यामा !"[1], "सनकादिमुनिप्रसन्ना"[2], "शरणागतसुप्रसन्ना"[3], "सललितकांतिप्रसन्ना"[4]। पर इसकी वैष्णवभक्ति सम्बन्धी

[1] "संपगिमन्नशतक", पद्य १
[2] वही, पद्य ३, ३२, ७८
[3] वही, पद्य २
[4] वही, पद्य ४

न होकर ज्ञान, योग और वैराग्य से सम्बन्धित हैं। आडम्बर आदि का खंडन, निर्गुणिया ज्ञानमार्गी, सन्तों की शैली में किया गया है। इसलिये केवल कुछ विष्णुवाची सम्बोधनों और विशेषणों के आधार पर इस शतक को वैष्णव भक्ति से सम्बद्ध नहीं किया जा सकता। पर विष्णु-स्मरण से यह स्पष्ट होता है कि कवि विष्णु के प्रति आस्था रखता है। इसीलिये इस का संक्षिप्त विवरण यहाँ दे दिया गया है। साथ ही सामान्यतः वैराग्य आदि की चर्चा भक्ति साहित्य में मिलती भी है। इस शतक में गुरुभक्ति, ब्रह्मज्ञान, मोक्ष, राजयोग, अनुभवहीन ज्ञान का खंडन, नीति, सन्देश आदि विभिन्न विषयों को कवि ने प्रस्तुत किया है।[1] कबीर की भाँति बाह्याडम्बरों का इन्होंने खंडन किया है, यथा —"संसार की सभी वेशभूषायें और विद्यायें केवल उदरपोषणार्थ हैं। मोक्षकामी योगी को इनकी आवश्यकता ही क्या है? सच्चा योगी वस्तुतः वह है जो कामनारहित होने के कारण पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ रहा करता है।" कवि ने इस शतक में सुन्दर लोकोक्तियों का भी समावेश किया है।

परमानंदयति कृत परमानंद शतक :—इस शतक में १११ पद्य हैं। इसमें "परमानन्दा" की टेक प्रयुक्त हुई है। शिव-केशव-अभेद, वैराग्य, नीति आदि के संबन्ध में कवि वे अपने स्वीकृत विचारों को इनमें व्यक्त किया है।

परमानंदयति कृत दत्तात्रेय शतक :—इसमें ११२ पद्य हैं। इनमें "दत्तात्रेया" की टेक प्रयुक्त हुई है। इस शतक में नीति, वैराग्य, अद्वैत आदि के संबंध में कवि ने अपने विचारों को व्यक्त किया है।[2] साथ ही कवि ने सुन्दर लोकोक्तियों का भी प्रयोग किया है।

मम्मडि मल्लनार्य कृत कृष्णसचिवुनि मल्ला शतक :—इसके केवल ५७ पद्य प्राप्त हुये हैं। ये सब "कंद-पद्य" हैं। इस शतक की टेक "कृष्णसचिवुनिमल्ला" है। इस टेक से यह स्पष्ट होता है कि इन्होंने वेमना की भाँति आत्मसंबोधन करते हुये इस शतक की रचना की है। इस काव्य का विषय वेदान्त है।

मुम्मडिमल्लनार्य कृत मुक्ति-कान्ताप्रिय शतक—इसमें "मुक्तिकान्ताप्रिया" का टेक का प्रयोग किया गया है। इस शतक में मत्तेभ और शार्दूल वृत्त छंदों का कवि ने प्रयोग किया है। यह भी वेदान्तविषयक काव्य है।

उक्त दोनों कवियों ने विषयवस्तु की दृष्टि से नीति शतक, और वैराग्य शतक की पद्धति का अनुसरण किया है पर मंगलाचरण या ग्रन्थ के नामकरण आदि में कुछ ऐसे संकेत हैं कि कवि को ज्ञानवादी या योगमार्गी नहीं कहा जा सकता। उनका विष्णुभक्ति में विश्वास है और वे ऐसे विषय को चुनते हैं जो बाह्यतः भक्ति से असंबद्ध प्रतीत होते हुये भी तत्वतः भक्ति से विरोध नहीं रखता।

[1] "संपगिमन्नशतक", पद्य ७, ८, १२, १७, ११२, ११४ इसके लिये द्रष्टव्य हैं।
[2] दत्तात्रेय शतक—४३,५७, ७४, ८१, ८३ पद्य इसके लिये द्रष्टव्य हैं।

वेन्नेलकंटि सूरनार्य कृत "देवकीनंदन शतक"—इसमें कुल १०० पद्य हैं। इस शतक में "कृष्णा ! देवकीनंदना !" की टेक प्रयुक्त हुई है। पाठक एवं श्रोता को भगवत्कृपा मिलने की बात का शतकान्त में कवि ने उल्लेख किया है। इसमें मत्तेभ और शार्दूल वृत्त-छंदों का प्रयोग किया गया है। इस शतक में यद्यपि भासयुक्त शैली प्रयुक्त हुई है, तथापि इससे सरलता एवं सरसता में कोई बाधा नहीं पड़ी। इस शतक में कृष्ण का रूप-सौन्दर्य[1], गुण, माहात्म्य भक्ति[2] आदि का कवि ने मार्मिक वर्णन प्रस्तुत किया है। भक्त कवि के आत्मक्रन्दन से युक्त एक पद्य द्रष्टव्य है जो कवि के भक्ति भाव का द्योतक है। "चंदन गंधि, विदुर, अक्रूर, कुब्जा, अर्जुन, द्रौपदी, सुदामा, नंद, ब्रज-सुन्दरियाँ आदि पर आपने अपनी करुणा का बृहत् स्रोत बहाया था। आप मुझ पर भी उसी प्रकार एक कण-भर ही सही, कृपा दिखाइये। हे देवकीनंदन कृष्ण ! मुझे तो आपके चरण-कमलों का ही एकमात्र भरोसा है।"[3]

वेलिगपूडि वेंगनार्युडू कृत "कृष्णकर्णामृत"—यह लीलाशुकयोगी (बिळ्वमंगळ) के संस्कृत-काव्य "कृष्णकर्णामृत" का तेलुगु में भावानुवाद है। इसमें 'टेक" का प्रयोग नहीं होने के कारण इसे शतकों की परम्परा से कुछ भिन्न रखा जा सकता है क्योंकि तेलुगु के शतक-काव्यरूप में टेक सर्वत्र मिलती है।

५.२२. ग. मंजरी काव्य

मंजरी नाम से कई काव्य आलोच्ययुग में हिन्दी में लिखे गये। इन सभी काव्यों में छंद-साम्य नहीं है। पर विषय-साम्य अवश्य है। इन सभी में प्रेम और श्रृंगार के प्रयोगों को ही बहुधा रखा गया है। इन प्रसंगों में कथा-सूत्र के निर्वाह की ओर कवि विशेष सतर्क नहीं रहता क्योंकि प्रसंग बहुधा छोटा रहता है और सरसता की सृष्टि कवि का मुख्य ध्येय होता है। यदि कुछ शास्त्रीयता भी होती है तो वह रस के संबन्ध का ही। हो सकता है कि मंजरी शब्द का संबंध कृष्ण और राधा की सखियों और मंजरियों से हो जो भगवान की रासक्रीड़ा में सहायक होती थीं। वास्तव में इनमें सखीभाव ही विशेष मिलता है। आलोच्य युग में निम्नलिखित मंजरियाँ उल्लेखनीय हैं :—नंददास—रसमंजरी ; नंददास—विरह मंजरी ; नंददास—मान मंजरी ; ध्रुवदास—रहस्य मंजरी ; ध्रुवदास—सुख मंजरी ; ध्रुवदास—रति मंजरी ; ध्रुवदास—नेह मंजरी। इन सभी में राधाकृष्ण के नित्यविहार और उनकी श्रृंगार चेष्टाओं का निरूपण ही मिलता है। यह काव्यरूप कृष्णभक्ति शाखा से ही संबद्ध रहा। तेलुगु में वैष्णवभक्ति साहित्य के अन्तर्गत "मंजरी" नाम से दो लघु-काव्य मिलते हैं। १. ताळ्ळपाक अन्नमाचारी कृत "श्रृंगार मंजरी' और

[1] "देवकी-नंदन शतक", पद्य १६, १८

[2] वही, पद्य ९१, १००

[3] वही, पद्य ३०

२. ताळ्ळपाक पेदतिरुमलाचारी कृत "चक्रवाळ मंजरी"। प्रथम में श्रीबालाजी की श्रृंगारक्रीड़ाओं का सरस वर्णन है और दूसरे में भगवान श्रीबालाजी के सुदर्शन चक्र की स्तुति है। हिन्दी और तेलुगु में "मंजरी" नाम के जो काव्य प्राप्त होते हैं, उनमें एक तात्विक अन्तर यह है कि हिन्दी के ऐसे काव्यों में छन्द-साम्य न होकर विषय-साम्य रहता है और तेलुगु की ऐसी रचनाओं का मूल आधार मंजरी द्विपदा का छंद ही है।

५. २२. घ. छंदपरक

प्रस्तावना :—काव्य में प्रयुक्त छंद के आधार पर काव्य के नामकरण की प्रवृत्ति साहित्य में बहुत ही प्राचीन है। हिन्दी और तेलुगु दोनों ही क्षेत्रों में इस प्रकार के ग्रन्थों की संख्या पर्याप्त अधिक है। इन ग्रन्थों को छंदपरक-काव्यरूप के अंतर्गत रखा जा सकता है। ऐसे ग्रन्थों में कवि की दृष्टि छंद के महत्व पर ही अधिक रहती है। एक ही छंद में लिखे गये अनेक ग्रन्थों के वर्ण्य-विषय कवि की रुचि के अनुसार भिन्न भिन्न हो सकते हैं। नीचे इस काव्यरूप के अंतर्गत आनेवाली रचनाओं का विवरण दिया जा रहा है।

हिन्दी विभाग

दोहा :—दोहे की परम्परा बहुत ही प्राचीन है।[१] "हिन्दी साहित्यकोश" में इस शब्द की व्युत्पत्ति के संबन्ध में यह परिचय दिया गया है :—"दोहा या दूहा की उत्पत्ति कतिपय लेखकों ने संस्कृत के "दोधक" से मानी है। "प्राकृत पेंगलम्" के टीकाकारों ने इसका मूल "द्विपथा" शब्द को बताया है। यह उत्तरकालीन अपभ्रंश का प्रमुख छंद है। दोहा वह पहला छंद है जिसमें तुक मिलाने का प्रयत्न हुआ।"[२] आलोच्ययुग में दोहा का मुक्तक और प्रबन्ध दोनों ही रूपों में प्रयोग मिलता है। आलोच्ययुग में नीति और वैराग्य की धारायें भक्तिमूलक श्रृंगार के साथ प्रवाहित होती रहीं। भर्तृहरि के द्वारा प्रवर्तित नीति, श्रृंगार और वैराग्य मुक्तक शतक-परम्परा संस्कृत में पर्याप्त बल ग्रहण कर चुकी थी। परवर्ती मुक्तक साहित्य में भी विषय को दृष्टि से तीन धारायें प्रवाहित होती रहीं। प्राकृत में "गाथा" छंद का आश्रय इन्होंने लिया और अपभ्रंश से दोहा का। जैनधर्म संबन्धी योगीन्द्र रचित "परमात्मप्रकाश" (परमप्पयासु), योगसार-मुनिरामसिंग कृत "पाहोड दोहा" आदि पुस्तकें दोहा छंद में ही लिखी हुई हैं। बौद्ध धर्म-संबन्धी

१. कुछ विद्वानों के अनुसार "विक्रमोर्वशीयम्" में इसका प्राचीन रूप मिलता है। हाल की सतसई से भी इसका सूत्र जोड़ा जाता है। सिद्धों ने इसका प्रयोग किया ही है, "सरहपा-दोहाकोश" प्रकाशित भी हो चुका है। "ढोलामारू रा दूहा" जैसी रचनायें राजस्थान में मिलती हैं। निर्गुणिया संतों ने दोहा का पर्याप्त प्रयोग किया है। रीतिकाल और आधुनिककाल में भी इस छंद का प्रयोग मिलता है।

२. हिन्दी-साहित्य-कोश, सं० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० ३४२

रचनायें भी इसी में हैं। इन दोनों ही धाराओं में मुख्यतः वैराग्य और नीति की अधिकता रही, कहीं कहीं शृंगार का रूप भी उभर आता है। आलोच्ययुग भी इन तीनों प्रवृत्तियों से युक्त है। केवल शृंगार आध्यात्मिकता से युक्त हो गया था। आलोच्ययुग की दोहाबद्ध कृतियाँ निम्नलिखित हैं—

दोहा मुक्तक काव्य[२]

तुलसी—दोहावली ; रसखान—प्रेमवाटिका ; हरिराम व्यास—व्यासवाणी (१४८ दोहे) ; हरिराम व्यास—रागमाला (६०४ दोहे) ; ध्रुवदास[3]—मनुशिक्षा (६४ दोहे), बृन्दावनसत, भजनसत (दोहे-सोरठे), मनिशृंगार, प्रेमावली, सुखमंजरी, रतिमंजरी, नेहमंजरी, बनविहार, रंगविहार,[४] रसविहार, रंगहुलास, रंगविनोद, रहस्यलता, आनंदलता आदि।

दोहा-प्रबन्ध

ध्रुवदास कृत मानलीला, दानलीला आदि।

उक्त सूची के अतिरिक्त अन्य अनेक कवियों ने भी दोहा छन्द में चाहे पूर्ण रचना न की हो, फिर भी इस छन्द का प्रयोग प्रायः सभी ने किया है। प्रश्न यह उठता है कि दोहा को छन्द माना जाय या काव्यरूप। वास्तव में यह एक छन्द ही है। जिस प्रकार तेलुगु में "द्विपदा" नाम से कुछ काव्य ही प्रचलित हैं उसी प्रकार हिन्दी वैष्णव-साहित्य में छन्द के नाम पर "बरवै रामायण" तो मिलती है, पर दोहे के नाम पर कोई काव्य नहीं मिलता। "ढोला मारू रा दूहा" अवश्य मिलता है, पर वह वैष्णव साहित्य में नहीं आता। अपभ्रंश में पाहुड-दोहा जैसी रचनायें भी थीं। फिर भी दोहा छन्द की लोकप्रियता, भक्ति भाव के लिये इसकी उपयुक्तता और भक्तों के द्वारा इसका ग्रहण कुछ ऐसे कारण हैं कि यहाँ उसका संक्षेप में परिचय दे दिया गया।

बरवै :—बरवै अवधी का एक प्रमुख छन्द है। ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुकूल यह छन्द नहीं पड़ता। शास्त्रीय दृष्टि से यह मात्रिक अर्धसम छन्द है। इसके पहले और तीसरे पादों में बारह बारह, और दूसरे तथा चौथे चरणों में सात सात मात्रायें होती हैं। समपादों के अन्त में प्रायः जगण या तगण होता है। यह शुद्ध लोक-छन्द कहा जा सकता है क्योंकि हिन्दी के किसी पिंगल ग्रन्थ में इसका उल्लेख नहीं मिलता। तेलुगु में "द्विपदा" जितना लोकप्रिय था उतना हिन्दी में बरवै छन्द नहीं। आलोच्ययुग में तुलसी की "बरवै रामायण", रहीम का "बरवै नायिका-भेद" और सुन्दरदास का "पूर्वीभाषा बरवै" इस काव्यरूप के अन्तर्गत आते हैं। किन्तु

[१] इस सूची के अतिरिक्त प्रायः सभी भक्त कवियों ने इसका प्रयोग किया है।

[२] इन ग्रन्थों का विशेष परिचय "राधावल्लभ संप्रदाय", पृ० ४४१ से ४७४ तक।

[३] इसमें ५६ दोहे हैं :—"छप्पन दोहा कहे ध्रुव बृंग बिहार अनंग।
या रस सौं जे रंग रहे तिनही सौ कर संग॥"
—"रंगबिहार", दोहा ५६

इनमें से केवल प्रथम काव्य ही वैष्णव-साहित्य से सम्बद्ध है। तुलसी की "बरवै रामायण" में राम की सुन्दर एवं श्रृंगार के कुछ मनुहारी स्थलों की झाँकी उपस्थित की गयी है। छन्द की प्रकृति श्रृंगार एवं सौंदर्य-वर्णन के अनुकूल होने के कारण तुलसी ने रामकथा के ऐसे ही स्थलों को वर्णन के लिये चुना था।

तेलुगु विभाग

प्रस्तावना :—आलोच्ययुग में हिन्दी कवियों ने अधिकांश लोक-छन्दों (मात्रिकों) तथा पदों का ही विशेष अवलम्बन लिया। तेलुगु में संस्कृत वर्णवृत्तों की परिपाटी कवियों को विशेष आकर्षित करती रही। लोकछन्द भी कभी-कभी अपनी निश्चल स्थिति और लोकप्रियता के कारण इन कवियों को आकर्षक लगते थे। कुछ मुक्तक काव्यरूप तेलुगु में इन दोनों के मिश्रण से बने और कुछ स्वतन्त्र। साथ ही गद्य के ढाँचे में छन्द के यत्किंचित संयोग से कुछ काव्यरूपों का विधान हुआ। इस रूप का विभाजन इस प्रकार है :—
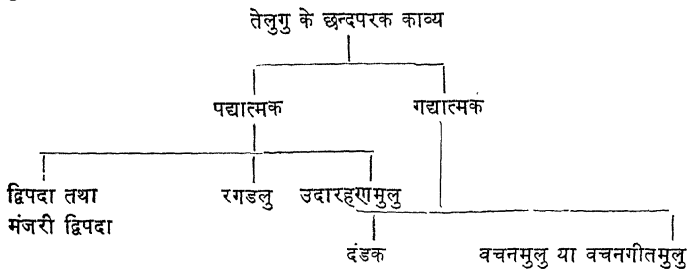
द्विपदा तथा मंजरी द्विपदा :—आन्ध्र सारस्वत को मोटे रूप से दो शाखाओं में विभाजित किया जा सकता है :—मार्गी कविता और देशी कविता। प्रथम शाखा संस्कृत साहित्य से संस्कारों ये युक्त है और द्वितीय लोक-संस्कारों से। मार्गीकविता पंडितों का साहित्य है और देशी कविता सामान्य प्रजा का। तेलुगु-साहित्य के उदाहरणमुलु, रगडलु, वचनमुलु (वचनगीत), शतक, लोकगीत, यक्षगान, जैसे काव्यरूप, तरुवोज, सीस, अक्करा जैसे अनेक छन्द; और "जानतेनुगु" भाषा (संस्कृत शब्दों से रहित तेलुगु-भाषा) आदि अनेक विशेषतायें तेलुगु-साहित्य को देशीय कविता की देन ही हैं, इन सबके अतिरिक्त देशी कविता ने शैली पर आधारित एक बहुत प्रख्यात काव्यरूप को भी जन्म दिया है जो "द्विपदा" नाम से अभिहित किया जाता है।

इस छन्द को तेलुगु-साहित्य में वही स्थान और महत्व प्राप्त है जो हिन्दी-क्षेत्र में "दोहा" छन्द को। दोहा छन्द की दीर्घ परम्परा अपभ्रंश से हिन्दी तक स्पष्ट है। पर द्विपदा की परम्परा प्राचीन काल में इतनी स्पष्ट नहीं मिलती, पर अनुमानतः उसका प्रचलन रहा होगा। हिन्दी में दोहे के माध्यम से कुछ प्रसंग या लघु निबन्ध-कथायें भी कही गयी हैं और स्वतन्त्र मुक्तक के रूप में भी इसका प्रयोग

किया गया है। पर द्विपदा का प्रयोग स्वतंत्र मुक्तक के रूप में प्राय: नहीं हुआ, पर इस छंद में प्रबन्ध अवश्य लिखे गये। जिस प्रकार दोहे के क्रम-विपर्यय से सोरठा का जन्म हो जाता है, उसी प्रकार "प्रास,' के हटा देने से "मंजरी द्विपदा" की सृष्टि हो जाती है।[१] यदि इसके दो चरणों को सम्मिलित कर दिया जाय तो "तरुवोजा" छंद के चार चरणों में से एक चरण की सृष्टि हो जाती है। तरुवोज छंद से ही "सीस", "मध्याक्कर" आदि लोक-छंदों की भी सृष्टि हुई। द्विपदा में अन्त्यप्रास की योजना की जाय तो "रगडा" छंद की सृष्टि होती है।[२] इस प्रकार द्विपदा ने प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से अनेक लोक छंदों को जन्म दिया।[३] मार्गी-साहित्य में द्विपदा से उत्पन्न "सीस"[४] आदि अनेक छंदों का बहुत प्रयोग अवश्य हुआ। किन्तु उसमें "द्विपदा" छंद का प्रयोग अप्राप्य है।

[१] एक उदाहरण द्रष्टव्य है :—
द्विपदा —श्रीयलमेल्मंग जिरकृपापांग
गायजुमात सागरतनूजात ।। —"परमयोगी विलासमु", पृ० १
इसमें प्रथम पंक्ति का द्वितीय अक्षर "प्रास" है। द्वितीय पंक्ति में भी प्रथम पंक्ति के समान "प्रास" की समानता है जैसे कि हमने रेखांकन के द्वारा स्पष्ट किया है। इस प्रकार इस प्रास-साम्य से दोनों पक्तियों के बीच सम्बन्ध जोड़ा गया है।
मंजरी द्विपदा—
श्रीललनाधारु जिन्मयाकारु ।।
गारुण्यवर्ति वेंकटगिरिमूर्ति ।।
—तिरुमलै तिरुपति देवस्थानम् वोर्क्स, वाल्यूम १, पृ० १५
इसमें प्रथम चरण के "प्रास" ("ल") में और द्वितीय चरण के "प्रास' ("रु") में साम्य नहीं है। इस प्रकार इन दोनों के बीच सम्बन्ध नहीं होने के कारण इनमें प्रत्येक चरण अपने आप में स्वतंत्र है।

[२] द्विपदा में आदि प्रास मात्र रहता है, पर उसमें अंत्यप्रास की योजना नहीं रहती, जैसे ऊपर फुट-नोट में स्पष्ट किया गया है। किन्तु "रगडा" छंद में दोनों ओर "प्रास" की योजना की जाती है—
प्रळय कालयमुभावमु चक्रमु
दळित पातक वितानमु चक्रमु
↓ ↓
आदिप्रास अंत्यप्रास

[३] "द्विपद-वाङ्मयमु" निबन्ध, निडदवोलु श्रीवेंकटराव, "विज्ञान सर्वस्वमु", वाल्यूम ४, पृ० ८४६

[४] पोतना ने अपने "श्रीमदान्ध्र भागवत" में "सीस" छंद के अनेक पद्यों को प्रस्तुत किया है। सीस पद्यों में कुछ शतकों की भी रचना हुई है। "सीस" छंद वैष्णव-साहित्य में ही नहीं, समस्त तेलुगु-साहित्य में प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त हुआ है। शैवकवि कविसार्वभौम श्रीनाथ (ई० १५वीं शताब्दी) "सीस" छंद में प्रभावोत्पादक प्रयोग के लिये प्रसिद्ध हैं।

द्विपदा एक मात्रिका छंद है। इसमें दो चरण होते हैं। प्रत्येक चरण में तीन इन्द्रगण और एक सूर्यगण का विधान रहता है। ऐसे दो चरणों की संधि "प्रास" से होता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक पंक्ति में "यति" की योजना भी रहती है।[1] यह रचना में भी सरल होता है और विभिन्न विषयों और प्रसंगों के लिये उपयुक्त भी। इसीलिये इसकी लोकप्रियता भी बढ़ती गयी। द्विपद काव्यों की एक विशेषता यह है कि इनमें आश्वास की योजना अवश्य रहती है, पर उसमें द्विपदा के अतिरिक्त अन्य कोई भी छंद कदाचित् प्रयुक्त नहीं होता।[2] द्विपदा-काव्य पाठ्य होने के साथ साथ गेय भी है।[3]

---

[1]

भ	त	नग	गल
S I I	S S I	I I I S	S I
श्रीयल	मेल्मंग	जिरकृपा	पांग
भ	सल	भ	गल
S I I	I I S I	S I I	S I
दोयज	दळनेत्र	दोयधि	पुत्रि

प्रथम चरण के "श्री" और "जि" में "यति"—साम्य है। द्वितीय चरण के "दो" और "दो" में "यति"-साम्य है। प्रथम चरण के द्वितीय अक्षर और द्वितीय चरण के द्वितीय अक्षर में प्रास का साम्य है।

इन्द्रगण निम्नलिखित प्रकार से हैं :—

नल	नग	सल	भ	र	त
I I I I	I I I S	I I S I	S I I	S I S	S S I
४ मात्रायें	५ मात्रायें	५ मात्रायें	४ मात्रायें	५ मात्रायें	५ मात्रायें

सूर्यगण इस प्रकार हैं :—

गल	न
S I	I I I
३ मात्रायें	३ मात्रायें

द्विपदा के प्रत्येक चरण में मात्राओं की संख्या १५ और १८ के बीच में कोई भी हो सकती है। किसी भी परिस्थिति में मात्राओं की संख्या १५ से कम या १८ से अधिक हो ही नहीं सकती।

सूचना :— I = लघु ; S = गुरु।

[2] उदाहरण के लिये तेलुगु के बृहत् काव्य "रंगनाथ रामायण" को लीजिये। उसमें द्विपदा के अतिरिक्त अन्य किसी भी छंद का प्रयोग नहीं मिलता।

[3] पंडिताराध्य चरित्र (द्विपदकाव्य) के उल्लेख से यह ज्ञात होता है कि 'श्रीशैलमु" (शैवपुण्यक्षेत्र) जानेवाले तीर्थ-यात्री इनके द्विपदाओं को गाते हुये जाते थे—

"साहित्य समालोचनमु", श्रीपल्लिमर्रि वेंकटहनुमंतरावु, पृ० ४८

"रंगनाथ रामायण" आदि द्विपद काव्यों को आज भी सामान्य जनता तल्लीन होकर गाती है।

द्विपद काव्य का उद्भव और विकास :—ई० ८४८ के अद्दंकि शासन में तेलुगु के "तरुवोज" छंद का प्रयोग मिलता है। इसके अतिरिक्त नन्नया (ई० ११वीं शताब्दी) के पूर्व के अन्य अनेक शासनों में भी तरुवोज, सीस, अक्करा जैसे लोक-छंदों का प्रयोग मिलता है। जैसे कि हमने पहले ही स्पष्ट किया है, ये उपर्युक्त छंद द्विपदा से ही आविर्भूत हुये थे। इससे यह निश्चित रूप से अनुमान किया जा सकता है कि द्विपदा ई० ९वीं शताब्दी के पूर्व ही प्रचार में रही होगी, किन्तु लिपिबद्ध न होने के कारण उसका परिचय हमें प्राप्त नहीं हो रहा है।

द्विपदा का सर्वप्रथम यथाविधि साहित्यिक प्रयोग वीरशैव काव्य में मिलता है। उनके द्वारा इनका ग्रहण किया जाना ही यह व्यक्त करता है कि यह लोक-साहित्य का छंद था। वीरशैव कवियों ने वर्ण-व्यवस्था के प्रति क्रान्ति और जाति-निरपेक्ष शैव भक्ति-भावना का इसी छंद के माध्यम से लोक में प्रचार किया था। पाळ्कुरिकि-सोमनाथ, जो द्विपदा के पितामह कहे जाते हैं, शैवमतावलम्बी ही थे। सोमनाथ ही प्रथम कवि थे जिन्होंने इस लोक छंद को साहित्यिक गौरव प्रदान किया। सोमनाथ के द्वारा प्रयुक्त प्रास-यति[1] पद्धति ने ताल और लय के अनुकूल इसकी रचना को बनाया। द्विपदा के प्रत्येक चरण को पृथक् रूप से नहीं लिखकर एक चरण से दूसरे चरण को मिलाते हुए एवं उसी प्रकार एक द्विपदा की दूसरी द्विपदा के साथ सन्धि करते हुये इन्होंने वृत्त रचना के धरातल पर रखा।[2] सोमनाथ के द्विपदा-

एक उदाहरण द्रष्टव्य :—निक्कमेट्लन विनु मोक्क विन्नपमु
मोक्कंटि नीकु ने दक्किनंबंटु

द्विपदा में साधारणतया प्रत्येक चरण के प्रथम अक्षर (यति) का उसी चरण में यति-साम्य होता है। किन्तु प्रास-यति में प्रत्येक चरण के द्वितीय अक्षर (प्रास) का उसी चरण में प्रास-साम्य होता है जैसे कि ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट होता है।

दोहे में दो पंक्तियाँ होती हैं। प्रत्येक पंक्ति में एक भाव की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है, यथा :—

तेरा साईं तुज्झ में ज्यों पुहुपन में बास।
कस्तूरी का मिरग ज्यौं फिर फिर सूंघै घास।।

किन्तु सोमनाथ से प्रयुक्त द्विपदा में प्रायः एक चरण का भाव दूसरे चरण में भी प्रवाहित होता है जैसे (उक्त दोहे के उदाहरण को प्रस्तुत करने से यह बात सुस्पष्ट होती है, इसीलिये उसी को प्रस्तुत किया जा रहा है) —

तेरा साईं तुज्झ में ज्यों पुहुपन में बास
बास कस्तूरी का मिरग ज्यों फिर फिर सूंघै घास —इनमें "घास" शब्द को अन्य पंक्ति में लिखकर अन्य दोहे को फिर लिखने से एक दोहे का दूसरे दोहे से मिलन होता है। सोमनाथ ने प्रचुर मात्रा में इन्हीं पद्धतियों को द्विपदा छंद के प्रयोग में अपनाया था; विषय का विवरण करते समय एक भाव का उद्बोध करते समय सोमनाथ ने इस विधान को अपनाया था।

—"विज्ञान सर्वस्वमु", तेलुगु संस्कृति, वा० ३, पृ० ८४७

प्रयोग में मतप्रचार या मत-प्रतिपादन के अतिरिक्त काव्य दृष्टि भी है।[1] शैवों द्वारा इस लोक शैली के अपनाये जाने का कारण यह है कि ये पंडितों की संस्कृत रचनाओं से अपने साहित्य को पृथक् करना चाहते हैं और वे यह भी समझते थे कि सामान्य-वर्ग में उनके मत का प्रचार सरलता के साथ हो सकता है।

इसके पश्चात् शैवमत का ह्रास हुआ और वैष्णव-मत विकसित होने लगा। वैष्णव मत भी अब पूर्ण संस्कृत या शास्त्रीय काव्यरूपों को अपनाने में हिचकता था। पर पूर्णरूप से शास्त्रीयता की अवहेलना भी नहीं कर सकता था। क्योंकि जहाँ शैवमत का सम्बन्ध अधिकांशतः समाज के निम्नवर्गों से था, वहाँ वैष्णव मत उच्चवर्गों में पनप रहा था। पर वैष्णव मत के प्रचारक भी शैवों की छाया से सामान्य वर्ग को मुक्त करना चाहते थे। यही कारण है कि इन्होंने काव्यरूप की दृष्टि से मध्यम-मार्ग को ही अपनाया, जो उच्च और निम्न दोनों वर्गों में समादृत हो सके। वैष्णव कवियों में द्विपदा में सर्वप्रथम काव्य की रचना करने का गौरव "रंगनाथ रामायण" के प्रख्यात कवि गोनबुद्दारेड्डि को प्राप्त हुआ। आलोच्ययुग में भी कुछ शैव कवि द्विपदा में शैव-साहित्य का सृजन करने में तत्पर दिखाई पड़ते हैं। कासे सर्वप्प, और पिडुपर्ति कवि इनमें प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त कुछ कवि लौकिक विषयों पर भी द्विपदा में काव्य रचने में प्रवृत्त थे। ऐसे कवियों में श्रीनाथ और गौरना प्रसिद्ध हैं जिन्होंने क्रमशः "पल्नाटिवीर चरित्र"[2] और हरिश्चन्द्र चरित्र" नामक प्रशस्त द्विपद काव्यों का प्रणयन किया। इनके अतिरिक्त आलोच्यकाल में अनेक वैष्णव भक्त-कवियों ने द्विपदा काव्यों की रचना से वैष्णव साहित्य को समृद्ध और लोकप्रिय बनाया। उनकी सूची इस प्रकार है :—१. घट्टु प्रभुवु—सत्यभामा विजय; २. ताळ्ळपाक अन्नमाचारी—द्विपदरामायण (अनुपलब्ध); ३. ताळ्ळपाक चिनतिरुवेंगळनाथ—अन्नमाचार्य चरित्रमु; ४. तळ्ळपाक चिनतिरुवेंगळनाथ—अष्ट-महिषीकल्याणमु; ५. ताळ्ळपाक चिनतिरुवेंगलनाथ—उषाकल्याणमु; ६. ताळ्ळपाक चिनतिरुवेंगलनाथ—पयमयोगीविलासमु; ७. ताळ्ळपाक तिम्मक्क—सुभद्राकल्याणमु; ८. ताळ्ळपाक पेद—तिरुमलाचारी—हरिवंश पुराणमु (अनुपलब्ध); ९. दोनूरि कोनेरुकवि—बालभागवतमु; १० नादेंडळ गोपमन्त्री—कृष्णार्जुन सम्वादमु; ११. प्रोलु-गंटि चिन्नशौरि—नृसिंह पुराणमु (अनुपलब्ध); १२. मडिकि सिंगना—भागवत का दशमस्कंध[3]; १३. मुकुंदयोगी—श्रीरंगमाहात्म्यमु (ई० १५६०)।

---

[1] "तेलुगु छंदोविकासमु", सम्पत्कुमार, पृ० १०६, कुलपति समिति, वारंगल्लु, ई० १९६२ में प्रकाशित

[2] यह मंजरी-द्विपदा में रचा हुआ वीररसपूर्ण महाकाव्य है।

[3] आलोच्ययुग का सर्वप्रथम वैष्णव द्विपदकाव्य और सर्वप्रथम "भागवत" यही है।

मंजरी द्विपदा में निम्नलिखित काव्य रचे गये थे :—

१. ताळ्ळपाक अन्नमाचारी—शृंगार मंजरी; २. ताळ्ळपाक पेदतिरुमलाचार्युलु—चक्रवाल मंजरी; ३. ताळ्ळपाक पेदतिरुमलाचार्युलु—मेल्कोलुपुलु।[१]

आलोच्य युग के वैष्णव द्विपद काव्य के रचयिताओं में ताळ्ळपाक चिनतिरुवेंगळनाथ अग्रगण्य थे। इन्होंने द्विपदा में काव्य-रचना करने के अतिरिक्त द्विपदा छंद के प्रयोग में भी कुछ प्रमुख सुधार प्रस्तुत किये। इन सुधारों को पाल्कुरिकि सोमनाथ के प्रतिक्रिया-स्वरूप समझा जा सकता है। इनके सुधार ये हैं—द्विपदा के प्रथम चरण के अन्तिम शब्दों को द्वितीय चरण के पूर्वभाग में प्रविष्ट नहीं करना चाहिये और इसी प्रकार एक द्विपदा का दूसरी द्विपदा के साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहिये। और साथ ही द्विपदा में प्रास-यति का प्रयोग कदाचित नहीं करना चाहिये।

आलोच्यकाल के उपर्युक्त द्विपदा ग्रंथ रूप की दृष्टि से अन्य काव्य-रूपों के अधिक निकट हैं। इसलिये उनका उल्लेख वहाँ ही किया गया है। ग्रंथ-संख्या २, ८, ९, ११ तथा १२ का पुराण के अंतर्गत, संख्या १, ३, ६ तथा १० चरितकाव्य के अन्तर्गत, संख्या ४, ५, ७ का मंगलकाव्य के अंतर्गत तथा संख्या १३ का धर्म कथा काव्य के अंतर्गत उल्लेख किया जा चुका है। केवल मंजरी द्विपदा में लिखी गयी तीन रचनायें ही यहाँ विवेच्य हैं। इनमें से प्रथम और द्वितीय में श्रीबालाजी और पद्मावती के शृंगार का, तथा तृतीय में भगवान को जगाने का वर्णन मिलता है।

रगडलु :—रगडलु भी एक स्तुतिपरक काव्यरूप है। इसका आधार "रगडलु" नाम का छंद है। जिस प्रकार की लोकप्रियता द्विपदा-छंदाश्रित काव्यरूप को प्राप्त हुई, उतनी रगडलु को नहीं। वैसे ये दोनों ही देशी छंद हैं। द्विपदा का प्रयोग प्रबन्ध या इतिवृत्तात्मक काव्यों के लिये होने लगा और रगडलु मुक्तक क्षेत्र में भी गृहीत होने लगा। द्विपदा और रगडलु में अधिक भेद नहीं है। द्विपदा में केवल आदिप्रास ही प्रयुक्त होता है, जब कि "रगडा" में आदि और अन्त में प्रास

[१] "मेल्कोलुपुलु" (इष्टदेव को सुप्रभात में जागृत करने के लिये गाये जानेवाले गीत) भूपाल और भेली रागों में गाये जाते हैं। इनमें प्रायः पाँच मात्राओं के गणों की योजना रहती है। इसमें "मेलुको" की टेक प्रयुक्त होती है, जिसमें पाँच मात्रायें रहती हैं। इनके आरोह से होनेवाले स्वर ऐसे प्रतीत होते हैं मानो वे निद्रित व्यक्ति को अंकुश के समान चुभकर जागृत कर रहे हों। इनमें प्रयुक्त "त्रिपुट-लय" भी सावधान करनेवाला होता है; अन्नमाचारी ने भी ऐसे दो-एक पदों की रचना की है —"अन्नमाचारी के संकीर्तन", वाल्यूम ५, पद ८१ द्रष्टव्य है।

रहता है।[1] इस छंद-काव्यरूप की परम्परा भी सर्वप्रथम शैव कवियों में मिलती है।[2] अप्प कवि ने अपने ग्रन्थ में 'रगडा' के नौ अवान्तर भेदों का उल्लेख किया है। उन्होंने इनमें कुछ के लिये मात्रा-गण और अन्य के लिये इन्द्र-सूर्यगणों को प्रयुक्त किया है। अप्प कवि के अनुसार "रगडलु" ताल-प्रधान गेय रचनायें हैं। इनके संगीत-तत्व के कारण ही ये यक्षगान एवं उदाहरण-काव्यों में प्रायः प्रयुक्त किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त स्वतंत्र काव्यों के रूप में भी इनकी रचना होती है।

आलोच्य काल के वैष्णव-साहित्य में इस काव्य रूप के अन्तर्गत केवल ताळ्ळपाक पेदतिरुमलाचार्य कृत "सुदर्शन रगडा" आता है। इसमें कुल १०८ पंक्तियाँ हैं। इस रचना में भगवान श्रीविष्णु के सुदर्शन चक्र की स्तुति की गयी है। इस काव्य में से कुछ पंक्तियाँ[3] द्रष्टव्य हैं :—

प्रलयकालयम भावमु चक्रमु।
दळितपातक वितानमु चक्रमु॥
वज्रायुध बहुवर्षुक चक्रमु।
वज्रमौक्तिक सुवर्णमु चक्रमु॥

उद्धरण में दो रगडा छंद हैं। प्रत्येक में आदि और अन्त्यप्रास द्रष्टव्य हैं।

अ. उदाहरण-वाङ्मय :—यह वर्णवृत्तों और मात्रिक छंदों का एक मिश्रित काव्यरूप है। इसका ढाँचा विभक्तियों के अनुसार बनता है। अष्ट विभक्तियों के अनुसार इस काव्य का विभाजन रहता है। प्रत्येक विभक्ति के साथ पहले वर्णवृत्त रहता है जो चंपक, उत्पलमाला, शार्दूल और मत्तेभ में से कोई भी वृत्त हो सकता है। वर्णवृत्त के पश्चात् दो मात्रिक देशी छंद रहते हैं। इनके नाम क्रमशः "कलिका" और "उत्कलिका" हैं। कलिका में आठ चरण होते हैं और उत्कलिका में चार। कलिका और उत्कलिका प्रधान रूप से गाने के लिये ही प्रयोग में लाये जाते हैं। उदाहरणमु का स्वरूप इस प्रकार है :—

पद्य + गेय = पद्यगेय (उदाहरण)

[1] कं।। आद्यंत प्रासंबुलु
हृद्यंबुग रेंटिनिट निडिफायमुलु
द्यद्युल गूर्पदगुनन
वद्यंबगु ननवद्यंबगु रगडलंदु वारिजनाभा॥

—"छंदोदर्पणमु", ले० अनत, ३/५२, पृ० ८०, तृतीय मुद्रण, १९५८

[2] पालकुरिकि सोमनाथ ने सर्व प्रथम "बसवरगडा" की रचना की थी। इस कवि ने कन्नड में भी कुछ ऐसी रचनाओं को लिखा था, यथा—"बसवरगडा", "गंगोत्पत्ति रगड़ा", "बसवाढ्य रगडा" और "सद्गुरु रगडा"—"आन्ध्रकवि सप्तशति", पृ० ३०६

[3] सुदर्शनरगडा, तिरुपति देवस्थानम ताळ्ळपाक तेलुगु वोर्क्स, वा० १, पृ० ६६

"उदाहरण" का आधार व्याकरण के अनुसार है। इसकी भावात्मक व्याख्या एक विद्वान ने इस प्रकार की है :—"समस्त जगत-प्रपंच क्रियामय है। समस्त क्रियाओं का उद्देश्य परमात्मा तक पहुँचना ही है। "धातु" विभक्ति का आश्रित होती है जिसके कारण धातु में गति आती है। विभक्तियों के आश्रय के अभाव में धातु निष्प्राण रहती है। समस्त गति और क्रिया का एक मात्र साध्य जो परमात्मा है, उनकी आराधना समस्त गति-क्रिया के कारणभूत विभक्तियों के माध्यम से पूर्णरूपेण हो सकती है।"[१] इसका आरम्भ प्रथमा विभक्ति से होता है और अन्त संबोधन से। इसमें अधिक से अधिक २६ छंद रहते हैं।

एक विद्वान का मंतव्य यह है कि भगवान के माहात्म्य को उदाहृत करनेवाली रचनायें होने के कारण ही इन रचनाओं को "उदाहरण" वाङ्मय कहा गया है।[२] इस प्रकार विषय की दृष्टि से यह स्तुतिपरक काव्य के अन्तर्गत आता है। तेलुगु में इस परम्परा का श्रीगणेश शैव कवि पाल्कुरिकि सोमनाथ कृत "बसवोदाहरण" से होता है।[3] आलोच्ययुग में रचित मुख्य वैष्णव "उदाहरणमुलु" ये हैं—

चित्रकवि पेद्दना—हनुमोदाहरणमु, हरिहर श्लेषोदाहरणमु ; ताळ्ळपाक पेदतिरुमलाचारी—श्रीवेंकटेश्वरोदाहरणमु[४];

इस काव्यरूप में छंदोबन्धन अधिक होने के कारण इसका बहुत प्रचार नहीं हो सका।

दंडक :—दंडक काव्यरूप संस्कृत में भी मिलता है। दंडक के "श्यामला" और "काली" जैसे भेद-प्रभेद भी संस्कृत में मिलते हैं। भवभूति ने भी इसका प्रयोग किया है।[५] किन्तु संस्कृत में महाकाव्यों या नाटकों के अन्तर्गत इनका समावेश रहता था। स्वतन्त्र रूप से यह विधा विशेष पनप नहीं पायी थी। तेलुगु के कवियों ने संस्कृत के इस काव्यरूप को स्वतंत्र रूप से ग्रहण किया और अपनी स्तोत्र रचनाओं में इसको प्रमुख स्थान दिया। इसके अतिरिक्त तेलुगु के पुराण और प्रबन्ध

१ "उदाहरणवाङ्मय चरित्र"—लेखक: निडुदवोलु वेंकटराव ; इस पुस्तक के जिल्द पर उद्धृत कविसम्राट श्री विश्वनाथ सत्यनारायण का कथन।

२ 'सप्तसिंधु", डा० यस० वी० जोगाराव पृ० ८

3 बसवोदाहरण को इन्होंने संस्कृत में भी लिखा। संस्कृत में इस काव्यरूप का सर्वप्रथम प्रयोग करने का गौरव इन्हीं को है। इनके उपरान्त राविपाटि तिप्पनकवि ने त्रिपुरान्तकोदाहरण की रचना की थी। इस प्रकार इस काव्यरूप की परम्परा तेलुगु में शैव कवियों से ही चली आ रही है।

४ इसमें श्रीबालाजी की स्तुति की गयी है। इन उदाहरण-काव्य की भाषा बहुत क्लिष्ट हो गयी है। इसमें कुल २६ छंद हैं। अन्तिम छंद में कवि ने अपनी कृति-समर्पण की बात कही है—"श्रीवेंकटेश्वरोदाहरणमु", पृ० ५५–६३

५ "मालतीमाधव", ५/२३

साहित्य के अन्तर्गत भी दंडकों का प्रचुर रूप से प्रयोग हुआ है। दक्षिण की तमिल, कन्नड और मलयालम भाषाओं में भी दंडक—काव्य रूप प्रचलित है।[1] पर तेलुगु में परिमाण की दृष्टि से दंडक उल्लेखनीय काव्य रूप है।

पारिभाषिक रूप से दंडक गद्य और पद्य के बीच का ही काव्यरूप है। गद्य के ढाँचे में लय का समावेश करके गद्य को गेय बना दिया जाता है। वाक्यों का विधान लय की गतिविधि पर आश्रित रहता है। विशेषणों के बाहुल्य से इनमें गति उत्पन्न की जाती है। कुछ विशेषण पुराणकथाओं की ओर संकेत भी करते हैं और कुछ विशेषण स्तुत्य के गुणग्राम का अनुकथन करते हैं। कुछ विशेषणों में स्तुति करने वाले की अनुभूतियाँ भी समन्वित होती हैं। इस प्रकार स्तुतिपरक साहित्य की समस्त विशेषताओं से युक्त दंडक-काव्य रूप-भक्तों के लिये एक सशक्त वाहक बन गया। इसके भेद भी तेलुगु में प्रचलित हैं।

अन्य काव्य रूपों की भाँति शैव-कवियों ने इस काव्य रूप को भी तेलुगु में स्वतंत्ररूप में प्रतिष्ठित किया।[2] निश्चित रूप से यह लोकाश्रयी काव्य रूप नहीं है, क्योंकि इसका विधान शास्त्रानुगत ही होता है। फिर भी शैवों ने इसको स्वतंत्र रूप देकर काव्य में इसकी प्रतिष्ठा और उपयोगिता को स्थापित किया। वैष्णव कवियों ने इसको अपने उद्देश्य की दृष्टि से संस्कृत करके अपना लिया।

दंडकों में लघु-गुरु वर्णों का एक सुनिश्चित विधान भी चलता है, फिर भी यह वर्णवृत्त के अन्तर्गत नहीं आ सकता। यह विधान इतना सुनिश्चित नहीं है कि सभी दंडकों पर घटित हो सके। पर एक दंडक में प्राय: एक ही विधान मिलता है। नीचे तेलुगु के एक दंडक[3] का वर्ण-विश्लेषण प्रस्तुत है :—

५	५	५	५	५	५
ऽ ऽ ।	ऽ ऽ ।	ऽ ऽ ।	ऽ ऽ ।	ऽ ऽ ।	ऽ ऽ ।
श्रीवेंक	टक्ष्माध	रोत्तुंग	शृंगाग्र	नित्यस्थि	रागारु

इसको छ: भागों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक विभाग में पाँच मात्रायें हैं। मात्राओं का विधान क्रमश: इस प्रकार है :—गुरु+गुरु+लघु।

उद्देश्य की दृष्टि से अन्य नाम विश्लेषणात्मक स्तुतिपरक मुक्तकों की भाँति इसका भी अनुष्टानिक महत्व है। कवि प्रत्येक दंडक के अन्त में पाठ के माहात्म्य

[1] द्विमासपत्रिका "परिशोधना", सं० तिरुमल रामचन्द्र, अप्रैल, मई, १९५५ में रचित "दंडक वांङ्मयमु" निबन्ध", लेखक—श्री निडुदवोलु वेंकटरावु, पृ० २

[2] मल्लिकार्जुन पंडित (ई० १२वीं शताब्दी) कृत "मौनिदंडक" ; इसके लिये प्रमाण है।

[3] ताळ्ळपाक पेदतिरुमलाचारी कृत "शृंगार दंडक", पृ० ८७, तिरुपति देवस्थानम् ताळ्ळपाकम तेलुगु वोर्क्स, वाल्यूम १

के सम्बन्ध में कथन करता है। यह माहात्म्य इसके पठन-गायन से इष्ट के प्रसन्न होने के सम्बन्ध में विश्वास उत्पन्न करता है।

आलोच्ययुग के वैष्णव-साहित्य में केवल दो उल्लेखनीय दंडक हैं।[1] शृंगार-दंडक तथा अष्टभाषादंडक।

शृंगार दंडक :—इसके रचयिता ताळ्ळपाक पेदतिरुमलाचारी हैं। इसमें श्रीबालाजी का शृंगार आदि लीलाओं से सम्बन्धित विशेषणों की लयात्मक शृंखला है। नीचे इसका एक अंश द्रष्टव्य है :—

"संशोभिहस्तारविंदुन्, सदानंदु, गोविन्दु, नंकिंचि
यंकिंचि, मय्यिंदिरानाथु गांभीर्य चातुर्य
शौर्यादि चंचद्गुणस्तोममुं ब्रेममुन्
सर्वविद्याधुरीणत्वमुन् सुप्रवीणत्वमुन्
रूपरेखा विलासंबुलुन् नर्महासंबुलुन् ॥"[2]

अष्टभाषा दंडक :—यह भी श्रीबालाजी की स्तुति से सम्बद्ध है। इसके रचयिता श्री अन्नमाचारी के पौत्र ताळ्ळपाक चिनतिरुवेंगळनाथ हैं। इन्होंने अपने पांडित्य का पूर्ण परिचय इसमें दिया है। इसमें संस्कृत भाषा के अतिरिक्त अन्य प्राकृतों की भी पंक्तियाँ हैं। पंक्तियों का विभाजन इस प्रकार है :—संस्कृत की ३२, प्राकृत की १४, शौरसेन की १४, मागधी की १२, पैशाची की ११, प्राची की १०, अवन्ती की १०, एवं सार्वदेशी भाषा की १०।[3]

वचनमुलु या वचनगीतमुलु :—यह काव्य-रूप वचन की पद्धति को ताल और लययुक्त संगीत में ढालने का प्रयास ही है। इसमें छन्द का बंधन शिथिल रहता है और संगीत की सरणियाँ स्पष्ट रहती हैं। इनमें संकीर्तन की भाँति "पल्लवि" और "अनुपल्लवि" का प्रयोग नहीं किया जाता। ये वचन गेय होते हैं। इन्हें शास्त्रीय रूप से गाने के लिये शिक्षण और अभ्यास उच्चकोटि के रहने चाहिये। शुद्ध गेय या पद कीर्तन के अन्तर्गत वचन पद्धति के कारण ही इस काव्य रूप को नहीं रखा जा सकता।

इस काव्य-रूप के प्रथम प्रयोक्ता कृष्णमाचारी (ई० १४वीं शताब्दी) थे। इनके "सिंहगिरि नरहरिवचनमुलु" बहुत प्रसिद्ध हैं। माधुर्य भाव से प्रेरित होकर कवि प्रेयसी-रूप से अपना पूर्ण समर्पण भगवान के प्रति करता है। इस प्रकार काव्य का विषय और रूप मिलकर अनुपम हो उठते हैं।

[1] तेलुगु प्रबन्ध काव्यों में संस्कृत की भाँति दंडकों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में मिलता है, पर स्वतन्त्र रूप से इस काव्य रूप को ग्रहण करनेवाले ये ही दो काव्य हैं।

[2] "शृंगार दंडकमु", पृ० ८७, ८८, तिरुपति देवस्थानम्स ताळ्ळपाकम तेलुगु वोर्क्स, वाल्यूम १ इस दडक में पंक्तियों की संख्या १५३ है।

[3] "अष्टभाषादंडकमु", पृ० १५१ से १५६ तक।

ताळ्ळपाक अन्नमाचारी के पुत्र पेदतिरुमलाचारी ने इस रूप को भी बड़ी दृढ़ता के साथ पुष्ट किया। इन्होंने "वैराग्यवचनमालिका गीत" नाम से ४७ भावात्मक वचन गीतों की रचना की है।[१] इन्होंने राग और ताल का नाम भी इनके साथ दिया है। इनमें से एक का भावार्थ, उदाहरण के लिये, नीचे प्रस्तुत है—
"हे निगमगोचर! जब मैं ध्यान योग की साधना में प्रवृत्त होता हूँ, तब चांडाल, गार्दभ, शुनक, कांता आदि का मेरे मन में झट स्मरण हो जाता है। मैं उसे त्यागकर जब पुराण-पाठ करने के लिये उद्यत होता हूँ, तो मेरे मुँह से ताटकी, शूर्पणखा, कबंध, रावण, कुंभकर्ण आदि के अशुभ नाम प्रवाह के समान अभिव्यक्त होते हैं और मेरा मन उन्हीं में केन्द्रीभूत हो जाता है। उसको भी त्याग कर मैं जब जप करने का प्रयत्न करता हूँ, तो नींद इत्यादि मुझे विघ्न उपस्थित करने लगते हैं। उसको भी त्यागकर जब मैं तीर्थ यात्रा करने का संकल्प करता हूं तो मुसलमान, चोर, व्याघ्र, मगर आदि के उपद्रवों का झट स्मरण हो जाता है और मैं भय के मारे काँपने लग जाता हूँ। इस प्रकार मेरे समस्त प्रयत्न व्यर्थ हो रहे हैं। मैं एक प्रकार से संकल्प करता हूँ, तो तेरी माया मुझे दूसरी ओर ही प्रवृत्त करती है। अब आप ही बताइये कि किस प्रकार मैं आपको अपने वश में कर सकूँगा। हे बालाजी! इस उपाय को मुझे बताइये; आप जगद्गुरु हैं और मेरा समस्त व्यक्तित्व आपके हाथ में ही है।[२]

५.३. निष्कर्ष

हिन्दी और तेलुगु के प्रबन्ध-साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि रूपों में कोई भेद नहीं है। भेद या तो छन्द-प्रयोग का है या परिमाण का। यह निश्चित है कि दोनों ही प्रबन्ध-साहित्यों के मूल में पुराण-वाङ्मय की प्रेरणा और सामग्री है। तेलुगु में आलोच्य युग से पूर्व के साहित्य को पुराण-साहित्य के नाम से अभिहित किया जाता है। पर हिन्दी के वैष्णव-साहित्य से पूर्व पुराण-युग की स्थिति नहीं मिलती। परवर्ती अपभ्रंश में रचित जैन-पुराण-साहित्य यद्यपि बहुत समृद्ध था, फिर भी आदिकालीन सिद्ध, नाथ और निर्गुण-साहित्य तथा रासो-साहित्य जैन-पुराणों को आलोच्ययुग से पृथक् कर देता है। यह भी सत्य है कि प्रस्तुत या अप्रस्तुत रूप से पौराणिक साहित्य की अन्तर्धारा चली आ रही थी। इसको भक्ति का संबल ही मिलता रहा था। आलोच्ययुग में यह एक प्रबल धारा के रूप में प्रकट हो गयी।

[१] चागंटि शेषय्या ने लिखा है कि इन्होंने "श्री वेंकटेश्वर वचनमुलु" नाम से भी कुछ वचनगीतों की रचना की है —"आन्ध्रकवि तरंगिणि", वाल्यूम ८, पृ० १४२

साळंगनाट (राग का नाम) पल्लवि (ताल का नाम)
"वैराग्यवचनमालिकागीतालु", छन्द २७

पुराण को भी प्रबन्ध के अन्तर्गत ही रखा जाना चाहिये। अन्तर केवल विधानगत है। पुराण एक लोकप्रिय शैली में लिखा जाता है, पर उसके मूल में इतिवृत्त-शृंखला ही रहती है। प्रबन्ध या महाकाव्य इतिवृत्तात्मक तो होते ही हैं। शास्त्रीय विधान और वर्णनप्रियता उसे पुराण-साहित्य से पृथक् करती है।

काव्यरूपों का निश्चय और चुनाव विषय के आधार पर ही होता है। आलौच्ययुग के वैष्णव भक्त कवियों के सम्मुख विष्णु के लीलावतार थे। भक्ति की साधना अनुभूति-मूलक थी, इसलिये इन लीलाओं के अनुभूतिपरक व्याख्यान होते रहे। जिन लीलाओं का सम्बन्ध माधुर्य और शृंगार से था, दोनों ही क्षेत्रों में उनका काव्यरूप गेय ही बना। पर लोकमंगल और लोक संग्रहावली लीलायें परिस्थितियों की शृंखलाओं में चलकर एक सुनिश्चित परिणाम की ओर अग्रसर होती थीं। इसके लिये मुक्तक या गेय पर्याप्त विस्तार-क्षेत्र नहीं प्रदान कर सकता था। इसलिये हिन्दी के क्षेत्र में माधुर्य-भाव-सिक्त पृष्ठभूमि के आग्रह से मुक्तक और गेय आत्मा की अनुभूत्यात्मक ऊँचाइयों की ओर चलते रहे। उनमें परिस्थितिजन्य विस्तृति नहीं आयी, फिर भी लोकमंगल के वस्तुस्थितिपरक लीला परिवेश के आग्रह से प्रबन्ध भी पूर्णतः उपेक्षित नहीं है। इसका कारण भी हम तत्कालीन हिन्दी क्षेत्रीय परिस्थितियों में देख सकते हैं। भक्त-कवियों की बाह्य परिस्थिति कुछ कुंठा और घुटन से युक्त थी। उनकी आत्मानुभूति की बहिर्गति एक विजातीय तत्व से बाधित थी। सजातीय तत्व इतना उद्वेलित और पंगु हो गया था कि चेतना की उद्बुद्धि एक सीमा में बंधकर विलासाकुल हो रही थी। यही कारण है कि भक्ति-साहित्य की धारा अन्तर्मुख होकर ही ऊर्ध्वगामिनी हो सकी। जो गेय और मुक्तक इस अन्तर्मुखी धारा से आप्लावित हो गये, वे उद्भ्रांतजन के लिये कलात्मक और सुरुचिपूर्ण माध्यम से सांस्कृतिक और आध्यात्मिक चेतना प्रदान करने लगे। इस प्रकार हिन्दी-क्षेत्र में मुक्तक का प्राधान्य एक ओर आध्यात्मिक कारणों से और दूसरी ओर परिस्थितिजन्य कारणों से था। यदि प्रबन्ध का सूत्र भी किसी कवि ने पकड़ा भी तो वह मधुस्ना होकर इतना बोझिल हो गया कि कथानक के सूत्र का विकास गेय पदों में उलझने के कारण विलम्बित हो गया। सूर जैसे कृष्ण-भक्त कवि कृष्णकथा के सूत्र क्रम को इसी प्रकार विलम्बित करते हुये और भाव के आग्रह से पुनरावृत्ति को तृषाकुल मन के लिये एक विराम स्थल समझते हुये चले। साथ ही यदि तुलसी-जैसे प्रबन्ध निष्णात कवियों ने सूत्र को मुक्तकों में उलझने से बचाया भी तो लोकमानस की अमराइयों में कथा-सूत्र का विकास हुआ, शास्त्र की शिलाओं पर प्रबन्ध-धारा प्रवाहित नहीं हुई। "रामचन्द्रिका" एक राज्याश्रित अपवाद के अतिरिक्त कुछ नहीं जिस में न भावोद्रिक्त विलम्बित प्रसंग ही हैं और न लोकमानस की सरलता और निश्छलता ही।

तेलुगु-क्षेत्र की परिस्थितियाँ भिन्न थीं। इनमें न भक्तिकाव्य की बहिर्गति बाधित ही थी, और न लोकमानस को सांस्कृतिक और आध्यात्मिक उत्क्रान्ति का

ही सामना करना पड़ रहा था। फलतः प्रबन्ध की गति अबाध रह सकी। प्रबन्ध में भावाकुलता के कारण मन्थरता कम उपस्थित होती है। शास्त्रीय वर्णनों और श्रृंगारोपकरणों की चकाचौंध से कथा-सूत्र अवश्य कुछ चमत्कृत हो जाता था। तत्कालीन परिवेश से निःसृत भक्तिपयस्विनी श्रृंगार के शास्त्रीय और कामशास्त्रीय विधान का स्पर्श करके विभावपक्ष को कुछ लोकोत्तरता प्रदान कर रही थी। पर विधान का प्रत्येक तत्व माधुर्य-भक्ति का समानार्थी नहीं हो गया था। वैसे रागानुगा भक्ति की संवाहिका प्रतिभा भी किरणोज्ज्वलरूप में विहसित होती थी और इससे आत्मा की मूल अनुभूतियाँ एक अपूर्व क्षितिज की ओर चल पड़ती थीं। इस प्रकार मुक्तक या गेय की सृष्टि भी हो जाती थी। अन्नमाचारी और उनके पुत्र पेदतिरुमलाचारी की पार्थिवसाधना काव्य की ध्वनियों को संगीत की सरणियों में और संगीत की सरणियों को भक्ति के जीवन्त-स्पंदनों में परिणत कर रही थी। हिन्दी के कृष्णभक्त कवियों के कंठ से निकली हुई रागिनी का स्वर आन्ध्र-रागिनी के साथ एक हो गया था। जहाँ तक प्रबन्धों का सम्बन्ध है तुलसी, पोतना और मोल्ला से अधिक दूर नहीं हैं। पर केशव के रूप में उभरे हुये राज्याश्रित शास्त्रीय अपवाद का स्वर गुणात्मक दृष्टि से चाहे श्रीकृष्णदेवराय प्रभृति प्रबन्धकर्ताओं के समान हो सके, पर परिमाण की दृष्टि से कोई समानता नहीं हो सकती। संक्षेप में यही हिन्दी और तेलुगु क्षेत्र के आलोच्ययुगीन काव्यरूपों के आध्यात्मिक पक्ष सम्बन्धी निष्कर्ष हैं।

षष्ठ अध्याय

भाव-पक्ष

६. १. प्रस्तावना

दोनों ही क्षेत्रों के कवियों ने भाव के दो प्रतिरूपों का आकलन किया है। भक्ति-साहित्य के दिव्य अलौकिक आलंबन अपनी शक्तियों के अवतरित लीलारूपों के साथ कुछ-न-कुछ लौकिक संबन्धगत भावना रखते हैं जैसे कृष्ण का यशोदा, नंद, ग्वाला, गोपी, राधा आदि के साथ संबन्ध-भाव थे। राम के भी अपने भाइयों, माता-पिता आदि से ऐसे संबन्ध थे। इन भावों में से कुछ भाव भक्त-कवियों ने साधना के लिये अपना लिये और उन भावों पर आश्रित भगवत-संबन्धियों को उस भाव-साधना के आदर्श के रूप में ग्रहण कर लिया। पर राम का जो संबंध अपने लीला-संबंधियों के साथ था, वह रामभक्त की साधना का अंग और आदर्श न बन सका। केवल उनका भक्त के साथ जो भावात्मक संबंध है, उसके आधार से भाव-साधना की रूप रेखा निश्चित हुई। पर कृष्ण के साथ यह बात नहीं है। कृष्ण के सभी सम्बन्धों को प्रायः भक्ति-साधना का आदर्श स्वीकार कर लिया गया। राम के साथ जो दास्य भाव है, वह कृष्ण के साथ भी है। पर कृष्ण के साथ जितने भावों की योजना है, वह राम के साथ नहीं मिलती। यह प्रवृत्तियाँ दोनों ही क्षेत्रों के कवियों में मिलती हैं। पर तेलुगु क्षत्र के कवियों ने भक्त और भगवान के बीच अधिक से अधिक कांता भाव की परिणति मानी है। वात्सल्य का चित्रण तो है, पर वह साधना-पद्धति के अन्तर्गत नहीं है। सख्य की भी दशा यही है। इसका कारण यह हो सकता है कि उपरोक्त स्थानीय भावना हिन्दी के कवियों को प्राप्त थी जो इन भावों के उपयुक्त हो सकती थी। साथ ही यह भी कारण हो सकता है कि तेलुगु के कवि भगवान के ऐश्वर्य-पक्ष से विशेष प्रभावित रहे। इसलिये बराबरी भाव वाले सख्य और भगवान को शिशु समझने वाला वात्सल्य इसकी साधना के अंग नहीं बन सके। माधुर्य में भी जितने अलौकिक रूप सामान्यतः सभी तेलुगु कवियों ने, विशेषतः अन्नमाचारी ने समाविष्ट किये हैं उतने हिन्दी कवियों ने नहीं। साथ ही माधुर्य के साथ हिन्दी-कवियों ने दास्य का संस्पर्श प्रायः नहीं आने दिया। तेलुगु के कवियों ने माधुर्य में दास्य को भी साथ रक्खा है। इस प्रकार परिस्थितियों, स्रोतों और

साम्प्रदायिक मान्यताओं के कारण भावालंबन की रूपरेखाओं में अन्तर मिलता है। पर इन वैविध्यों के नीचे बहती-चलती समान भावधारा की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। एक और अन्तर आलंबन के नामों का भी है। श्रीवेंकटेश्वर, श्रीरंगनाथ आदि नामों में स्थानीयता है और मूलगत समानता भी। इस प्रकार के स्थानीय नाम-भेद हिन्दी-क्षेत्र में नहीं मिलते। नीचे भाव-पक्ष के लगभग समस्त अंगों पर विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

६.२. आलंबन

पिछले अध्याय में यह देखा जा चुका है कि भक्ति भाव पर आधारित साधना-पद्धति है। भाव का आधार आलंबन होता है। आलंबन यथार्थ भी हो सकता है और कल्पना द्वारा नियोजित भी। यथार्थ आलंबन मनुष्य की सभी वृत्तियों को संतुष्ट करने में प्रायः असमर्थ रहता है। रचित आलंबन की यह सीमा नहीं है। आलंबन की रचना मनुष्य की गहन रागात्मक आवश्यकताओं से अनुप्रेरित होती है। इसलिये कल्पना भौतिक और सीमित उपकरणों से सभी वृत्तियों के संतोष के लिये असीम रूप-कल्पना करती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दी और तेलुगु दोनों क्षेत्रों में वैष्णव-भक्त कवियों का जो आलंबन रहा वह कल्पना-रचत ही था। भारतीय मेधा की प्रतिभा और कल्पना शताब्दियों तक जिन आलंबनों की कमनीय, रमणीय रूपरेखा प्रस्तुत करती रही, उन ही को इस युग के कवियों ने बड़ी दृढ़ता के साथ ग्रहण किया।

जहाँ तक आलंबनों के मूल-रूप का संबंध है, तेलुगु और हिन्दी-क्षेत्र के आलंबनों में कोई अन्तर नहीं है। पर दोनों ही क्षत्रों के कवियों के सज्जा-उपकरण, भिन्न होने के कारण आलंबन के अलंकरण में कुछ भेद अवश्य उपस्थित हो गया। उस समय तेलुगु और हिन्दी-क्षेत्र के सामाजिक जीवन में अन्तर था। हिन्दी-क्षेत्र में तथाकथित उच्च-वर्ग पराजयजन्य स्थिर विलास की विष-वीचियों में विलय था। अतः भक्त-कवियों के आलंबन की रूपरेखा सुनिश्चित करने में उच्चवर्गीय उपकरणों का कुछ उपयोग तो हुआ, पर इन उपकरणों का मूल्य इतना नहीं रहा जितना कि एक सन्त के काव्य में स्वाभाविक हो सके। सामंतीय उपकरणों का अधिक उपयोग राम के साथ तो रहा, पर कृष्ण की रूपरेखा सामान्य जनजीवन के उपकरणों पर आधारित रही। वहाँ जो सामंत था, वह पतनोन्मुख विलासिता का अनुगामी था, उसकी कृतियों में रुचि और कल्पना का उन्नयन और परिष्कार नहीं था।

तेलुगु-क्षेत्र की स्थिति कुछ भिन्न थी। यहाँ कृष्ण के जनजीवन वाले उप-करणों का स्थान भी सामंतीय उपकरण ले रहे थे। इस दृष्टि से राम और कृष्ण की रूप-कल्पना में उपकरण-भेद नहीं के बराबर रह जाता है, जबकि हिन्दी क्षेत्र में यह अन्तर पर्याप्त बना रहता है। तेलुगु-क्षेत्र में कृष्ण का आलंबनत्व भी प्रायः आभि-जात्य से युक्त होकर मनुष्य की लघु-मृदुल भाव-सरणियों के अधिक उपयुक्त नहीं है।

उदाहरण के लिये तेलुगु कवियों ने वात्सल्य-भाव के चित्र वे ही दिये हैं जहाँ स्रोत के रूपान्तर की आवश्यकता नें उन्हें बाध्य कर दिया। यहाँ एक और बात ध्यान में रखनी चाहिये कि हिंदी-क्षेत्र आलंबन के नित्यधाम का अवतरित रूप माना जाता था और वहाँ उनके साथ स्थानीयता की एक चटुल भावभंगिमा उलझ जाती थी। तेलुगु-क्षेत्र के कवियों में यह स्थानीय भावना स्वभावतः दुर्बल ही रही। स्थानीयता के आधार पर संबंध की जो आत्मीयता और घनिष्ठता हिन्दी-कवियों में मुखर हुई है उतनी तेलुगु-कवियों में नहीं।

जहाँ तक आलंबन के रूप-चित्रण का प्रश्न है दोनों ही क्षेत्रों के कवियों ने मुख्यतः तीन स्रोतों को अपनाया:—वेदान्त की निरूपण-पद्धति, कामशास्त्रीय शृंगार पद्धति और काव्य-शास्त्रीय भावपद्धति। पर इन तीनों में परिमाणगत अन्तर अवश्य मिलता है। तेलुगु-क्षेत्र ने संस्कृत काव्यशास्त्र से जितनी शैली सामग्री ग्रहण की है उतनी हिन्दी के कवियों ने नहीं। इस का कारण यह है कि हिन्दी-क्षेत्र में संस्कृत के अध्ययन की दुर्व्यवस्था हो गयी थी, पर दक्षिण में गुणग्राही हिन्दू राजाओं के संरक्षण में संस्कृत का अध्ययन व्यवस्थित रूप से चल रहा था। दूसरी बात यह है कि लोक-शैली सामग्री को ग्रहण करने वाले शैवयोगी कवियों की परम्परा का परवर्ती वैष्णव कवियों की परम्परा से पूर्वापर संबन्ध कम था। इसलिये शैली के संस्कृत स्रोत की अविच्छिन्नता और शुद्धता बनी रहती है। लोकशैली का उतना ही मिश्रण है जितना हाल की परम्परा में आने वाले प्राकृत या अपभ्रंश के काव्य के उपकरणों का संस्कृत के काव्यशास्त्र में। पर हिन्दी-क्षेत्र में संस्कृत काव्यशास्त्रीय शैली को इस प्रकार की अविच्छिन्नता नहीं मिली। एक तो कबीर आदि निर्गुण कवियों की परम्परा से सगुण भक्त-कवियों का पूर्वापर संबन्ध है। दूसरा, लोकशैली संस्कृत की वर्णन-शैली से अभिभूत भी नहीं रही। तीसरा, भाषा भी उतनी संस्कृत-गर्भित नहीं मिलती जितनी तेलुगु कवियों की। जहाँ तक काम शास्त्रीय सामग्री का संबन्ध है, दोनों ही क्षेत्रों में इस स्रोत के प्रचुर उपकरण मिलते हैं। पर कामसामग्री, कामोद्यानों, कला-भवनों, उद्दीपक सामग्री और बाह्य-रूपसज्जा का जो समृद्ध रूप तेलुगु के कवियों में मिलता है वह हिन्दी के कवियों में नहीं। यही कारण है कि जहाँ हिन्दी क्षेत्र के आलंबन चित्र अधिक गतिशील दिखलाई देते हैं, वहाँ तेलुगु के कवियों द्वारा रचित आलंबन-चित्र प्रायः शास्त्रीय स्थैर्य और सज्जा-भार के कारण विलंबित गतिवाले हैं। पर "श्रीमदान्ध्र भागवत", अन्नमाचारी के संकीर्तन, भक्ति-शतक आदि तेलुगु काव्यों में हिन्दी-क्षेत्र के समान इष्ट के सौंदर्य के स्वाभाविक चित्र भी मिलते हैं, किन्तु इनका परिमाण हिन्दी की अपेक्षा बहुत कम है।

दोनों ही क्षेत्रों में शील, शक्ति और सौन्दर्य की स्थापना आलम्बन में की गयी है। पर व्यक्तिगत और साम्प्रदायिक भावना के अनुसार इन तीनों में से

किसी विशिष्ठ पक्ष का प्राधान्य अवश्य मिल सकता है। शील सामाजिक मर्यादा और आदर्श का चरमरूप है जो धर्म-संस्थापन का आधार बनता है। शक्ति उस आंतरिक और शारीरिक बल का पुंजीभूत रूप है जो धर्म-संस्थापन के मार्ग की बाधाओं का निराकरण करती है। इस दृष्टि से ये दोनों पक्ष समाजोन्मुख और लोकमंगल के सम्पादक तत्व हैं। पर अन्तर्मुख ऐन्द्रिय-ध्यान-साधना के लिये सौन्दर्य तत्व परम अनिवार्य है। वैसे ध्यान समाधि की पूर्वावस्था है। इसी के माध्यम से समाधि के लोकोत्तर क्षणों की उपलब्धि होती है। इसलिये ध्यान-मूर्ति भी इष्टविग्रह के साथ संलग्न रहती थी। ध्यान-मूर्ति मानसिक और चेतनागत गतियों का केन्द्रीकरण करती है और इष्टविग्रह साधना का स्थूल आधार बनता है। इन दोनों का समन्वय ही अन्तर्बाह्य भक्ति-सम्मत पूजाविधान है।

ध्यानस्थ मूर्ति शक्तिसम्पन्न भी हो सकती है और सौन्दर्य-सम्पन्न भी। धनुर्धर राम शक्ति के ही प्रतीक हैं। इनका ध्यान पोतना ने किया है।[1] तुलसी ने लंकाकांड के आरम्भ में वीर-विजयी राम का ध्यान किया है।[2] पर भावात्मक ध्यान के केन्द्र में सौन्दर्यमय रूप की स्थापना ही अधिक स्वाभाविक रहती है। इसलिये अधिकांश कवियों ने राम और कृष्ण के सौन्दर्यमय रूप को ही ध्यान का विषय बनाया है। राम के ध्यान के सम्बन्ध में तेलुगु और हिन्दी कवियों ने अनुपम रूप-कल्पना का परिचय दिया है।[3] श्रीकृष्णदेवराय ने सर्वांग ध्यान की आवश्यकता सारूप्य मुक्ति के लिये बतायी है।[4] पोतना ने भी सर्वांगध्यान की महत्ता बताते

[1] ते०भा० पीठिका, पद्य १६, तथा वही, ६/३६१

[2] रामचरितमानस, लंकाकांड १

[3] कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—विद्युल्लता के समीपस्थ मेघ के समान सीता से युक्त रामजी देदीप्यमान हो रहे थे। "वल्ली" से युक्त तमाल वृक्ष से भासित पर्वत की भाँति धनुष उनके पीठ पर शोभा दे रहा था। नील पर्वत के ऊपर स्थित आदित्य के समान परमोज्ज्वल मुकुट उनके शिर को अभिमंडित कर रहा था। ऐसे श्रीरामजी जो कमलनयनवाले, विशाल वक्षस्थलवाले और अनन्तशक्ति-सम्पन्न शरीरवाले हैं, मेरे नेत्रों के सम्मुख प्रत्यक्ष हुये।

—ते०भा० पीठिका, पद्य १६

हनुमानजी पर विश्वास करके सीताजी श्रीरामजी के रूप का परिचय देने के लिये पूछती हैं। इस प्रसंग में मोल्लमांबा ने श्रीरामजी के सुन्दर रूप का विशेषणों से युक्त वर्णन हनुमानजी के द्वारा कराया है :—श्यामघन के समान सुन्दर शरीरवाले, "धवलाब्जपत्र" के समान नेत्रवाले, शंख के समान कंठवाले, सुन्दर-दीर्घबाहुवाले, पद्मरेखाओं से युक्त चरणवाले........."

—मोल्लरामायण, सुन्दरकांड, पद्य १०२

तुलसी ने "मानस" में धनुर्भंग लीला के प्रसंग में बालरूप राम-लक्ष्मण के अनेक सुन्दर और प्रभावोत्पादक चित्र दिये हैं।

[4] "आमुक्तमाल्यदा", ३/८६

हुये समाधिगत अनुभूतियों से प्रेरित सात्विक भावों और अनुभावों तक का विवरण दिया है।[1] एक गोपी की ध्यानावस्था का उदाहरण देकर पोतना ने अपने मत की पुष्टि भी की है।[2] तुलसी ने बालराम के ध्यान से प्रभावित न होनेवाले व्यक्ति को धिक्कार दी है।[3] शिवजी के हृदय में समस्त रामचरित ध्यान का विषय बन गया और उनके शरीर पर सात्विक भाव प्रकट होने लगे।[4] इस प्रकार ध्यान का विषय भगवान के अंग से लेकर उनके समस्त चरित्र का हो सकता है। साधना के अनुसार ध्यान के विषय की व्याप्ति होती जाती है। कभी-कभी भगवान की एक विशिष्ट मनःस्थिति ध्यान का विषय बन सकती है। जब राम को अभिषेक की सूचना मिली तब उनको विशेष प्रसन्नता नहीं हुई और बनवास की आज्ञा पर उनमें दुःख का कोई चिन्ह नहीं था। इस रूप का ध्यान तुलसी ने किया।[5] निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि राम का ध्यान रूप और आदर्श के समन्वित विषय से सम्बद्ध है। सभी कवियों ने राम के रूप में नीलघन की उपमा ली है और यह उपमा उनके सर्वांग व्याप्त गुण से सम्बद्ध है। पोतना, मोल्ला और तुलसी तीनों ने इसी पूर्णता की दृष्टि से समस्त अंग और नीलवर्ण का चित्रण किया है।[6] ध्यान के प्रिय अंग चरण, नेत्र, मुख और नीलवर्ण हैं। मुख और लोचनों का उल्लेख तो ऊपर के उदाहरणों में हो चुका है, चरण-ध्यान के कुछ उदाहरण दिये जा सकते हैं। तुलसीदास राम के चरणों का ही भजन करते हैं।[7] पद-पंकज जन्म-जन्मांतरों तक बना रहे, ऐसी उनकी अभिलाषा है।[8] सूरदास भी कृष्ण के पादारविन्दों को त्रिविधदुख-

[1] ते०भा०, ३/६४२

[2] वही, १० पू०/१०६२

[3] मन मों न बस्यौ अस बालक जौ तुलसी जग में फल कौन जिये ?
—"कवितावली", छन्द २, तुलसी ग्रन्थावली, पृ० १३१

[4] हरिहियं रामचरित सब आये। प्रेम पुलक लोचन जल छाये ॥
—"रामचरितमानस" बालकांड, ११० दोहे के नीचे

[5] प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्लो वनवासदुःखतः।
मुखाम्बुज श्री रघुनंदनस्य मे सदास्तु सा मंजुल मंगलप्रदा ॥
—रामचरितमानस, अयोध्याकांड, २

[6] मेरुंगु चेंगटनुन्न मेघंबु कैवडि नुविद चेंगटनुंड नोप्पुवाडु
—ते० भा० पीठिका, पद्य १६

मोल्लरामायण, सुन्दरकांड, पद्य १०

लोचन अभिरामं तनुघन स्यामं, निज आयुध भुजचारी
—रामचरितमानस, बाल०, (१६१)/१

[7] रामचरितमानस, उ० (१२ ग)/४

[8] वही, उ०, ४६

मोचक मानते ।[१] मीरा ने भी भगवान के चरण-कमलों का मानसिक स्पर्श करना चाहा है–

मन रे परसि हरि के चरण ।
सुभग शीतल कँवल कोमल त्रिविध-ज्वाला हरण ।।[२]

इसी प्रकार परमानंददास[३] आदि अष्टछापीय कवियों ने भी भाव व्यक्त किये हैं। तेलुगु कवियों में भी इष्ट के चरणों के प्रति प्रचुर अनुभूति मिलती है। पोतना ने भागवत में चरणों के सम्बन्ध में इसी प्रकार के भाव व्यक्त किये हैं।[४] अन्नमाचारी ने ब्रह्मा द्वारा प्रक्षालित, बलि के शिर पर सुशोभित, कालियनाग पर नर्तित, तथा त्रिलोक को नापनेवाले पादपद्मों का ध्यान किया।[५] उक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि ध्यान के लिये स्थिर अंग-सौन्दर्य की कल्पना, दास्य के अधिक अनुकूल थी।

कृष्ण के ध्यान-रूप की कल्पना इससे भिन्न है। सूर आदि ने उनके दास्य के उपपुक्त कल्पना भी की है और उनकी लीलाओं के गत्यात्मक चित्र भी ध्यान के केन्द्र में रहे। माधुर्य भक्ति के उपासक भक्तितन्मय-क्षणों में समस्त लीलाओं का ही ध्यान करते थे। चैतन्य-महाप्रभु और उनके शिष्य-भक्त घन्टों तक भगवान की समस्त लीलाओं का क्रमिक ध्यान करते थे। हिन्दी-क्षेत्र में श्रीहरिदासजी और श्रीहितहरिवंशजी लीला-भावसंकुल समाधि में निमग्न रहते थे। तेलुगु-क्षेत्र में लीलाशुक भावना में एक वृक्ष की डाल पर शुक के रूप में बैठकर भगवान की अवतरित लीलाओं का रसास्वादन करके अपने नाम को सार्थक करते थे। लीलाशुक के काव्य का तेलुगु-अनुवाद हमारे आलोच्ययुग में हुआ।[६] उसमें एक ध्यान वेणुनादकूजित वातावरण में, अस्तव्यस्त चिकुरजालवाले मुख-कमल का है।[७] दूसरा चित्र इससे भी अधिक गतिमय है :—यमुना के मंजुल कछारों में, शृंगार केलि-क्रीडा का आस्वाद लेनेवाले कृष्ण का ध्यान कवि करता है।[८] इस प्रकार के अनेक गतिमय अनाविल ध्यानचित्र तेलुगु-साहित्य की शतकपरम्परा में प्रचुर हैं।[९]

१ सू० सा० १/६४ : "सूरदास तेई पदपंकज त्रिबिध-ताप-दुख-हरन हमारे।"
२ "मीरा की प्रेम-साधना", माधव, पृ० १६८ पर उद्धृत।
३ "परमानंदसागर" का पद, "अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय", दीनदयालु गुप्त, पृ० ५८७ पर उद्धृत।
४ तें० भा० १० पू०/५६२; १० उ०/६४८; २/२८; ३/२४३; ६२६, ६३०, ६३१
५ आ० सं० की०, वा० २/पद १८०, तथा वा० ५/पद ६६, वा० १०/पद २२४
६ वेलगपूडि वेंगनार्य ने इस तेलुगु अनुवाद का नाम "कृष्णकर्णामृत" ही रखा।
७ "शतक कवुल चरित्रमु", पृ० १६६ पर उद्धृत।
८ "शतक कवुल चरित्रमु"
९ देवकीनंदन शतक, पद्य १६, १८;
वेलगपूडि वेंगनार्य कृत "कृष्णकर्णामृत" (तेलुगु) पद्य ३;
नारायण शतक पद्य ५६;
जन्नयकवि कृत "देवकीनंदनशतक" पद्य, ४, ४८

हिन्दी में सूर आदि कृष्णभक्त-कवियों के काव्य में अनेक लीला-चित्र मिलते हैं। स्वयं सूर भी ध्यानगत लीलामृत में निमग्न रहते थे। इस प्रकार आलम्बन के आध्यात्मिक रूप की ध्यानगत रूपमय परिणति साहित्य की कोमल कल्पना और दिव्य अनुभूतियों के सरस संस्पर्श से अनुप्राणित होकर तेलुगु और हिन्दी काव्य में अमर बन गयी जिस पर युग युग तक हम सब गर्व करते रहेंगे।

६.३. आश्रय

आश्रय दो प्रकार के होते हैं :—दिव्य और लौकिक। जहाँ तक लौकिक आश्रयों का सम्बन्ध है, इसके अन्तर्गत तीन श्रेणियों के व्यक्ति आते हैं। प्रथम श्रेणी में ऋषि आते हैं जो अपनी ज्ञानसाधना से पुष्ट अनुभूतियों को स्तवनों एवं दर्शनेच्छा के द्वारा व्यक्त करते हैं। इनमें भी कुछ ऐसे हैं जो भगवान की अवतरित लीलाओं के प्रति संशय करने लगते हैं। भगवान के अनुग्रह से उनके संयश-कीटों का विनाश होता है और भगवत्प्रेम उनकी प्रकृति का एक प्रमुख तत्व बन जाता है। दूसरी कोटि में वे राजा या भक्त आते हैं जो अपनी साधना के फलस्वरूप भगवान की अवतरित लीलाओं के रसास्वादन का वरदान प्राप्त करते हैं। तीसरा वर्ग ऐसे जीवों का है जो अवतरित लीलाओं के रसास्वादन का सौभाग्य प्राप्त करते हैं। इनके अन्तर्गत कुछ ऐसे पतित भी होते हैं जो आकस्मिक रूप से आश्रयत्व को प्राप्त करते हैं और भगवान से उद्धार प्राप्त करते हैं। नीचे की तालिकाओं में आश्रयों की कुछ कोटियों का परिचय दिया जा रहा है :—

दिव्य आश्रय : देवता

लीला	श्रीमद्भागवत		सूरसागर	
	श्लोक	पंक्तियाँ	पद	पंक्तियाँ
ब्रह्मा का मोह	१०/१३/४-६४ ; १०/१४/१-६१ कुल १२२	२४४	१०५४-११०६ ; १११०-१११६ कुल ६३	६३६

लीला	श्रीमदांध्रभागवत		अष्टमहिषी कल्याण		भागवत दशमस्कंध	
	चंपू	पंक्तियाँ	द्विपदायें	द्विपदाओं की पंक्तियाँ	द्विपदायें	द्विपदाओं की पंक्तियाँ
ब्रह्मा का मोह	१० पू० ४९१–५९३ कुल १०३	३४६	७९½	१२७१–१४२९ कुल १५९	×	×

दोनों ही क्षेत्रों के कवियों ने देवताओं को भगवान की लीलाओं के रस के आश्रय के रूप में चित्रित किया है। पर ब्रह्मा की लीला मोह से आरम्भ होती है और दास्य में इसका अवसान होता है। सूर और पोतना दोनों ने भी इस आश्रय का समान विस्तार किया है। इस आश्रय की छ्वाभा आकर्षक है। पहले यह आश्रय संसारी जीव का प्रतिनिधित्व करता है, पीछे मुक्त जीव का। इसीलिये दिव्य आश्रयों में ब्रह्मा का दोनों क्षेत्रों के वैष्णव कवियों में प्रधान स्थान हो जाता है।

तुलसीदास जी ने इसी प्रकार का मोह सती के द्वारा कराया है।[1] इस मोहजन्य संशय का परिणाम सती का आत्मदाह होता है। तेलुगु रामभक्त कवियों ने इस प्रसंग को छोड़ दिया है।

लौकिक आश्रय (अ) ऋषि

विषय	श्रीमद्भागवत		सूरसागर		श्रीमदांध्रभागवत	
	श्लोक	पंक्तियाँ	पद	पंक्तियाँ	चंपू	पंक्तियाँ
नारद का श्रीकृष्ण की गृहचर्या देखना	१०/६९/ १–४५ =४५	९०	४८२९ =१	५०	१० उ/ ५९८–६३५ =३८	१२७

[1] रामचरितमानस बालकांड, दोहा ५१ से ६५ तक।

विषय	अष्टमहिषी कल्याण		भागवत दशम स्कन्ध	
	द्विपदायें	द्विपदाओं की पंक्तियाँ	द्विपदायें	द्विपदाओं की पंक्तियाँ
नारद का श्रीकृष्ण की गृहचर्या देखना	०	०	जगदभिरक्षा कांड ३३१–४१० =८०	१६०

नारद भगवान कृष्ण का १६१०८ कन्याओं के साथ विवाह और उन सबके साथ केलिक्रीड़ा के सम्बन्ध में सुनकर मोहमायाग्रस्त हो जाते हैं। इस प्रसंग को सूर और तेलुगु के पोतना तथा मडिकि सिंगना ने काव्यबद्ध किया है। पर सूर का मन आश्रय नारद तथा उसके मोहमोचन की प्रक्रिया में विशेष नहीं रमा। इसलिये "सूरसागर" में इसका विस्तार कम किया गया। पोतना ने इसका विस्तार अधिक किया। यह ऊपर की तालिका से स्पष्ट है। मोहमोचन विधि में भी अन्तर है। पोतना का नारद निरीक्षण-परीक्षण के द्वारा आश्वस्थ होकर भगवान के विनय में रत हो जाता है। पर सूर का नारद निरीक्षण से संतुष्ट नहीं होता।[1] फिर वह कृष्ण से ही अपने मोह के सम्बन्ध में प्रश्न करता है और तब उसका भ्रम-भंजन होता है। पोतना ने इस शंका-समाधान को छोड़ दिया है।

"विष्णुमाया नाटक" में नारद के अभिमान के चूर-चूर होने की कथा है।[2] इस प्रकार तेलुगु-क्षेत्र में नारद का आश्रयत्व अधिक लोकप्रिय है। नारद के अभिमान के भंग होने का प्रसंग तुलसी ने बालकांड में दिया है।[3] तुलसी ने विरही राम के प्रसंग में भी नारद-मोह को रक्खा है। जब राम सामान्य मनुष्य की भाँति प्रिया-विरह में विलाप करते हैं तब नारद अपने मोह निवारण के लिये उनके पास आते हैं।[4] इस प्रकार हिन्दी-क्षेत्र में भी नारद का आश्रयत्व कम लोकप्रिय नहीं रहा।

[1] पोतना के नारद ने इसका निरीक्षण-वर्णन किया है और प्रत्येक महल में कृष्ण को पाकर वह उसके अलौकिकत्व से प्रभावित होता है। इसी प्रकार सूर का नारद भी देखता है। —सू० सा०, १०/४२११

[2] विस्तार के लिये देखिये :—प्रस्तुत प्रबन्ध का पंचम अध्याय।

[3] रामचरितमानस, बालकांड दोहा १२६ से १३५ तक।

[4] वही, अरण्यकांड, दोहा ४० से ४५ तक।

(आ) राजा और भक्त

आश्रय	रामचरितमानस		मोल्लरामायण		रामाभ्युदयमु	
	छंद	पंक्तियाँ	छंद	पंक्तियाँ	छंद	पंक्तियाँ
कौसल्या और दशरथ (कश्यप और अदिति)	बालकांड १८६ दोहे के नीचे की चौपाई[1]	४	०	०	०	०

आश्रय	सूरसागर		श्रीमदांध्रभागवत		अष्टमहिषि-कल्याण		भागवत दशमस्कंध	
	पद	पंक्तियाँ	चंपू	पंक्तियाँ	द्विपदायें	द्विपदा की पंक्तियाँ	द्विपदायें	द्विपदा की पंक्तियाँ
देवकी और वसुदेव	६२२ =१	२[2]	१० पू०/१३१ =१	१०[3]	१	४५९-४६० =२[4]	०	०
नंद-यशोदा	६३२ =१	१[5]	१० पू०/३५३ =१	६	०	०	०	०

[1] कस्यप अदिति महातप कीन्हा ।
तिन्ह कहुँ पूरब बर दीन्हा ।।
ते दसरथ कौसल्या रूपा ।
कोसलपुरी प्रगट नर भूपा ।।

[2] सुनि देवकि, इन आन जन्म की, तोकौं कथा सुनाऊँ ।
तैं मांग्यौ, हौं दियौं कृपा करि, तुम सौं बालक पाऊँ ।।

[3] मीरिरुवुरुनु सृष्टिकालबुन.........बंड्रुडुवेल
दिव्यवर्षंबुलु दपंबुलु सेसिन·········येनु
दिरंबुलगुवरंबुलु वेडुंडनिन मीरु नामायं
बायनि मोहंबुन·········नायीडु कोडुडु नडिगिन मेच्चि
यट्लवरंबिच्चि

[4] मुनु मीरु वरतपंबुलुचेसि चेसि
ननुबोलु सुतुवेडि ननुमेच्चि येनु

[5] प्रगट भयौ पूरब तप कौ फल, सुत-मुख देखौ आइ ।।

आकस्मिक आश्रयत्व

कुछ ऐसे आश्रय हैं जो भगवान के सम्पर्क में आये और उनको भक्ति-भाव का आश्रयत्व प्राप्त हो गया। इनकी तुलनात्मक सूची इस प्रकार है :—

आश्रय	श्रीमद्भागवत		सूरसागर		श्रीमदांध्रभागवत	
	श्लोक	पंक्तियाँ	पद	पंक्तियाँ	चंपू	पंक्तियाँ
फल बेचने वाली पर कृपा	१०/११/ १०-११ =२	४	०	०	०	०
यज्ञ-पत्नियों पर कृपा	१०/२२/ २६/३८ ; १०/२३/ १-५२ =६२	१२४	१४१८– १४२८ =११	१०२	१० पू० ८४६– ८७५ =२७	८०
दर्जी पर कृपा	१०/४१/ ४०-४२ =३	६	३६६६ =१	२	१० पू० ८४६– ८७५ =२७	८०
कुब्जा पर कृपा	१०/४२/ १-१२ =१२	२४	३६६६, ३७१६, ३७२१– ३७२६ =८	४६	१० पू०/ १२७१– १२७६ =६	२०

आश्रय	अष्टमहिषीकल्याणमु		भागवत दशम स्कंधमु	
	द्विपदायें	द्विपदा की पंक्तियाँ	द्विपदायें	द्विपदा की पंक्तियाँ
फल बेचनेवाली पर कृपा	१६½	१००८-१०४०=३३	०	०
यज्ञ-पत्नियों पर कृपा	२८	१६०५-१६६१=५६	०	०
दर्जी पर कृपा	२८	१६०५-१६६१=५६	०	०
कुब्जा पर कृपा	०	०	मथुराकांड ५६-७४=१६	३२

इनको दास्य या प्रेमभाव का आश्रयत्व बिलकुल आकस्मिक रूप से प्राप्त हुआ। यज्ञपत्नी प्रसंग को सूर ने तेलुगु कवियों की अपेक्षा कुछ अधिक विस्तार दिया है।

इस प्रकार दोनों क्षेत्रों में आश्रयगत वैविध्य मिलता है। विभिन्न आश्रयों के माध्यम से दोनों क्षेत्रों के कवियों ने भगवान के प्रति विभिन्न भावों को ज्ञापित और अनुमोदित किया है। माधुर्य और शृंगार भाव के आश्रयत्व में कुछ भेद है। इस पर पहले विचार किया जा चुका है। ब्रज के भक्त-कवियों ने अवैधी प्रेम के आश्रय पर बल दिया है और तेलुगु क्षेत्र में वैधी आश्रयों पर। इन पर माधुर्यभाव के साथ और अधिक विचार किया जायेगा। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि आश्रयों की श्रेणियाँ दिव्य, मानवीय मुनि और सामान्य-जन तक फैली हुई हैं। इसीलिये भक्ति-भावना लोकव्यापी हो सकी। अहल्या, गजेन्द्र, प्रह्लाद, जटायु, शबरि आदि की कथायें ऐसे भक्त आश्रयों से सम्बद्ध हैं जिनके उद्धार के लिये भगवान को स्वयं प्रकट होना पड़ा या आना पड़ा।

सूर में वसुदेव और देवकी के पूर्वजन्म की तपस्या आदि का इतना विस्तार नहीं है जितना पोतना में। नन्द-यशोदा की पूर्वजन्म की तपस्या का संकेत सूर और पोतना दोनों ने किया है। पोतना और चिनतिरुवेंगळनाथ ने वासुदेव और नन्द की भेंट का वर्णन किया है।[1] इस प्रसंग में नन्दजी का निपुत्री होना और सौभाग्य से उन्हें पुत्र की प्राप्ति होना बताया गया है।[2] सूर में यह प्रसंग नहीं है। पर उन्होंने ब्रज के स्त्री-पुरुषों में दौड़ती हुई एक आश्चर्यमिश्रित आनन्द की लहर का उल्लेख किया है जो पुत्रहीन नन्दजी के पुत्र-जन्म से सहसा उठ चली है।[3] स्पष्ट है कि उभयक्षेत्रों के कवियों ने नन्द-यशोदा के तपस्याजन्य आश्रयत्व पर इतना बल नहीं दिया है जितना उनके पुत्रहीन होने पर। पुत्रहीन को पुत्रप्राप्ति ऐसी घटना है जो नन्द-यशोदा के आश्रयत्व को वात्सल्य के अधिक उपयुक्त बना देती है। देवकी वसुदेव का आश्रयत्व तो वात्सल्य के उपयुक्त नहीं है क्योंकि उन्हें कृष्ण के अलौकिक रूप का ज्ञान बना रहता है। भूलने पर भी उनकी दृष्टि में अपनी मुक्ति और उद्धार की आशा बनी रहती है। इसीलिये वात्सल्य रस के निश्चल रूप के साथ इन्हें उभय-क्षेत्रीय कवियों ने सम्बद्ध नहीं किया।

६.४. दास्य भाव

लौकिक धरातल पर मनुष्य दास्य के प्रति प्रतिक्रिया ही करता है। पर भक्ति के क्षेत्र में आलम्बन की महत्ता और उनके ऐश्वर्य आदि गुणों की मान्यता के अनुसार दास्य एक उपयुक्त भाव बन जाता है। दार्शनिक दृष्टि से अणुरूप जीव

[1] ते० भा०, १० पू०/१९७-२११; अ० म० क०, द्विपदा की पंक्तियाँ ५८५-५९४
[2] वही, १० पू०/२०१
[3] सू० सा०, १०/२१, २२

और मलग्रस्त मन की हीनता को ध्यान में रखते हुये दास और स्वामी का सम्बन्ध युक्तियुक्त हो जाता है। भगवान या अन्य दिव्य शक्तियों के प्रति यह आदिम प्रतिक्रिया है। सहस्रशीर्षा और सहस्रपाद के रूप में वेद-पुरुष की कल्पना ने इसी भावना के बीज को अपने में छिपाया है। दास्य-भाव के तत्वों की विवेचना नीचे की जा रही है :—

पश्चात्ताप

पश्चात्ताप एक अग्नि है जो मानसिक विकारों को जलाकर मन को शुद्ध कर सकती है। अपनी पापवृत्ति की स्वीकृति करने के पश्चात् जीव पश्चात्ताप के सोपान पर पदविन्यास करता है और भगवान के समीपतर पहुँचता है। आलोच्ययुग के उभयक्षेत्रीय भक्त-कवियों ने पश्चात्ताप के भाव को विस्तार के साथ व्यक्त किया है।

तुलसी यह पश्चात्ताप करते हैं कि भगवान राघवेन्द्र जैसे स्वामी को त्यागकर इधर-उधर दूसरों की शरण की खोज करता रहता हूँ। मैं इधर-उधर भटकता रहा, पर चिन्ता की ज्वाला शान्त नहीं हुई, क्योंकि रामरूपी चिन्तामणि को मैंने नहीं पहचाना।[1] समस्त बाल्य और यौवन यों ही व्यतीत हो गये, अब वृद्धावस्था आ पहुँची। अपने पूर्व-दुष्कर्मों पर हाथ-मलने के अतिरिक्त कुछ हाथ नहीं रहा :—

अब सोचत मनि बिनु भुजंग ज्यों विकल अंगदले जरा घाय।
सिर धुनि धुनि पछितात भींजकर, कोउ न मीत हित-दुसह दाय ॥[2]

तुलसी का कहना है कि मुझे सुर-दुर्लभ मानव-शरीर प्राप्त हुआ, पर मैं अज्ञानांधकार में पड़ा रहा और गर्व में ऐसा चूर रहा कि भगवान का भजन नहीं किया।[3] सूर ने भी विषयवासना की अग्नि में जलते हुये शान्ति के लिये त्रिलोक भ्रमण किया, पर अग्नि शान्त नहीं हुई।[4] और जन्मों की तो बात ही क्या है, इस जन्म में भी मैंने हरिस्मरण, गुरु-सेवा आदि नहीं की। यहाँ वहाँ उच्छिष्ट खाता फिरा, पर गिरिधर-लाल को नहीं रिझा सका।[5] वृद्धावस्था के आने पर भी मूढ़ मन चेता नहीं। अब भी राम-नाम का स्मरण वह नहीं करता।[6] भगवान के भक्ति-रूपी अमृत और विषय के विष के बीच चुनाव था और मूढ़ मन ने विष को ही वरण किया।[7] इस प्रकार सूर ने भी अपने अज्ञान और पापकर्मों पर घोर-

[1] "विनय-पत्रिका", पद २३५
[2] वही, पद ८३
[3] वही, पद २०१
[4] सूरसागर, १/१५४
[5] वही, १/१५५ तथा १/६५
[6] वही, १/२९६
[7] वही, १/२९५

पश्चात्ताप किया।[1] परमानन्ददास ने भी यह पश्चात्ताप प्रकट किया कि कृष्ण की भक्ति के बिना ही दिन व्यर्थ हो रहे हैं। कृष्ण-भक्ति से रहित मनुष्यों का जीवित रहना व्यर्थ ही है।[2]

तेलुगु-कवियों में श्री अन्नमाचारी जी ने पश्चात्ताप का विशद विवरण दिया है। भगवान को विस्मृत करके जीव ने महान अपराध किया। इतने पर भी भगवान ने भक्त को भुलाया नहीं। ये दोनों ही तत्व पश्चात्ताप को तीव्र कर देते हैं।[3] अविद्यामाया ने जीव को भ्रमित कर दिया, फलतः वह भगवान के स्मरण से विमुख हो गया।[4] साथ ही इस बात का भी पश्चात्ताप है कि मैंने अन्य सामान्य लोगों की स्तुति की, पर भगवान की स्तुति नहीं की, इसलिये जिह्वा की सुन्दरता नष्ट हो गयी। इसी प्रकार पापकर्मों के श्रवण से कान भी अपवित्र हो गये।[5] तुलसी ने भी तुच्छ लोगों के यशगान पर पश्चात्ताप किया है।[6] सूर ने भी इस प्रकार की बात कही है।[7] इतने विकट मनोविकारों में बद्ध रहकर भगवान का कैंकर्य किस प्रकार प्राप्त होगा? अन्य मिथ्या कर्मों में समस्त समय नष्ट हो जाता है, पर भगवान का भजन नहीं होता। समस्त इन्द्रियाँ पाप-पंकिल हैं। इसलिये भगवान की सेवा नहीं हो सकती। केवल भगवान की शरण ही मेरी रक्षा कर सकती है।[8] उन्हें इस बात का भी पश्चात्ताप होता है कि कृष्णावतार के समय वह न दासी, बछड़ा, ग्वालिन ही बन सका; रामावतार के समय उनके मार्ग में न एक पत्थर बन सका, न वानर ही; तथा मत्स्य एवं कूर्मावतार के समय समुद्र में न कोई प्राणी ही बन सका। इस प्रकार भूतकाल में अज्ञान के वश भगवान के सम्पर्क से पराङ्मुख रहने का और उनके प्रेम को न पाने का उन्हें बहुत ही दुःख है।[9]

पोतना ने भी अपने अपराध पर पश्चात्ताप किया है। उन्होंने लिखा है कि राज्य-वैभव आदि के मद में हम चूर रहे। नश्वर सांसारिक सुखों पर विश्वास

[1] सूरसागर, १/५३, १/१०२, १/११८, १/१४६

[2] "रागकल्पद्रुम", भाग २, पृ० १७०

[3] आ० सं० की०, वा० २/पद ३५

[4] वही, वा० २, पद १८३

[5] वही, वा० ६, पद६१

[6] सूखत बदन प्रसंसत तिन्ह कहं, हरि तें अधिक करि माने ॥
—"विनय-पत्रिका", पद २३५

[7] सू० सा०, १/५३

[8] आ० सं० की०, वा० ५/पद १६०; तथा वा० ७/पद २२७; वा० ८/पद २८३ वा० ७/पद २२७; वा० ८/पद १७६, द्रष्टव्य हैं।

[9] वही, वा० २/पद १२

किया और मोक्षप्रद पुण्यकर्म नहीं किये। इंद्रिय सुख-रूपी मृगतृष्णा से मोहित होकर हम उनके पीछे दौड़ते रहे। हे भगवान ! हमने कभी तेरे प्रति प्रेमभाव प्रकट नहीं किया। अब हमारा उद्धार केवल तुम्हारे हाथ में ही है।[1]

पेदतिरुमलाचारी ने अपने भ्रम को यों व्यक्त किया है :—भगवान हृदय में विराजमान हैं, पर मैंने उन्हें नहीं पहचाना। भगवान की सर्वव्यापकता को भुलाकर मैंने अनेक अपराध किये हैं। मेरे अपराध अनन्त हैं, उनके प्रायश्चित्त के लिये मैं भगवान को प्रणाम करता हूँ।[2]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि पश्चात्ताप की प्रवृत्ति भी दोनों ही क्षत्रों के कवियों में समान रूप में मिलती है और शैली भी प्रायः एक सी है। पश्चात्ताप के पश्चात् भक्त का भगवान से उद्धार पाना ही शेष रह जाता है।

हीनता-ज्ञापन

भक्त-कवियों ने दास्य भक्ति की महिमा का गायन किया है और उसे संसार से पार जाने का अमोघ उपाय भी माना है। तुलसी के शब्दों में :—

"सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।[3]

पोतना ने भी प्रह्लाद के मुँह से यह कहलवाया है कि दास्य के प्रभंजन के बिना मनोविकारों की घन-घटायें छिन्न-भिन्न नहीं हो सकतीं।[4] अन्नमाचारी ने भी सेवक-सेव्य सम्बन्ध पर ही बल दिया है।[5]

भक्ति-दर्शन का विवेचन करते समय भक्तों के इस विश्वास पर पीछे विचार किया गया है कि जीव लघु है और परमात्मा असीम। जीव में से दिव्य गुणों का तिरोभाव हो गया, अतः जीव दीन, दुर्बल और निरानंद हो गया है। सभी भक्त-कवियों ने जीव-संबंधी इस सामान्य सिद्धान्त को अपने ऊपर घटित करके अपनी हीनता का घोषण किया है। तुलसी के अनुसार सबसे पहली हीनता मानसिक है। मन चंचल है, वह अनेक प्रकार के विकारों का संस्थान हो गया है। इसलिये मन अनेक आन्तरिक रोगों का कारण है।[6] मन अविद्याजन्य मल से ग्रस्त है। यह परस्त्रीरत होना चाहता है, मिथ्या विषयसुख इसको आकर्षित करते हैं, यह वासना से कलुषित है।[7] अत्युक्ति की शैली में वह अपने को सबसे अधिक पतित मानता है और

[1] ते० भा०, १० उ०/७५१ से ७५३ तक
[2] "वैराग्यवचनमालिका गीतालु", पद १८
[3] रा० च० मा०, उ० ११९ (क)
[4] ते० भा०, ७/१७१
[5] आ० सं० की०, वा० ५/पद २७; वही, ७/२६७; वही, १/२३१; वही, २/२७३ आदि द्रष्टव्य हैं।
[6] "विनय-पत्रिका", पद ८१
[7] वही, पद ८२

अपने को कीट-पतंगों से भी गया बीता कहता है।[1] तुलसी की इन भावनाओं के समान ही अन्य भक्त-कवियों ने भी अपने विचार व्यक्त किये हैं। सूर ने अपने को सब पतितों का टीका बताया है:—"प्रभु हौं सब पतितन कौ टीकौ।"[2] वे यह भी कहते हैं कि मेरा मन राग-द्वेष में लिप्त है। कपट मुझमें भरा हुआ है, मैं मिथ्या-भाषी हूँ, धूर्त हूँ, विषयों का जप करता हूँ और मेरा कुछ भी मूल्य नहीं। सब कुछ खाकर और पीकर भी मन अतृप्त ही बना हुआ है।[3] क्योंकि इंद्रिय सुखों से यथार्थ तृप्ति नहीं मिलती। एक और बड़े रूपक के माध्यम से सूर ने अपने मन की कुटिलता और पापपरायणता को स्पष्ट किया है।[4] "मो सम कौन कुटिल खल कामी" कहकर अपने को पतित-शिरोमणि घोषित किया, क्योंकि जिसने मुझे जन्म दिया है उसी से मैं द्रोह करता हूँ। कुसंग मुझे प्रिय है, नीचों की मैं गुलामी करता हूँ।[5] वास्तव में जब से भक्त जीव-संज्ञक हुआ है तब से वह पापपंक में लिप्त रहा।[6] श्री अन्नमाचारी ने भी लिखा है कि प्रकृति से आविर्भूत शरीर प्राकृतिक गुणों—सत, तम, रज से युक्त है। इनकी निष्कृति सम्भव नहीं। पापमार्ग का मैं अनुसरण करता।[7] अन्नमाचारी जी अपने पापों को भगवान के सामने इसलिये स्वीकार करते कि इस क्रिया से ये नष्ट हो जायँ।[8] शायद मैंने इतने पाप किये हैं कि उनका लेखा-जोखा असंभव है और नरक में भी मुझे स्थान नहीं मिलेगा। यदि मैं पाप लिखने बैठूं तो समस्त वनों के तालवृन्त भी पर्याप्त नहीं हो सकते। यदि मैं अपने असत्यों का कथन करूँ तो पृथ्वी भी भार से विचलित हो जायेगी। मेरे समस्त पापाचारों के कलुष को समस्त नदियाँ धोकर भी पवित्र नहीं कर सकतीं। परद्रोह भावना को जलाने के लिये पृथ्वी के समस्त वृक्षों का ईंधन भी पर्याप्त नहीं है।[9] इन्होंने भी अपने, पशुओं, पत्थरों और वृक्षों के बीच अन्तर करते हुये सूर की भांति अपने को इनसे भी हीन माना।[10] इन्होंने अपने मन के कपटाचरण को भी स्वीकार

[1] विनय-पत्रिका", पद ६२
[2] सू० सा०, १/१८३
[3] वही, १/१४०
[4] वही, १/१४१
[5] वही, १/१४८
[6] वही, १/१२४
[7] आ० सं० की०, वा० ८/१२३
[8] वही, वा० २/८
[9] वही, वा० २/६
[10] वही, वा० २/पद ५४

किया।[1] विस्तृत शैली में उन्होंने अपने क्षुद्र हृदय के दौर्बल्य का भी विवरण दिया है। इसमें न कभी विज्ञान का विकास ही होता है, न यह स्थिर ही होता है, न इसे भगवान में विश्वास ही है, न यह मेरे वश में ही है।[2] साथ ही हनुमान, जनक, गरुड, नारद जैसे आदर्श भक्तों के उदाहरण देकर इन्होंने अपनी असमर्थता ज्ञापित की है।[3]

अन्नमाचारी की ही भाँति ताळ्ळपाक पेदतिरुमलाचारी ने भी अपने मन की विषय-वासना और उसकी पापपरायणता का वर्णन किया है और अनेक भक्तों का उदाहरण देकर अपने उद्धरण के लिये प्रार्थना की।[4] अय्यलराजु त्रिपुरान्तक ने भी विषयवासनारत अपने मन का वर्णन करके, भगवान से अपनी रक्षा की प्रार्थना की है :—"हे समस्त कलाओं से अभिमंडित जानकी-नायक! परकीयाओं के कुचकुंभ, पदाब्ज, बाहु, कपोल, कंठ, जूडा आदि की ओर सतत दौड़ पड़नेवाले मेरे मन की चंचलता को दूर कीजिये और उसे भवदीयोन्मुख होने का वर देकर मेरा उद्धार कीजिये।"[5] पोतना का प्रह्लाद हिरण्यकशिपु से कहता है कि हे पिताजी! तुम्हारा मन ही तुम्हारा घोर शत्रु है। यदि वह वश में हो जाय तो संसार में आपके लिये कोई शत्रु नहीं हो सकता।[6] समस्त लोकों को आपने अल्पकाल में ही पराजित कर दिया है। किन्तु आप अपने मन और इंद्रियों को पराजित करने में असफल हो गये हैं। तुम्हीं में अरिषड्वर्ग रूपी छः भयंकर शत्रु हैं। यदि उन्हें आप अपने वश में कर सकेंगे तो समस्त प्राणियों में आप के लिये कोई भी शत्रु अवशेष नहीं रहेगा।[7] श्रीकृष्णदेवराय ने भी लिखा है कि मन को विषयों में प्रवेश कराने से बन्धन तथा विषयों से पराङ्मुख कराने से मोक्ष की प्राप्ति होती है।[8] विषयासक्तियों से निर्लिप्त मन-रूपी शुद्ध लोहा, भगवान-रूपी चुम्बक की ओर तत्क्षण आकृष्ट हो जाता है।[9] चंचलता और विकृतियों से पीड़ित मन और इसके विषय प्रेम पर आधारित अपनी हीनता ज्ञापित करने में तेलुगु और हिन्दी के कवि समान ही हैं। तुलसीदास ने "विनय-पत्रिका" में कलियुग के प्रभाव के कारण भी अपनी

[1] आ० सं० की०, वा० २/२३१
[2] वही, २/२६७
[3] वही, २/३२
[4] "वैराग्यवचनमालिकागीतालु", ३४, ३६, ८
[5] "रघुवीर शतक", पद्य ६९
[6] ते० भा० ७/२६६
[7] वही, ७/२६७
[8] "आमुक्तमाल्यदा", ३/७३
[9] वही, ३/७४

दुर्दशा मानी है। कलिकाल का वर्णन "मानस" के उत्तरकांड में भी इसी रूप में किया गया है। इस कलिकाल के उद्धार का एकमात्र उपाय रामनाम है।[1] पर अन्य कवियों ने कलियुगजन्य विकारों का मानसिक विकारों में भी समावेश कर दिया। अपनी हीनता को ज्ञापित करना हर एक के बस की बात नहीं। मन को हल्का करने का यह एक मानसिक उपाय भी है। अन्तर्द्रष्टा भक्त कम से कम, भ्रमों से मुक्त होकर अपने यथार्थ रूप को समझ लेता है। इसको समझने के पश्चात् यह अज्ञान और कुमार्ग-गमन पर पश्चात्ताप करता हुआ कहता है कि यह अमूल्य मानव-जीवन मिथ्या-विषयवासना में ही नष्ट हो गया।

सर्वेन्द्रिय-भाव-साधना

शरणागत की साधना का चरमबिन्दु यह है जहाँ भक्त की इंद्रियाँ अन्य विषयों से विरत होकर भगवत्-विषय में ही रस लेती हैं। इंद्रियों की यही सार्थकता है। भक्त-कवियों ने कभी निषेधात्मक शैली में और कभी विधेयात्मक शैली में इस तत्व को कहा है। तुलसी ने इंद्रियों की इस साधना का वर्णन करते हुये यह भी स्पष्ट किया है कि उसी प्रकार के भक्त-साधक के मन में भगवान का निवास है। जिनके कान-रूपी समुद्र रामकथा-रूपी नदियों से भरते रहने पर भी तृप्त नहीं होते, जिनके नेत्र-चातक राम-घनश्याम की ओर देखते-देखते थकते नहीं, जिनकी वाणी भगवान के यश-सरोवर की हंसिनी बनकर गुण-मुक्ताओं को चुगती है, जिसकी नासिका भगवान के पुष्पादि की गंध से तृप्त रहती हैं, वैसे ही भक्तों के हृदय में भगवान का निवास होता है।[2] निषेधात्मक शैली में भी तुलसी ने भगवद्विषय से विमुख इंद्रियों को निरर्थक बताया है।[3] सूर ने उसी रसना को सार्थक कहा है जो भगवान का गुण-गान करती है। उनकी दृष्टि में ये ही आँखें चतुर हैं जो भगवान के सौंदर्य-मकरंद का पान करती हैं; वही चित्त निर्मल है जो कृष्ण में ध्यानस्थ रहता है; कान वे ही सार्थक हैं जो हरिकथामृत का पान करते हैं। हाथ भगवान की सेवा करने के लिये और पैर बृन्दावन जाने के लिये ही हैं।[4] पोतना ने भी विधेयात्मक और निषेधात्मक दोनों ही शैलियों में इंद्रिय-साधना की सर्वांगता को पुष्ट किया है। प्रह्लाद उद्धार के प्रसंग में प्रह्लाद अपने पिता से कहता है कि विष्णु का अर्चन करने वाले हाथ, श्रीनाथ की कथा का वर्णन करने वाली जिह्वा, विष्णु को प्रणाम करने वाला सिर, विष्णु-कथा का श्रवण करने वाले कान और भगवान की ओर प्रभावित मन ही यथार्थ और सार्थक हैं। इन ज्ञानेन्द्रियों की सार्थकता बताने के पश्चात् हाथ और

[1] "विनय-पत्रिका", पद १८४, तुलसी-ग्रन्थावली, दूसरा खंड, पृ० ४५६

[2] रामचरितमानस, अयोध्याकांड, १२७ से १२९ तक

[3] वही, बालकांड

[4] सूरसागर, २/७

पैरों की भी सार्थकता की चर्चा की गयी है। सच्चा गुरु भी वह है जो भगवान का मर्म बताये और सच्चा पिता वह है जो भगवद् भक्ति की प्रेरणा दे।[1] निषेधात्मक रूप से भी सभी कर्म और ज्ञानेन्द्रियों के संबन्ध में पोतना ने बल के साथ इसी भाव को स्पष्ट किया है।[2] दशमस्कंध में पोतना ने भक्त के लक्षण गिनाते हुये कहा है कि उसकी साधना इस कोटि तक पहुँच जाती है कि प्रत्येक शब्द, प्रत्येक दृश्य, प्रत्येक स्पर्श, प्रत्येक सुगंध तथा प्रत्येक भावना भगवान से ही संबंधित आभासित होने लगती है।[3] ताळ्ळपाक पेदतिरुमलाचारी ने भी अपनी अनन्य भक्ति का प्रदर्शन इसी प्रकार किया है :—मेरे आँखें-रूपी कुमुद तेरे मुख-चंद्र के दर्शन के लोलुप हैं। मेरा मन-मयूर तुम्हारे शरीर के श्याम वर्ण रूपी घन का ही स्मरण करता है। तेरे श्रीपादजल-रूपी स्वाति की बूँदों के लिये मेरा मुँह रूपी सीपी लालायित है। मेरे कान-रूपी सर्प तेरे संकीर्तनों के संगीत के आस्वादन के लिये अभ्यस्त हैं।[4] पोतना ने इन्हीं बातों को अन्यत्र भी दुहराया है।[5] अंबरीषोपाख्यान[6] तथा शुकपरीक्षित प्रसंग[7] में भी सर्वेन्द्रिय-साधना का इसी शैली में वर्णन किया गया है। अन्नमाचारीजी ने इस सिद्धान्त के कथन की शैली को और भी प्रभावोत्पादक बना दिया है। इनका तात्पर्य यह है कि जो इंद्रियाँ भगवान की ओर उन्मुख हो गयीं वे सांसारिक विषयों की ओर नहीं चलतीं।[8] सूर ने इसी बात को एक अन्य प्रकार से कहा है—

> जिहिं मधुकर अंबुज-रस चाख्यौ, क्यों करील फल भावै।
> सूरदास प्रभु कामधेनु तजि, छेरी कौन दुहावै॥[9]

अन्नमाचारी ने अन्यत्र भी इस विषय की चर्चा की। उन्होंने यह भी कहा है कि अब इन इंद्रियों को भगवद्विषयक जैसा स्वाद देने वाली कोई विषय वस्तु नहीं रह गयी है।[10] एक स्थान पर इसके विपरीत भी बात कही है। हाथ पाप करने

[1] तै० भा०, ७/१६६ तथा १० पू०/४०८ भी द्रष्टव्य है।
[2] वही, ७/१७०, हरि-भक्ति में काम न आने वाला शरीर वायु से पूर्ण चमड़ का पुतला, मुख तबला, हस्त लकड़े, आँखें दीवार में स्थित खिड़कियाँ मात्र हैं।
[3] तै० भा०, १० पू०/८७
[4] "वैराग्यवचनमालिकागीतालु", पद ४
[5] तै० भा०, १० पू०/४०८
[6] वही, ६/८३
[7] वही, २/५०
[8] आ० सं० की०, ६/११५
[9] सू० सा०, १६८
[10] आ० सं० की, वा० १०/पद २५०

की ओर प्रेरित होते हैं, पुष्प की ओर नहीं। ये पैर दिन भर चलते हैं, पर देवमंदिर की दिशा में नहीं। आँखें सब कुछ देखती हैं, पर नासाग्र पर एकाग्र नहीं होतीं। ओष्ठ सुन्दरियों के अधरामृत के पान के लिये लालायित रहते हैं, पर मंत्र-जप नहीं करते। ये कान भी शास्त्रों के अतिरिक्त सब कुछ सुनते हैं।[१] अन्नमाचारी के ये कथन अपने मन की मूर्खता को व्यक्त करते हैं कि माया के वश में होकर मन सांसारिक सुखों की ओर आकर्षित होता है। तुलसी ने भी अपने मन की "मूढ़ता" को इसी प्रकार कहा है।[२] पर वहाँ इंद्रियों का नहीं, केवल मन का कार्यकलाप अंकित है। अन्नमाचारी ने निषेधात्मक शैली में भी भगवान के विषयों में रुचि न लेने वाले इंद्रियों को निरर्थक कहा है।[३] अन्त में वे अपने समस्त मन और इंद्रियों को भगवान की ओर उन्मुख होने के लिये सावधान करते हैं।[४] तुलसी भी इसी प्रकार अपने मन का प्रबोधन करते हुये केवल भगवान की ओर अपनी वृत्ति ले जाने का संकल्प करते हैं।[५] सूर भगवान से ही प्रार्थना करते हैं :—

ऐसी कब करिहौ गोपाल।
मनसा-नाथ, मनोरथ-दाता, है प्रभु दीनदयाल।
चरननि चित्त, निरंतर अनुरत, रसना चरित-रसाल।
लोचन-सजल, प्रेमपुलकित तन, गर अंचल, कर माल।
इहिं विधि लखत, झकाइ रहै जम अपनैं हीं भय भाल।
सूर सुजस-रागी न डरत मन, सुनि जातना कराल॥[६]

इस प्रकार अपने इंद्रियों की विपरीत दशा के प्रति एक आक्रोश, उनकी अनुकूल दशा की साधना और साधना में सफल होने पर सब कुछ भगवानमय दिखलाई देने की स्थिति हिन्दी और तेलुगु कवियों में समान रूप से मिलते हैं। आळ्वार भक्तों ने भी इस प्रकार की बातें कही हैं। उदाहरण के लिये कुलशेखर की वाणी को लिया जा सकता है :—पाणिद्वन्द्व समर्चयाच्चुत कथा—श्रोत्रद्वयत्वंश्रुणु, कृष्णं लोक्यलोचन द्वय हरेर्गच्छांघ्रि, युग्मालयं जिघ्र घ्राण मुकुंद पाद तुलसीं मूर्धन्न मायोक्षजम्॥[७]

---

[१] आ० सं० की० वा०, ६/पद २३०

[२] ऐसी मूढ़ता या मन की।
परिहरि रामभगति-सुरसरिता आस करत ओस कन की।
—विनय-पत्रिका, पद ९०

[३] आ० सं० की० वा०, २/पद ५१

[४] वही, १०/पद १४

[५] विनय-पत्रिका, पद १०४

[६] सू० सा०, १/१८९

[७] मुकुंदमाला श्लोक—१६

पुराण साहित्य में भी इस प्रकार के उल्लेख दुर्लभ नहीं हैं। संभवतः उन्हीं में इस प्रकार के बीज निहित होंगे।

उद्धार की प्रार्थना

भक्त जब अपनी हीनता स्वीकार ही नहीं, उसका कथन भी करता है, तो एक निराशा की रेखा उसे अपने आस-पास दिखाई देती है। अपने पाप-कर्मों की अधिकता को देखकर उसे यह विश्वास भी हो जाता है कि अपने सुकर्मों के बल पर वह अपना उद्धार नहीं कर सकता। इस निराशा के अंधकार में उसे केवल एक ही ज्योति-किरण प्रोद्भासित होती है और वह है भगवान की कृपा और भक्तवत्सलता। भगवान का स्वभाव है कि वह दीन और पतित से प्रेम करते हैं। तुलसी ने कहा है कि रघुवीर नीच से भी प्रेम करते हैं और अधमों को भी हृदय से लगाते हैं।[१] दीन पर ममता करने वाला और पतित का उद्धार करने वाला राम के अतिरिक्त और कौन मिलेगा?[२] सूर ने भी भगवान को संकटापन्न का साथी बताया है।[३] सूर ने यह भी कहा है कि भगवान अन्तर्यामी है और अनाथ को सनाथ करने वाले हैं।[४] इसके साथ ही भगवान की अनन्त शक्ति भी स्पष्ट है। उसकी कृपा से पंगु भी पर्वत को लाँघ सकता है और अंधा भी सब कुछ देख सकता है।[५] तुलसी ने यही बात कही है।[६] इस शक्ति और भगवान के गुणों को देखकर अपने अक्षम्य पापों से निराश भक्त आशामय हो उठता है। और उसका यह साहस भी होता है कि वह भगवान से उद्धार की प्रार्थना करे।

तेलुगु कवियों ने भी भगवान के गुण और शक्ति को देखकर अपने भ्रमित निराश मन को आशा बंधायी है। ताळ्ळपाक पेदतिरुमलाचारी ने उनके रक्षकगुणों का गायन किया है।[७] जिस प्रकार हिन्दी के कवियों ने अनेक पापियों के उदाहरण दिये हैं जिनको भगवान ने अपनाया है,[८] उसी प्रकार तेलुगु कवियों ने भी उदाहरणों के द्वारा मन-प्रबोध किया। विभीषण, घंटकर्ण, ध्रुव, शबरी, अहल्या आदि के उदाहरण अन्नमाचारी ने दिये हैं।[९] उदाहरण दोनों ही क्षेत्र के कवियों ने पुराणों के

१ विनय-पत्रिका, पद २१५
२ वही, पद २१७
३ तुम हरि, सांकरे के साथी —सू० सा०, १/११२
४ ऐसे प्रभु अनाथ के स्वामी।
दीनदयालु, प्रेम-परिपूरन, सब-घट-अन्तरजामी॥ —सू० सा०, १/१६०
५ सू० सा०, १/१६०
६ रामचरितमानस बालकांड, मंगलाचरण।
७ वैराग्यवचनमालिकागीतालु, पद ८
८ सू० सा० १/१८८, १/१९२, १९३ और "विनय-पत्रिका", पद ९९, १००, १०१ आदि।
९ आ० सं० की०, वा० २/पद २५

स्रोतों से ही लिये हैं। अन्नमाचारी ने भगवान की महानता आदि गुणों का गायन करके[1] हिन्दी भक्त-कवियों के स्वर के साथ ही अपना स्वर मिलाया। तुलसी[2] की ही भाँति अन्नमाचारी[3] में दूसरों के द्वारा भगवान को सिफारिश भेजने की प्रवृत्ति परलक्षित होती है।

इतना ही नहीं भगवान की अहैतुक कृपा पर भी भक्त का विश्वास है। उसे लगता है कि भगवान ने बिना किसी पुण्य-कार्य के भी अधमों का उद्धार किया है। व्याध, पिंगला, अजामिल और गजराज ऐसे ही उदाहरण हैं।[4] सूर भी भगवान को समदर्शी, पापियों पर भी दया दिखाने वाले मानते हैं।[5] तेलुगु के कवियों ने ऊपर के सभी उदाहरणों में भगवान की अकारण कृपा ही मानी। इन पापियों से भगवान का कोई संबन्ध नहीं था, फिर भी उनका उद्धार भगवान ने किया। अन्नमाचारी ने स्पष्ट भगवान को अहैतुक दयानिधि कहा है।[6] पोतना के अनुसार बड़ा पापी भी यदि भगवान का स्मरण करता है तो हरि प्रसन्न होकर उनका उद्धार करते हैं।[7] अन्नमाचारी भी कहते हैं कि दोष भगवान का नहीं है। दोष उनका है जो उन पर विश्वास नहीं करते। शरण में जाने मात्र से जीव के समस्त भार को भगवान ही वहन करने लगता है।[8] ताळ्ळपाक पेदतिरुमलाचारी ने भी कहा है कि मैं प्रारब्धवश पृथ्वी पर उत्पन्न एक पापी हूँ। मैंने तो अब तक तुम से पराङ्मुख ही रहा। किन्तु तुमने मुझ पर अहैतुक कृपा प्रदर्शित की और मुझे अपना दास बना लिया। मेरे जैसे प्यासे मनुष्य को तुम जैसे भगीरथी का पावन जल प्राप्त हुआ।[9] पोतना के

[1] आ० सं० की०, वा० २/पद ८

[2] ये उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

गाइये गनपति जगबंदन······

तुलसी रामभगति वर माँगे; देहु कामरिपु रामचरन-रति तुलसिदास कहँ कृपा निधान

—"विनय-पत्रिका", तुलसी ग्रन्थावली, दूसरा खंड, पृ० १८१ पर उदधृत

[3] एक उदाहरण द्रष्टव्य है—"हे शेषनाग। तुम अपने हजारों मुहों से मेरी प्रार्थनायें विष्णु को क्यों नहीं सुनाते? हे लक्ष्मी माता मेरी विनती का निवेदन तुम भगवान श्रीबालाजी से क्यों नहीं करतीं?"

—अन्नमाचारी चरित्रमु, पीठिका, पृ० ३८ पर उद्धृत

[4] "विनय-पत्रिका", पद १०६

[5] इक लोहा पूजा मैं राखत, इक घर बधिक परो।—सू०सा० १/२२०

[6] आ० सं० की०, वा० ६/पद १०६

[7] ते० भा०, १० उ० /६७१

[8] आ० सं० की०, वा० ५/पद ३१२

[9] "वैराग्यवचनमालिकागीतालु", पद २१

"भागवत" में गजेंद्र के उद्धार के उपरान्त विष्णु अपनी प्रेमिका लक्ष्मी देवी से कहते हैं कि सखी ! गजेन्द्र के आर्तनाद से उद्वेलित होकर जब मैं तेरे आँचल को खींचते हुये ही आ रहा था और मुझे इस बात का तनिक भी स्मरण नहीं था, तब क्या तुमने मुझे अशिष्ट तो नहीं समझा ? समस्त चराचर चाहे मेरा विस्मरण कर भी दे, किन्तु मैं सतत उनके प्रति कृपा ही रखता हूँ। जब कोई अनन्य भाव से मेरी प्रार्थना करता है तो उनके रक्षार्थ मैं अपनी सुध-बुध भी भूल जाता हूँ।[१] इस प्रसंग द्वारा पोतना ने भगवान के अहैतुकी दयानिधित्व का चित्रण किया है। उन्होंने एक अन्य प्रसंग में विष्णु से यह बात कहलवायी है कि मैं उसी प्रकार भक्तों का पीछा करता हूँ जिस प्रकार साँड गाय का पीछा करता है।[२]

इस प्रकार अपने अधीर और निराश मन को भगवान के विरुद और उसके उदाहरणों के द्वारा दोनों ही क्षेत्र के कवि धैर्य देते हैं। अनेक पापियों के उदाहरणों को सामने रखकर वे भगवान से कहते हैं कि इतने दुर्गुणों के होते हुये भी तुम्हें हमारा उद्धार करना पड़ेगा। क्योंकि तुमको अपने विरुद की रक्षा करनी ही होगी। मेरे कर्मों की ओर न देखकर अपने विरुद की ओर देखिये। यह बात सूर ने कही है।[३] तुलसी भी कहते हैं कि मेरे आचरण अत्यन्त हीन हैं। फिर भी भगवान की कृपा से मैं भवसागर को अजाखुर की भाँति पार कर सकता हूँ।[४] सूर को भी पहले निराशा होती है और कहते हैं :—"कौन गति करि मेरी नाथ"।[५] दूसरे ही श्वास में उनको भगवान का विरुद सुन कर कुछ धैर्य मिलता है :—"सूर पतित जब सुनियौ विरद यह तब धीरज मन आयौ।"[६] हाँ, यदि भगवान अपने विरुद को भूल जाये तो सूर का ठिकाना नहीं है :—

जौ पै तुम्हीं बिरद बिसारौ।
तौ कहौ कहाँ जाइ करुनामय, कृपिन करम कौ मारौ।[७]

तेलुगु कवियों का स्वर इससे भिन्न नहीं है। अन्नमाचारी विश्वास करते हैं कि मेरे समस्त अपराध भगवान को नमस्कार करने से क्षम्य हो जायेंगे। उनके वश में

[१] ते० भा०, ८/१२६, १३०

[२] भक्तुडेंदु जनिन बर्रतेंतु वेनुवेंट, गोवुवेंट दगुलु कोडे मंगि।
—ते० भा०, ६/११६

[३] सू० सा०, १/१०८

[४] जो आचरन बिचारहु मेरो कलप कोटि लगि अवटि मरौं।
—विनय-पत्रिका, पद १४१

[५] सू० सा०, १/१२५

[६] वही,

[७] वही, १/१५७

हो जाने से भगवान की कृपा मुझे प्राप्त होगी।[१] अन्यत्र भी वे अपने समस्त पापों का वर्णन करके भगवान से कृपा की याचना करते हैं और कहते हैं कि अनाथ समझकर भगवान ने मुझको शरण दी।[२] एक और स्थान पर उन्होंने कहा है कि हे भगवान ! तुम मेरा कैसे उद्धार करोगे ? मैं अहंकार के वशीभूत हूँ। ज्ञान की बातें तो मैं कहता हूँ, पर उनके अनुसार आचरण नहीं करता। पुण्यकर्मों के संबन्ध में मैंने सुन रखा है, पर करता कभी नहीं। इन कर्मों को देखते हुये मेरा उद्धार असंभव है। पर मैं तेरा सेवक हूँ। यह भावना ही मेरा उद्धार करे तो कर सकती है।[३] अंत में वे भगवान से प्रार्थना करते हैं कि मैं तुम्हारे द्वारा बनाया हुआ माया-ग्रस्त मनुष्य ही हूँ। अतः मेरे अज्ञान को देखे बिना ही मेरा उद्धार करो।[४] पोतना ने भी यह विश्वास प्रकट किया है कि संसार के ताप से उद्धार करने वाला भगवान के अतिरिक्त कोई नहीं है।[५] इस प्रकार की भावनायें गजेन्द्रमोक्ष के प्रसंग में उन्होंने व्यक्त की हैं। इस प्रसंग से यह भी व्यंजित होता है कि बिना पूर्ण आत्म-समर्पण के भगवान की कृपा प्राप्त नहीं होती। "गीता" के "संशयात्मा विनश्यति" के अनुसार भक्त को भगवान के संबन्ध में संशय नहीं करना चाहिये और उन्हें "रक्षिष्यतीति विश्वासः" की बहुत ही आवश्यकता है। किन्तु पोतना के गजेन्द्र को भगवान के संबंध में पहले संशय भी होता है :—कहा जाता है कि हरि दीन व्यक्तियों, योगीगण आदि के साथ रहता है। यह भी कहा जाता है कि वह सर्वव्यापी है। किन्तु मेरी दीन स्थिति में उनका न आना देखकर मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान के अस्तित्व की जो बातें कही जाती हैं, वे सब पूर्णतः असत्यपूर्ण हैं।[६] कहा जाता है कि भगवान भक्त-जीवों के विनयों को सुनते हैं, शरणार्थियों के रक्षार्थ दुर्गम स्थानों पर भी जाते हैं। किन्तु भगवान के दयानिधित्व पर आज मुझे संदेह हो रहा है।[७] इस प्रकार संशय के कारण उनकी शरणागति अपरिपक्व थी। इसीलिये विष्णु से उन्हें रक्षा प्राप्त नहीं हुई। किन्तु धीरे-धीरे उनका यह दोष दूर होता गया और उनके आत्म-समर्पण में पूर्णता आने लगी। गजेन्द्र अब अपनी शक्ति पर विश्वास करना छोड़कर केवल भगवान के रक्षकत्व पर ही भरोसा रखने लगे। उनमें शरणागति की चरम परिणति इन भावों के साथ आती है :—मेरे शरीर में न बल है, न धैर्य ही। मेरे प्राण भी शरीर से पृथक् होने जा रहे हैं। मैं मूर्च्छित हो रहा हूँ।

[१] आ० सं० की०, वा० २/पद ८
[२] वही, वा० २/पद ६
[३] वही, वा० २/पद २३१
[४] वही, वा० ८/पद १६६
[५] ते० भा०, ७/३५६
[६] वही, ८/८६
[७] वही, ८/६१

मैं बहुत ही थकित और दुःखित हूँ। तेरे अतिरिक्त मुझे अन्य का भरोसा नहीं है। मेरे समस्त अपराधों की क्षमा करके, हे हरि ! कृपया तुम आकर इस आपदा से मेरी रक्षा करो।[१] शरणार्थियों का कल्पवृक्ष ! मेरी दीन स्थिति पर कृपा दिखाइये और मेरी रक्षा कीजिये।[२] इस विमल और पूर्ण शरणागति से ही वैकुंठस्थ विष्णु अभिभूत हो जाते हैं और तुरन्त आकर उनकी रक्षा करते हैं। यही शरणागति का रहस्य है। इस प्रकार अनन्य प्रेम-भाव से भगवान को अपने समस्त का समर्पित करना ही पोतना के अनुसार आदर्श भक्ति है। अन्नमाचारी भी भगवान के प्रति इसी प्रकार की शरणागति का भाव रखते हैं :—मैं संसाराब्धि में डूबा जा रहा हूँ। अन्य सब मेरी इस स्थिति को देखने वाले मात्र हैं, रक्षा करने वाला कोई नहीं है। मैं तुम्हारा शरणागत हूँ, हे प्रभु ! रक्षा करो। मीराबाई भी भगवान के प्रति इसी प्रकार का अनन्य आत्मसमर्पण रखती है :—

यौ संसार विकार-सागर बीच में घेरी।
नाव फाटी प्रभुपालि बाँधो बूड़त है बेरी ॥[३]

पोतना का प्रह्लाद आहार लेना, हंसी-विनोद, निद्रा, भ्रमण, भाषण आदि समस्त कर्मों के करते रहने पर भी उनका मन भगवान में ही समर्पित रहता है। वह सतत निर्लिप्त और निरासक्त भाव से जीवन व्यतीत करता है।[४] भगवान से बिछुड़े रहने की बात सोचकर कभी कभी वह रोने लगता है, अनन्यभक्ति से वह कभी गाने लगता है, समस्त विश्व में विष्णु की व्यापकता का अनुभव करके वह कभी-कभी हंसने लगता है, कभी प्रेमोन्माद से आनंदाश्रु को बहाते हुए वह पुलकित हो जाता है।[५]

इस प्रकार भक्त अपार भवसार में डुबकियाँ लगाता हुआ भगवान की कृपा की डोर को पकड़कर उनकी शरण रूपी किनारे पर आना चाहता है। इस शरण में आने के लिये सब से बड़ी आवश्यकता अनन्यता की है।[६] अनाथ-असहाय अवस्था में भगवान की शरण में जाने से उद्धार होने का विश्वास प्रकट किया गया है।[७] इस

[१] ते० भा०, ८/९०
[२] वही, ८/९२
[३] "मीरा की प्रेम-साधना", माधव, पृ० २१७ पर उद्धृत।
[४] ते० भा०, ७/१२३
[५] वही, ७/१२४
[६] सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥—"श्रीमद्भगवद्गीता", १८/६६
[७] अनाथ मगतिं भीरुं दयया परया हरेः।
मामुद्धर दयासिंधो संसाराब्धेः सुदुस्तरात् ॥
× × ×
अपराध सहस्रभाजनं पतितं भीमभवार्णवोदरे।
अगतिं शरणागतं हरे कृपया केवलमात्मसात्कुरू ॥ —ब्रह्मतंत्रांतर्गत जितन्ते सूत्रम्

अवस्था में अपराध-भाजन होने पर भी भगवान की कृपा प्राप्त हो सकती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि सभी भक्त आचार्यों में यही सिद्धान्त व्याप्त है।

शरण में आने के पूर्व भक्त को यह संकल्प करना होता है कि अब उसका जीवन भगवान के संकेत पर ही चलेगा। इस प्रकार भगवान की इच्छा और भक्त के जीवनक्रम में समरसता स्थापित हो जाती है। हिन्दी और तेलुगु भक्त-कवियों ने अनेक स्थानों पर इसी प्रकार के जीवन का संकल्प किया है। अन्नमाचारी समस्त जगत के कर्मों को ईश्वरेच्छा से ही मानते हैं।[1] साथ ही वे अपने को पूर्ण रूप से समर्पित करते हुये कहते हैं कि पशुओं को रस्सी से बाँधकर उनसे मनमाने कार्य कराये जा सकते हैं। उसी प्रकार हे भगवान! मुझसे तुम अपनी सेवा करा लो। मुझे और कुछ ज्ञान नहीं है, बस तेरी आज्ञा का पालन करना जानता हूँ।[2] जहाज से बँधी हुई लकड़ी इधर उधर लड़खड़ाने पर भी वह कभी जहाज का साथ नहीं छोड़ती। उसी प्रकार मैं भी केवल तुम्हारी ही आज्ञा को शिरोधार्य करनेवाला हूँ।[3] जिस प्रकार एक मेंढक जल में ही सुखपूर्वक रहता है, उसे पलंग पर कोई सुख नहीं मिलता, उसी प्रकार मैं माया में लिप्त रहूँगा ही। हमको सत्पथ पर आप ही लाइये।[4] एक स्थान पर समर्पणोपरान्त उनकी शरण में जाने की बात भी अन्नमाचारी ने कही है।[5] हिन्दी कवियों में भी भगवान का पूर्ण-कर्तृत्व और अनन्य शरणागति की भावना मिलती है। सूर ने अपने एक प्रसिद्ध पद में भगवान के कर्तृत्व में विश्वास प्रकट किया।[6] तुलसी ने भी हानि-लाभ, जीवन-मरण को भगवान के आधीन माना।[7] सूर भी अन्नमाचारी की तरह भगवान की इच्छाओं के अनुसार अपने जीवन-यापन का संकल्प करते हैं।[8] तुलसी इस संकल्प को एक दूसरी ही भाषा में प्रकट करते हैं।[9] वे अब अपने जीवन को भविष्य में पतनोन्मुख होने नहीं देंगे।

शरणागति का एक आवश्यक तत्व अनन्यता भी है। भक्त सब की ओर नहीं दौड़ता, केवल एक की शरण में रहना चाहता है। तुलसी ने इस भावना को

[1] आ० सं० की०, वा० ८/पद २०६
[2] वही, वा० २/पद ३६
[3] वही, वा० ८/पद ६७
[4] वही, वा० २/पद ४१
[5] वही, वा० २/पद ३२ ; तथा वा० ८/पद १६६
[6] सू० सा०, १/२६२
[7] हानि-लाभ, जीवन-मरन, जस-अपजस विधि हाथ—"रा० च० मा०", अयोध्याकांड
[8] सू० सा०, १/१६१
[9] "विनय-पत्रिका", पद १०५

अनेक पदों में व्यक्त किया है।[1] सूर ने भी अपने इष्ट की शरण में अनन्य भाव प्रदर्शित किया है।[2] सूर ने एक स्थान पर कहा है कि भगवान की शरण के अतिरिक्त कहीं भी सतोष नहीं मिलता। इधर-उधर भटककर यह मनरूपी पक्षी अंततः उसी की शरण में आ जाता है :—

मेरौ मन अनत कहाँ सच पावै।
जैसे उडि जहाज कौ पंछी पुनि जहाज पै आवै।[3]

अन्नमाचारी ने भी इसी भाव को प्रायः इसी शैली में व्यक्त किया है। वे कहते है कि श्रीबालाजी को छोड़कर अन्यों का भरोसा करनेवाला मन समुद्र में नाव को छोड़कर व्यर्थ ही चतुर्दिक भटकनेवाले पक्षी के समान ही है :—

इंटि वेलुपु वेंकटेशु गोलुत्रक परुलवेंट विरुगुट वोडविडिचि वदरिड्डुट ॥

वचन भंगिमा

दास्य की साधना में जब भक्त-कवि अपने को भगवान के निकटतर पाता है और उसमें भगवान का विश्वास एवं उसके साथ उसका संबन्ध दृढ़ हो जाता है तब वह भगवान से कुछ विनोद-भंगिमा के साथ व्यवहार करने लगता है। यह भंगिमा सिद्धान्त की नहीं, शैली की है। नीचे इन्हीं शैली भंगिमाओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है। अधिकांश भक्त-कवियों ने यह कहा है कि पतित और पतित-पावन में होड़ पड़ गयी है। सूर ने यही बात कही है :—

मोहिं प्रभु तुमसौं होड़ परी।
ना जानौ करिहौ अब कहा तुम नागर नवल हरी ॥[4]

सूर कहते हैं कि मैं पतितों में विख्यात हूँ और तुम पतित-पावन के रूप में प्रसिद्ध हो।[5] देखें विजय किसकी होती है। अब तक तुमने सामान्य पापियों का

[1] (क) जाऊँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे (विनय-पत्रिका, पद १०१)
(ख) कहाँ जाऊँ कासौ कहौं और ठौर मेरो (विनय-पत्रिका, पद १४६)
(ग) विश्वास एक राम नाम कौ (विनय-पत्रिका, पद १५५)
(घ) भरोसो जाहि दूसरो सौ करो।
मोको तो राम को नाम कल्पतरु कलि कल्यान फरौ।
—(विनय-पत्रिका, पद २२६)

[2] (क) तुम तजि और कौन पै जाऊँ—सू० सा०, १/१६४
(ख) अब धौं कहौ, कौन दर जाउँ ?
तुम जगपाल, चतुर चिन्तामनि, दीनबंधु सुनि नाउँ ॥—सू० सा०, १/१६५

[3] वही, १/१६८

[4] वही, १/१३०

[5] वही, १/१३१

उद्धार किया है और थोड़े से श्रम से ही पतित-पावन की पदवी प्राप्त कर ली है। अब मुझ जैसे पतित से पाला पड़ा है। अब देखना है कि तुम अपने विरुद की कैसे रक्षा करते हो।[1] अन्त में सूर लड़ने मरने को तैयार हो जाते हैं कि आज मैं आपको पतित-पावन के विरुद से वंचित कर दूँगा।[2] आगे सूर के अनुनय-विनय ललकार में बदल जाते हैं कि यदि तुममें शक्ति हो तो मेरा उद्धार करो।[3] तुलसी में इस प्रकार की वचन-भंगिमा प्रायः नहीं मिलती। वे इतना तो कहते ही हैं कि मैं पतित हूँ, तुम पतित-पावन हो, यह एक अच्छा संयोग बन गया।[4] अर्थात् दोनों ही अपने अपने क्षेत्र में अद्वितीय हैं, और इसलिये बात बन सकती है। पर सूर की भाँति निर्भय होकर भगवान के लिये ताल नहीं ठोंक देते।

तेलुगु कवियों में सूर की-सी भगिमा पर्याप्त मिलती है। अन्नमाचारी कहते हैं कि जो बड़े हैं, उनका उद्धार करने में कोई बड़ाई नहीं है मुझ जैसे अधम और महापापी का उद्धार करने में ही तेरा बड़प्पन है।[5] साथ ही वे यह भी कहते हैं कि यदि हम पतित नहीं होते तो तुम पतितपावन भी नहीं होते। यदि तुम्हारी सेवा करनेवाले भक्त न हों तो तुम्हारी महत्ता का कोई प्रयोजन नहीं होता। यदि तुम दरिद्रों को संपत्ति नहीं देते तो तुम्हें कौन लक्ष्मीपति कहता?[6] वे कहते हैं कि मैं कितना भी नीच क्यों न हूँ, पर मेरा उद्धार का भार तुम्हारे ऊपर ही है।[7] लगभग इसी प्रकार की उक्तियाँ सूर ने भी कही हैं।[8] अन्नमाचारी एक और उक्ति कहते हैं: अपने शारीरिक दुर्गुणों के लिये मैं नहीं, प्रकृति उत्तरदायी है। यदि मैं विवेक-शून्य हूँ तो इसमें विधाता का दोष है। यदि मेरी इंद्रियाँ स्खलित हो जाती हैं, तो इसके विषय में कामदेव से पूछिये। यदि मैं अन्य कपटाचार करता हूँ तो आपके द्वारा प्रेरित माया ही उत्तरदायी है।[9] ताळ्ळपाक पेदतिरुमलाचारी कहते हैं कि मेरे पाप-कर्म में प्रवृत्त होने का कारण यह है कि मैं भगवान के स्वभाव को जानता हूँ। वह भक्तों के बड़े से बड़े अपराधों को भी क्षमा कर देते हैं। इसलिये मैं बड़े से बड़े, सहस्रों अपराधों को करता रहा।[10] वेन्नेलकंटि जन्नय की यह

[1] तौ जानौं जौ मोहिं तारिहौ, सूर कूर कबि ठोट—सू० सा०, १/१३२
[2] सू० सा०, १/१३४
[3] सूर स्याम हौं पतित-सिरोमनि, तारि सकैं तौ तार ।। —सू० सा०, १/१८३
[4] "विनय-पत्रिका", पद १६०
[5] आ० सं० की०, वा० ५/ पद २७
[6] वही, वा० २/ पद ३८
[7] वही, वा० २/ पद २८२
[8] सू० सा०, १/२००
[9] आ० सं० की०, वा० ६/२८
[10] "वैराग्यवचनमालिकागीतालु", पद ३६

वचन-भंगिमा भी द्रष्टव्य है। वे कहते हैं कि "हे कृष्ण ! गजेन्द्र, द्रौपदी, काकासुर आदि की तुमने रक्षा की है और शरणार्थी विभीषण को तो तुमने राज्य-दान ही दे दिया। इस प्रकार की अनेक कथाओं से तुम्हारी संस्तुति गायी जाती है। किन्तु इन सब कथाओं के प्रति मुझे विश्वास तभी हो सकता है जब कि तुम अब मेरी विनती सुनकर मेरा उद्धार करोगे, अन्यथा नहीं"।[1] त्यागराजस्वामी तो भगवान से अपना उद्धार करने के लिये झगड़ा भी करने लगते हैं :—"हे राम ! तूने अपनी पत्नी की बातों को सुनकर भक्तों का संरक्षण करना विस्मृत कर दिया है।[2] इस संसार भर में मेरे समान निर्लज्ज होकर तेरे लिये कोई भी व्यक्ति भ्रमण नहीं करता।[3]

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से एक और बात स्पष्ट होती है कि राम और कृष्ण भक्ति-शाखाओं में दास्यभक्ति-धारा बहुत दूर तक एक साथ बहती है। आगे चलकर एक ऐसा भेद उपस्थित हो जाता है कि दोनों धारायें अलग-अलग हो जाती हैं। इस भेद की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि में भक्त का भगवान के प्रति एक रागात्मक घनिष्ठता का अनुभव और एक सात्विक गर्व से संयुक्त विश्वास है। इसके परिणाम-स्वरूप-कृष्णभक्त कवि एक आत्मीयतापूर्ण वचनभंगिमा को अपनाने लगता है। यह भंगिमा बुद्धिजन्य नहीं, अपितु पिता के प्रति पुत्र के वचनों की भंगिमा है। यह आगे चलकर प्रच्छन्न सख्य के भाव से संयुक्त हो जाता है और भंगिमा आकर्षक हो जाती है। हिन्दी के सूर आदि और तेलुगु के अन्नमाचारी, पेदतिरुमलाचारी और भक्ति शतककारों की पार्थिव साधना का यह अंग दास्य भाव का शृंगार बन जाता है। तुलसी और पोतना[4] जैसे रामभक्त कवियों की दास्य भावना और उनकी व्यंजना शैली इससे प्रायः मुक्त हैं। उनमें इन कवियों से विशेष एक और शैली है। इनसे अपनी दीनता प्रदर्शित करने की जो अतिशयोक्तिपूर्ण शैली प्रयुक्त हुई है, वह कृष्णभक्त-कवियों में कम है। दोनों ही क्षेत्रों के कवियों के साथ यह बात लगती है। रामभक्त-कवियों में इष्ट की ऐश्वर्य-भावना इतनी घनीभूत है कि इस प्रकार की भंगिमा उत्पन्न नहीं होती। दास्य की यही भंगिमा आगे चलकर कृष्णभक्त-कवियों को वात्सल्य और माधुर्य जैसे मानवीय भावों की दिव्य परिणति की ओर आकृष्ट

[1] "देवकीनंदनशतक", पद्य १००

[2] सतिमाटलनालकिंचि सद्भक्तकोटुल संरक्षिचलेदा।
—त्यागराज कीर्तनलु (व्याख्या सहित), पृ० ४६
लेखक कल्लूरि वीरभद्र शास्त्री, ई० १६४८

[3] सिग्गुमालिनावलेधरनेव्वरुतिरूगजालरय्य
—त्यागराज कीतनलु, पृ० ४६

[4] यद्यपि इन्होंने "भागवत" की मौलिक रूपान्तरण प्रस्तुत किया है, तथापि इनके इष्टदेव भगवान राम ही थे।

कराती है। दोनों ही क्षेत्रों के रामभक्त-कवियों में ये भाव या तो आये ही नहीं हैं, यदि आये हैं तो अपवाद के रूप में अथवा अनुवाद की विवशता से प्रेरित होकर आये हैं। इस प्रकार दास्य भक्ति-संबंधी सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रवृत्ति भी दोनों ही क्षेत्रों के कवियों में समान है।

जहाँ तक उदाहरणों का सम्बन्ध है, तेलुगु और हिन्दी, दोनों भक्त कवियों ने मुख्यतः अजामिल, गजेन्द्र, अंबरीष जैसे भक्तों की पुराणोक्त कथाओं से दास्य भाव को उदाहृत किया है, साथ ही इष्ट की चरित्रकथा में आये हुए विदुर, हनुमान, विभीषण, जटायु आदि प्रासंगिक कथाओं का समावेश मिलता है। इनके अतिरिक्त कुछ स्थानीय भक्तों का भी उल्लेख मिलता है। हिन्दी-क्षेत्र में पीपा, धना, सदन जैसे भक्तों का उल्लेख है जो तेलुगु-क्षेत्र के कवियों में नहीं है। तेलुगु-क्षेत्र में विष्णुचित्त, विप्रनारायण, मालदासरि, यामुनाचार्य आदि भक्तों के चरित्रों पर काव्य लिखे गये हैं।[१] इनका उल्लेख भी हिन्दी-क्षेत्र के कवियों ने नहीं किया। इस प्रकार जहाँ दास्य की मूलधारा समान है, वहाँ स्थानीय भेद के द्वारा दोनों क्षेत्र के कवियों ने सजीवता की सृष्टि की है।

दास्य से संबद्ध समान उदाहरणों में भी कुछ भेद दृष्टिगत होता है। तेलुगु कवियों ने प्रह्लाद, गजेन्द्र आदि भागवत-कथाओं को बहुत अधिक विस्तार दिया। एक प्रकार से भक्ति के मूल-सिद्धान्तों को इन्हीं कथाओं के माध्यम से निरूपित किया गया है। हिन्दी-क्षेत्र में मुख्यतः सूर ने भागवत-कथाओं का यत्किंचित विस्तार किया है। तुलसी ने रामकथा से संबद्ध नारद, जटायु, काकभुशुंड, शबरि जैसे कथानकों को लिया है। दोनों क्षेत्रों में कुछ कवियों ने इनका केवल नामोल्लेख किया है। उभय क्षेत्रों के कवियों में परिमाणगत भिन्नता है ही, दृष्टिकोण में भी कुछ अन्तर परिलक्षित होता है। हिन्दी-क्षेत्र के कवियों ने इन कथाओं के साथ केवल भक्ति के अभिप्रायों की योजना की। तेलुगु-कवियों ने इन अभिप्रायों को लिया अवश्य है, कुछ शृंगार का पुट देकर भी इसे सरस और सजीव बनाया है। उदाहरणार्थ पोतना का गजेन्द्र-मोक्ष प्रसंग लिया जा सकता है। इसमें लक्ष्मी और विष्णु के प्रेम-प्रसंग और आकस्मिक रूप से विष्णु के दौड़ पड़ने के प्रसंग को लेकर कुछ शृंगार-वर्णन जोड़ दिये गये हैं।[२] वामन को दान देते समय जब शुक्राचार्य परिस्थिति के रहस्य को समझाते हैं तब बलि ने बड़ी सुन्दर शृंगारोक्तियों में उत्तर

[१] इनके परिचय के लिये "काव्य-रूप" वाला अध्याय द्रष्टव्य है।

[२] ते० भा०, ८/९५, ९६, ९८, ९९, १०० से १०३ तक, १२८ से १३४ तक द्रष्टव्य हैं; विष्णु लक्ष्मी के आंचल को खींचते हुए आकाशमार्ग में जाते समय लक्ष्मीजी के रूप-सौन्दर्य का शृंगारपरक वर्णन (ते० भा०, ८/१०३); पोतना ने विष्णु को लक्ष्मी की प्रणय-परिचर्या करने वाला कहा है (ते० भा०, ८/१०५).

दिया।[1] इसी प्रकार सुदामा के चरण चाँपते हुए भगवान कृष्ण के हाथों का श्रृंगारपरक वर्णन भी किया गया है।[2] किन्तु इस प्रकार श्रृंगारमय शैली का उपयोग हिन्दी कवियों ने इन कथाओं के साथ नहीं किया था।

६.५. वात्सल्य रस : संयोग पक्ष

हिन्दी में राम और कृष्ण का वात्सल्य तो है ही, राधा के वात्सल्य पर भी कृष्णभक्त कवियों ने प्रकाश डाला है। इसके अतिरिक्त अष्टछाप के कवियों ने श्री विट्ठलनाथजी के जन्म आदि के सम्बन्ध में भी वर्णन किया है। सूर तो वात्सल्य क्षेत्र के श्रेष्ठ कवि हैं ही। तुलसी और अन्य कृष्ण भक्त कवियों ने भी राम या कृष्ण की बाल लीलाओं पर लिखा है। यह सब मिलाकर परिमाण में इतना साहित्य हो जाता है कि अन्य प्रादेशिक भाषाओं में वात्सल्य सम्बन्धी इतना साहित्य प्राप्त नहीं होता। बंगाली वैष्णव साहित्य जो माधुर्य भाव की दृष्टि से इतना समृद्ध है, वात्सल्य भाव का अधिक विस्तार नहीं कर सका।[3] गुजराती वैष्णव साहित्य में बंगला की अपेक्षा कुछ अधिक बाललीला सम्बन्धी साहित्य है। इसके दो कारण हैं। पहला कारण यह है कि गुजरात में माधुर्य भाव का इतना प्राधान्य नहीं रहा, जितना बंगाल में। दूसरा कारण यह हो सकता है कि गुजरात और काठियावाड का ब्रज से घनिष्ठ सांस्कृतिक संबंध रहा। एक और कारण यह भी हो सकता है कि बल्लभ संप्रदाय में वात्सल्य भाव सर्वाधिक मान्य था और गुजरात में वल्लभ संप्रदाय का सबसे अधिक प्रचार है। तेलुगु क्षेत्र के कवियों ने भी माधुर्य और शास्त्रीय श्रृंगार-निरूपण में विशेष रुचि ली। पोतना में यदि कृष्ण के यत्किंचित बालभाव का वर्णन है तो भागवत के रूपान्तर प्रस्तुत करने के आग्रह से परिमाण और बाल भाव के विस्तार की दृष्टि से तेलुगु कवियों की हिन्दी कवियों से कोई

[1] लक्ष्मी के जूड़े, तनु, हंसोत्तरीय, पादाब्जों, कपोलों, और स्तनों पर क्रमशः अभिमंडित होने वाला श्री विष्णु के कर कमळ का नीचे पसारा जाना और उसके ऊपर मेरे कर का रहना, इससे भी सौभाग्य की बात क्या हो सकती है? समस्त ऐश्वर्य, राजभोग, शरीर आदि तो क्षणिक हैं। कीर्ति ही अमर रहने वाली वस्तु है। —ते० भा०, ८/५९२

[2] रुक्मिणी के कुचों पर स्थित चंदन से आलिप्त कर कमलों ने सुदामा के पैरों का सप्रेम संवाहन किया। —ते० भा० १० उ०/१०१८

[3] "बंगला पद-साहित्य में कृष्ण-जन्म की लीला संबन्धी पद अल्प-संख्यक हैं। हिन्दी साहित्य में रामकृष्ण जन्म-लीला संबंधी पदों की अपेक्षाकृत बहुलता है।...हिन्दी वैष्णव-पदावली साहित्य में कृष्ण की बाल लीला से संबंधित पदों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है। गौडीय वैष्णव पदावली में बाल लीला का वर्णन करने वाले पद अपेक्षाकृत अल्प संख्यक हैं।"—डा० रत्नकुमारी, १६वीं शती के हिन्दी और बंगला के वैष्णव कवि, पृ० ३६२, ३६६

तुलना नहीं है। फिर भी प्राप्त सामग्री के आधार पर नीचे दोनों क्षेत्रों के बाल-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन किया जा रहा है।

राम की बाल क्रीड़ाओं का वर्णन तो तेलुगु में नहीं के बराबर है। मोल्ला ने कथा के आग्रह से राम के जन्मादि का संक्षिप्त उल्लेख किया है, पर बालराम के चरित्र का गायन करने में उसका मन नहीं रहा। पोतना ने भागवत के नवम स्कंध में रामकथा का प्रसंग तो भागवत से रूपांतरित किया है, पर उसमें राम-जन्म या बाल-राम के संबंध में उतनी भी पंक्तियाँ नहीं जितनी सूर सागर की रामकथा में मिलती हैं।[1] कृष्ण-जन्म और बालकृष्ण की लीलाओं का पोतना ने अधिक वर्णन किया है। क्योंकि भागवत में भी यह वर्णन अधिक ही है। अन्य कवियों ने कृष्ण की बाल लीलाओं पर इतना भी नहीं लिखा।[2] मूल भागवत, सूरसागर, श्रीमदांध्र-भागवत और "अष्टमहिषीकल्याण" की तुलनात्मक तालिका इस प्रकार है:—

[1] सू० सा०, ९/१६ से २० तक।

[2] अन्नमाचारी ने जहाँ तहाँ कुछ उल्लेख किए हैं पर उनसे कुछ तुलनात्मक निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते। अष्टमहिषी कल्याण में भी बाल लीला के कुछ प्रसंग विस्तार के साथ मिलते हैं, पर वात्सल्य भाव का परिपक्व रूप नहीं मिलता।

प्रसंग	श्रीमद्भागवत (दशम स्कंध)		सूरसागर		श्रीमदांध्रभागवत		अष्टमहिषीकल्याण	
	श्लोक	पंक्तियाँ	पद	पंक्तियाँ	छंद	पंक्तियाँ पद्य+गद्य	द्विपदायें	पंक्तियाँ
१. जन्म के पूर्व								
क. भगवान के द्वारा पृथ्वी को आश्वासन	१/१७-२६ =१०	२०	६२२=१	८	१० पू० १३-१८=६	१४+१ =१५	४८½	२३६-३३५ =६७
ख. वसुदेव देवकी का विवाह और कंस के द्वारा देवकी के पुत्रों की हत्या	१/२७-६६ =४३	८६	६२२=१	२४	१० पू० १८-५५ =३७	८०+१६ =६६	५३	३३६-४४१ =१०६
ग. भगवान का देवकी के गर्भ में प्रवेश एवं देवताओं द्वारा गर्भ-स्तुति	२/१-४२ =४२	८४	६२२=१	८	१० पू० ५६-१०४ =४६	१०८+२३ =१३१	०	०
घ. भगवान श्रीकृष्ण के जन्म के पूर्व वातावरण का वर्णन	३/१-८ =८	१५	६२६-६३० =२[1]	६	१० पू० १०५-१०७ =३	१०	२½	४४२-४४७ =५

[1] इन पदों में वातावरण संबंधी कुछ ही पंक्तियाँ हैं।

प्रसंग	श्रीमद्भागवत (दशम स्कंध)		सूरसागर		श्रीमदांध्रभागवत		अष्टमहिषीकल्याण	
	श्लोक	पंक्तियाँ	पद	पंक्तियाँ	छंद	पंक्तियाँ पद्य + गद्य	द्विपदायें	पंक्तियाँ
२. जन्म और गोकुल-गमन								
क. जन्म, देवकी की स्तुति आदि	३/८-४५ =३८	७५	६२२-६२८ =७[1]	६१	१०पू०/१०६-१३४=२६	६८+१२ =८०	६½	४४८-४४६ =१९
ख. कृष्ण नंद के घर में पहुँचे	३/४६-५३ =८	१६	६२२; ६२९-६३१=४	२८	१०पू०/१३६-१४७=१२	१४+१० =२४	१९	४६७-५०४ =३८
ग. गोकुल में भगवान का जन्मोत्सव	५/१-१८ =१८	३६	६२२; ६३१-६५५ =३६	३९४	१०पू०/१७८-१९७=२५	४६+८ =५४	२९½	५२६-५८४ =५९
घ. वसुदेव और नंद की भेंट	५/१९-३२; ६/१=१५	३०	०	०	१०पू०/१९३-२११=१५	२२+९ =३१	४½	५८५-५९४ =९
३. बाल्यकाल में असुर-वध और वात्सल्य[2]								
क. पूतना	६/२-४५ =४४	८८	६६६-६७४ =९	६८	१०पू०/२१२-२४४=३३	७६+३५ =१११	२९½	५९५-६५३ =५९

[1] सूर ने वसुदेव-देवकी की स्तुति, भगवान के प्रत्युत्तर का केवल एकाध पंक्तियों में उल्लेख मात्र किया है।

[2] सूर ने श्रीधर का अंगभंग (पद ६७५) और कागासुर-वध (पद ६७६, ३७७) की लीलायें भी दी हैं। इनका श्रीमद्भागवत और तेलुगु के भागवतों में अभाव है। इसलिये इन्हें तालिका में सम्मिलित नहीं किया गया है।

ख. शकटासुर	७/१-१७ =१७	३४	६७८-६९३ =१६	११५	१०पू०/ २४५-२६० =१६	२४ + १२ =३६	९	६५४-६७१ =१८
ग. तृणावर्त	७/१८-३७ =२०	४०	६९४-७०२ =९	७४	१०पू०/ २६१-२८० =२०	५४	७½	६७२-६८६ =१५
घ. कालिय का गर्वभंग	१५/४७-५२; १६/१-६७; १७/१-१९ =९२	१८४	१११८- १२०६ =८४	६३६	१०पू०/ ६३०-७११ =८२	२८३	४८½	१५९०- १६८६ =९७
४. अन्य प्रसंग								
क. नामकरण संस्कार	८/१-२० =२०	४०	७०३-७०५ =३	२८	१०पू०/ २८१-२८८ =८	१० + १३ =२३	६	६८७-६९८ =१२
ख. घुटुरुश्रों पर चलना	८/२१-२५ =५	१०	७१५-७२९ =१५	१२६	१०पू०/ २८९-३०० =१२	३४ + ३ =३७	१६½	७३२-७६४ =३३
ग. पावों पर चलना	८/२६-२८ =३	६	७३०-७८६ =५७	४४०	१०पू०/ ३०१-३०६ =६	१२ + ४ =१६	६	७६५-७७६ =१२
घ. बालछबि	०	०	७८९-७९७ =९	९१	०	०	१६½	६९९-७३१ =३३
ङ. यशोदा से गोपिकाश्रों का उपालंभ	८/२९-३१ =३	६	८८२-९५८ =७६	५७८	१०पू०/ ३०७-३३४ =२८	६३	४६½	७७७-८६९ =९३

प्रसंग	श्रीमद्भागवत (दशम स्कंध)		सूरसागर		श्रीमदांध्रभागवत		अष्टमहिषीकल्याण	
	श्लोक	पंक्तियाँ	पद	पंक्तियाँ	छंद	पंक्तियाँ पद्य + गद्य	द्विपदायें	पंक्तियाँ
च. मिट्टी खाना	८/३२-४५ =१४	२८	८७१-८७७ =६	५४	१०पू०/ ३३५-३४८ =१४	२६	६	८७०-८८७ =१८
छ. उलूख-वंधन[1]	६/१-२१ =२१	४२	९५९-९९९ =४१	३१२	१०पू०/ ३५४-३९१ =३८	८८	३१	८८८-९६५ =७८
ज. यमलार्जुन उद्धार	९/२२-२३; १०/१-४०; ११/१-९ =५४	१०८	१०००-१०१७ =१७	१६३	३९१-४२१ =३२	७९	२१	९६६-१००७ =४२
झ. फल बेचने वाली पर कृपा	११/१०-११ =२	४	०[2]	०	०	०	१६½	१००८-१०४० =३३
ट. गोचारण और बाल-विनोद	११/३७-४० =४	८	१०२९-१०४४ =१६	१०६	४२९-४३१ =३	१०	५½	११६९-११७९ =११

[1] सूर ने इस लीला की पुनरावृत्ति भी की है। (सू० सा०, पद १००९)

[2] सूर और पोतना दोनों ने इस प्रसंग को छोड़ दिया है। पर गोविन्ददास और परमानन्ददास जी ने इनके संबंध में उल्लेख किया है। (कीर्तनसंग्रह, गोविन्ददास, भाग ३, पृ० ८५)

उक्त तालिका के प्रसंगों का तुलनात्मक अध्ययन किया ही जायेगा। कुछ ऐसे प्रसंग भी सूर आदि में मिलते हैं जो तेलुगु साहित्य में उपलब्ध नहीं हैं।[1] साथ ही कुछ तेलुगु कवियों ने भी कुछ ऐसे प्रसंगों की उद्भावना की है जो हिन्दी कवियों में नहीं मिलते।[2] सूर आदि हिन्दी कवियों ने संस्कृति या लोकसंस्कृति की पृष्ठभूमि उपस्थित करने के लिये स्थानीय रंग से युक्त कनछेदन आदि प्रसंगों को बाल-लीला में सम्मिलित कर दिया है। यह स्थानीय लोक सांस्कृतिक वर्णन तेलुगु कवियों ने नहीं किया। तेलुगु कवियों ने कुछ पौराणिक प्रसंगों को जोड़कर पुराण-प्रियता को प्रकट किया है।

कृष्ण-जन्म का पूर्वप्रसंग—इसमें भगवान कृष्ण के अलौकिकत्व का ही वर्णन है। अधर्म से पीड़ित धरती को आश्वासन देना इस प्रसंग का आदिदैविक प्रसंग है और वसुदेव-देवकी का प्रसंग लौकिक। इनके निरूपण में दोनों क्षेत्रों के कवि प्रायः समान ही हैं। भगवान कृष्ण के जन्म के प्राकृतिक वातावरण का चित्रण तेलुगु और हिन्दी कवियों ने भिन्न रूप से किया। तेलुगु कवियों ने प्रकृति के मनोरम रूप का चित्रण किया है। पोतना के अनुसार जल स्वच्छंद रूप से तरंगित होने लगा। मेघ मंद गर्जन करने लगे। आकाश चंद्रमा और तारागणों से शोभित था। मलय-समीर प्रवाहित होने लगा। पुष्प विकसित होने लगे और पक्षी कलरव करने लगे।[3]

अष्टमहिषीकल्याणकार ने आधी रात का समय, श्रावण की अष्टमी और धीमी धीमी वर्षा का उल्लेख किया है।[4] हिन्दी कवियों ने भादों का महीना, अंधकारपूर्ण आधीरात, मेघ गर्जन, उमड़ती हुई जमुना और वर्षा-विद्युत का वर्णन करके को उद्धत और उग्र बनाया है।[5] इसके साथ ही दुर्जनों के लिये अपशकुन और सज्जनों के लिये शुभ लक्षण भी प्रकट होने लगे।[6] हिन्दी के कवियों ने

[1] श्रीधर अंगभंग, सू० सा०, पद ६७५; कागासुर बध, सू० सा०, ६७६-६७७; अन्नप्रासन, सू० सा०, ७०६-७११; वर्षगाँठ, सू० सा०, ७१२-७१४; कनछेदन, ७९८-८०५; चद्र प्रस्ताव, ८०६-८२८; कलेवा वर्णन, ८२९-८३०; क्रीडा, ८३१-८६५; पांडे आगमन, ८६६-८७०; शालिग्राम-प्रसंग ८७८-८८८; कृष्ण की दिनचर्या, और गोदोहन, १०२२-१०२७

[2] वासुदेव और नंद की भेंट, ते० भा०, १० पू० /१९७-२११ तथा अष्टमहिषी कल्याणमु, ५८५-५९४ (द्विपदाओं की पंक्तियाँ) नंद यशोदा के पूर्व जन्म का वृत्तांत—ते० भा०, १० पू०/३४९-३५३

[3] ते० भा०, १० पू० /१०५, १०६

[4] अष्टमहिषी कल्याणमु, पृ० १८

[5] सू० सा०, पद ६२९, ६३०

[6] (क) ते० भा०, १० पू०/१०५ (ख) अष्टमहिषी कल्याणमु, पृ० १८

प्राय: इस प्रसंग को छोड़ दिया है । जन्म के समय देवताओं की दुंदुभी, किन्नरी आदि का गायन दोनों क्षेत्रों के कवियों ने दिया है ।[1] जन्म चतुर्भुज रूप का हुआ और वसुदेव और देवकी ने नवजात शिशु की स्तुति की ।[2] तेलुगु कवियों ने इस स्तुति को बहुत अधिक विस्तार दिया है । तुलसी ने भी नवजात राम के, कौसल्या के द्वारा, एक स्तोत्र को स्तुति के रूप में दिया है ।[3] पोतना के कृष्ण की छाया शेष के फण से हो रही थी और उमड़ती हुई यमुना ने कृष्ण को ले जाते हुये वसुदेव को रास्ता दे दिया ।[4] सूर ने शेष का भी वर्णन किया है और आगे आगे चलते सिंह का भी । सूर के वसुदेव को यमुना भी रास्ता देती है, पर श्रीकृष्ण के चरण-स्पर्श के पश्चात् ही ।[5] योगमाया का प्रसंग दोनों क्षेत्रों में समान है ।[6]

उक्त अलौकिक वातावरण के चित्रण में स्रोत की एकता के कारण दोनों क्षेत्रों के कवियों में पूर्ण साम्य ही है । वात्सल्य के साथ इस प्रकार के अलौकिक चित्रण का महत्व है ।

आगे नंदोत्सव के वर्णन में दोनों क्षेत्रों के कवि लग जाते हैं । जन्मोत्सव के समय पोतना की दृष्टि उन गोपांगनाओं पर गयी जो अपनी अंगयष्टि, यौवन संभार, काम संकेतों और अनुपम सज्जा से सबको आकर्षित कर रही थीं और नंद-भवन की ओर कृष्ण-जन्म के संवाद को सुनकर चली जा रही थीं ।[7] सूर ने गोपांगनाओं की भीड़ का चित्रण तो किया है, उनके साथ शृंगार को भी देखा है, पर अधिक बल उत्सव के सांस्कृतिक पक्ष पर दिया है । उनके हाथ में दूध-दधि-अक्षत थे । वे मंगल कलशों को लिये जा रही थीं और उनमें अनुपम उल्लास था । इसी उल्लास के साथ वे मंगल गायन कर रही थीं ।[8] सूर ने गोपियों के ही नहीं, गोपों के उल्लास का भी चित्रण किया है । वे परस्पर एक दूसरे पर केशर-मिश्रित दूध-दही छिड़क रहे हैं ।[9] इस कृत्य का वर्णन "अष्टमहिषीकल्याण" में भी मिलता है ।[10]

[1] (क) सू० सा०, पर ६२४, (ख) तें० भा०, १० पू/१०७
[2] (क) सू० सा०, पद ६२२ (ख) ते० भा०, १० पू/११४ से ३०१ तक
(ग) अष्टमहिषी कल्याणमु, पृ० १८
[3] रा० च० मा०, बाल० १६१ दोहे से १६२ दोहे तक ।
[4] ते० भा०, १० पू०/१४२, १४३ ; अष्टमहिषी कल्याणमु, पृ० २०
[5] सू० सा०, पद ६२३
[6] (क) सू० सा०, पद ६२३ ; (ख) ते० भा०, १० पू/१४५ ; (ग) अष्टमहिषी कल्याणमु, पृ० २०—अष्टमहिषी कल्याणमु, पृ० २०
[7] सू० सा०, पद ६४०—६५०
[8] ते० भा०, १० पू/१८५—१८७
[9] सू० सा०, पद ६४६
[10] अष्टमहिषी कल्याणमु, पृ० २१

सूर ने अलौकिक उपकरणों का नियोजन भी उत्सव में किया है। अष्ट-सिद्धियाँ झाड़ू लगा रही हैं और नवनिधियाँ स्वस्ति कर रही हैं।[१] यह तत्व तेलुगु साहित्य में नहीं मिलता। एक ओर नार काढ़नेवाली अधिक पारिश्रमिक लेने के लिये झगड़ा कर रही थी।[२] नंदभवन बंदनवार, कलश आदि के साथ उल्लसित हो रहा था।[३] नंदजी ने याचकों को निहाल किया और ब्राह्मणों को दो लाख गाय दान में दीं।[४] पोतना के नंद और रोहिणी भी खुले हाथ भेंट देते हैं।[५] छटी, स्वस्तिक और समस्त लौकिक क्रियायें की गयीं[६] और इसी समय एक बढ़ई पालना बनाकर ले आता है।[७] इस प्रकार सूर ने समस्त वातावरण को सांस्कृतिक कृत्य और लोकाचार के वर्णन से सजीव बनाया है।

असुर निकंदन बालकृष्ण :—उक्त वर्णन से केवल आश्रय और वात्सल्यानुकूल वातावरण पर प्रकाश पड़ता है। अभी तक आलंबन प्रकट नहीं हुआ। यदि उसका प्रकट रूप दिखाया भी गया, नितांत अलौकिक रूप में। इस स्थिति में वात्सल्य केवल वाच्य और वरदानजन्य है। सूर और पोतना दोनों ने नंद और यशोदा को निःसंतान रूप में चित्रित करके पुत्र-प्रेम की सघनता और अतल गहराइयों की संभावना से वातावरण को मुदित कर दिया है।[८] वातावरण का दूसरा तत्व दूध और मक्खन है। समस्त व्रज जैसे दुग्धधाराओं और मक्खन की कोमलता से बना है। पर आश्रया यशोदा अभी तक आलंबन की ओर सजग-सचेष्ट नहीं दिखलाई गयी। आलंबन और आश्रय का अभी अन्नमयकोश ही जागृत है। इसके पश्चात् प्राणमयकोश की जागृति की स्थिति आती है जब यशोदा कृष्ण की स्नानादि चर्याओं और लोकानुष्ठान की प्रक्रियाओं में उलझती है। पोतना ने इसका वर्णन रुचि से किया है। पोतना ने झुलाने,[९] स्नान कराने,[१०] और सुलाने[११] का वर्णन किया है। अष्टमहिषीकल्याण में नवजात शिशु को स्नान कराने का वर्णन है।[१२] इस ग्रन्थ से अधिक बालस्नान का

[१] सू० सा०, पद ६५०
[२] वही, पद ६३२, ६३३
[३] वही, पद ६४२
[४] वही, पद ६५०
[५] ते० भा०, १० पू०/१६७
[६] सू० सा०, पद ६५८
[७] वही, पद ६५९
[८] इस पर पीछे आश्रय के विवेचन के साथ विचार किया जा चुका है।
[९] ते० भा०, १० पू०/१८९, १९०
[१०] वही, १० पू०/१९२
[११] वही, १० पू०/१९३
[१२] अष्टमहिषीकल्याण, पृ० २१

विस्तार दोनों क्षेत्रों के किसी ग्रंथ में नहीं मिलता। स्नान के समय इन्होंने तेल, और मुँह की दाल के आटे के उबटने, कुंकुम का लेप किया जाने का उल्लेख किया है।[1] पोतना ने हल्दी और तेल से स्नान कराने की बात कही है।[2] सूर ने उबटन और स्नान का उल्लेख मात्र दिया है, वर्णन नहीं।[3] पोतना ने यहाँ भी अपने स्वभाव के अनुसार प्रत्येक चर्या के साथ कृष्ण के ब्रह्मत्व से संबंधित टिप्पणियाँ जड़ दी हैं। उसको नहलाया जा रहा है जो समस्त सृष्टि को जलमग्न कर सकता है। उसी को सुलाया जा रहा है जो सबको सुलाकर भी स्वयं जाग्रत रहता है। जो समस्त कर्म-बंधन से मुक्त है उनके जातक आदि कर्म किये जा रहे हैं। इस प्रकार पोतना ने विलक्षण कल्पनायें की हैं।[4] सूर ने इन सभी कृत्यों का उल्लेख तो किया है।[5] पर अलौकिकता की दार्शनिक रेखाओं से वात्सल्य को सप्रयत्न बचाये रखा है। तथापि सूर ने अलौकिकता के कुछ संकेत अवश्य दिये हैं।[6] पोतना ने आलंबन कृष्ण की शिशु चेष्टाओं का इसी प्रकार का वर्णन किया है।[7] अब कृष्ण पालने में हैं। यशोदा झुला रही हैं और साथ ही लोरियाँ भी गा रही हैं।[8] झुलाते हुये और सुलाते हुये जिन लोरी गीतों की माता गायन करती है, उसी प्रकार के ध्वन्यात्मक लोरी गीतों की रचना अन्नमाचारी ने भी की है।[9] पर ये गीत श्री वेंकटेश्वर के संदर्भ में हैं।

इस प्रकार बाल-आलंबन की विविध चेष्टाओं के भावमय निरीक्षण, आस्वादन और उसकी चर्या में निमग्न आश्रय लोकोत्तर अनुभूतियों में डूब उतरा रहा है, उसी समय कृष्ण की अलौकिकता का विराट रूप प्रकट होने लगता है। कंस की भेजी हुई पूतना आई[10] और अपना विषमय आंचर कृष्ण को पिलाने लगी। इससे पूर्व सूर ने उसे बालघातिनी कहा है[11] और पोतना ने भी।[12] श्रीमद्भागवत

[1] अष्टमहिषी कल्याण, पृ०२१

[2] ते० भा०, १० पू०/१८६

[3] सू० सा०, पद ६६०

[4] ते० भा०, १० पू०/१८६-१९५

[5] सू० सा०, १० पू० ६५८, ६५६

[6] वही, पद ६६३

[7] ते० भा०, १० पू०/१९५

[8] सू० सा०, पद ६६१ तथा ते० भा० १० पू/१९०

[9] उदाहरण के लिये देखिये प्रस्तुत प्रबन्ध का पंचम अध्याय।

[10] (क) सू० सा०, पद ६६६ (ख) ते० भा०, १० पू/२१२ (ग) अष्टमहिषी कल्याण में इसका उल्लेख नहीं है।

[11] सू० सा०, पद ६६८

[12] ते० भा०, १० पू/२१२

उसे बालघातिनी के रूप में चित्रित किया गया है।[1] उस कामरूपिणी ने सुन्दर वेष बनाया[2] और यशोदा के घर आयी। पोतना ने इस मोहिनी-रूप पूतना का रूप-शृंगार-वर्णन बहुत विस्तार के साथ किया है।[3] अष्टमहिषीकल्याण में भी रूप-शृंगार-वर्णन की शैली इस प्रकार की है।[4] कृष्ण को उठाकर उन्होंने विविध प्रकार के कपटाचरणों के द्वारा अपना कपट-वात्सल्य प्रकट किया।[5] पोतना ने भी इन आचरणों का वर्णन किया है और सूर की अपेक्षा अधिक।[6] अष्टमहिषीकल्याण में पूतना के दूध पिलाने की मुद्रा का चित्र बड़ा स्वाभाविक है।[7] अंत में पूतना मर जाती है, तब व्रज के लोगों द्वारा कुछ वात्सल्य की अभिव्यक्ति होती है।

सूर ने यह दिखाया है कि समस्त व्रज के लोग दौड़े और सब ने कृष्ण के जीवन के प्रति शंका की। सब ने यह जानकर आनन्द मनाया कि हमारे कृष्ण का सारा संकट टल गया।[8] सब यह भी कहने लगे कि यशोदा के भाग्य से ही ये बच गये हैं।[9] इस प्रकार सूर ने सामान्य कथन किया है। पोतना की यशोदा भी उसे उठाकर गले से लगा लेती है, साथ ही भूत-निवारण के लिये गोमूत्र और गोबर से कृष्ण को लिप्त करती है।[10] अष्टमहिषीकल्याण में भी यह क्रिया गोपियाँ करती हैं।[11] इस टोने का वर्णन वेन्नेलकंटि सूरनार्य ने नारायण स्तोत्र के साथ किया है।[12] शरीरस्थ देवताओं से गोपियाँ कृष्ण की मंगल कामना करती हैं।[13] इस विस्तार को सूर ने छोड़ ही दिया है। जिस प्रकार आन्ध्र कवियों की गोपियाँ और यशोदा मंगल कामनायें करती हैं, उसी प्रकार सूर की यशोदा भी सभी देवताओं के

[1] श्रीमद्भागवत, १०/६/७

[2] अति मोहिनी रूप धरिलीनो। देखत सबहिन के मन भाई॥

—सू० सा०, पद ६६६

[3] ते० भा०, १० पू०/२१३ से २१६ तक

[4] अष्टमहिषीकल्याणमु, पृ० २४

[5] सू० सा०, पद ६६६

[6] ते० भा०, १० पू/२१६ से २२४ तक।

[7] अष्टमहिषीकल्याणमु, पृ० २४

[8] सू० सा० पद ६६६

[9] वही, पद ६२१

[10] ते० भा०, १० पू/२३५

[11] अष्टमहिषी कल्याणमु, पृ० २५

[12] आन्ध्र श्री विष्णु पुराण, ७/११३

[13] ते० भा० १० पू/२३६ (दीर्घवचन); तथा अष्टमहिषी कल्याण, पृ० २५

सामने विनत होकर एक ही वरदान माँगती है कि मेरे बच्चे को बड़ा कर दो।[1] पोतना ने पूतना के मोक्ष के संबन्ध में भी वर्णन किया है। पर हिन्दी कवियों ने नहीं।[2]

पोतना और वेन्नेलकंटि सूरनार्य ने शकटासुर-वध का कुछ विस्तार से उल्लेख किया है। बालकों ने शकट-भंजन की समस्त कथा का कथन व्रजवासियों के सामने प्रकट किया और वे आश्चर्य-चकित हो गये।[3] अष्टमहिषीकल्याण[4] और सूरसागर[5] में इस प्रसंग को अत्यंत संक्षिप्त कर दिया गया है। सूर केवल दो ही पंक्तियों में इसको समाप्त करते हैं। पोतना ने वात्सल्य से विह्वल माता के द्वारा कुछ बलि-विधान और ब्राह्मणों के द्वारा कुछ होमादि कराया।[6]

सूर ने इस प्रसंग के पश्चात् अपने मुख में पैर का अंगूठा लिये हुये तथा सोते हुये कृष्ण का तथा उसके अलौकिक प्रभाव का वर्णन किया है।[7] इसी समय नंद ने कृष्ण को उलटते हुये देखा, इससे हर्षोल्लास छा गया।[8] यशोदा फिर अंत में कृष्ण बड़े होने की कामना में झूल उठती है।[9]

आगे तृणावर्त का प्रसंग आता है। तृणावर्त वध का सबसे अधिक विस्तार पोतना ने किया। एक दिन यशोदा अपनी जंघा पर कृष्ण को सुला रही थी। अचानक कृष्ण का भार दुर्वह होगया और उसने उसे धरती पर सुला दिया। तृणावर्त उसे लेकर उड़ गया। यशोदा ने उन्हें वहाँ न पाकर रुदन किया। अन्य गोपियाँ भी एकत्र हो गयीं ; वे भी साश्रु थीं। पीछे श्रीकृष्ण राक्षस का वध करके आ गये। सभी ने रक्षा का कारण अपना पूर्वजन्म का पुण्य माना। जब कृष्ण यहाँ नहीं रहे थे तब सभी ने अपना प्रारब्ध-दोष भी बताया। अंत में सभी संतुष्ट हो गये।[10] इसमें कवि ने कृष्ण से वियुक्त हो जाने पर यशोदा के दुःख का मार्मिक वर्णन किया है।[11]

[1] पद पूजि हों बेगि यह बालक करि दे मोहि बड़ोई। —सू० सा० पद ६७४

[2] ते० भा०, १० पू०/२३९-२४३ ; तथा अष्टमहिषी कल्याण, पृ० २५

[3] वही, १० पू०/२५३ से २५७ तक तथा आंध्र श्रीविष्णुपुराणमु, ७/११८, ११९

[4] अष्टमहिषी कल्याणमु, पृ० २६

[5] सू० सा० पद ६८०

[6] ते० भा०, १० पू०/२६०

[7] सू० सा०, पद ६८१-६८३

[8] वहीं, पद ६८५

[9] वही, पद ६९६

[10] ते० भा०, १० पू०/२६२ से २७९ तक

[11] वही, १० पू०/२६७ से २६९ तक

अष्टमहिषीकल्याण में इस प्रसंग का मात्र विवरण है, वात्सल्य का संस्पर्श नहीं है।[1] सूर के वर्णन में कुछ अन्तर है। माता यशोदा विभिन्न प्रकार की मातृ-सुलभ आशा-अभिलाषाओं में तरंगित हो रही थीं। उसी समय आवर्त आया और सभी व्रजवासी चौंक पड़े। पोतना की यशोदा की भाँति सूर की यशोदा ने भी कृष्ण के दुर्वह भार को अनुभव किया और उन्हें धरती पर बिठा दिया।[2] अष्टमहिषी-कल्याणकार ने भी कृष्ण के भारी होने का उल्लेख किया है।[3] कृष्ण ने उसका वध किया और वध के पश्चात् कृष्ण उपवन में मिले। सबने उनको कंठ से लगा लिया। चूमती हुई उन्हें घर ले आयीं।[4] माता यशोदा से गोपियाँ कहती हैं कि "भली नहीं यह प्रकृति जसोदा, छाँडि अकेलो जाति। गृह कौ काज इनहूं तें प्यारौ, नैकहुं नाहिं डराति।।"[5] इस चेतावनी से यशोदा का हृदय न जाने कितना उद्वेलित हो उठा होगा। इसी समय कृष्ण के दो छोटे दाँत दिखलाई देने लगे, और यशोदा इस सुख में पूर्व की भयानक घटना भूल गई।[6]

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि राक्षस-वध की लीलाओं के साथ वात्सल्य का एक हल्का सा पुट लगा हुआ है। संकट में पड़े हुये अपने बालक के प्रति माता की जो भावना होती है, उनके स्फुट चित्र दोनों क्षेत्रों के कवियों ने दिये हैं। पर सूर की यशोदा और गोपियाँ अधिक भोली हैं क्योंकि वे प्रसंगों की अलौकिकता को भुला देती है।

कालिय दह में कृष्ण को डूबे हुये देख कर यशोदा आदि इतना विलाप करती हैं जैसे वात्सल्य सभी सीमाओं का उल्लंघन करके प्रवाहित हो रहा हो। नीचे इस प्रसंग से संबंधित तुलनात्मक तालिका प्रस्तुत की जा रही है :—

[1] अष्टमहिषी कल्याण, पृ० २७

[2] गरूभै महि में बैठाये, सह न सकी जननी अकुलानी। —सू० सा०, पद ६९६

[3] अष्टमहिषी कल्याण, पृ० २७

[4] सू० सा०, ६९६

[5] वही, पद ६९७

[6] वही पद ७००

विषय सूची	श्रीमदांध्रभागवत दशमस्कंध पूर्वार्द्ध के छंद	सूरसागर के पद
१. नंद-यशोदा को अपशकुन	६४६	११५८-५६
२. ग्वालबालों के द्वारा दह में कूदने की सूचना	०	११६१
३. चरणचिन्हों का अनुसरण करते हुये कृष्ण की खोज	६५१	०
४. नंद-यशोदा का मूर्च्छित होकर गिरना	७०८	११६२-६३
५. सभी का व्याकुल होकर यमुना पर जाना	६५१	११६२
६. तुम्हारे लिये मक्खन और दूध रक्खा हुआ है, आकर खाओ	०	११६४-६५
७. कृष्ण को विष चढ़ने की कल्पना	६५४	०
८. जब सर्प ने काटा हमारा स्मरण करके दुःखी हुये होंगे	६५५	०
९. सर्प ने हमें क्यों नहीं डस लिया ?	६५६	०
१०. तुम हमारी रक्षा कर सकते थे, पर हम असमर्थ	६५६	०
११. गोपी और सखाओं से क्यों नहीं मिलते ? विभिन्न चेष्टाओं से हमें प्रसन्न क्यों नहीं करते ?	६५८	०
१२. तुम्हारे बिना जीवन असंभव है	६५८	०
१३. प्रारब्ध की निंदा	६५१	०
१४. परस्पर-विलाप	६५६	०
१५. यदि तुम नहीं निकलोगे तो हम भी दह में कूदेंगे	६५६	०
१६. हमें बचाने क्यों नहीं आ जाते ?	६५८	११६७
१७. यमुना तुम क्यों बहती हो, कृष्ण के न रहने पर तुम्हारे पास कोई नहीं आयेगा	०	११७६
१८. कृष्ण के बिना ब्रज में निवास असंभव	०	११८०
१९. निकल आने पर यशोदा का कंठ से लगाना आदि	७११[1]	११९७

[1] गन्नीरोल्कग गौगिलिंचे दनयुन् गारामुतो दल्लिदान्

उक्त तालिका से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सूर और पोतना ने इस लीला में अन्य राक्षस-वध की लीलाओं की अपेक्षा वात्सल्य के अधिक तत्व संबद्ध किये हैं।

सूर के कालियदमन-प्रसंग में भगवान कृष्ण की करुणा, सख्य और वात्सल्य की त्रिवेणी है। पर पोतना ने भगवान की करुणा और वात्सल्य को ही इस प्रसंग में उभारा है। सख्य इस में नहीं है। श्रीमद्भागवत, श्रीमंदाध्रभागवत आदि में एक ही कारण कथा है जिसका संबंध कृष्ण की दया और करुणा से है। सूर ने इसको ग्रहण किया है ही, साथ ही सख्यभाव से युक्त एक कारण कथा की भी इन्होंने कल्पना की है। श्रीदामा आदि से कृष्ण गेंद खेलना, गेंद का दह में चली जाना, श्रीदामा का कृष्ण से गेंद लाने की जबरदस्ती करना, तब गेंद लाने के लिये दह में कूदना आदि इस कथा की संक्षिप्त रेखायें हैं।[1] इसकी पृष्ठभूमि में कंस के द्वारा कालियदह के कमलों को माँगने की भी एक कारण-कथा है।[2] इस लीला का उपसंहार वात्सल्य और विश्वास के मिश्रित रूप से हुआ। सूर ने कालिय की नागनियों द्वारा भी वात्सल्य की अभिव्यक्ति कराई है।[3]

पोतना ने यशोदा-गोपियों के द्वारा पूर्व-स्मृतियों का अधिक उल्लेख कराया है। हिन्दी के कवियों ने वर्तमान और भविष्य के संबंध में विशेष चिन्ता की। गोवर्धनलीला में तेलुगु कवियों ने वात्सल्य का कुछ भी उल्लेख नहीं किया। पर सूर ने यहाँ भी यशोदा के वात्सल्य को विस्मृत नहीं किया। जब कृष्ण ने गिरिगोवर्धन को उठा लिया तो माता-यशोदा ने इस लीला के अलौकिक पक्ष को भुला दिया और अनुमान किया कि कृष्ण की भुजा दुख रही होगी।[4] उक्त लीलाओं में आलंबन अलौकिक तत्वों से संयुक्त है और आश्रय की भावनाओं का चित्रण वात्सल्योचित है।

आश्रय की ओर से कुछ संस्कारों का उल्लेख भी दोनों क्षेत्रों के कवियों ने किया। पोतना और सूर ने नामकरण-संस्कार का समान वर्णन किया है।

दोनों ही स्थानों पर गर्ग ऋषि आते हैं। वे ज्योतिष के ज्ञाता हैं और कृष्ण के मर्म को भी जानते हैं। उन्होंने कृष्ण के अलौकिकत्व का व्याख्यान दिया

[1] सू० सा०, पद ११५३ से ११५७ तक द्रष्टव्य है।

[2] वही, पद ११४०, ११४१

[3] वही, पद ११६८

[4] वही, पद १४९३

और चुपचाप नामकरण कर दिया।[१] सूर ने अन्नप्राशन[२], और वर्षगाँठ[३] संस्कारों का भी उल्लेख किया है, पर तेलुगु कवियों ने नहीं।

घुटुरन चलने का उल्लेख दोनों क्षेत्र के कवियों ने किया है, पर तेलुगु कवियों ने कृष्ण के चलने का सामान्य उल्लेख करके उनकी अलौकिकता के तत्वों को समाविष्ट कर दिया है। पोतना ने पहले किसी के आंचल या बछड़े के पूंछों के सहारे चलना तथा दोनों हाथों और दोनों पैरों से चलने का चित्र दिया हैं।[४] आगे रंभादि के आकर्षित होने, कलभ सदृश चलने, और नागवत सिर उठाने, शत्रुओं के भयभीत होने का चित्रण करके कवि की कल्पना विश्राम ले लेती है।[५] इसके पश्चात् अन्य बाल चेष्टाओं को ब्रह्मत्व के साथ संगति बिठाये हुये उनको काव्य बद्ध किया है।[६] फिर कृष्ण के धूलधूसरित शरीर, मुक्ताहार, तिलक, नीलमणि का कंठहार, हारावलि को क्रमशः विभूति, मुंडमाल, त्रिनेत्र, नीलकंठ, सर्पहार शिवगत उपमानों से सिद्ध करते हुये उनको शिवरूप में पोतना ने दिखाया है।[७] इस प्रसंग में सूर और पोतना दोनों ने कृष्ण के रूप में शिव का दर्शन करा कर विष्णु और शिव के अद्वैत को सिद्ध किया है।[८]

सूर ने घुटुरुओं चलते हुये कृष्ण की सुंदर झाँकी दी है। पोतना के द्वारा वर्णित आभूषण, धूल, तिलक आदि का वर्णन तो सूर ने किया ही है।[९] पर चित्र को और अधिक विशद इन्होंने बनाया है। सब से पहले कृष्ण का नवनीत मंडित मुख-मंडल है जिसे देख कर सभी विस्मित हैं।[१०] कभी वे माता को देखते हैं, कभी पिता की ओर। जब पिता की ओर देखते हैं, तो वे अपनी ओर उन्हें बुलाते हैं और माता भी यही करती है। इस प्रकार पति-पत्नि में स्पर्धा हो रही है।[११] तोतली

[१] (क) ते० भा०, १० पू०/२८१-२८८; (ख) सू० सा०, पद ७०३-७०५; (ग) अष्ट-महिषी कल्याणमु, द्विपदा की पंक्तियाँ, ६८७ से ६९८ तक
[२] सू० सा०, पद ७०६ से ७११ तक
[३] वही, पद ७१२-७१४
[४] ते० भा०, १० पू०/२८९
[५] वही, १० पू०/२९२
[६] वही, १० पू०/२९२-२९६
[७] वही, १० पू०/२९७
[८] सू० सा०, पद ७८७-७८९ तथा ते० भा०, १० पू०/२९७
[९] वही, पद ७१५, ७१७
[१०] घुटुरुनि चलत रेनु तनुमंडित मुख दधि लेप किये, —सू० सा०, पद ७१७
[११] सू० सा०, पद ७२६

वाणी से वे कुछ बोलते भी हैं।[१] ये वर्णन पोतना ने भी किये हैं।[२] सूर के कृष्ण अपने प्रतिबिंब के साथ भी खेल करते हैं।[३] उनके अंग-प्रत्यंगों का वर्णन भी सूर ने किया है।[४] माता अपनी आँचल से धूलिधूसरित कृष्ण को पोंछती भी हैं।[५]

पोतना के कृष्ण की अलौकिकता कवि की कल्पना के सामने स्पष्ट है। पर सूर के कृष्ण की प्रभुता उनके बालचरित्र में चुभ गयी है।[६] इस प्रकार सूर ने आलंबन और आश्रय का युगपत चित्रण करके दृश्य को अधिक सजीव और चित्र को अधिक मुखर बना दिया है।

बालकृष्ण के जब पैर कुछ थमने लगे तो उनको यशोदा धीरे धीरे नचाने लगती हैं। यशोदा और रोहिणी दोनों भाइयों की क्रीड़ाओं को देख कर विविध प्रकार से कृष्ण के बाल-लीलामृत का पान करती हैं।[७] माता यशोदा को सूर ने गाय के समान बतलाया है। पर अभी कृष्ण अपने घर की देहरी को नहीं लाँघ पाते। तब सूर अलौकिकता की ओर संकेत करते हैं।[८] चलते समय उनकी पैंजनी भी बज उठती है।[९] पैंजनी के शब्द से प्रेरित होकर कृष्ण और भी चलते हैं।[१०] यशोदा ही नहीं, सारी व्रज युवतियाँ कृष्ण के प्रति शुभकामनायें करती हैं।[११] इस प्रकार धीरे धीरे कृष्ण खेलने कूदने लगते हैं।

बाल-छवि का स्वतंत्र वर्णन अष्टमहिषीकार और सूर ने किया है। पर इनमें से प्रथम ग्रन्थ में बाल कृष्ण के आभूषण और साज-सज्जा ही गिनाये गये हैं। स्वाभाविक रूप से लार गिरने का भी उल्लेख है। पर सारा वर्णन परिगणन शैली में है जो भाव या अनुभूति का उत्तेजक नहीं है।[१२] सूर ने बालकृष्ण की क्रीड़ाओं और बाल-छवि का बड़ा ही भावोत्तेजक वर्णन किया है। आँगन में खेलते हुये कृष्ण को देख कर यशोदा सब कुछ भूल जाती है।[१३] कभी वे यशोदा की मथनी

[१] सू० सा०, पद ७२८
[२] ते० भा०, १० पू०/२८६
[३] सू० सा०, पद ७१९-७२०
[४] वही, पद ७२२
[५] वही, पद ७३०
[६] अखिल ब्रह्मांड खंड की महिमा सिसुता माहि दुरावत—वही, पद ७२०
[७] सू० सा०, पद ७३४-७३६
[८] वही, पद ७८५
[९] वही, पद ७५०
[१०] वही, पद ७५१
[११] वही, पद ७५६
[१२] देखिये-अष्टमहिषी कल्याणमु, पृ० २८, २९
[१३] सू० सा०, पद ७५४

को पकड़ लेते हैं[१] तो कभी "मय्या-मय्या" और "बाबा-बाबा" कहने लगते हैं।[२] यशोदा उनको दूध पिलाती हैं और वे अपनी चोटी के बढ़ने की बात पूछते हैं।[3] इस प्रकार कृष्ण गाते-नाचते यशोदा के घर के समस्त वातावरण को मधुमय रखते हैं। कभी कभी यशोदा कृष्ण से कहती है कि अपने बाबा को नृत्य दिखाओ।[४] इस प्रकार सूर ने बाल-छबि और बाल-क्रीड़ा का ऐसा सजीव चित्रण किया है कि समस्त भारतीय साहित्य में सूर के कृष्ण अनुपम आलंबन बन जाते हैं।

माटी भक्षण लीला का वात्सल्य के विकास में विशेष महत्व है। इस लीला के साथ संबद्ध घटनाओं और भावनाओं की तुलनात्मक तालिका द्रष्टव्य है :—

माटी भक्षण लीला	ते० भा० दशम स्कंध पूर्वार्द्ध की छंद संख्या	सूरसागर पद संख्या	अष्ट-महिषी कल्याण पृष्ठ संख्या
१. गोपकुमारों द्वारा यशोदा को कृष्ण के मिट्टी खाने की सूचना	३३५	८७३	३४
२. यशोदा का स्वयं छिपकर मिट्टी खाना देखना	०	८७१	०
३. यशोदा कृष्ण को दंड देना चाहती है।	३३६	८७१	३४
४. क्या तुम मिट्टी खाते हो ?	३३६	८७३	३४
५. घर के पदार्थ छोड़कर मिट्टी क्यों खाते हो ?	३३६	८७७	०
६. कृष्ण कहता है कि मैंने मिट्टी नहीं खाई।	३३८	८७३	०
७. यदि विश्वास नहीं हो तो मेरा मुँह देख लो।	०	८७१, ८७३	३४
८. यदि विश्वास न हो तो मेरा मुँह सूंघ लो।	३३८	०	०

१ सू० सा०, पद ७६०, ७६२

२ वही, पद ७७३

३ वही, पद ७९३

४ बलि बलि जाऊं मधुर सुर गावहुं। अबकि बार मेरि कुमरि कन्हैया नंदहिं नाचे दिखावहुँ। सू० सा०, पद ७९६

माटी भक्षण लीला	ते०भा० दशम स्कंध पूर्वार्द्ध की छंद संख्या	सूरसागर पद संख्या	अष्ट महिषी-कल्याण पृष्ठ संख्या
९. ये ग्वाल-बालक सब झूठ बोलते हैं।	३३८	८७३	०
१०. कृष्ण के मुख में यशोदा का ब्रह्मांड दर्शन	३४०	८७१, ८७३	३४
११. यशोदा के हाथ से छड़ी गिर जाती है और उसका अकुलाना (मुख बन्द कर लो)	०	८७३	३४
१२. यशोदा का आश्चर्यचकित होना "क्या वैष्णव-माया है या सपना" आदि	३४२, ३४३	८७३	३४
१३. यशोदा के द्वारा नंद को सूचना	०	८७४	०
१४. यशोदा का कृष्ण की प्रार्थना करना	३४५, ३४६	०	०
१५. कृष्ण का मायाप्रसार जिससे माता इस प्रसंग को भूल जाय।	३४७	०	०
१६. यशोदा का यह सब भूलना	३४८	८७७	०
१७. कृष्ण को जंघा पर सुलाकर हर्षित होना	३४८	०	०
१८. यशोदा नंद को दूध दुहने के लिये भेजना।	०	८७७	०

इससे स्पष्ट है कि सभी प्रवृत्तियाँ दोनों क्षेत्रों में समान हैं। कहीं कहीं कुछ सामान्य अंतर हैं जिससे भाव शबलता पर कोई अंतर नहीं पड़ा है। वैसे इस कथानक में वात्सल्य से अधिक ऐश्वर्य का वर्णन है। अलौकिकता जैसे वात्सल्य को सुखा रही है।

माखनचोरी के प्रसंग में सूर और पोतना दोनों ने बालकृष्ण की नटखट चेष्टाओं का सुंदर वर्णन किया है। इसमें वात्सल्य के अधिक तत्व प्राप्त होते हैं। निम्नलिखित तालिका द्रष्टव्य है :—

बाल कृष्ण की नटखट-चेष्टायें	सूरसागर पद संख्या	श्रीमदाध्रभागवत (दशमस्कंध पूर्वार्द्ध के छंद)
१. बिना दुहे ही गायों के पास बछड़ों को छोड़ देना	९०७,९०९	३०७
२. सखाओं को सारा दूध पिलाना।	३९८	३०८
३. जब मक्खन नहीं मिलता तब बच्चों को छेड़कर, रुलाकर चले जाना।	०	३०९
४. माठ में नीचे से छेद कर देना।	०	३१०
५. मक्खन बहू के मुख पर छिड़काना और सबेरे बहू और सास में लड़ाई।	०	३११
६. घी खाकर घड़ों को दूसरों के घरों में रख देना और दोनों में लड़ाई।	०	३१२
७. एक बछड़े की पूंछ से ग्वालिन के आँचल को बाँधकर बछड़े को भगा देना।	०	३२२
८. जो पकड़ने आते हैं उनके सिर पर घड़े को उलटा रख देते हैं जिससे उनका दम घुटने लगता है।	०	३२३
९. बिच्छू को ग्वालिन के ऊपर डाल देना।	०	३२४
१०. नवदंपती के बीच साँप डाल दिया और वह सुन्दरी नग्न ही भाग पड़ी।	०	३२५
११. विभिन्न पशुपक्षियों की बोली बोलता है।	०	३२७
१२. ग्वाले के कंधे पर चढ़कर छींके से माट उतारना।	९०७	०
१३. उलुखल आदि पर चढ़कर मक्खन उतारने की चेष्टा।[१]	९७०	३१०
१४. खाली घड़ों को फोड़ देना।	९३५	३०८
१५. सोते हुये बच्चों के मुख पर मक्खन डालना।	९३५	०
१६. वेणी को पाटी से बाँधना।	९४०	०
१७. कृष्ण के विविध प्रकार के तर्क।[२]	८९७	०

[१] (क) मैं जान्यों यह घर अपनो है या धोखे में आयौ।
(ख) देखत हौं गोरस में चींटी काढ़न को कर नायौ।

[२] इस बात का उल्लेख अष्टमहिषीकल्याण पृ० ३१ में भी द्रष्टव्य है।

इस प्रकार वात्सल्य के आलंबन कृष्ण दोनों क्षेत्रों में पूर्ण आलंबन के रूप में प्रस्तुत हो जाते हैं। पोतना ने कृष्ण के नटखटपन का बड़ी रुचि से वर्णन किया है। अष्टमहिषीकल्याण आदि अन्य ग्रन्थों में इन बातों का उल्लेख नहीं है। इस प्रसंग में बालकृष्ण अपने चरम पर हैं। इसकी प्रतिक्रिया विविध होती है। प्रथम, ऊपर से उलाहना देनेवाली गोपी के मन में माधुर्य की जागृति होती है। दूसरे, वात्सल्य की आश्रया यशोदा का इष्ट रूप प्रकट होता है। यशोदा का रूप बड़ा चंचल हो जाता है। एक क्षण में उसे क्रोध आता है, दूसरे ही क्षण कृष्ण के तुतले वचनों से उसका रोष द्रवित होकर वात्सल्य में बदल जाता है। एक ओर वह उलाहना देनेवाली गोपी को डाँटती है[1] तो दूसरी ओर कृष्ण को उलूखल से बाँध देती है। उसके शरीर पर यदि वात्सल्यमय रोष के अनुभाव प्रकट हो रहे हैं तो उक्त प्रेम का अदम्य संघर्ष भी मचा हुआ है। इस प्रकार आश्रय भी बहुविध संघर्ष से उलझा हुआ है। इस संघर्ष पर माधुर्य के अंतर्गत विचार किया जा चुका है। वात्सल्य-संयोग का यहाँ चरम विन्दु आ जाता है। उलूखबंधन का पर्यवसान यमलार्जुन-उद्धार में होता है। उस समय यशोदा आदि सभी ब्रजांगनायें आश्चर्य में डूब जाती हैं और कृष्ण बालचेष्टाओं से[2] इन आश्चर्यचकित ब्रजवासियों को आश्चर्यसागर से निकालकर वात्सल्य के किनारे ले आते हैं। पोतना ने इसी प्रकार इस प्रसंग का उपसंहार किया हैं। अंत में माता यशोदा रोते हुये कृष्ण को भिक्षुक का भय दिखाकर चुप करना चाहती है।[3] पर सूर ने बड़ी मार्मिक शैली में इस प्रसंग का अंत किया है। वह पश्चात्ताप करती है कि मैंने उसे ऊखल में क्यों बाँधा? मैं कैसी माँ हूँ :—

> कंठ लगाई लिये मुख चूमति सुंदरस्याम बिहारी
> काहे कों ऊखल सों बाँध्यौ कैसी मैं महतारी ॥[4]

कृष्णभक्ति शाखा वात्सल्य की दृष्टि से बहुत समृद्ध है। इसका कारण एक तो यह है कि कृष्ण का बाल्यकाल अधिक प्राकृतिक और सामान्य परिस्थितियों में व्यतीत हुआ। मर्यादा या आदर्श की भूमियों से सिमटकर यहाँ वात्सल्य अस्वाभाविक नहीं हो गया है। दूसरा कारण यह हो सकता है कि कुछ संप्रदायों में बालकृष्ण की उपासना मान्य रही। अतः उन संप्रदायों से संबद्ध कवियों ने वात्सल्य भाव के मर्मस्पर्शी स्थलों को चुन लिया और प्रतिभा और कल्पना से इन स्थलों को वात्सल्य

[1] अन्नमाचारी की यशोदा कृष्ण की नटखट चेष्टाओं की उलाहना देनेवाली गोपिकाओं से कहती है कि इसमें मेरे पुत्र का क्या दोष है : बहनो ? माखन-दूध किस शिशु को अच्छे नहीं लगते ? उन वस्तुओं को हिफाजत के साथ न रखना तुम्हारा ही दोष है—शृं० सं० की०, वा० १२/पद १५२

[2] ते० भा०, १० पू०/४२०

[3] ते० भा०, १० पू०/४२१

[4] सू० सा०, पद १००६

की समस्त ऊँची-नीची भूमियों से युक्त कर दिया है। पीछे सूर, पोतना और चिनतिरुवेंगळनाथ आदि कवियों के वात्सल्य-वैभव के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात प्रमाणित हो जाती है। यद्यपि तेलुगु क्षेत्र के कवि वात्सल्य के प्राधान्यवाले संप्रदायों से प्रभावित नहीं थे, तथापि कृष्ण के जीवन की परिस्थितियों के आग्रह से उन्होंने वात्सल्य के स्वाभाविक क्षेत्र प्रस्तुत किये हैं। यहाँ एक और बात हमारा ध्यान आकर्षित करती है। कृष्ण ने बाल्य-काल में जितने लौकिक-अलौकिक चरित्र किये उतने राम ने बाल्य-काल में नहीं किये। उनकी लोकमंगलकारी लीलायें राम की प्रौढ़ावस्था में ही व्यतीत हुईं। इसलिये राम का बाल्यकाल कविकल्पना को विशेष आकर्षित नहीं कर सका। फिर भी राम-जन्म, जन्मोत्सव, बालक्रीड़ायें और बालछवि का चित्रण राम के प्रबंधात्मक काव्यों में आ ही गया। इस पर भी तुलनात्मक दृष्टि से कुछ विचार कर लेना आवश्यक है।

तेलुगु क्षेत्र में आलोच्य-युग से पूर्व "निर्वचनोत्तररामायण", "रंगनाथ-रामायण" और भास्कररामायण" की रचना क्रमशः तिक्कना, गौनबुद्धा रेड्डि, और भास्कर जैसे कवि कर चुके थे। आलोच्य-युग के पश्चात् भी अनेक रामचरित्र लिखे गये। पर आलोच्य-युग अपनी शास्त्रीय और शृंगारनिष्ठ प्रवृत्तियों को लेकर उदित हुआ। शृंगार की जितनी भंगिमायें कृष्णचरित्र में उपलब्ध होती हैं, उतनी किसी भी अवसर में नहीं। यही कारण है कि आळ्वार-माधुर्य के प्रभाव से आपन्न, राज्याश्रय के आग्रह से युक्त एवं सुख-समृद्धि से उत्पन्न शास्त्रीय शृंगार से कवियों ने श्रीकृष्ण को ही साहित्य के सर्वोच्च आसन पर अभिषिक्त कर दिया, यहाँ तक कि अन्य अवतारों के वर्णन में भी सयत्न शृंगार के अवसर खोजे गये। राम-धारा शुष्क नहीं हो गयी। प्रकृत्या रामभक्त पोतना को इस बात का पश्चात्ताप ही रहा कि पूर्वयुग में रामायण की रचना हो गयी, अन्यथा वह राम-चरित्र की रचनाओं से गाड़ियाँ भर देता।[1] सौभाग्य से भागवत इन के लिये बच रही।[2] पोतना के इस कथन में चाहे जितना चमत्कार हो पर सत्य यह प्रतीत होता है कि युगरुचि के दबाव से उनको कृष्णकाव्य की ओर प्रवृत्त होना पड़ा। मोल्ला ने मोल्लरामायण, अय्यलराजुरामभद्र ने "रामाभ्युदय" जैसी कृष्ण-काव्य की तुलना में छोटी रचनायें की हैं। इन्हीं दो पुस्तकों के आधार पर रामाश्रयी वात्सल्य-भाव की तुलना तुलसी के वात्सल्य-भाव से नीचे की जा रही है।

रामाश्रयी वात्सल्य के चार पक्ष हैं:—दशरथ की पुत्र के लिये चिन्ता, जन्म और जन्ममहोत्सव, बालछवि और वात्सल्य-वियोग।

दशरथ का पुत्रजन्म के लिये चिन्ता:—दशरथ पुत्रहीन थे और पुत्रहीन होना लोकजीवन की दृष्टि से सबसे बड़ा पाप है। तुलसी ने दशरथ की चिन्ता को

[1] प्रस्तुत प्रबन्ध का द्वितीय अध्याय द्रष्टव्य है।
[2] ते० भा०, पीठिका, पद्य २०

संक्षेप में ही दिया है।[1] इस चिन्ता से दशरथ यज्ञ भी करते हैं। इसके परिणाम-स्वरूप उनके पुत्र उत्पन्न होते हैं। तुलसी ने दशरथ और कौसल्या को पूर्वजन्म में कश्यप और अदिति बताया है जिन्होंने तपस्या से इस रूप में राम को प्राप्त किया।[2] तुलसी ने गीतावली में और सूर ने नवम स्कंध में इन दोनों बातों की चर्चा नहीं की। श्रीरामाभ्युदय में दशरथ की चिन्ता का पर्याप्त विस्तार है। दशरथ इस प्रकार चिन्ता करते हैं :—मुझे समस्त राजवैभव प्राप्त हैं, पर पुत्र के बिना यह सब सूना है। इस जीवन में भी पुत्र के बिना शान्ति नहीं और परलोक में भी सुगति नहीं मिलती। पुन्नाम नरक को पार करने के लिये भी पुत्र आवश्यक है। इसी समय उनको श्रवणकुमार के पिता का शाप स्मरण आ जाता है। उस शाप का स्मरण करके वे इसलिये प्रसन्न होते हैं कि कम से कम शाप की सिद्धि के लिये पुत्रजन्म हो सकता है।[3] इस शाप का उल्लेख तुलसी ने नहीं किया है।

इसके पश्चात भगवान के कौसल्यागर्भ में आने का प्रसंग है। गर्भवती कौसल्या का तुलसी ने कोई विवरण प्रस्तुत नहीं किया है। जिस प्रकार सूर[4] और पोतना[5] ने गर्भवती यशोदा की देवों से स्तुति कराई है, वह प्रसंग भी तुलसी ने नहीं दिया। गर्भ में आने पर यशोदा के मुख पर एक कांति आ जाती हैं।[6] पर तुलसी की कौसल्या के मुख पर किसी प्रकार की भी रेखा नहीं है। केवल समस्त लोक पर राम के गर्भ-प्रवेश का सुखद प्रभाव उल्लिखित है।[7] किन्तु तेलुगु क्षेत्र में दिव्य गर्भ के प्रविष्ट होने पर वात्सल्य की आश्रया माताओं के विशद चित्र मिलते हैं।[8]

रामजन्म और जन्मोत्सव :—तुलसी ने वसंत ऋतु (चैत्र) शुक्लपक्ष, नवमी अभिजित मुहूर्त, मध्यान्ह और समऋतु की भूमिका में रामजन्म को रक्खा है।[9]

[1] एकबार भूपति मन माहीं। भई ग्लानि, मोरे सुत नाहीं।
—रामचरितमानस, बालकांड, १८८ दोहे के नीचे।

[2] कश्यप अदिति महातप कीन्हा, तिन्ह कहुँ मैं पूरब बर दीन्हा
तै दशरथ कौसल्या रूपा कोसलपुर प्रगट नरभूपा।
—रा० च० मा०, बा० १८६ के नीचे

[3] रामाभ्युदयमु २—६३ से ६९ तक

[4] सू० सा०, पद ६२० ;

[5] ते० भा०, १० पू० ८९ से १०४ तक

[6] सू० सा०, पद ६२२ तथा ते० भा०, १० पू० ७१

[7] जा दिन तै हरि गर्भहिं आये, सकललोक सुख संपति छाये।
—रामचरितमानस, बाल० १८९ दोहे के नीचे

[8] रामाभ्युदयमु ३—८२ तथा ३—८२ से १०४ तक ; मोल्लरामायण बालकांड पद्य—४४, पद्य ४२ तथा ते० भा० १० पू०/७१, ७२

[9] रा० च० मा०, बा० १९२—१

मोटे रूप से यह कह दिया है कि योग, लगन, ग्रह, बार सभी अनुकूल स्थिति में हो गये।[१] जिस प्रकार तुलसी ने ग्रह-नक्षत्रादि का नामोल्लेख करके केवल उनकी अनुकूल स्थिति ज्ञापित की है, उसी प्रकार रामाभ्युदयकार ने शुभमुहूर्त कहकर विवरण से मुक्ति ली है।[२] किन्तु मोल्लाने रामजन्म की ज्योतिषगत् परिस्थिति का उल्लेख किया है :—चैत्रमास, शुक्लपक्ष, नवमी, आदित्यवार, पुनर्वसु नक्षत्र, कर्कट लग्न[3] रामजन्म से प्रकृति प्रमुदित हो उठी और ऋषि, मुनि देवों में हर्ष छा गया। जैसा वर्णन तुलसी और रामाभ्युदयकार दोनों ने किया।[४] इसके पश्चात् तुलसी की कौसल्या चतुर्भुज रूप में प्रकट राम की स्तुति करती है।[५] इसी प्रकार की एक अलौकिक झाँकी पालने में झूलते हुये राम की उसे मिली। उसे चतुर्दिक् बाल राम ही दीखने लगा।[६] इस समय भी कौसल्या ने अपने वात्सल्य की सुरक्षा को ही सर्वोपरि समझा और यही कहा कि मुझे यह माया कभी प्रभावित न करे।[७] इस अलौकिक स्थिति में कौसल्या का वात्सल्य क्षुब्ध हो गया जैसे वात्सल्य संबंधी वरदान व्यर्थ ही गया। इसलिये कौसल्या शिशुलीला करने की प्रार्थना करती है।[८] मोल्ला और रामाभ्युदयकार ने इस रहस्यमयी अलौकिक घटना को छोड़ ही दिया है। जन्म के पश्चात् धूमधाम और जन्मोत्सव का विवरण दोनों क्षेत्र के कवियों ने दिया है।[९] इस समस्त परिस्थिति का लोक-सांस्कृतिक चित्र तुलसी की गीतावली में विस्तार से है।[१०] इसके साथ ही कुछ संस्कारों का वर्णन भी दोनों क्षेत्रों के कवियों ने किया।[११]

१ रा० च० मा०, बाल० दोहा ६०
२ रामाभ्युदयमु ३/१०६
३ मोल्लारामायण बालकांड, पद्य ४५
४ (क) रा० च० मा०, बा० १२६/१—४
  (ख) रामाभ्युदय ३/१७०—११०
५ रा० च० मा०, बाल० १६१/६—४
६ वही, २०१ दोहा १
७ वही, बाल० दोहा २०२
८ वही, बाल० १६१/४
९ (क) वही, बाल० १६३ से १६५ दोहे तक
  (ख) रामाभ्युदय, ३/१२६ से १४८ तक
१० तुलसी ग्रन्थावली खण्ड २, पृ० २२१ से २२८ तक
११ (क) रा० च० मा०, बाल० दोहा १६३
  (ख) गीतावली, छंद २
  (ग) रामाभ्युदय, ३/१२६
  (घ) मोल्लरामायण बाल०, छंद ४८

मोल्ला ने वात्सल्य को पुष्ट करनेवाली शिशुलीलाओं और अभिलाषामयी माँ के चित्रण को छोड़ ही दिया। पर रामाभ्युदय में कुछ वर्णन अवश्य मिलते हैं। सबसे पहले अलौकिकता की शैली में रामरूप का वर्णन है। शेषनाग पर लेटनेवाले कौसल्या के झूले में झूल रहे हैं।[१] इस प्रकार अलौकिकता के द्योतक कथन तुलसी में भी कम नहीं हैं। दशरथ को स्वयं राम की अलौकिकता का ध्यान था।[२] रामाभ्युदय में राम की बालचेष्टाओं में दशावतार की झाँकी भी प्रस्तुत की गयी है।[३] हिन्दी में इस प्रकार की शैली नहीं मिलती।

अलौकिकता से रहित कुछ चेष्टाओं का वर्णन भी तेलुगु क्षेत्र में मिलता है। "रामाभ्युदय" में "दादियों" (आया) के द्वारा राम की शृंगारचर्या आदि करायी गई :—वे राम को कस्तूरी, तिलक, आभूषण, अंजन आदि से अभिमंडित करती हैं, और विविध लोरियों के साथ राम को सुलाने के प्रयत्न भी करती हैं।[४] इसमें कौसल्या का आश्रयत्व प्रकट नहीं है। कवि राज-प्रासाद के वैभव से अधिक प्रभावित दीखता है। अधिक सुन्दर होता यदि कौसल्या ही सब कार्य करती। तुलसी की कौसल्या ही यह चर्या करती है।[५]

तेलुगु कवियों ने राम की बाल-छवि का वर्णन अधिक नहीं किया। तुलसी ने राम की बाल-छवि का गत्यात्मक वर्णन किया है।[६] पालने में झूलने का संक्षिप्त संकेत रामाभ्युदय में मिलता है। पर तुलसी ने कृष्णाश्रयी मुक्तक कवियों की शैली में राम की झूलने का वर्णन कई पदों में किया है।[७] तुलसी ने कौसल्या की मातृसुलभ मधुमय अभिलाषाओं का समावेश भी इस प्रसंग में किया है।[८] पर विशेष बात यह भी है कि तीनों मातायें चारों शिशुओं के प्रति समान रूप से अभिलाषायें करती हैं। वात्सल्यभाव को अधिक स्वाभाविक और उद्दिष्ट दिखलाने के लिये तुलसी ने बालराम को रोगग्रस्त दिखलाया है, और उस संकट के निवारण के लिये लोकोपचारों का उल्लेख किया है।[९]

१ रामाभ्युदय, ३/१३१

२ रा० च० मा०, बाल० १६२/३

३. रामाभ्युदय ३— १३७, १३८
तेलुगु क्षेत्र में यह शैली विशेष लोकप्रिय है। पांडुरंगमाहात्म्यमु में स्नान करनेवाले निगमशर्मा की चेष्टाओं में दशावतार का क्रम अप्रस्तुत रूप से आरोपित है।

४ रामाभ्युदयमु, ३/१२२

५ गीतावली, पद १६

६,७ कवितावली, पद—१ से ५ तक तथा गीतावली पद २४, २५ तथा रामचरित-मानस, बालकांड, १६८ से १६६ दोहे तक

८ गीतावली, पद १५, १६, २०, २१

९ गीतावली, पद—१२

रामाभ्युदय में राम धीरे धीरे खड़े होकर चलने लगते हैं।[१] उन्होंने घुटुरुओं से चलनेवाली स्थिति का वर्णन नहीं किया। तुलसी ने घुटुरुओं चलने की स्थिति का वर्णन भी किया है।[२] जब माता-पिता उनको भोजन के लिये बुलाते हैं तो वे नहीं आते, तब माता उन्हें पकड़ ले जाती हैं।[3] सारांश यह है कि हिन्दी-तेलुगु कृष्ण-भक्त कवियों ने बालकृष्ण का लगभग एकसा ही वर्णन किया है चाहे विस्तार सूर में अधिक हो। राम भक्ति के क्षेत्र में तेलुगु कवियों का वर्णन तुलसी के समकक्ष नहीं है। विस्तार-भेद भी है, और गुण भेद भी। इसका कारण यह हो सकता है कि तेलुगु क्षेत्र में रामचरित के काव्य इस युग में संक्षिप्त रूप से ही लिखे गये। उनमें विस्तार के लिये अवकाश ही नहीं था। रामचरितमानस में बाललीलाओं का जितना विवरण है वह लगभग तेलुगु कवियों के समान है, केवल मानस में वर्णित रूपमाधुरी और आश्रय की कुछ चेष्टायें विशिष्ट हैं। इस भाव के सांस्कृतिक और स्वाभाविक विस्तार को तुलसी ने गीतावली में ही किया है। वहाँ प्रबंध के बंधन से मुक्त होकर तुलसी मुक्तक के माध्यम से कुछ भावों को मधुर स्फीति दे सके।

वियोगपक्ष

राम और कृष्ण के वात्सल्य-विरह में एक अन्तर दृष्टिगोचर होता है। प्रथम में विरह के पश्चात् मिलन होता है, और दूसरे में विरह अनंत हो जाता है। साथ ही दशरथ-मरण से प्रथम में करुण-विरह की स्थिति भी उत्पन्न होती है जबकि द्वितीय में नहीं। राम-विरह में दशरथ के उद्वेग और स्वर्गवास कवियों का विशेष ध्यान आकर्षित करता है। तुलसी ने तो माताओं के विरह को केवल "गीतावली" में प्रधानता दी है। पर कृष्ण-विरह में माता की व्याकुलता ही प्रमुख हो जाती है, यद्यपि नंदबाबा और ब्रजवासी भी कम दुःखी नहीं थे। जब कृष्ण मथुरा की ओर प्रस्थान करने लगते हैं, तब ब्रज का सामूहिक आर्तनाद पोतना की कल्पना में समा गया है। इस समवेत दुःख में से नंद और यशोदा के वात्सल्य-स्वरों को पृथक नहीं किया जा सकता। पर सूर में नंद-यशोदा के स्वर भी श्रव्य हैं। अक्रूर के साथ कृष्ण के प्रस्थान की बात सुनकर नंदजी मूर्च्छित हो गये।[४] माता यशोदा इतना व्याकुल है कि उनकी स्थिति हृदय को विदीर्ण करने वाली है।[५] इस समय उनका करुणाकलित हृदय फटा जा रहा था। वह कृष्ण से इतना ही कह पाती है कि तुम ब्रज में अंधेरा फैलाकर चले जा रहे हो। पर चलते समय मेरे गले से लगो।[६] मथुरा

[१] रामाभ्युदयमु, ३/१४५
[२] गीतावली—पद २३ ;
[3] रा० च० मा०, बाल० २०२/३,४
[४] सू० सा०, पद ३५५६
[५] वही, पद ३५८८ से ३५९४ तक
[६] वही, पद ३५९४

से नंद की विदाई करते समय सूर और पोतना दोनों के कृष्ण नंद से अपनी अनन्य कृतज्ञता प्रकट करते हैं।[1] उद्धव-प्रसंग में वात्सल्य-विरह की एक मनोरम झाँकी मिलती है। कृष्ण माता-पिता के लिये बाल-सुलभ संदेश भेजते हैं।[2] नंद उद्धव से प्रश्न करते हैं कि क्या कृष्ण कभी हमारा स्मरण करते हैं?[3] पोतना का कृष्ण बारी बारी से कुंज-निकुंज आदि सभी के संबंध में पूछता है कि क्या इन सबका वे स्मरण करते हैं?[4] कृष्ण की बालक्रीड़ाओं के स्मरण से यशोदा का अनंत वात्सल्य उद्दीप्त होकर उमड़ पड़ता है। उनके स्तनों में से दूध और उनके नयनों से शोकाश्रु प्रवाहित होने लगते हैं।[5] सूर की यशोदा भी उद्धव से कृष्ण की बाल्यावस्था की चर्चा करती हुई मूर्च्छित हो जाती है।[6] समस्त व्रजवासी उद्धव को कृष्ण ही समझ लेते हैं, यहाँ तक कि इस भ्रम से गायों के स्तनों से भी दूध की धारा प्रवाहित होने लगती है।[7] सूर के नंद-यशोदा उद्धव के द्वारा कृष्ण को वात्सल्य से पगे हुए संदेश को भी भेजते हैं।[8] इस प्रसंग का तेलुगु कवियों में अभाव है।

रामकथा में वात्सल्य-विरह के दो स्थल आते हैं। एक विश्वामित्र की रामयाचना का है और दूसरा राम-वनगमन का। दोनों ही स्थल नितांत मार्मिक हैं क्योंकि वृद्धावस्था में बड़ी तपस्या से प्राप्त पुत्रों को दशरथ स्वयं विश्वामित्र को दान में देते हैं और स्वयं ही उनको निर्वासित करते हैं। विश्वामित्र की राम-याचना-प्रसंग से संबंधित निम्नलिखित तुलनात्मक तालिका द्रष्टव्य है :—

[1] ते० भा०, १० पू०/१४०१ तथा सू० सा०, पद ३७३७

[2] सू० सा०, पद ४०९१, ते० भा०, १० पू०/१४४५

[3] वही, पद ४०९१, ते० भा०, १० पू०/१४४०

[4] ते० भा०, १० पू०/१४४०

[5] वही, १० पू०/१४४३

[6] सू० सा०, पद ४०९४

[7] वही, पद ४०८१

[8] वही, पद ४७०१ से ४७११ तक

विषय	रामाभ्युदय	मोल्ल-रामायण बालकांड के छंद	रामचंद्रिका	रा.च.मा. बालकांड के छंद
१. विश्वामित्र के द्वारा राम के बल की प्रशस्ति	४/६	४८	०	०
२. दशरथ का राम के देने में यह तर्क कि यह बालक दुष्टों का बध नहीं कर सकता	४/६	४७	२/१७	२०७/३
३. स्वयं दशरथ का सहायार्थ जाने का प्रस्ताव	०	४७	२/१७	०
४. वशिष्ठ का दशरथ को समझाना	०	०	२/२४,२५	२०७/४
५. राम को सहर्ष देना	०	५०	०	०
६. राम को दुःख के साथ विश्वामित्र को देना	४/१४	०	२/२६	०
७. विदा होते समय दशरथ राम-लक्ष्मण का आलिंगन करना	४/१५	०	०	२०७/५
८. राम का माता से आज्ञा माँगना	०	०	०	२०८ क.
९. दशरथ का विलाप	०	०	२/२७	०
१०. दशरथ का आशीर्वाद	४/१५	०	०	२०८
११. दशरथ का विश्वामित्र से प्रार्थना कि बालकों को उचित रीति से रखें	०	०	०	२०७/५

इस तालिका से ये निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं। मोल्ला ने वात्सल्यपक्ष का कम स्पर्श किया। लोक कल्याण के आदर्श से प्ररित होकर उनके दशरथ राम को सहर्ष विश्वामित्र जी को सौंपते हैं। पर रामाभ्युदय में वात्सल्य के पक्ष को भी स्पर्श किया गया है। परम पिता के हृदय के दुःख के समक्ष आदर्श ठहर नहीं पा रहे हैं। रामाभ्युदय की भाँति रामचरितमानस के पुत्रवत्सल दशरथ में लोकमंगल का आदर्श नहीं है, यह तो वशिष्ठ और विश्वामित्र के कथनों में है। दशरथ का एकमात्र आदर्श गुरु-आज्ञा को शिरोधार्य करना है। रामचंद्रिका के दशरथ भी लगभग इसी प्रकार के हैं। इस प्रसंग में कौसल्या को तुलसी के अति-रिक्त किसी ने स्थान नहीं दिया। रामाभ्युदयकार का वैशिष्ठ्य यह है कि उन्होंने नगर-निवासियों के द्वारा वात्सल्य-विरह की व्यंजना कराके वात्सल्य रस को अधिक व्यापकता प्रदान की। तुलसी के विश्वामित्र के प्रस्ताव को सुन कर

दशरथजी की कांति मंद पड़ गयी और उनका हृदय काँपने लगा ।[१] वे राम के बदले में प्राण भी सहर्ष दे सकते हैं।[२] किन्तु विवशता के कारण राम को देना पड़ रहा है।[3] वे विश्वामित्र से कहते हैं कि ये दोनों मेरे प्राण हैं, अब आप ही इनके पिता हैं।[४] इस प्रकार वर्णन की मार्मिकता में तुलसी सर्वोपरि दीखते हैं। जहाँ तक अभिप्रायों का संबंध है "मानस" और "रामाभ्युदय" में पर्याप्त समानता है।

वनवास के समय समस्त अवधपुरी वात्सल्य-विरह से आप्लावित हो उठी। मोल्ला के दशरथ, कैकेई के वज्र-वाक्यों से आहत होकर मूक हो जाते हैं।[४] दशरथ का वात्सल्य विगलित होकर चरम की ओर प्रवाहित होने लगता है। मोल्ल-रामायण में शोकसंताप से दशरथ का प्राणत्याग कर देने का और खिन्न सामान्यजन में दशरथ और कैकेई के प्रति अपवाद का उल्लेख मात्र है।[६] मोल्ला ने माताओं के वात्सल्य का विस्मरण कर दिया है। रामाभ्युदय के दशरथ वनपथ की कठोरता और सीता की सुकुमारता के वैषम्य का स्मरण करके उद्वेलित हो उठते हैं।[७] तुलसी ने भी इस भावभूमि का उद्घाटन किया। पर तुलसी के दशरथ कुछ और आगे बढ़ जाते हैं। वे सुमन्त्र से कहते हैं कि चार दिनों के वनवास के पश्चात् इन तीनों को लौटा लाना।[८] हो सकता है कि सत्यव्रत राम-लक्ष्मण न लौटे, तब तुम राम से विनय करके सीता को लौटा लाना।[९] राम का वनगमन करते समय रामाभ्युदय के पुरवासियों का आर्तनाद पृथ्वी को प्रकंपित करने लगता है।[१०] व्याकुलता से जर्जर दशरथ पुत्रों के साथ रथ में बैठ कर वनगमन करने की कामना करते हैं। किन्तु वशिष्ठ के आदेश से वे विवश हो जाते हैं।[११] दशरथ के संत्रस्त और साश्रु नयन राम-रथ की धूल को देखते रहते हैं। धूल भी अदृश्य हो जाती है और दशरथ दुःखदग्ध हो जाते हैं।[१२] कौसल्या और सुमित्रा निष्प्राण होकर विवशता से अन्तःपुर

[१] रामचरितमानस, वा० २७१
[२] वही, २७२
[६] वही, २७३
[४] वही, २७५
[५] मोल्लरामायण, अयोध्या, छंद २७
[६] वही, छंद ३१
[७] रामाभ्युदय, ५/५
[८] रामचरितमानस, अयोध्याकांड, ८१
[९] वही, ८१/१
[१०] रामाभ्युदय, ५/६
[११] वही, ५/२७
[१२] वही, ५/७, ८

की ओर लौट आती हैं।[१] नगरनिवासी राम के समझाने पर भी लौटते नहीं हैं। किन्तु वेत्रवती नदी के तट से उनको भी वापस आना पड़ा।[२] प्रसंग का ढाँचा "मानस" में भी यही है। पर इनमें यत्र तत्र अनुभूतियों का उभार है। माताएँ राम के वनगमन को देखने का साहस नहीं कर पातीं, इसलिये वे घर से बाहर नहीं आतीं।[३] नगरनिवासी राम का साथ नहीं छोड़ते थे। जब वे परिश्रांत होकर सो गये, तब राम रथ-चिन्हों को मिटाते हुये आगे चले गये।[४] कौसल्या के हृदय के भवंडर को यह आदर्श रोके हुआ है कि कैकेई की आज्ञा का तिरस्कार अनुचित है। इस प्रकार उनके हृदय में धर्म और पुत्र स्नेह के बीच द्वन्द्व मच जाता है।[५] वह अंत में राम से कहती हैं कि केवल पिता की आज्ञा हो तो माता अपने अधिकार से तुम्हें रोक सकती है। यदि माता की भी आज्ञा हो तो वनवास ही श्रेयस्कर है।[६] सुमित्रा के सामने भी आदर्श है। इसलिये वह लक्ष्मण से कहती हैं कि यदि राम-सीता बन जा रहे हैं तो अयोध्या में तुम्हें नहीं रहना चाहिये।[७] राम का वनगमन तुम्हारे लिये सौभाग्यप्रद है, क्योंकि तुम्हें राम-सेवा का अवसर प्राप्त होगा।[८] कौसल्या सीता को घर में रहने के लिये कहती है।[९] इस कथन में उनका वात्सल्य अंतर्हित है। रामाभ्युदय का दशरथ राम-वियोग के पश्चात् मुनि-शाप का स्मरण करते हैं।[१०] "मानस" में भी यह बात है।[११] फिर शोकाकुल दशरथ प्रारब्ध का सहारा लेते हैं।[१२] रामाभ्युदय और मानस दोनों में दशरथ राम के बिना जीवन को असंभव बताते हैं।[१३] रामाभ्युदय के दशरथ को इस बात का अधिक पश्चात्ताप होता है कि मैंने स्त्री पर विश्वास किया है।[१४] वे चिंतित

[१] रामाभ्युदय, ५/७
[२] वही, ५/१५
[३] रा० च० मा०, ८२
[४] वही, अयो० ८४/४
[५] वही, ५४/२
[६] वही, ५५/१
[७] वही, अयो० ७३/२
[८] वही, ७४/२
[९] वही, अयो० ५८-६०
[१०] रामाभ्युदय, ५/९
[११] रा० च० मा०, अयो० १५४/२
[१२] रामाभ्युदय, ५/९
[१३] वही, ५/१०; रा० च० मा०, अयो० १५४/३
[१४] वही, ५/११

होते हैं कि राम किस प्रकार कठिन वनपथ पर चलते होंगे।[1] राम की अंतिम झाँकी दशरथ की आहत चेतना के सम्मुख थी। इसीलिये वे पुनः पुनः मूर्च्छित होने लगे।[2] तुलसी ने पश्चात्ताप और स्मृति के इन भावों का चित्रण नहीं किया। दशरथ के मन की वेदना केवल प्रलाप में व्यक्त होती है। अंत में "राम-राम" कहते हुए वे देहत्याग करते हैं।[3] "गीतावली" में तुलसी ने कौसल्या आदि माताओं का राम के स्मरण से विरह विह्वल होना दिखाया है। माता राम के बाल्यावस्था के धनुष-बाणों आदि को देख देख कर खिन्न हो जाती हैं।[4] तुलसी ने भरत के प्रति कौसल्या के वात्सल्य का भी मार्मिक वर्णन किया है।

सारांश यह है कि आलोच्य काल में तेलुगु की अपेक्षा हिन्दी के राम साहित्य में वात्सल्य का विस्तृत वर्णन है। मोल्ला को अपनी संक्षिप्त रामायण में वात्सल्य के विस्तार के लिये अवकाश नहीं था। रामाभ्युदय में प्रसंग की स्थूल रेखायें "मानस" के समान ही हैं। पर भावों की मार्मिकता में तुलसी बहुत आगे हैं। दशरथ-विलाप में तुलसी का दशरथ नामोच्चारण के अतिरिक्त कुछ न कर सका। पर रामाभ्युदय के दशरथ विविध विकल्पों में तल्लीन दिखाई पड़ते हैं। रामाभ्युदय में "मानस" की भाँति माताओं के हृदय में वात्सल्य और अन्तर्द्वन्द्व नहीं दिखाया गया है और तेलुगु क्षेत्र में वात्सल्य-विरह के केन्द्र में केवल राम हैं। पर तुलसी राम के अतिरिक्त सीता और लक्ष्मण को भी आलंबन के रूप में रखना विस्मृत नहीं करते। तुलसी ने सीता के प्रति कौसल्या के द्वारा वात्सल्योक्तियाँ कराई हैं। पर तेलुगु कवियों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। कृष्णगत वात्सल्य-विरह को लेकर जितनी समानता तेलुगु और हिन्दी कवियों में है उतनी रामगत वात्सल्य-विरह में नहीं है। इसका कारण यह है कि तेलुगु में कृष्ण-सहित्य तो बृहत विस्तार के साथ मिलता है, पर रामकथा पर संक्षेप से ही लिखा गया।

६.६. सख्य भाव

हिन्दी के वल्लभ-संप्रदाय में वात्सल्य के समान सख्य का भी महत्व था।[5] इस संप्रदाय से संबंधित अष्टछाप कवियों ने जिस प्रकार वात्सल्य रस को चरम पर पहुँचाया उसी प्रकार सख्य को भी। पर तेलुगु कवियों का संबंध किसी ऐसे संप्रदाय से नहीं था जिस में सख्य को महत्व प्रदान किया गया हो। इसीलिये उनके सख्य भाव संबंधी लीलायें बालसुलभ चेष्टाओं के वर्णन के रूप में परिलक्षित होती हैं, यद्यपि उनमें यत्रतत्र अलौकिकता का पुट भी क्यों न हो। हिन्दी कवियों ने सख्य

[1] रामाभ्युदय, ५/१२
[2] वही, ५/१३
[3] रा० च० मा०, अयो० १५५
[4] गीतावली, पद ४२
[5] सूर और उनका साहित्य, डा० हरिवंशलाल जी, पृ० २४१

को व्यक्तिगत उपासना के भाव के रूप में अपनाकर भी भगवान की सख्यपरक लीलाओं का वर्णन किया है। तेलुगु कवियों की भाँति इनमें अलौकिकता का पुट है ही[1] साथ ही इन्होंने सख्य भाव की लीलाओं को अधिक स्वाभाविक एवं सजीव बनाया है। दोनों क्षेत्रों के कवियों के वर्णन में कुछ स्थानीय भेद भी है। उदाहरण के लिए पोतना कृष्ण का चावल, अचार, आम की फाँक, मक्खन-चावल, दही चावल खाने का उल्लेख करते हैं।[2] "अष्टमहिषीकल्याण" में कृष्ण की कलेऊ की सामग्री इस प्रकार है:—सोंठ, अदरक, कालीमिर्चें, "मुरुगुळु" विवध प्रकार की चटनी आदि।[3] सूर के कृष्ण की कलेऊ तो भिन्न प्रकार की है जैसे सद्यनवनीत, मीठा दही, मधु, मेवा, पकवान आदि।[4] भोजन सामग्री का यह स्थानीय भेद ध्यान देने योग्य है। गोचारण के समय भोज्य सामग्री आती सब घरों से है, पर उसे कृष्ण और उनके सखा सभी मिलकर खाते हैं।[5] सूर के ग्वाल-बालक झगड़कर खाद्यसामग्री लेते हैं।[6] कृष्ण प्रेम से सखाओं से भोजन माँगते हैं। कभी वे दूसरे का कौर भी चुरा लेते हैं और उसके स्वाद की प्रशंसा करने लगते हैं।[7] यहाँ तक कि वे सखाओं का जूठा भी आनंद से खाते हैं।[8] तेलुगु में भी कृष्ण का सखाओं से माँगकर खाने का उल्लेख है।[9] तेलुगु भागवतों में ग्वाल-बालक किसी को बातों में उलझाकर दूसरे के भाग को चुराने का वर्णन है।[10] एक ग्वाल कहता है कि देखोजी, कृष्ण कितना सुन्दर है। दूसरा बालक उस ओर देखने लगता है, तो यह उनके भोजन को उठाकर खा जाता है।[11] स्पष्ट है कि इन वर्णनों से तेलुगु कवि बालस्वभाव का स्पष्टीकरण करना चाहते हैं जब कि सूर कृष्ण का जूठन खाने पर बल देकर सख्य भाव की तन्मयता और गहराई को स्पष्ट करते हैं। सख्य भाव का दूसरा तत्व खेल है। तेलुगु कवियों ने ग्वालों के उत्साहसूचक कार्यों, खेलों और अभिनय का वर्णन किया है। इसमें स्थानीयता का प्रभाव भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। ग्वाल-बालक और कृष्ण भ्रमरों के समान गुंजन, मयूरों के समान नृत्य, पिकशुक के समान

[1] ते० भा०, १० पू० /४६१, ४६२, ४६८, ६०७ आदि।
[2] वही, १० पू० /४६४, ५६६, ४६७
[3] अ० म० क०, पृ० ४७
[4] सू० सा०, पद १०८०
[5] वही, पद १०८३, १०८४ तथा ते० भा०, १० पू० /४६६
[6] वही, पद १०८५
[7] वही, पद १०८४
[8] वही, पद १०८६
[9] ते० भा०, १० पू० /४६६; अ० म० क० पृ० ५०
[10] वही, १० पू० /४६६; अ० म० क०, पृ० ५०
[11] वही, १० पू० /४६६

ध्वनि, हंसों के समान गति,[१] पंख बाँधकर पक्षियों की लड़ाई का अभिनय[२] आदि क्रीड़ाओं में भाग लेते हैं। एक बार ग्वाल-बालकों ने अपने हाथों का सिंहासन बनाकर उस पर कृष्ण को बिठाया और उसे राजा कहकर अभिनय किया।[३] लताओं के झूले पर झूलना और विभिन्न अंगभंगियों के साथ चलने का भी पोतना ने उल्लेख किया है।[४] पोतना ने ग्वालों के परस्पर सहयोग की भावना को स्पष्ट किया है जैसे धूप में आये हुये सखा को पंखा से हवा करना, थके हुये सखा को पीठ पर चढ़ाना, लेटे हुये सखाओं को थपकियाँ देकर सुलाना आदि।[५] इस विवरण से स्पष्ट होता है कि तेलुगु कवियों का ध्यान सख्य के यथार्थ पक्ष की ओर विशेष रहा, पर यह यथार्थ स्थूल यथार्थ है, मनोवृत्तियों का नहीं। समस्त क्रीड़ाओं का कवि स्वयं वर्णन कर देता है। इन क्रीड़ाओं में सूर की भाँति सखाओं का वार्तालाप, उनके विविध भावापन्न उक्तियाँ और माता से उपालंभ आदि नहीं हैं। इस शैली से वर्णन पूर्ण हो जाते हैं, पर सखाओं की मनोवृत्तियाँ अमुखरित रह जाती हैं। सूर के सख्य भाव की यही विशेषता है। पोतना ने जितने प्रकार की बालक्रीड़ाओं का वर्णन किया है, उतना सूर ने नहीं। सूर तो सखा कृष्ण के मानसिक पक्ष के उद्घाटन में लगे रहे। कृष्ण का सखाओं के साथ खेलना, उनसे पराजित होकर खीझना[६], इस पर सभी सखाओं द्वारा उनकी हंसी उड़ाना[७], कृष्ण की माता के पास शिकायत करना —मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो[८], आदि सख्य के विशिष्ट अंग हैं जिनमें मनोवृत्ति के परिचायक संकेत पर्याप्त मिलते हैं। वात्सल्य के इस पक्ष के उद्घाटन में तेलुगु कवि प्रायः शून्य दिखाई पड़ते हैं। इसका कारण स्थानीयता ही है। ब्रज का कवि इन समस्त भावों को जितनी मार्मिकता के साथ हृदयंगम कर सकता था उतना तेलुगु क्षेत्र का कवि नहीं।

कृष्ण वृन्दावन की सख्यपरक लीलाओं का स्मरण करके अभिभूत हो जाते हैं:—"बृन्दावन मोकौं अति भावत"[९] कृष्ण का स्नेह स्मरण करके ग्वाल-बालक भी गद्गद् हो जाते हैं और वे कृष्ण से विनय करने लगते हैं कि हमें

[१] ते० भा०, १० पू० /४५५ ; अ० म० क०, पृ० ४६
[२] वही, १० पू० /७२१
[३] वही
[४] वही
[५] वही, १० पू० /६०६
[६] सू० सा०, पद ८३१
[७] वही, पद ८३२
[८] वही, पद ८३३
[९] वही, पद १०६७

कभी मत भुलाओ।[1] ये मार्मिक स्थल तेलुगु कवियों में नहीं हैं। अघासुर, बकासुर आदि राक्षसों के वध प्रसंगों में सूर के ग्वालबालक आभार भी प्रदर्शित करते हैं। बकासुर वध के पश्चात् सखा कृष्ण को वनमाला पहनाकर आलिंगन कर लेते हैं।[2] इस प्रकार सख्य के विविध क्षेत्रों की सूर की कल्पना ने यात्रा की। सख्य के विरह-पक्ष को भी सूर ने विशद रूप से दिया है। जब श्रीदामा से विवश होकर कृष्ण कालियदह में कूद गये तब सखाओं का यह विलाप देखिये—

हाय हाय करि सखनि पुकार्‌यौ
गेंद काज यह करी श्रीदामा, नंद कौ ढोटा मार्‌यौ।[3]

इस स्थिति पर पोतना के गोप-बालक भी हाय-हाय करके विधाता को दोष देने लगते हैं।[4] कृष्ण के विरह में सूर के सखाओं का हास-परिहास समाप्त हो जाता है।[5] अंत में यही कहा जा सकता है कि सख्य-विरह के क्षेत्र में भी हिन्दी के कवि तेलुगु कवियों से आगे हैं।

सुदामा चरित्र का मूल अभिप्राय समस्त ऐश्वर्यों से युक्त कृष्ण का परम दरिद्र सखा के प्रति अनन्य स्नेह दिखाना ही है। सूर और पोतना दोनों ने यह लिखा है कि जब सुदामा के आगमन की सूचना कृष्ण को मिलती है, उस समय वे लक्ष्मी के साथ हास-विलास कर रहे थे।[6] इसके पश्चात् कृष्ण के भाव और अनुभवों की सूची इस प्रकार है :—

[1] सू० सा०, पद १०६८
[2] वही, पद १०४७
[3] वही, पद ११५८
[4] ते० भा०, १० पू० /६५१
[5] सू० सा०, पद ४७११
[6] वही, पद ४८४८; ते० भा० १० पू०/६६८

विषय	सूर सागर (पद-संख्या)	ते० भा० १० उत्तरार्ध (छंद संख्या)
१. सिंहासनत्याग	४८४६	९८०
२. कृष्ण का व्याकुल होना	४८४७	०
३. आँखों में आँसू आना	४८४७	०
४. अपने सिंहासन पर बिठाना	४८४६	९८१
५. गलबाहीं डालना	,,	,,
६. चरण-प्राक्षालन	,,	९८२
७. पटरानियों का आश्चर्य	,,	९८५
८. संदीपिनी आश्रम की स्मृति	४८५०	९९२-१०००
९ स्नान कराना	४८५१	०
१०. चंदन आदि का लेप	,,	९८३
११. कृष्ण का सुदामा के चरणोदक को मस्तक पर चढ़ाना	०	९८२
१२. कृष्ण का पंखा झलना	०	९८३
१३. सुदामा का शृंगार करना	०	९८४
१४. रुक्मिणी का चंवर डुलाना	०	,,
१५. तंदुल माँगना	४८४८	१००९
१६. कृष्ण का सुदामा के पैर दबाना	०	१०१८

स्पष्ट है कि सूर और पोतना में प्रसंग की मूलतंतु समान है। पोतना ने तो कृष्ण के सखा-प्रेम को बहुत ऊँचा उठाया है। नरोत्तमदास ने अपने सुदामाचरित्र में एक अनुपम भाव रक्खा है :—

पानी परात को हाथ छुयो नहीं।
नैननि के जल सों पग धोये ।।

नरोत्तमदास पोतना से भी इस प्रसंग के मार्मिक वर्णन में बढ़ जाते हैं। क्योंकि उनके प्रबंध का विषय ही सुदामाचरित्र है। सख्य भाव की अनुभूतियों की शृंगारिक और वर्णनबहुल पृष्ठभूमि पोतना को हिन्दी कवियों से कुछ पृथक करती है। सुदामा की सेवा में रत दासियों के शृंगार-वर्णन में कवि बहुत उलझ जाता है।[1] रुक्मिणी के चंवर डुलाते समय उनके कंकण आदि की नादमयता का पोतना

[1] ते० भा०, १० उ०/९७८

ने सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है ।[1] पोतना ने लिखा है कि रुक्मिणी के कुच-कुंकुम से आलिप्त करकमलों से कृष्ण ने सुदामा के चरण दबाये ।[2] इस शृंगारिक वर्णन से सख्य भाव में चमत्कार भी आता है और एक आकर्षक पृष्ठभूमि भी प्रस्तुत हो जाती है । सूर ने इस प्रकार के वर्णनों में रुचि नहीं ली ।

सारांश यह है कि तेलुगु कवियों में सख्य भक्ति के संकेत नहीं मिलते । इसलिये सखाओं की बाह्य-क्रीड़ाओं और उनके विवरण में उनकी कल्पना विशेष रमती है । हिन्दी कवियों की दृष्टि सखाओं की उक्तियों, स्पर्धा और उनके झगड़े की मनोभूमियों को स्पष्ट करने की ओर विशेष है । इस प्रकार वे सख्य भाव को सजीव बनाते हैं, और सख्य भाव के मूल में व्याप्त समानता को बलपूर्वक व्यक्त करते हैं । सूर जब सुदामा के सख्यभाव का भी वर्णन करते हैं तो ब्राह्मणत्व के कारण सुदामा की महानता को प्रकट होने नहीं देते जब कि पोतना ब्राह्मणत्व के संस्पर्श को सख्य के साथ मिलाये रहते हैं । एक वाक्य में हम कह सकते हैं कि तेलुगु कवियों ने सख्य के प्रसंगों के बाह्यपक्ष को यदि यथार्थ बनाया है तो हिन्दी कवियों ने अनुभूति की दृष्टि से उसे यथार्थता प्रदान की है ।

६.७. मधुर रस

माधुर्य भाव भक्ति का सबसे अधिक तीव्र और क्षिप्र भाव है । इस भाव की प्रतिष्ठा में काव्य-शास्त्र, काम-शास्त्र और भक्ति-शास्त्र ने योगदान दिया है । विविध भावों के कगारों का स्पर्श करती हुई भक्ति-पयस्विनी प्रवाहित रही है, पर माधुर्य भाव के कगार पर यह अधिक विरमती हुई चली है । माधुर्य-भाव के प्रतीकों का प्रयोग आध्यात्मिक जगत में एक दीर्घ-परम्परा रखता है । शृंगारात्मक रहस्यवाद संसार के सभी साहित्यों का एक प्रगल्भ और समृद्ध भाग रहा है । हिन्दी और तेलुगु कृष्णभक्ति-साहित्य भी इसका अपवाद नहीं है । एक ओर मीरा का प्रेम-संगीत देश और काल की सीमाओं को डुबोता हुआ भक्ति साहित्य की अमराइयों में विचरण कर रहा है तो दूसरी ओर आंडाल की प्रेमभावना अनेक कवियों की हृदय-विपंची के तारों में अमर झंकार बनकर समा गया । एक ओर सूर वात्सल्य के उपसहार में अजस माधुर्य की प्रतिष्ठा करके इस क्षेत्र के नवीन चरमबिंदुओं का स्पर्श करते हैं तो दूसरी ओर श्री अन्नमाचारी की मधुर वाग्धारा से आज भी तिरूमलै की पर्वत श्रेणियाँ परिसिक्त हैं । पोतना भी अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से मधुरचित्रों की सृष्टि कर रहे हैं । नंददास शास्त्रीय नायिकाभेद की प्रणाली से यदि राधा-माधव के उज्ज्वल रस को भक्त के मन की गहराइयों तक ले जारहे हैं तो कृष्णदेवराय भी शास्त्रीय पद्धति से मधुर भाव का नवसंस्कार करते हुये दिखलाई देते हैं । इस प्रकार हिन्दी और तेलुगु दोनों ही क्षेत्र इस भाव से समृद्ध हैं । अंतर इतना ही है कि हिन्दी

[1] ते० भा०, १० उ०/९७४

[2] वही, १०१८

क्षेत्र में राधा और गोपियों के माध्यम से माधुर्य को अभिव्यक्ति मिली है और तेलुगु क्षेत्र में मुख्यतः अष्टमहिषियों के माध्यम से। सूर आदि में कृष्ण के विवाह आदि की लीलायें अपवाद स्वरूप हैं तो अन्नमाचारी का काव्य तेलुगु क्षेत्रीय माधुर्यधारा का एक प्रबल अपवाद है। पोतना ने भागवत प्रसंगों को तो नहीं त्यागा है, इसलिये गोपियों के प्रसंग को लिया ही है, पर उनकी रुचि अष्टमहिषियों के प्रसंग में ही विशेष रमी है। हिन्दी क्षेत्र के प्रतिनिधि के रूप में सूर को ही लिया गया है। क्योंकि उनमें दोनों प्रकार की लीलाएँ मिलती हैं। अन्य कृष्णभक्त कवियों में राधामाधव भाव ही प्राप्त होता है। इन लीलाओं का विवेचन नीचे प्रस्तुत किया गया है।

६.७१. संयोगपक्ष

६.७११ प्रेम की बीजारोपणकालीन लीलायें

६.७१११. माखनचोरी

इस काल को हम एक विचित्र भावात्मक ध्वाभा से संयुक्त पाते हैं। एक ओर वात्सल्य का फेनोज्ज्वल अवदात हास है तो दूसरी ओर अरुणाभ माधुर्य की बाल किरणों का उदय हो रहा है। इन किरणों की शोभा गोपांगनाओं के हृदय के कोने कोने को आलोकित करने लगी है। माखनचोरी-लीला से इसका आरंभ सूर ने किया है। इसकी भूमिका कृष्ण की इस उक्ति से आरंभ होती है "मैया री मोहिं माखन भावै"[1]। एक गोपी इस बात को छिपकर सुनती है और अपने गृह में कृष्ण के आगमन की श्रृंगारपरक कामना करती है। कृष्ण उनकी अभिलाषा को पूर्ण करना चाहता है।[2] "श्रीमद्भागवत" में माखनचोरी की यह श्रृंगारिक भूमिका नहीं है। सूर ने प्रेम की स्वाभाविकता और उसकी प्रौढ़ता को ध्यान में रखते हुए यह भूमिका प्रस्तुत की है। पोतना ने भागवत का अनुसरण किया है और नायिकारब्ध कामचेष्टाओं को अपने काव्य में स्थान नहीं दिया है। इसके विपरीत उन्होंने कृष्ण की काम चेष्टाओं का उल्लेख किया है। इसका उल्लेख उपालंभ में किया गया है। गोपांगनायें आकर यशोदा से कहती हैं कि जब गोप-कुमारी ने माखनचोरी करते हुये कृष्ण को पकड़ना चाहा तो कृष्ण उसका कुचमर्दन करके भाग गये। इसलिये छोटा नहीं है।[3] एक सुन्दरी ने घर में प्रवेश करते हुये कृष्ण का नाम पूछा तो उन्होंने उसका चुम्बन ले लिया।[4] इसी के समान सूर की गोपियों के उपालंभों में भी कृष्ण की श्रृंगार चेष्टाओं का पर्याप्त उल्लेख मिलता

[1] सू० सा०, १०/२६४

[2] वही, १०/२६४, २६६

[3] ते० भा०, १० पू०/३१४

[4] वही, १० पू०/३१५

है। इसकी व्यंजना माता यशोदा के उत्तर में भी हुई है। जब गोपियों ने अपने वक्ष-स्थित नखक्षत दिखलाये तब यशोदा ने यह उत्तर दिया :—

कहाँ मेरे कान्ह की तनिक सी अंगुरीं बड़े-बड़े नखनि के चिन्ह तेरैं।[१]
मष्ट करु, हंसैंगे लोग, अंकवारि भरि भुजा पाई कहाँ स्याम मेरैं॥

कृष्ण भी गोपी के उपालंभ से अपनी सुरक्षा करते हुये यथार्थ घटना को प्रकट करते हैं जिससे नायिकारब्ध कामचेष्टायें ही सिद्ध होती हैं और यशोदा भी गोपियों को गाली देने लगती हैं :—

झूंठहि मोहि लगावति ग्वारि।
खेलत में मोहि बोलि लियौ है दोउ भुज भरि दीनी अंकवारि।[२]

वैसे सूर ने स्पष्ट रूप से भी एक स्थिति में कृष्ण का गोपियों की ओर आकर्षित होना कहा है।[३] पर कहीं भी उन्होंने माखनचोरी की स्थिति में कृष्ण की ओर से प्रौढ़ श्रृंगार चेष्टाओं को अंकित नहीं किया, क्योंकि आगे वे माखनचोरी के सामूहिक रूप की क्रीड़ा में निमग्न हो गये। तेलुगु के कुछ अन्य कवियों ने भी माखनचोरी और उपालंभ के प्रसंग में कुछ श्रृंगारोक्तियाँ कही हैं।[४]

माखनचोरी-लीला का परिमाणगत अंतर स्पष्ट करने के लिये नीचे तुलनात्मक तालिका दी जा रही है :—

लीला :—माखनचोरी और यशोदा माता से
गोपियों का उलाहना

श्रीमद्भागवत :—	श्लोक १०/८/२९-३१	=३	पंक्तियाँ	६
सूरसागर :—	पद ८८२-९५८	=७६	,,	५७८
श्रीमदांध्रभागवत :—	छंद १० पू/३०७-३३४	=२८	,,	६०+३=६३
अष्टमहिषीकल्याण :—	द्विपदायें	=४६½	,,	७७७-८६९=९३
भागवत दशमस्कंध :—	द्विपदायें	०	,,	०

उक्त तालिका से यह स्पष्ट होता है कि स्थूल रूप से सूरदास ने इस पर सबसे अधिक लिखा। सूर की परिमाण-वृद्धि में पुनरावृत्ति भी सम्मिलित है। पुनरावृत्ति कुछ मुक्तक प्रगीतों की शैली के कारण भी है, कुछ भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न लीलाओं के गायन के कारण भी है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सूर की रुचि

[१] ते० भा०, १० पू० ३०७ भी द्रष्टव्य है।
[२] सू० सा०, १०/३०४
[३] (क) मथति ग्वालि हरि देखि जाइ।
गये हुतो माखन की चोरी, देखत छबि रहे नैन लगाइ॥
(ख) देखी हरि मथति ग्वालि दधि ठाढ़ी।......
सूरदास प्रभु रीझि थकति भये मनहुँ काम साँचे भरि काढ़ी॥
[४] अष्टमहिषी कल्याणमु, पृ० ३२

के अधिक रमने के कारण भी पुनरावृत्ति में वृद्धि हुई। पोतना में पुनरावृत्ति के कारण परिमाण-वृद्धि नहीं हुई, क्योंकि प्रबंध-काव्य में पुनरावृत्ति वर्जित है। इसके लिये इनकी रुचि का विराम और विस्तार तथा मौलिक उद्भावना ही उत्तरदायी हैं। इतना होते हुये भी यह असंदिग्ध है कि सूर ने अपनी मौलिक कल्पना के द्वारा कथा के रूप में भी यत्किंचित परिवर्तन किया है और स्वाभाविक भावयोजनागत भी विस्तार किया है। पोतना का विस्तार शास्त्रसम्मत वर्णनगत है। "अष्टमहिषी-कल्याण" में भी विस्तार की प्रवृत्ति वर्णनों के आश्रय से ही विकसित हुई।

६.७११२. उलूख बंधन

उलूख बंधन में कई प्रकार के अभिप्राय गुंफित है। प्रथम अभिप्राय वात्सल्य की स्वाभाविकता को अधिक गहरा बनाने के लिये रोषभरी माता यशोदा का चित्र उपस्थित करना है। इस चित्र की रेखायें बड़ी उलझी हुई हैं। उनके रोष की पृष्ठभूमि में गोपियों के उपालंभों से व्यंजित लोकापवाद-जन्य खीज है, दूसरी ओर माता का अमित स्नेह है। इसी संघर्ष में माता यशोदा का चित्र उभरकर आया है। पर इस प्रसंग में मधुर भाव की छाया भी सघन है। गोपियाँ इस उलूख-बंधन के लिये उत्तरदायी हैं। इस बंधन के पश्चात् उनके हृदय की माधुर्यभावापन्न प्रच्छन्न रेखायें उभर आती हैं। सूर में यह उभार तेलुगु कवियों की अपेक्षा बहुत अधिक है। तेलुगु कवियों ने उलूख बंधन से पूर्व कृष्ण की साश्रु और दयनीय झाँकी को एक आश्चर्य-सुन्दर शैली में प्रस्तुत किया है। सूर ने इस प्रसंग को विस्तार उतना नहीं दिया जितना पोतना, अष्टमहिषीकल्याणकार आदि ने दिया है। उलूख-बंधन के पश्चात् सूर ने कृष्ण की हृदयद्रावक मूर्ति प्रस्तुत की है। तेलुगु कवियों ने इस विस्तार को छोड़ दिया। सूर के कृष्ण की वात्सल्य-रंजित यह करुण-कल्पना साभिप्राय है। यह गोपियों के चेतना स्तरों में व्याप्त माधुर्यभावना को जागृत और अभिव्यंजित कर देती है। माधुर्य सहानुभूति में ढलकर प्रकट होता है। उलाहना लेनेवाली गोपियाँ पश्चात्ताप से दग्ध हो रही हैं। तेलुगु कवियों ने इस अभिप्राय को इतना उभार यहाँ नहीं दिया। इसके पश्चात् इसी प्रसंग से संलग्न यमलार्जुन उद्धार की लीला है। इसका एक संकेत अलौकिक है। वृक्षों के धराशयी होने पर ब्रजवासियों की रागात्मक प्रतिक्रिया दोनों ही क्षेत्रों के कवियों ने समान रूप से चित्रित की है। पोतना और चिनतिरुवेंगळनाथ ने इस स्थल पर गोपियों के माधुर्य-भाव के रूपान्तर सहानुभूति का कुछ आभास कराया है। संक्षेप में इस लीला की यही तुलनात्मक झाँकी है।

परिणामगत विस्तार कुल मिलाकर सूर में ही अधिक है। यह नीचे की तालिका से स्पष्ट है :—

उलूख-बंधन लीला :

श्रीमद्भागवत :—	श्लोक १०/६/१-२१ : २१ पंक्तियाँ	४२
सूरसागर :—	पद ६५६-६६६ : ४१ ,,	३१२
श्रीमद् आंध्रभागवत :—	चंपू १० पू०/३५४-३६१ : ३८ ,,	८८
अष्टमहिषी कल्याण :—	द्विपदायें ३९ द्विपदाओं की पंक्तियाँ ८८८-९६५ : ७८	
भागवत दशमस्कंध :—	,, ० ,, ,,	०

यमलार्जुन का उद्धार :—

श्रीमद्भावगत :—	श्लोक १०/६/२२-२३ ; १०/१०/१-४३ : ४५ पंक्तियाँ	६०
सूरसागर :—	पद १०००-१००४ : ५ ,,	३०
श्रीमद् आंध्रभागवत :—	चंपू १० पू०/३६१-४१२ : २२ ,,	५७
अष्टमहिषी कल्याण :—	द्विपदायें १९ द्विपदाओं की पंक्तियाँ ९६६-१००३ : ३८	
भागवत दशमस्कंध :—	,, ० ,, ,,	०

दोनों तरुओं को गिरे हुये देखकर ब्रजवासियों की प्रतिक्रिया :

श्रीमद्भागवत :—	श्लोक १०/११/१-९ : ९ पंक्तियाँ	१८
सूरसागर :—	पद १००५-१००८ ; १०१०-१०१७ : १२ ,,	१३३
श्रीमदांध्र भागवत :—	चंपू १० पू०/४१२-४२१ : १० ,,	२२
अष्टमहिषी कल्याण :—	द्विपदायें २ द्विपदा की पंक्तियाँ १००४-१००७ : ४	
भागवत दशमस्कंध :—	,, ० ,,	०

उक्त तीनों घटनाओं की पुनरुक्ति :

श्रीमद्भागवत :—	श्लोक ० पंक्तियाँ	०
सूरसागर :—	पद १००९ : १ ,,	९७
श्रीमद्आंध्र भागवत :—	चंपू ० ,,	०
अष्टमहिषी कल्याण :—	द्विपदायें ० द्विपदा की पंक्तियाँ	०
भागवत दशमस्कंध :—	,, ० ,, ,,	०

कुल :

श्रीमद् भागवत :—	श्लोक ७५ पंक्तियाँ	१५०
सूरसागर	पद ५९ ,,	५७२
श्रीमद्आंध्र भागवत :—	चंपू ७० ,,	१६७
अष्टमहिषी कल्याण :—	द्विपदायें ६० ,,	१२०
भागवत दशमस्कंध :—	,, ० ,,	०

अब यशोदा के कुछ वर्णनों को लीजिये। तेलुगु कवियों ने यशोदा की शृंगारमयी झाँकियाँ भी प्रस्तुत की हैं। यशोदा कृष्ण को दंड देने का निश्चय करती है।[1] माता को रुष्ठ देखकर कृष्ण भागने लगते हैं।[2] "श्रीमद्भागवत" में कृष्ण के दौड़ने का उल्लेख मात्र है। पर पोतना की भाँति भागने की क्रिया का सुन्दर वर्णन नहीं है। सूरदास ने कृष्ण के दौड़ने का वर्णन नहीं किया। एक ग्वालिन कृष्ण को उसी समय पकड़कर ले आती है और यशोदा उसका हाथ पकड़ लेती है।[3] भागवत की यशोदा जब कृष्ण को पकड़ने के लिये दौड़ती है तो अपने पीनप्रकंपित नितंबों के कारण शिथिल गतिवाली हो जाती है।[4] इससे शृंगार संकेत पाकर पोतना ने स्तन-भार के कारण शिथिल और उसी के कारण प्रकंपित कटि-प्रदेश का वर्णन किया है।[5] पोतना ने दधिमंथनरत यशोदा का भी एक शृंगार चित्र खींचा है। उसके करकमलों की अरुण आभा से नेती विद्रुम लताओं के समान प्रदीप्त होने लगी। नेतीकर्षण से उनके परस्पर घर्षित पयोधर सुन्दर लगने लगे। कुचकुंभ स्थित अंचल फिसलने लगा। सुन्दर मुख-मण्डल श्वेतकणकलित हो गया इत्यादि।[6] "श्रीमद्भागवत" में इसका कुछ आभास है जिसका पोतना की कल्पना ने विशदीकरण कर दिया। सूर में यशोदा की इस झाँकी का नितान्त अभाव है। सम्भवतः उन्होंने वात्सल्य की आश्रया माता यशोदा के रूप और यौवन की स्वच्छन्द झाँकी कराना उचित नहीं समझा। इसके विपरीत क्रोधित यशोदा का रूप-वर्णन सूर ने किया है :—

कैसे हाल करौं धरि हरि के, तुम कौं प्रगट दिखाऊँ।[7]

पोतना और चितनिरुवेंगळनाथ दोनों ने ही साँटी लिये हुये क्रोधित माता का चित्र खींचा है।[8] यहाँ तक वातावरण वात्सल्य का ही है। माधुर्य का कोई संकेत यहाँ तक नहीं मिलता। सूर का इस प्रसंगगत वात्सल्य यहाँ से शिथिल होने लगता है और माधुर्य उभरने लगता है। पोतना ने कृष्ण की दयनीय अवस्था का चित्रण बड़ा मार्मिक दिया है। यशोदा से डर कर बालकृष्ण अपने हाथों से साश्रु नयनों को मींजने लगता है। तब आँखों का अंजन आसुओं से मिलकर उसकी कपोल-

[1] ते० भा०, १० पू०/३६६
[2] वही, /३६८
[3] सू० सा०, १०/३४१
[4] श्रीमद्भागवत, १०/९/१०
[5] ते० भा०, १० पू०/३७०
[6] वही, /३५५
[7] सू० सा०, १०/३४१
[8] ते० भा०, १० पू./३६२ तथा अष्टमाहिषी कल्याण, पृ० ३६

--पालि को चिह्नित कर देता है।[१] सूर ने कृष्ण का यह रूप तो चित्रित किया है, पर उलूख-बन्धन के पश्चात्। गोपियों के शब्दों में एक झांकी इस प्रकार है :—

देखौ माई कान्ह हिलकिचनि रोवै।

इतनक मुख माखन लपटान्यौं, डरनि आँसुवनि धोवै॥[२]

'अष्टमहिषी कल्याण'' कार ने भी अश्रुओं और मक्खन से समन्वित कातर कृष्ण के मुख का चित्र खींचा है।[३] कृष्ण की इस दयनीय दशा से गोपियों के हृदय का वह हिमखंड गलने लगता है जिसके माधुर्य की अजस्रधारा प्रवाहित है। वे यशोदा से बार-बार कृष्ण की मुक्ति के लिये अनुनय करती हैं।[४] इस शोकाकुलता में मधुर भाव अंतर्निहित है। गोपियों के इस रूप का संकेत तेलुगु कवियों में नहीं है।

तेलुगु कवियों की गोपियाँ उस समय अपनी माधुर्य-प्रेरित सहानुभूति को नहीं छिपा पातीं जब यमलार्जुन वृक्षों के गिरने पर कृष्ण बाल-बाल बचता है। कुछ को आश्चर्य होता है, कुछ संकट के टलने पर प्रसन्न होती हैं।[५] इन मानसिक व्यापारों के पीछे माधुर्य की प्रच्छन्न प्रेरणा है। यहाँ पर भी व्रजवासियों का आश्चर्य ही अधिक व्यजित है, मधुर भावना कम। किन्तु सूर ने इस लीला के उपसंहार में मधुर-भाव की पुष्टि की है :—

व्रजजुवती श्यामहिं उर लावतिं।

० ०

सूरदास प्रभु अति रतिनागर, गोपी हरषि हृदय लपटावतिं॥[६]

उक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उक्त लीला में हिन्दी कवियों का उद्देश्य गोपियों के गूढ़ मधुर भाव की अभिव्यक्ति ही है। पर तेलुगु कवियों ने वात्सल्य की सीमाओं का अतिक्रमण स्पष्ट रूप से नहीं किया। केवल कुछ संकेत इस अभिप्राय के मिलते हैं। जहाँ तक इस लीला के वात्सल्य वाले पक्ष का संबंध है हिन्दी और तेलुगु के कवि समान हैं। माधुर्य वाले पक्ष हिन्दी कवियों की विलक्षणता है। तेलुगु-कवियों की दृष्टि से इस लीला को वात्सल्य के अन्तर्गत ही रखा जाना चाहिये। किन्तु हिन्दी कवियों की दृष्टि से यह लीला माधुर्य और वात्सल्य के कगारों के बीच प्रवाहित है।

---

[१] ते० भा०, १० पू०/६६५

[२] सू० सा०, १०/६६५, ६६७

[३] अष्टमहिषी कल्याण, पृ० ३६ तथा ३७

[४] सू० सा०, १०/३४३, ३४६, ३४७, ३४८ आदि; सू० सा०, १०/३५४; सू० सा०, १०/३६६, ३७०-३७२

[५] ते० भा०, १० पू०/४१२-४१७

[६] सू० सा०, १०/पद ३६०

६. ७११३. गोचारण

गोचारण लीला में वात्सल्य की पृष्ठभूमि, सख्य का उदय और विकास तथा ब्रज के शत्रु अघासुर, बकासुर आदि के वध में भक्तवत्सलता की भावना ही मुख्य तत्व है। तेलुगु और हिन्दी दोनों क्षेत्रों के कवियों ने इन भावों की स्फीति इस लीला में की है। यथास्थान इनका विवेचन भी किया गया है। किन्तु यहाँ भी हिन्दी कवियों का एक वैशिष्ठ्य दृष्टिगत होता है। सूर आदि कृष्णभक्त कवियों ने माधुर्य भाव के विकास की एक अवस्था का यहाँ भी संकेत दिया है। श्री कृष्ण दिन भर वन में गाय चराते रहे, इधर ब्रजबालायें दिन भर विरहाग्नि में जलती रहीं। यह अस्थाई विरहावस्था गोपियों के प्रेम को सुदृढ़ बनाती है। संध्या समय जब वे लौटकर आते हैं तो उनकी गोरज-मंडित झाँकी दिवसकालीन विरह को समाप्त करती है —

मेरे नैन निरखि सुख पावत।
संध्या समय गोप गोधन संग बन तैं बनिब्रज आवत।

सूर स्याम नागर नारिनि कौं, बासर-बिरह नसावत ॥[१]

संध्यासमय ब्रज में प्रविष्ट होते हुये कृष्ण की शोभा[२] का पान करते-करते गोपियाँ थकती नहीं हैं। साथ ही गोचारण और सखाओं के साथ खेल-खेल में एक नवीन प्रेम का उदय और विकास होने लगता है। यह प्रेम गोपी-प्रेम से कुछ भिन्न है। कृष्ण को राधा मिलती है। जहाँ गोपियाँ कृष्ण की ओर आकृष्ट थीं वहाँ कृष्ण राधा की ओर आकर्षित हैं।[3] राधा का प्रेम इसी अवस्था में पनपता है। गोचारण के समय राधा और कृष्ण अपनी गायें सम्मिलित भी चराते हैं और फिर कभी अलग भी कर लेते हैं :— "करि न्यारी हरि आपुनि गैय्याँ"।[४] राधा-प्रेम का यह आरम्भ और गोपी-प्रेम की दिवसकालीन विरहावस्था हिन्दी-कवियों की विशेषता है जो तेलुगु कवियों को उनसे अलग करती है।

६.७१२. प्रेम की पुष्टिवाली लीला : चीरहरण

चीरहरण लीला माधुर्य के विकास में एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। पोतना ने इसकी पृष्ठभूमि में प्रेमोद्दीपक हेमंत ऋतु का सुरम्य वर्णन रक्खा है।[५]

[१] सू० सा०, १० पू०/४७६
[२] वही, १०/५०६, ५०७, ५०८ आदि।
[3] सूर स्याम देखत ही रीझें नैन नैन मिल परी ठगोरी।
—सू० सा०, १०/६७२
[४] सू० सा०, १०/७३५
[५] ते० भा०, १० पू० /७९९ से ८०७ तक।

"श्रीमद्भागवत" में भी इस उद्दीपक ऋतु की संक्षिप्त संयोजना है।[१] सूर ने इस उद्दीपक सामग्री को छोड़ दिया है। इसके स्थान पर उन्होंने एक मानसिक भूमिका रक्खी है। श्रीकृष्ण ने अपने रूपमाधुर्य से गोपियों का मन हरण कर लिया है और अब वे पतिरूप में कृष्ण का वरण करना चाहती हैं।[२] पोतना की गोपियाँ भी इसी कामना से प्रेरित होकर कात्यायिनी की आराधना करती हैं।[३] पर सूर की गोपियाँ शिव[४] और सविता[५] की आराधना द्वारा कृष्ण की पति-रूप में याचना करती हैं। "अष्टमहिषीकल्याण" में गोपियाँ यमुना में खड़ी होकर विष्णु से पति रूप में कृष्ण को प्राप्त करने के लिये अनुनयविनय करती हैं।[६] जब कृष्ण अकस्मात प्रकट हो गये तब सूर की गोपियाँ अत्यन्त संकुचित हुईं। उन्होंने अपने प्रेम को छिपाकर यशोदा को उलाहना भी दिया।[७] यशोदा अब गोपियों के गूढ़ प्रेम को समझ गयीं। इसीलिए, उन्होंने गोपियों को डाँट दिया।[८] इस प्रकार गोपियाँ लोकलज्जा से भयभीत होकर प्रेम की छिपी हुई आग में जलने लगीं। कृष्ण को इसमें एक दुराव दीखा जो प्रेम के क्षेत्र में अस्वीकृत ही है। यह चीरहरण के पूर्व की कड़ी न तेलुगु के कवियों में मिलती है, न मूल "भागवत" में। पोतना ने गोपियों के पूर्ण यौवन के उद्दाम वैभव का कामोत्तेजक वर्णन किया है।[९] ताळ्ळपाक चिनतिरुवेंगळनाथ ने कृष्ण के रूप-सौन्दर्य से जन्य मदनपीड़ा से गोपियों को पीड़ित चित्रित किया है।[१०] पर सूर ने यह वर्णन नहीं किया।

गोपियों के संकोच को विदीर्ण करने के लिये पोतना और सूर दोनों के कृष्ण गोपियों के वस्त्रों को लेकर कदम्ब पर चढ़ जाते हैं।[११] "भागवत" में और "श्रीमदांध्र-भागवत" में श्री कृष्ण चीर-हरण के लिये अकेले नहीं जाते। ग्वालबाल भी उनके साथ हैं। पर सूर ने कृष्ण को अकेले ही भेजा है। पर पोतना के कृष्ण ग्वालों को

१ "श्रीमद्भागवत", १०/२२/१

२ सूर स्याम सुन्दर पति पावै आवैं यही हमारें आस। —सू० सा० १०/७६५

३ ते० भा०, १० पू० /८०८, ८०९

४ सू० सा०, १०/७६७

५ वही, १०/७६८

६ हरिभक्तियुक्तुलै यनिशंबुनिट्लु
हरिभर्तयगुगाक यनुचु नोमुचुनु—"अष्टमहिषी कल्याण", पृ० ७०

७ सू० सा०, १०/७७१

८ वही, १०/७७३

९ ते० भा०, १० पू० /८११

१० "अष्टमहिषी कल्याण", पृ० ६८

११ ते० भा०, १० पू० /८१८, श्रीमद्भागवत, १०/२२/८, ९, सूरसागर १०/७८४

चुपचाप ही दिखाते हैं और उनको थोड़ी दूर पर ही खड़ा कर देते हैं। पोतना ने वस्त्रों की चोरी का बड़ा ही सुन्दर और नाटकीय वर्णन किया है।[1] जब गोपियों ने स्नानोपरान्त अपने वस्त्राभरणों को नहीं पाया तो वे चकित हो गयीं। तब कृष्ण ने उनसे कहा कि तुम्हारा व्रत पूर्ण हुआ, शीत में जलमग्न क्यों हो ? निकलकर अपने वस्त्र मुझसे ले लो—

ग्वालिनि अपने चीरहिं लैरी।
जल तैं निकसि-निकसि तट, दोऊ कर जोरि सीस दै दै री ॥[2]

जब गोपियों ने लज्जा की बात कही, तब कृष्ण ने कहा कि गुरुजनों के भय को दूर करके मुझसे भेदभाव मत करो, क्योंकि इससे प्रेम बाधित होता है।[3] पोतना के कृष्ण भी कहते हैं कि तुमने मेरे लिये व्रत किया। मैं तो तुम्हारे लिये पराया नहीं हूँ। अतः अपने मनोभाव को मुझ से छिपाने की चेष्टा तुम मत करो।[4] पोतना और सूर दोनों की गोपियाँ अपने शीत की पीड़ा का उल्लेख करती हैं। पर पोतना की गोपियाँ कृष्ण के प्रति कुछ क्रोधोक्तियाँ[5], नीतिकथन[6] और शिकायत करने का भय[7] की चेष्टा करती हैं। पर सूर की गोपियों में इस प्रकार के कथनों का प्रायः अभाव है।

अब गोपियाँ समझ गयीं कि बिना कृष्ण की आज्ञा पालन किये हुये वस्त्र नहीं मिलेंगे। तब उन्होंने अपने गुप्त अंगों पर हाथ रखकर जल से बाहर निकलना चाहा "जल तैं निकसि भई सब ठाढ़ी कर अंग उर पर दीन्हें।"[8] इस पर कृष्ण ने उनसे निरावरण के रूप में आने को कहा : "कर सौं कहा अंग उर मूँदो मेरे कहैं उभारो ॥"[9] पोतना की गोपियाँ भी इसी प्रकार गुप्त अंगों को छिपाकर बाहर आयीं।[10] कृष्ण की उक्तियों में पोतना ने सर्वज्ञता, सर्वव्यापी ब्रह्म की व्यंजना की है।[11] गोपियों के मन में भी कृष्ण के इस रूप की कल्पना मिलती है।[12] सूर में

---

[1] ते० भा० १० पू० /८१६-८१८
[2] सू० सा०, १०/७८७
[3] वही, १०/७९०
[4] ते० भा०, १० पू० /८३३
[5] वही, १० पू० /८२९
[6] वही, १० पू० /८२१
[7] वही, १० पू० /८२४
[8] सू० सा०, १०/७९३
[9] वही, १०/७९३
[10] ते० भा०, १० पू० /८३९
[11] वही, १० पू०/८४१
[12] वही, १० पू०/८४३

इस प्रकार की व्यंजना नहीं मिलती। अन्त में सूर और पोतना के कृष्ण शरद्कालीन रास का वचन देकर गोपियों को घर वापस करते हैं।[१]

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि तेलुगु और हिन्दी क्षेत्रों के भक्त कवियों ने चीरहरणलीला की योजना समान रूप से की है। मूल अभिप्राय, भाव विकास के स्तर, और माधुर्य की सरणि सभी दृष्टियों से पूर्ण साम्य मिलता है। पोतना ने कहीं-कहीं अपनी श्रृंगारप्रियता और वर्णनविस्तारप्रियता का परिचय दिया है जो हिन्दी कवियों से उनको पृथक करता है। सूर की गोपियाँ विनय के अतिरिक्त क्रोधादि की व्यंजना नहीं करतीं, पर पोतना की गोपियाँ करती हैं। यह अन्तर शैली और विस्तारगत है, पर भाव और अभिप्रायगत नहीं। नीचे की तुलनात्मक तालिका से परिणामगत अन्तर सुस्पष्ट होता है :—

चीरहरण लीला

श्रीमद्भागवत		सूरसागर		श्रीमदांध्र भागवत		अष्टमहिषीकल्याण		भागवत दशमस्कंध	
श्लोक	पं०	पद	पं०	चंपू	प०	द्विपदायें	पं०	द्विपदायें	पं०
२२/ १-२८ =२८	५६	१३८३—१४१७ =३५	३७८	१०पू०/७६८—८४८=५१	१०४	२८	१७५६—१६०४ =५६	०	०
२८	५६	३५	३७८	५१	१०४	२८	५६	०	०

६.७१३. प्रेम की पराकाष्ठावाली लीला : रास

रासलीला संयोग श्रृंगार का चरम है। भागवतकार ने रासपंचाध्यायी की रचना आध्यात्मिक श्रृंगार की पराकाष्ठा दिखाने के लिये ही सम्भवतः की है। उसका "श्रीमद्भागवत" में वही स्थान है जो शरीर में पंचप्राणों का। जिस मानसिक और आध्यात्मिक पृष्ठभूमि की आवश्यकता निष्काम रसरमण के लिये थी वह रासपूर्व लीलाओं में प्रस्तुत की गयी है। चीरहरण उस मायाजन्य आवरण का ही हरण है जो जीव को परमात्मा से अलग रखता है और जिसमें छिप कर जीव अपने छलव्यापारों को भगवान से भी गुप्त समझता है। इस तरह सब प्रकार से अनावृत जीव ब्रह्म की अन्तर्बाह्य क्रीड़ाओं के रसास्वाद का अधिकारी बनता है। इस प्रकार गोपियाँ रास की अधिकारिणी होकर कृष्ण के सघन सान्निध्य को रास के रूप में प्राप्त करती हैं।

[१] सू० सा०, १०/७६६ तथा ते० भा०, १० पू०/८४८

इस रास की सामग्री का मुख्य स्रोत तो "श्रीमद्भागवत" ही है। पर इसका परिशोधन और रागात्मक संस्करण कुछ भक्ति-सम्प्रदायों ने किया। उदाहरणार्थ चैतन्य संप्रदाय में राधा और गोपियों के रूप, उनकी साधना और उनकी सेवा-विधियों का विस्तृत विवेचन हुआ है। वहाँ रास का केन्द्र राधा है। कृष्ण स्वयं राधा के बिना रास-रचना में असमर्थ हैं। "रास रचे कृपा माया" में रास रचना की भूमिका में राधा-कृपा अनिवार्य तत्व के रूप में विद्यमान है। इस राधा की रूपरेखा "श्रीमद्भागवत" में उल्लिखित उस प्रधान गोपी से भिन्न है जो वहाँ कृष्ण की सर्वाधिक प्रिया के रूप में प्रतिष्ठित है। साथ ही रास की क्रिया मुख्यतः राधा और कृष्ण के बीच ही संपन्न होती है। "सखियाँ और मंजरियाँ" रास के महारस का रसास्वादन साधिकार करती हैं और नायक-नायिका के विविध सेवा-विधान की अधिकारिणी संचालिकाओं के रूप में उनकी स्थिति है। रास की ये ही दो प्रणालियाँ मुख्यतः माधुर्य प्रधान मुख्य संप्रदायों में मिलती हैं। तेलुगु-क्षेत्र में "श्रीमद्भागवत" के आधार पर ही मुख्यतः रासलीला की योजना हुई। पोतना ने भागवत का अनुसरण करते हुये न राधिका का नाम ही लिया है और न रासपूर्व लीला-विकास की स्थितियों में राधा-माधव के प्रेम का कोई विशिष्ट विकास ही दिखाया है। इस प्रमुख धारा के समानांतर एक धारा तेलुगु-क्षेत्र में और प्रवाहित मिलती है। इसका प्रतिनिधित्व चितलपूडि एल्लनार्युडु कृत "राधामाधव" और "श्रीकृष्ण कर्णामृत" का वेलगपूडि वेंकनार्युडु द्वारा अनूदित तेलुगु रूप करते हैं। तेनालि रामकृष्ण ने भी "पांडुरंगमाहात्म्य" में राधा की रूप-माधुरी का वर्णन किया है। "राधामाधव" में रास तो नहीं है, पर कृष्ण और राधा का बृन्दावन में घटित काम शृंगार, केलिव्यापारों का उन्मुक्त चित्रण है। हिन्दी-क्षेत्र में पोतना की तरह शुद्ध "भागवत" के आधार पर रास का वर्णन करने वाले कवि नहीं मिलते। सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों में एक मिश्रित प्रणाली मिलती है। इसमें राधा की केन्द्रीय स्थिति भी है और समस्त गोपिकाओं के साथ भी महारास संपन्न होता है। श्री हितहरिवंश के राधावल्लभ संप्रदाय में रास का प्रायः वही रूप मान्य है जो बंगाल के वैष्णव आचार्यों के द्वारा प्रतिष्ठित हुआ था। "श्रीहितचतुरासी" में राधाकृष्ण के रास का ही चित्रण है। इस रास-विहार में राधा को सर्वाधिक महत्व प्राप्त है। इस प्रकार के कवि तेलुगु-क्षेत्र में प्रायः नहीं हुये।

उक्त स्रोतगत और साम्प्रदायिक वैविध्यों की साहित्यिक परिणति भी दोनों क्षेत्रों में भिन्न हो गई। तेलुगु-क्षेत्र के कवियों ने रास की नायिका उस मुख्य गोपी के प्रेम का स्वतंत्र विकास नहीं दिखाया जब कि सूर ने चीरहरण लीला के द्वारा गोपियों की रास के लिये पात्रता सिद्ध की तो राधा के प्रेम का स्वतंत्र विकास भी विस्तार के साथ दिखाया। यह राधावादी संप्रदायों का बल्लभ संप्रदाय पर पड़ा हुआ उत्तरकालीन प्रभाव प्रतीत होता है। सूर ने राधा-कृष्ण के प्रेम के विकास के ये स्तंभ रखे हैं :—राधाकृष्ण मिलाप, सुख विलास, गृह गमन, राधिकाजी का

यशोदा का गृहागमन, राधा का पुनरागमन, राधा का कृष्ण से अपनी गायों का दुहाना, कृष्ण से मिलने के लिये साँप के काटने का बहाना आदि ।[१] इस समस्त प्रसंग को सूर ने अपनी कल्पना से सजीवता और स्वाभाविकता प्रदान की । यह प्रसंग आलोच्य युग के किसी तेलुगु कवि ने नहीं रक्खा । इसलिये इसके तुलनात्मक अध्ययन का प्रश्न ही नहीं उठता । जहाँ तक रास की स्थितियों और घटनाओं का प्रश्न है, सूर और पोतना दोनों ने ही "भागवत" के अनुसार इनकी योजना की है । इसका तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है ।

वेणुवादन (अह्वान उद्दीपक)—सूर ने रास के साथ तो मुरलीवादन रक्खा ही है, चीरहरण से भी पूर्व उन्होंने मुरली प्रसंग नियोजित किया है । पोतना ने भी इस प्रसंग को लिया है । दोनों की भावना समान है, कुछ विस्तार भेद हो सकता है । चीरहरण से पूर्व दोनों कवियों ने मुरली-प्रभाव, उसके सौभाग्य और गोपियों की मुरली के प्रति स्पर्धा के भाव रखे हैं । पोतना ने जड़-जंगम पर मुरली के प्रभाव का यह वर्णन दिया है :—वेणुनाद के प्रभाव-स्वरूप यमुना आनन्द से उमंग पड़ी । उसने अपने आनन्द की उमंग को हंस-ध्वनि के व्याज से, अपने रोमांच को कमलों के व्याज से और अपने हर्ष को लहरों के माध्यम से प्रकट किया ।[२] वृक्ष पुष्पवृष्टि करने लगे ।[3] वेणुनाद को सुनकर मयूर नृत्य करने लगे ।[४] केवल मर्त्य ही नहीं देव भी वेणुनाद से विथकित हो गये ।[५] पशुओं ने घास खाना बन्द कर दिया ।[६] दूध पीते हुए शिशुओं का दूध गले का गले में ही रह गया, न पेट में जा सका और न ऊपर ही आ सका ।[७] इस प्रकार सभी खग-मृग-तृण आदि मुरली के नाद से प्रभावित हो गये ।

इसी प्रकार सूरदास ने मुरली के विशद और व्यापक प्रभाव का उल्लेख किया है । जड़, जंगम हो गये, और जंगम जड़ । यमुना और समीर की गति अवरुद्ध हो गयी । पशुओं ने घास चरना बन्द कर दिया । सनकादि भी मोहित हो गये ।[८] पोतना की भाँति सूर ने भी विथकित देवताओं और स्तंभित देवांगनाओं का उल्लेख किया है ।[९] यहाँ पोतना और सूर में प्रायः समानता है । केवल सूर में विस्तार और

[१] इस विस्तार के लिये देखिये :—"सूरसागर", पहला खंड, पृ० ४९६-५२४
[२] ते० भा०, १० पू०/७८०
[3] वही, /७८१
[४] वही, /७८४
[५] वही, /७८६
[६] वही, /७८७
[७] वही, १० पू०/७८८
[८] सू० सा०, १०/६२०
[९] सुनि थके देव विमान, सुरवधू चित्र समान । —सू० सा०, १०/६२३

व्यापकता पोतना की अपेक्षा अधिक है। मुरली के सौभाग्य के संबंध में सूर की गोपियाँ चर्चा भी करने लगती हैं। पूर्व जन्म के न जाने किस पुण्य के फलस्वरूप मुरली ने कृष्ण के अधरामृत-पान का अधिकार पाया है :—

मुरली कौन सुकृत फल पाये।
अधर-सुधा पीवति मोहन को, सबै कलंक गंवाये।[१]

पोतना की गोपियाँ भी लगभग यही उक्ति कहती हैं।[२] सूर ने एक स्थान पर वंशी की दिग्विजय का बड़ा सुन्दर वर्णन किया। उसके प्रभाव-स्वरूप शील, लोकलाज, पति, घर, किसी का तन, मर्यादा आदि सभी छूट गये।[३] गृह-व्यवहार और आर्यपथ को त्याग कर वे कृष्ण की ओर चल पड़ीं।[४] पोतना की गोपियों पर भी लगभग ऐसा ही प्रभाव वंशीवादन का पड़ा। गोपियों को अपनी तन-मन की सुधि विस्मृत हो गयी।[५] सूर की गोपियों को भी इस प्रकार की विस्मृति हो गई।[६]

इस प्रकार वंशीवादन और उसके प्रभाव के वर्णन के साथ गोपियों की स्पर्धा का भाव भी आया है। पोतना की गोपियाँ यह कहकर अपनी स्पर्धा प्रकट करती हैं कि हम भी मुरली होतीं तो कितना सुयोग होता।[७] सूर की गोपियों की स्पर्धा कुछ अधिक मुखर और सपत्नीभाव से युक्त है। कभी वे मुरली से पीड़ित कृष्ण पर दया दिखाती हैं।[८] कभी वे मुरली को चुराने की योजना बनाती हैं,[९] कभी मुरली के गर्व पर प्रहार करती हैं।[१०] किन्तु पोतना और अन्य तेलुगु कवियों की गोपियाँ मुरली के प्रति इस प्रकार की डाहमयी स्पर्धा से उद्वेलित नहीं हैं।

उक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि माधुर्य भाव के उद्दीपन में वंशीवादन का बहुत महत्व है। अनन्य प्रेम की साधना यहीं से आरंभ होती है। वंशीवादन का माधुर्यपान करने के अनंतर गोपियाँ रूपमाधुर्य के पान के लिये अकुलाने लगती हैं। प्रेम-मार्ग की समस्त विघ्न-बाधाओं को सदर्प कुचलती हुई गोपियाँ कामशास्त्रीय

[१] सू० सा०, १०/६६१
[२] ते० भा०, १०/७७९
[३] सू० सा०, १०/६५०
[४] जब हरि मुरली अधर धरी।
गृह-व्यौहार तजे आरज-पथ, चलत न संक करी॥ —सू० सा०, १०/६५९
[५] ते० भा०, १० पू०/७७३
[६] सू० सा०, १०/६२१
[७] ते० भा०, १० पू०/७८२, ७८३
[८] मुरली तौ गोपालहिं भावति—सू० सा०, १०/६५५
[९] सखी री मुरली लीजै चौरी—सू० सा०, १०/६५७
[१०] मुरली अतिगर्व काहुं बदति नाहुं आजु—सू० सा०, १०/६५३

अभिसारिकाओं की भाँति आध्यात्मिक उद्देश्य से चली जा रही हैं। वंशी में उनको अपने प्रियतम का रहस्याह्वान ध्वनित अनुभव हुआ। रासलीला के प्रसंग में समस्त सांसारिक आकर्षणों और लज्जा-मर्यादा आदि बाधाओं को त्यागने की तीव्रता सबल हो जाती है। अब उनको एक दिव्योन्माद की स्थिति प्राप्त होती है। सूर और पोतना ने गोपियों के अटपटे शृंगार आदि का बड़ा सुन्दर वर्णन किया। आह्लाद मिश्रित दिव्य उन्माद की व्यंजना पोतना ने इस प्रकार की है :—कुछ गोपियाँ पुष्प-शृंगार में निरत थीं, कुछ गोपियाँ दूध गरम करना भूल गयीं और कुछ गरम दूध को उतारना ही। कुछ अपने बच्चों को ही दूध नहीं पिला सकीं। यहाँ तक कि पति-सेवा को भी कुछ ने छोड़ दिया। वे अपनी आतुरता में अपनी सखियों को सूचना भी न दे सकीं, न उनके लिये प्रतीक्षा भी कर सकीं। गुरुजनों की चेतावनी की भी उन्होंने परवाह नहीं की।[1] सूरदास ने तो इन सभी का तो वर्णन किया ही है।[2] इसके अतिरिक्त उन्होंने शृंगार प्रसाधन का विपरीत योजना का भी उल्लेख किया :—

कोउ चली चरन हार लपटाई।
काहूँ चौकी भुजनि बनाई ॥[3]

इस प्रकार वेणुवादन का माधुर्यभाव के परिपाक में बड़ा योगदान है। तेलुगु और हिन्दी कवियों ने वेणुगीत का ढाँचा "भागवत" से मुख्यतः लिया है और उसे अपनी कल्पना और भावना से दोनों ने ही सजीव और मांसल बना दिया। सूर में इस प्रसंग की मांसलता भी तेलुगु कवियों से कुछ अधिक है। ज्यों-ज्यों वंशीवादन का प्रभाव सघन से सघनतर होता जाता है, त्यों-त्यों माधुर्य भाव तीव्र से तीव्रतर। वंशीवादन आध्यात्मिक दृष्टि से एक विघ्नविनिर्मुक्त और स्वतंत्र मन की सृष्टि करता है जहाँ समस्त रासरस की अविकृत संसिद्धि हो सके। यही रासपूर्व स्थिति में वेणुवादन की महत्ता है।

सूर में एक और विशेषता है। उन्होंने वेदमर्यादा और लोकलाज के परित्याग पर बहुत बल दिया है। सार रूप में हम कह सकते हैं कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सभी के साधनों को वेणुनाद ने छुड़ा दिया। इसी अवस्था में रासरस संभव हो सकता है।

प्राकृतिक पृष्ठभूमि :—ऊपर आश्रय के अंतराल की निर्विघ्न भावदशा की सिद्धि पर विचार किया गया है। इसके लिये बाह्य उद्दीपन की योजना भी "श्रीमद्भागवत" तथा हिन्दी एवं तेलुगु काव्यों में भी मिलती है। पोतना ने शरदरात्रि का बड़ा ही मनोरम वर्णन किया है। प्राची दिशा के ललाट पर कुंकुम बिन्दु के समान चंद्रमा उदित हुआ। वह कामदेव का मोहन प्रदीप-सा लगता था

[1] इन सबके विस्तृत वर्णन के लिये देखिये :—ते० भा०, १० पू०/६६७

[2] सू० सा०, १०/६६५-१००६

[3] सू० सा०, १०/६८६, १००३

जिसे विरही मृगों के आखेट के लिये जलाया गया हो। यह शरद्-रात्रि विरहिणियों के आखेट का ही समय था। इस प्रकार का उद्दीपक शरद्-ऋतु-वर्णन पोतना ने चार पद्यों में[1] किया है। सूर ने "रास पंचाध्यायी" के आरंभिक पद में शरद् का वर्णन किया है।[2] पोतना का वर्णन सूर से अधिक अलंकृत है। सूर के वर्णन में केवल बृन्दावन, शरदाभा, यमुनातट तथा वृक्षादि का नामोल्लेख है। इसका यह महत्व है कि माधुर्यभाव के उद्दीपन में वाह्य प्रकृति भी सहयोग दे रही है।

गोपीकृष्ण संवाद—"ऐनकनप्रकारण गोपियाँ और आतुर-सी श्रीकृष्ण के पास पहुँचती हैं। प्रेममार्ग की बाधाओं पर विजय प्राप्त करके वे प्रेम की परीक्षा भी दे चुकी थीं और अपने मन को निर्द्वन्द्व भी बना चुकी थीं। पर कृष्ण ने उनसे ऐसी बातें कहीं कि वे व्याकुल हो गयीं। "श्रीमद्भागवत" में भी यह प्रसंग है।[3] कृष्ण ने पहले उन्हें गुरुजनों और लोकमर्यादा का भय दिखलाया। फिर राजदंड की ओर निर्देश दिया। लोकापवाद, माता-पिता के अपमानित होने की आशंका, सपत्नियों की ईर्ष्या का संकेत आदि सभी उक्तियों में कृष्ण ने उनको विश्वास दिलाना चाहा कि उनका इस प्रकार रात्रि में विट-संपर्क अनुचित और निषिद्ध है।[4] सामाजिक दृष्टि से उक्त उपदेश हितकर भी है और वांछित भी। सूर के कृष्ण भी गोपियों को वेदमार्ग का उपदेश देते हैं। वे उन्हें पतिव्रता, धर्म, लोकलाज, परपुरुष संपर्क-निषेध, कुलकानि आदि आदर्शों का उपदेश देते हैं।[5] इन वचनों को उन्होंने उसके मुख से सुना जिसके लिये उन्होंने सर्वस्व त्याग कर दिया था। समाज में लौट कर जाने के सभी मार्ग अवरुद्ध हो गये। इससे इनकी व्याकुलता की सीमा नहीं रही। निराश होकर बहुत सी गोपियाँ भस्मीभूत हो गयीं।[6] पोतना ने गोपियों की व्याकुलता का सूर की अपेक्षा अधिक विस्तृत वर्णन किया है। विरहाग्नि की शिखाओं से प्रज्वलित निश्वासों ने उनके मुखकमल को झुलसा दिया। कुचतट पर अंजनमिश्रित अश्रुप्रवाह होने लगा।[7] कामदेव के कषाघात से गोपियाँ अधीर हो उठीं और कातर होकर वे सभी प्रलाप-विलाप करने लगीं।[8] यह

[1] ते० भा०, १० पू०/६६३-६६६

[2] सू० सा०, १६/६८८

[3] श्रीमद्भागवत, १०/२६/२६

[4] ते० भा०, १०/६७८

[5] सू० सा०, १०/१०१२—१०१७

[6] जुवति व्याकुल भईं, धरनि सब गिरि गईं।
आस गई टूटि, नहिं भेद जानि ॥ —सू० सा०, १०/१०१६

[7] सूर ने भी इस भाव को लिखा है :—
रुदन-जल नदी-सम बहि चल्यौ उरज बिच,
मनौ गिरि फोरि सरिता पनारी। —सू० सा०, १०/१०१६

[8] ते० भा०, १० पू०/६८४

चित्र सूर से अधिक विशद है। गोपियों ने उत्तर दिया कि अब हम ब्रज को लौटकर नहीं जा सकतीं। क्योंकि हमारे लिये अब कोई स्थान नहीं रह गया और त्रिभुवन में तुम्हारे जैसा रूप भी नहीं मिलता जहाँ हम चली जायँ। सूर की गोपियों के शब्द यों हैं :—

तुम पावत हम घोष न जाहिं।
कहा जाइ लैहैं हम ब्रज यह दरसन त्रिभुवन नाहिं ॥[1]

पोतना की गोपियाँ भी कहती हैं कि आप के लोकोत्तर सौंदर्य को छोड़कर कहाँ जायँ।[2] सूर की गोपियाँ यह भी कहती हैं कि आप की रूप-माधुरी ने हमारे मन में काम जागृत कर दिया है। विरहाग्नि से हम जल रही हैं। अपने अधरामृत से इसका शमन कीजिये।[3] पोतना की गोपियों ने भी इसी प्रकार का भाव व्यक्त किया।[4] यहाँ भी हिन्दी और तेलुगु क्षेत्र के कवियों में कुछ अन्तर है। पोतना जैसे तेलुगु कवि कामपीड़िता गोपियों के द्वारा आलिंगन, चुंबन, बतरस आदि की विस्तार के साथ याचना करवाते हैं।[5] सूर आदि हिन्दी

[1] सू० सा०, १०/१०२१
[2] तें० भा०, १० पू०/९९४
ये यह भी कहते हैं कि तरु, मृग, खग, गौ आदि तुम्हारे अपूर्व रूपसौंदर्य के दर्शन और वेणुनाद के श्रवण से पिघल जाते हैं और पुलकित हो उठते हैं। जब इन्हीं की ऐसी दशा है तो हम अबलाओं की क्या दशा होगी ?
—तें० भा०, १० पू०/९९५
[3] सू० सा०, १०/१०२४
[4] तें० भा०, १० पू०/९९५
इस पद्य का भावार्थ पूर्ण रूप से द्रष्टव्य है :— तुम्हारे अधरामृत के निर्झरों से यदि हमारी प्यास नहीं बुझाओगे, यदि तुम्हारे सुन्दर वक्षस्थल से हमारे कुचों को आलिंगन में कसकर नहीं भरोगे, यदि तुम्हारे रमणीय करकमलों से हमारे अलकों का स्पर्श नहीं करोगे, यदि तुम्हारी सप्रेम चितवनों को हम पर प्रसारित नहीं करोगे, यदि तुम अपनी सरस वाणी से हमारे श्रवणेंद्रियों को संतुष्ट नहीं करोगे, तो हम अबलायें कैसे जी सकती हैं अथवा अन्यत्र कहाँ जा सकती हैं ?
[5] तें० भा०, १० पू०/९८९, ९९५, ९९८, ९९३ यह मार्मिक वर्णन द्रष्टव्य है :— यदि तुम्हारी मंजुल वाग्वृष्टि नहीं होगी तो हम इस पंचायुध की बाणाग्नि को कैसे बुझा सकती हैं ? यदि तुम्हारी चितवन-रूपी नाव न प्राप्त होगी तो हम इस विरहाब्धि का कैसे पार पा सकती हैं ? यदि तुम्हारी सुमधुर मुस्कान-रूपी चाँदनी प्राप्त नहीं होगी तो हम इस विरहरूपी अंधकार को कैसे मिटा सकती हैं ?......यदि तुम प्रेम से हमें आलिंगन में नहीं भरोगे तो हम अपने जीवन का निर्वाह कैसे कर सकती हैं ? हे युवती-धैर्यहारी कृष्ण ! यदि तुम हमसे परान्मुख रहे तो क्या वह निर्दयी पंचायुध हमें जीवित रहने देगा ? तें० भा०, १० पू०/९९८, हम विरहाब्धि की भयंकर तरंगों में डूबने जा रही हैं, किन्तु तुम किनारे बैठे हमारी दयनीय स्थिति को देख रहे हो। तुमसे बड़े निर्दयी और कठिन चित्तवाला कोई नहीं है।—तें० भा०, १०पू०/१०००.

कवियों ने इस प्रसंग को विस्तार न देते हुये संकेतमात्र दिये। गोपियाँ कृष्ण के अलौकिकत्व की ओर भी संकेत करती हैं। सूर की गोपियों ने कहा कि तुम अंतर्यामी हो।[1] गोपियों ने महिमा का वर्णन तो नहीं किया, पर यह कहा कि तुम परमपुरुष हो। तुमसे विमुख मनुष्यों को धिक्कार है।[2] साथ ही वे यह भी कहती हैं कि तुमने माता, पिता, पति आदि की जो चर्चा की है, वह सब मिथ्या है, क्योंकि ये संबंध सांसारिक होने के कारण भ्रम मात्र हैं।[3] सूर ने अलौकिकता के मात्र संकेत दिये हैं, पोतना ने इनका भी अपने स्वभाव के अनुसार विस्तार किया। उनकी गोपियाँ भी कृष्ण के अलौकिकत्व की चर्चा करती हैं[4] और सांसारिक संबंधों को मिथ्या बताती हैं।[5] ताळ्ळपाक चिनतिरुवेंगळनाथ की गोपियाँ भी कृष्ण की अलौकिकता का उल्लेख करती हैं।[6] एक कदम आगे जाकर वे कृष्ण को पुरुषोचित उपदेश देती हैं कि क्या कोई पुरुष इस प्रकार प्रेमिकाओं का तिरस्कार करता है ?[7]

अन्त में यह कहा जा सकता है कि सूर की गोपियाँ अपनी अन्तर्वेदना को अधिक ज्ञापित करती हैं और अपने प्रेम की अनन्यता का व्याकुलता से निरूपण करती हैं। पोतना की गोपियों के कथन में शृंगारोक्तियाँ और शास्त्रोक्तियाँ अधिक व्यवस्थित और पूर्ण हैं। कृष्ण की निष्ठुर उक्तियों से आहतकामा "अष्टमहिषी-कल्याण" में गोपियों की उद्दाम शृंगारोक्तियाँ भी मिलती हैं जिनमें दुर्दमनीय काम का उभार है :—तुम्हारे वचनों को सुनकर हम सरलता से जाने वाली नहीं हैं। जब हम अपने पीनोन्नत उरोजों से तुम पर प्रहार करेंगी तो तुम्हारा उद्धार कठिन होगा। हमारे प्रस्तरवत कठोर कुचाग्रों के प्रहार को तुम कैसे सह सकोगे ? आदि।[8] स्पष्ट है कि काममयी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर ही तेलुगु कवियों ने गोपियों का चित्रण किया है। हिन्दी क्षेत्र के कवियों में काम की इतनी तीक्ष्ण और उत्तेजक व्यंजना नहीं है। अष्टमहिषी-कल्याण की गोपियाँ कृष्ण को ललकारती भी हैं :—हे कृष्ण ! तुमने अपनी कनिष्ठांगुली से गिरि-गोवर्द्धन का उत्तोलन किया था। क्या तुममें इन

[1] सू० सा०, १०/१०२२
[2] वही, १०/१०२८
[3] वही, १०/१०२१
[4] ते० भा०, १० पू०/६८६, ६८७, ६६६, ६६०, ६६१
[5] वही, १० पू०/६६०, ६८७, ६८८
[6] तुम चाहो तो मीन बनकर कठिनतर काम भी कर सकते हो, बड़े पहाड़ को भी धारण कर सकते हो, पाताल में प्रवेश कर सकते हो, समुद्रों पर वारिधि बाँध सकते हो, समस्त ब्रह्मांडों का क्षण में हनन कर सकते हो और कोई भी काम तुम्हारे लिये असाध्य नहीं है। वस्तुतः हम पर तुम्हें प्रेम नहीं है, अन्यथा तुम ऐसी कटु उक्तियों को क्यों कहते।—"अष्टमहिषीकल्याण" पृ० ६१
[7] ते० भा०, १० पू०/६६३
[8] अष्टमहिषीकल्याण, पृ० ६२

कुच-द्वयों को संभालने का सामर्थ्य नहीं है ?[१] सूर की गोपियाँ बार बार अपनी पूरी अधूरी उक्तियों को दुहराती हैं जैसे शोकापन्न होने के कारण वे जो कुछ कहना चाहती हैं, कह न पा रही हों। वैसे दोनों ही कवियों का स्वर समान है। माधुर्य की बाह्य अभिव्यक्ति पोतना की गोपियों के कथन में अधिक है, सूर की सलज्ज गोपियाँ स्पष्ट रूप से कामयाचना नहीं कर पा रही हैं। इसका कारण यह है कि पोतना काव्यशास्त्र, शैली और कथन-भंगिमा के प्रति सजग और सचेष्ट हैं और सूर अनुभूतियों की उलझन में पड़कर इस सजगता को खो बैठे हैं।

गोपी-गर्व और श्रीकृष्ण का अंतर्धान होना—जब कृष्ण गोपियों के अगाध प्रेम की अनन्यता के प्रति आश्वस्त हो गये[२] तब उन्होंने रास करना स्वीकार किया। यहाँ तक कि कृष्ण गोपियों के प्रेम की उच्चता के सामने झुक गये।[३] किन्तु कृष्ण की इन उक्तियों और गोपियों के प्रति उनकी भावना तेलुगु के कवियों में नहीं आ पायी है। उन्होंने इसके पश्चात् केवल कृष्ण का हास्य निर्दिष्ट किया है।[४] और रासक्रीड़ा आरंभ कर दी।[५] सूर के कृष्ण ने गोपियों की विपरीत शृंगारसज्जा की ओर भी संकेत किया। तब वे कुछ लजा गयीं और अपने शृंगार को ठीक किया :—

> रास रुचि जबहिं स्याम मन आनी।
> करहु सिंगार संवारि सुंदरी, कहत हंसत हरि बानी।
> जब देखैं अंग उल्टे भूषन, तब तरुनी मुसुक्यानी ॥[६]

तेलुगु के कवियों ने शृंगार की विपरीत योजना नहीं की थी, इसलिए उस सज्जा की पुनर्योजना की आवश्यकता नहीं है। कुछ भी हो, यह भाव-सरणि आलोच्ययुग में तेलुगु कवियों में नहीं मिलती।

रासक्रीड़ा के वर्णन में कुछ बातें तेलुगु और हिन्दी कवियों में समान हैं, कुछ बातें भिन्न भी। स्पर्श, चुंबन आदि का वर्णन दोनों कवियों ने किया है। उदाहरणार्थ सूरदास कुच और भुजों के स्पर्श की बात कहते हैं।[७] पोतना में भी

[१] अष्टमहिषीकल्याण, पृ० ९४

[२] मोहि बिना ये और न जाने—सू० सा०, १०/१०३२

[३] तुम सनमुक मैं बिमुख तुम्हारौ
मैं असाधु तुम साधु—सू० सा०, १०/१०३३

[४] ते० भा०, १० पू० /१००१; "अष्टमहिषीकल्याण", पृ० १०४

[५] वही, १० पू० /१००२, १००३, १००४; "अष्टमहिषीकल्याण", पृ० १०४

[६] सू० सा०, १०/१०३७

[७] कुच-भुज परसि करी मन इच्छा
कछु तनुतृषा भुजानी—सू० सा०, १०/१०३७

समान वर्णन मिलता है।[1] परस्पर अधरामृत-पान भी हो रहा है।[2] सूर ने भी अधरपान की ओर संकेत किया है।[3] पोतना और चिनतिरुवेंगळनाथ ने नखक्षतों, कचखर्षण, आलिंगन आदि कामचेष्टाओं की सूची दी है।[4] पर हिन्दी के कवि भाव-विभाव के अन्य स्तरों पर विरम रहे। सूर सब से पहले कृष्ण के सौंदर्य की ओर आकर्षित गोपिकाओं का वर्णन करते हैं।[5] इसके पश्चात् वे अपनी स्वामिनी राधा की छविरेखाओं को पराकाष्ठा की ओर खींचने लगते हैं।[6] यहाँ तक कि स्वयं कृष्ण उस शोभा के सामने लज्जित हो जाते हैं।[7] जिस प्रकार पोतना ने समवेत रूप-सौंदर्य का चित्रण किया है[8] इसी प्रकार सूर ने भी घन और दामिनी[9] तथा रूप सरोवर[10] के रूपक से समवेत सौंदर्य को व्यक्त किया है। पर राधा और श्याम की जोड़ी का सौन्दर्य तेलुगु कवियों ने नहीं ग्रहण किया।[11] इस प्रकार नायक की अपेक्षा हिन्दी कृष्णभक्त कवियों ने नायिका के वर्णन में अधिक रुचि ली है। पोतना का कृष्ण अकेले ही नृत्य करते हैं और गोपियाँ गाती हैं।[12] उसी प्रकार सूर का कृष्ण भी नृत्य करता है।[13] पर गोपियाँ वाद्यवादन या गायन नहीं करतीं। तेलुगु-कवियों ने राधा-गोपियों के नृत्य का उल्लेख नहीं किया है। सूर ने राधा के नृत्य में भी रुचि ली।[14] राधा जब नृत्य करती हैं तब कृष्ण वाद्यवादन भी करते

[1] कर बाहुस्तनमर्शनंबुल नखांकव्याप्तुलन्—ते० भा०, १० पू० /१००२

[2] मंजुलाधर सुधापानंबुलं गांतलं गरगिंचेन्—ते० भा०, १० पू०/१००२

[3] अधररस अंचवत परसपर
संगसब ब्रज नारी—सू० सा०, १०/१०६२

[4] ते० भा०, १० पू० /१००२;
अष्टमहिषी कल्याण, पृ० १०३

[5] हरिमुख देखि भूले नैन—सू० सा, १०/१०३६

[6] सू० सा०, १०/१०४३ से १०५३ तक, १०५५

[7] निरखि ब्रजनारि छबि श्याम लाजै—सू० सा०, १०/१०४२

[8] ते० भा०, १० पू० /१००३

[9] मनौ माई घन घन अंतर दामिनि घन दामिनि दामिनि घन अंतर सोभित
हरिब्रजभामिनी—सू० सा०, १०/१०४८

[10] देखौ माई रूप सरोवर साज्यो
ब्रजबनिता बरबारि वृन्द में श्री ब्रजराज बिराजौ। —सू० सा०, १०/१०४९

[11] रासमंडल मध्य श्याम राधा—सू० सा०, १०/१०५२
नृत्यत हैं दो श्यामा श्याम—सू० सा०, १०/१०६०

[12] सतुलु दन्नुबाड संप्रीति नाडुचु—ते० भा०, १० पू० /१००४

[13] नृत्यत श्याम नाना रंग—सू० सा०, १०/१०५६

[14] गति सुधंग नृत्यति ब्रजनारि—सू० सा०, १०/१०५७ तथा १०५८

हैं।[१] दोनों मिलकर भी नृत्य कर रहे हैं।[२] दोनों मिलकर गाते भी हैं।[३] ब्रज के कवियों ने परस्पर आकर्षित होने और रीझने का भी वर्णन किया है।[४] इस प्रकार के रासनृत्य का वर्णन तेलुगु कवियों ने कृष्ण के अंतर्धान होने के पूर्व के रास में छोड़ दिया है। एक और विलक्षणता हिन्दी कवियों की है। सूर ने इस रास को गंधर्व-विवाह के रूप में चित्रित किया।[५] राधा-कृष्ण का विधिवत विवाह भी कराया गया है।[६] दूल्हा कृष्ण और दुलहिन राधा का यह चित्र[७] आलोच्य युग के तेलुगु कवियों में अप्राप्य है। रास के प्रसंग में तो नहीं, पर चिंतलपूडि एल्लानार्यडु के "राधामाधवम" में राधा-कृष्ण का विवाह अवश्य कराया गया है। पर वह विवाह इससे नितान्त भिन्न है। ब्रज के कवियों ने राधा-गोपियों के मन में उठने वाले गर्व-भावना के लिये समुचित पृष्ठभूमि प्रस्तुत की है।

श्रीमद्भागवत, सूर सागर और अष्टमहिषी कल्याण के अनुसार गोपिकाओं के गर्व हरण के लिये श्री कृष्ण अंतर्धान हो जाते हैं।[८] पर नंददास इस अंतर्धान को लीला के अतिरिक्त कुछ नहीं मानते और "मंजु कुंज में तनक दुरे" कहकर वे इस की संक्षिप्तता को भी व्यक्त करते हैं। पोतना के अनुसार जब गोपियाँ काम के आध्यात्मिक पक्ष की ओर न चलकर उस के स्थूल पक्ष की ओर चलने लगती हैं तब कृष्ण अंतर्धान हो जाते हैं।[९] परमरस निर्विघ्न और अविकृत मानस में ही समुद्र के समान उमड़ सकता है। इसलिये गोपियों के मानसिक विकारों को दूर करने के लिये ही भगवान कृष्ण अंतर्धान हो जाते हैं। इस प्रकार रासरस के लिये समीचीन भूमिका दोनों क्षेत्रों के कवियों ने प्रस्तुत की है।

श्रीकृष्ण से वियुक्त गोपियों की स्थिति के चित्रण में पोतना की उर्वर कल्पना अपनी क्रीड़ा के लिये स्वच्छंद क्षेत्र पाती है। उनकी अलंकारप्रियता और चमत्कृति भी विरहाभिव्यक्ति में पूर्ण योगदान देती है। पोतना की गोपियाँ पाटल, आम्रमंजरियों, कमल, माधुरीलता, कदली आदि से भाषण करने लगती हैं

[१] उघटत श्याम नृत्यहिं नारि—सू० सा०, १०/१०५९

[२] नृत्यति हैं दो श्यामा श्याम—सू० सा०, १०/१०६०

[३] गावत श्याम श्यामा रंग—सू० सा०, १०/१०८३

[४] रस बास ह्वै लपटाये रहे दो सूर सखी बलि जाय। —सू० सा०, १०/१०५७

[५] जाकौं व्यास बरनत रास
है गंधर्व विवाह चित दै सुनौ बिबिध विलास—सू० सा० १०/१०७१

[६] सू० सा०, १०/१०७२

[७] श्री लाल गिरधर नवल दूलह, दुलहिनी श्री राधिका—सू० सा०, १०/१०७२

[८] श्रीमद्भागवत १०/२९/४८ ; सू० सा०, १०/१०७९, १०८५; अ०म०क०, पृ० ९७

[९] ते० भा०, १० पू० /१००५

और यह विस्मृत कर देती हैं कि यह जड़-सृष्टि है।[1] इतना ही नहीं गोपियाँ सार्थक और कृष्ण के गुणवाली लतापताओं के नामों के माध्यम से भी प्रसंग का अलंकरण करती हैं। यह पोतना की निजी प्रतिभा का द्योतक तत्व है। लता के नाम के अनुसार ही श्रीकृष्ण का नाम गोपियाँ लेती हैं। नीचे की तालिका दृष्टव्य है—[2]

विभिन्न लताओं के तेलुगु नाम	लताओं के नाम के अनुसार कृष्ण के पर्याय शब्द
पुन्नाग	पुन्नागवंदितुडु
तिलक	तिलकनिटुलुडु
घनसार	घनसार शोभितुडु
बंधूक	बंधु मित्रुडु
मन्मथ	मन्मथाकारुड़
वंश	वंशधरुडु
चंदन	चंदनशीतलुडु
कुंद	कुंदरदनुडु
इंद्रभूज	इन्द्र विभवुडु
कुवलवृक्ष	कुवलयेशुडु
प्रियक पादप	प्रियविहारुडु
पोगड	पोगडदगुवाडु
ईड	ईडेरुंगनिवाडु
मोल्ल	मोल्लमगु कीर्तिवाडु
किंशुक	शुक निगदितुडु

सूर इत्यादि हिन्दी के कवियों ने पशु-पक्षी और लता-द्रुमों से गोपियों का संलाप तो कराया है। पर इस प्रकार का शब्द-चमत्कार उनके काव्य में नहीं मिलता। पोतना की गोपियाँ तरुवेलियों के माध्यम से कृष्ण से भी पूछना चाहती हैं कि इस प्रकार की प्रेमिकाओं को छोड़कर जाना उचित है ?:

जाति सतुल बाय नीतिये हरिकनि, जातुलार दिशलजाटरम्म ॥[3]

इस प्रकार "भागवत" के संकेत पर तेलुगु-कवियों ने गोपियों की व्याकुल खोज को कुछ अधिक विस्तृति और मार्मिकता प्रदान की है।[4]

१ ते० भा०, १० पू० /१०१३
२ वही, १० पू० /१००७, १०१५ छंदों के आधार पर।
३ वही, १० पू० /१०१३
४ विशेष रूप से द्रष्टव्य—"अष्टमहिषी कल्याण", पृ० ९९, १००

सूर आदि हिन्दी कवियों ने गोपियों की अन्य मनः स्थितियों का भी दिग्दर्शन कराया है। गोपियाँ अपने गर्व-प्रहार पर पश्चात्ताप करती हैं।[1] फिर भी कृष्ण और राधा के संबंध पर भी कुछ विचार करती हैं कि कृष्ण राधा के नचाये नाचते हैं।[2] राधा की स्वार्थपरता की ओर भी संकेत करती हैं।[3] वे यह भी कहती हैं कि यदि हमको यही विरहदाह देना था तो पहले कृष्ण ने हम से प्रेम ही क्यों बढ़ाया ?[4] इस प्रकार की मनोभूमियों के दर्शन आलोच्य-युग के तेलुगु भक्ति-साहित्य में नहीं होते। विरह में भ्रमित गोपियों को फिर चरण-चिह्न मिलने लगते हैं। इन चरण-चिह्नों के संबंध में उनके मन में विविध कल्पनाएँ उठती हैं। इन कल्पनाओं के विस्तार में भी पोतना बड़े सजग हैं। इन कल्पनाओं और भावनाओं की सूची दी जा रही है:—

भावना	श्रीमदांध्र-भागवत	सूरसागर	कल्पना
१. केवल कृष्ण के पद-चिन्ह क्यों ?	(ते०भा० १०/पू० १०२६)√	√	संभवतः राधा (गोपी-विशेष) को उठाकर ले गये।
२. अकेली राधा के पद-चिन्ह क्यों ?	०	√	संभवतः कृष्ण को उठाकर ले गयी।
३. पदाग्र चिन्हों का कुछ गहरा होना	(ते०भा० १०/पू० १०२६)√.	०	संभवतः लता-पुष्प-चयन किया।
४. एक विशिष्ट चरण चिन्ह	,, √	०	संभवतः चुंबन के लिये गोपिका का उचकना।
५. सरोवरोन्मुख या भीगे हुये चरणचिन्ह	,, √	०	संभवतः जलकेलि
६. चार चरण-चिन्ह	(ते०भा० १० पू०/१०२८)√	०	संभवतः किसी रमणी के साथ गये।

[1] चूक मानिलीन्हीं हम अपनी—सू० सा०, १०/१०८६ तथा, जनियत है अपराध हमारौ—सू० सा०, १०/१०

[2] सू० सा०, १०/१०९९

[3] सू० सा०, १०/१०

[4] सू० सा०, १०/११०३

७. मिले-जुले चरण-चिन्ह या एक पर दूसरा	,, √	०	आलिंगन आदि चेष्टायें।
८. एक और विशिष्ट चरण चिन्ह	,, √	०	संभवत: साष्टांग नमस्कार करती हुई प्रिया को उठाया।
९. आमने सामने के चरण-चिह्न	,, √	०	संभवत: प्रिया-प्रियतम आमने-सामने से मिले।
१०. प्रिय के पदांकों पर प्रिया के पदांक	,, √	०	संभवत: प्रिय चले गये और प्रिया अनुगामिनी है।
११. दो केन्द्रीय पदांक और चार उसके चतुर्दिक वृत्तगत	(ते०भा० १० पू०/१०२८)√	०	प्रिया की प्रदक्षिणा की।
१२. पृथ्वी पर चरण चिन्ह	(ते०भा० १० पू०/१०२९)√	०	चरणों की महिमा।
योग १२	११	२	१२

ऊपर की तालिका से ये निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं :—१. पोतना ने पदांक-निरीक्षण के पश्चात् सबसे अधिक कल्पनायें की हैं। उन कल्पनाओं के दो भाग किये जा सकते हैं :—काम श्रृंगार के संबंध की कल्पना और भगवान के चरणों की अलौकिकता के संबंध की कल्पना। पोतना ने अन्य चिन्हों के निरीक्षण के आधार पर भी दो कल्पनायें की हैं। एक स्थान पर फूलों को बिखरे हुये देखकर गोपियाँ अनुमान करती हैं कि कृष्ण ने यहाँ उस विशेष गोपी के जूड़े में फूल गूंथ दिये होंगे। दूसरे स्थान की अपूर्व शोभा और सौरभ को देखकर वे सोचती हैं कि कृष्ण उस गोपी विशेष के साथ वहाँ कामक्रीड़ा में निरत रहे होंगे।[1]

२. हिन्दी के कवियों ने कामाश्रित श्रृंगार-कल्पनायें नहीं की हैं। सूर ने केवल दो कल्पनायें की हैं। जब अकेले कृष्ण के पदचिन्ह मिलते हैं तो गोपियाँ अनुमान करती हैं कि संभवत: कृष्ण ने राधा को कंधे पर चढ़ा लिया और था भी यही।[2] किन्तु जब केवल राधा के चरण-चिन्ह दिखाई पड़ते हैं तब उन्हें आशंका होती है कि राधा ने भी क्या कृष्ण को उठा लिया? यह कहकर वे श्रांत भी हो

[1] ते० भा०, १० पू०/१०२६

[2] कहै भामिनी कंत सौ मोहि कंध चढ़ावहु—सू० सा०, १०/११०१

जाती हैं।[१] इस प्रकार कल्पनाओं में यह अन्तर मिलता है कि तेलुगु कवि कामुक कल्पना करते हैं और हिन्दी कवि स्वाभाविक।

राधा या विशेष गोपी का परित्याग :—सूर ने इस प्रसंग को बड़ा संक्षिप्त कर दिया। राधा के मन में यह गर्व उत्पन्न होता है कि मैं ने कृष्ण को वश में कर लिया है। मेरे समान इस सृष्टि में कोई नहीं है।[२] तब वह कृष्ण से कंधे पर चढ़ाने के लिये कहती हैं, क्योंकि रासनृत्य के कारण उसको श्रम हुआ है।[३] तब कृष्ण मुस्कुराये और थोड़ी देर में अतर्धान हो गये।[४] भगवान कृष्ण के अन्तर्धान होने की पृष्ठभूमि में भी पोतना ने विशेष गोपी का गर्व और कंधे पर चढ़ाने का आग्रह ही कारणरूप में रखे हैं।[५] "अष्टमहिषीकल्याण" में राधा से अंतर्धान होने की घटना को छोड़ ही दिया गया है।

गोपिका गीत :—पोतना और सूर दोनों ने ही गोपियों की विरहव्याकुलता को प्रकट किया है। उसमें उन्होंने विरहाग्नि से प्रेरित गोपियों की खोज की समान योजना की है। इस पर पहले विचार किया जा चुका है। जब राधा अकेली रह जाती है तब उसके विरह का पोतना ने अत्यंत संक्षेप में उल्लेख किया है। उसके विलाप की संक्षिप्त ध्वनि ही वहाँ सुनाई पड़ती है।[६] सूर ने राधा के विरह को पोतना की अपेक्षा कुछ अधिक चित्रित किया है।[७] जब गोपियों ने उसे पाया वह अचेत अवस्था में थी।[८] पर पोतना की राधा अचेत अवस्था में नहीं थी, अनेक उपचारों से राधा की चेतना वापिस आती है।[९] वह कृष्ण के अंतर्धान होने की कारणभूत घटना का उल्लेख करती है।[१०] पोतना की राधा उस घटना का विवरण तो नहीं देती, पर गोपियाँ स्वयं ही सारी बात समझ लेती हैं।[११] इसके पश्चात् पोतना ने गोपियों और राधा के सम्मिलित विरह-विथा का गायन किया। अपने कामतप्त हृदय और शरीर का वर्णन करती हुई गोपियाँ एकमात्र कृष्ण के स्पर्शोपचारों की कामना करती हैं।[१२] "अष्टमहिषीकल्याण" में भी इसी प्रकार की

१ सू० सा०, १०/११००
२ वही, १०/११००
३ वही, १०/११०१
४ तब हरि भये अंतर्धान—सू० सा०, १०/११०२
५ ते० भा०, १० पू०/१०३१
६ वही, /१०३१
७ सू० सा०, १०/११०२-११०५
८ वही, १०/११०६
९ वही, १०/११०७,११०८
१० वही, १०/१११०
११ ते० भा०, १० पू०/१०३२
१२ वही, १० पू० १०३६, ३८, ४१, ४२, ५४

उक्तियाँ विशेष मिलती हैं।[1] पर सूर की राधा और गोपियाँ इस प्रकार की शृंगार-शैली में कथन नहीं करतीं। पोतना और चिनतिरुवेंगळनाथ गोपियों के मनुहारों का भी सुन्दर चित्रण करते हैं। वे कहती हैं कि जिन चरणों को मुरझा जाने के भय से हम अपने वक्ष पर रखने में भी संकोच करती थीं, वे अब कहाँ घूम रहे हैं।[2] वे यह अनुनय भी करती हैं कि तुमने ब्रज को अनेक असुरों से बचाया और समय पर भक्तों की रक्षा करने के लिये अवतरित होते रहे। अब कामदेव के विष-बाणों के निष्ठुर प्रहार से हमारी रक्षा क्यों नहीं करते ?[3] कामपीड़ा का उल्लेख तो सूर ने किया है।[4] पर उसका विस्तार तेलुगु कवियों की भाँति नहीं किया। साथ ही तेलुगु कवियों ने कृष्ण की सुखद रूप-माधुरी और चेष्टाओं की स्मृति का भी वर्णन किया है।[5] सूर ने उनके रूप और शृंगार का सामान्य वर्णन किया है।[6] इन स्थानों को देखकर ही उनके मन में स्मृतियाँ आने लगती हैं जहाँ कृष्ण ने उनके साथ आलिंगन, चुंबन आदि किया था।[7] पर सूर आदि कृष्ण भक्त-कवियों ने इन स्थलों का विस्तार नहीं किया। राधा-मिलन के पश्चात् सूर गोपियों के विरह को जैसे भूल गये, राधा का विरह मुख्य हो गया।[8] गोपियाँ अपनी व्यथा को भूल गयीं और राधा को विविध प्रकार से धैर्य देने लगीं।[9] उसे आशा बंधाने लगीं।[10] राधा को संतोष देने के लिये बड़ी त्वरा के साथ लता-द्रुम, पशु-पक्षी आदि से पूछती फिरती है।[11] राधा के इस स्वतंत्र विरह और गोपियों की सहानुभूति आदि का वर्णन आलोच्ययुग के तेलुगु-साहित्य में नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि तेलुगु-साहित्य में राधा को वह वैशिष्ट्य प्राप्त नहीं हुआ जो हिन्दी साहित्य में। "अष्टमहिषीकल्याण" में विरहजन्य अनुभावों का भी सुन्दर वर्णन मिलता है।[12] ऐसा वर्णन सूर में भी ।[13]

[1] "अष्टमहिषीकल्याण", पृ० १०१, १०२
[2] ते० भा० १० पू०/१०५३ ; अष्टमहिर्ष पृ० १०१
[3] वही, १० पू०/१०५६,१०४०
[4] सू० सा०, १०/११२५
[5] ते० मा०, १० पू०/१०४५, १०४७
[6] सू० सा०, १०/१११८
[7] अ० म० क०, पृ० १००
[8] किहिं मारग मैं जाऊँ सखीरी मारग मोहिं बिसर्‌यौ—सू० सा०, १०/११११
सखी मोहिं मोहन लाल मिलावै—सू० सा०, १०/१११४
रुदन करति वृषभानु कुमारी—सू० सा०, १०/१११२
और भी—सू० सा०, १०/१११६, १११७ आदि
[9] राधिका सौं कह्यौ धीर धरिरी—सू० सा०, १०/१११६
[10] मिलेंगे श्याम व्याकुल दसा जिन करै—सू० सा०, १०/१११६
[11] सू० सा०, १०/११२०
[12] "अष्टमहिषीकल्याण", पृ० ६८, ६६
[13] सू० सा०, १०/११०६, ११०७, ११०८, ११६६, आदि

गोपियों के द्वारा कृष्ण लीलाओं का अनुकरण :—हिन्दी और तेलुगु दोनों क्षेत्रों के कवियों ने भगवान की लीलाओं के अनुकरण का प्रसंग रक्खा है। अन्तर स्थिति का है। तेलुगु-कवियों ने अपने मन के संतोष के लिये गोपिकाओं की लीलाओं का अनुकरण कराया। पर हिन्दी-कवियों ने, विशेषतः सूर ने, राधा के मिलने के पश्चात् उनके धैर्य के लिये इस प्रसंग को रक्खा है। तेलुगु और हिन्दी कवियों की गोपिकाओं ने निम्नलिखित लीलाओं का अभिनय किया[1] :—

लीलायें		श्रीमदांध्रभागवत	सूरसागर
बाललीलायें :-	मिट्टी खाना	√	०
	बंधन	√	०
	माखन चोरी	√	०
गोचारण :—	गोपाल	०	√
	कृष्ण-बलराम और गोप	√	०
दैत्यारि :—	दैत्यारि	√	√
	पूतना का वध	√	०
	शकटासुर का वध	√	०
	तृणावर्त का वध	√	०
	बकासुर का वध	√	०
	कालियनाग का गर्वभंग	√	०
	दावानलपान	√	०
उद्धार :—	यमलार्जुन-उद्धार	०	√
	गोवर्द्धन धारण	√	√
रूपस्वरूप :—	बनवारी	०	√
	त्रिभंगी	०	√
शृंगारलीलायें	राधा-पति	०	√
योग	१७	१२	७

इस तालिका के अनुसार यह सिद्ध होता है कि पोतना ने यहाँ भी सूर की अपेक्षा कुछ अधिक विस्तार दिया है। बाललीलाओं के अनुकरण को सूर ने छोड़ ही दिया है, पर पोतना ने नहीं। दैत्यवध का सूर ने केवल संकेत मात्र किया है।

---

[1] सूर ने एक पद में इन लीलाओं के अनुकरण की बात कही है।

—सू० सा०, १०/११२१

"करति हैं हरि चरित ब्रजनारि"

पोतना ने इन लीलाओं के अनुकरण को १० पू०/१०१८ से १०२४ तक रक्खा।

पर पोतना ने सभी प्रमुख दैत्यों की लीलाओं का पृथक उल्लेख किया है। गोचारण की लीलायें प्रायः दोनों में समान हैं। शृंगार-चेष्टाओं का अनुकरण सूर की गोपियाँ करती हैं, पोतना की गोपियाँ नहीं। सूर को यदि एक इकाई माना जाय तो उन्होंने गोचारण, शृंगार और रूप के पक्ष को प्रधानता दी है, पोतना ने दैत्यवध को प्रमुख माना है।

कृष्ण का प्राकट्य :—व्याकुल गोपिकाओं का प्रलाप सुनकर कृष्ण प्रकट हो जाते हैं। कृष्ण के प्रकट होने पर गोपिकाओं की दशा, कृष्ण का कार्य-व्यापार, उपालंभ, समाधान आदि विभिन्न स्थितियाँ घटित होती हैं। यहाँ हिन्दी और तेलुगु कवियों में अन्तर है। कृष्ण के प्रकट होने पर गोपियाँ अनेक प्रकार की कामसम्मत चेष्टायें करने लगती हैं जैसे चुंबन, आलिंगन, नखक्षत्र, कुच-प्रहार आदि। इनका सबसे अधिक विस्तृत वर्णन "अष्टमहिषी कल्याण" में मिलता है और पोतना ने भी इनका कुछ वर्णन दिया है। इन दोनों कवियों का तत्संबंधी विस्तार नीचे की तालिका से स्पष्ट होता है :—

संख्या	संयोग शृंगार : स्वरूप	अष्टमहिषी कल्याणम्, पृ० १०३, १०४	श्रीमदांध्रभागवत
१.	कुच प्रहार	✓	०
२.	अधरामृत	✓	०
३.	नखक्षत	✓	०
४.	कपोल-चुंबन (दंतक्षत)	✓	०
५.	मुख से मुख का स्पर्श	✓	०
६.	आलिंगन	✓	०
७.	आंचल से आवृत्त करना	✓	०
८.	तांबूल को हाथ में लेना	✓	(१०पू०/१०६०) ✓
९.	चरणों का कुचों पर रखना	✓	,, ✓
१०.	अपना आंचल बिछाकर बैठना	✓	(१०पू०/१०७० १०७१) ✓
११.	चरण-चांपना	✓	(१०पू०/१०७२) ✓
योग	११	११	४

उक्त चेष्टाओं के वर्णन में तेलुगु कवियों की कल्पना इसलिये रमी है कि कृष्ण के प्रकट होते ही गोपियों का धैर्य छूट गया होगा और वे अपने अंग-प्रत्यंगों में व्याप्त काम-ज्वर के शमन के लिये उद्धत चेष्टायें करने लगी होंगी। पूर्व के विरह आदि के वर्णन को देखते हुये इस प्रकार की चेष्टायें अनुचित या अस्वाभाविक

नहीं ज्ञात होतीं। पर सूर ने गोपियों के द्वारा ऐसी चेष्टायें नहीं करायीं। जो कुछ भी शृंगार चेष्टायें हुईं, कृष्ण की ओर से ही हुईं। कृष्ण ने उनका, मुख्यत: राधा का, आलिंगन किया। उनको अंक में भरा।[1] राधा ने उनके मुख को अपलक देखा।[2] साथ ही राधा कुछ लज्जित भी हुई और उनको कुछ भी करना सुहाता नहीं था।[3] कृष्ण ने भी कामचेष्टायें बहुत अधिक प्रदर्शित नहीं कीं।

गोपियाँ मान भी करती हैं। पोतना ने भृकुटि की भंगिमा से रोष की अभिव्यक्ति,[4] न बोलने[5] और न देखने[6] का निश्चय करना, उपालंभ देना[7] आदि का वर्णन किया है। "अष्टमहिषीकल्याण" में भी उपालंभ की योजना है। इसमें कुछ रोषोक्तियाँ भी हैं, औचित्यकथन भी।[8] सूर की गोपियाँ और राधा इस प्रकार का उपालंभ तो नहीं देतीं। क्योंकि उनका यह विश्वास था कि इस विरह का दोष कृष्ण पर नहीं, हमारे ऊपर ही है।[9] पर एक स्थान पर सूर ने कृष्ण का संकुचित होना और राधा का निडर होना बताया है।[10] इससे कृष्ण की दोष-स्वीकृति और राधा की निर्दोषता व्यंजित है।

इस प्रकार तेलुगु और हिन्दी-क्षेत्र की गोपियों में यह अन्तर है कि सूर आदि की गोपियाँ न मुखर हैं, न वाचाल, न उपालंभ देती हैं, और न काम चेष्टाओं की संतृप्ति में ही एक दम लगती हैं। तेलुगु-क्षेत्र की गोपियाँ कृष्ण से अनेक प्रकार के प्रश्न करती हैं। कहाँ चले गये थे?[11] क्यों चले गये थे?[12] क्या इस प्रकार तुम्हारा चले जाना उचित था?[13] और ये सब प्रश्न रोष की शैली में होते हैं। वे सब

[1] सू० सा०, १०/११२८

[2] श्याम छबि निरखति नागरि नारि—सू० सा०, १०/११३१

[3] राधा सकुचि मन जान्यौ कर्‌यौ न कछू सुनाय—सू० सा०, १०/११२८

[4] ते० भा०, १० पू०/ १०३० ; "अष्टमहिषीकल्याण", पृ० १०४

[5] वही, १० पू०/ १०६४

[6] वही, १० पू०/ १०६७

[7] वही, १० पू०/ १०६३

[8] "अष्टमहिषी कल्याणमु", पृ० १०४

[9] न्याय तजी श्यामा गोपाल,
थोरी कृपा बहुत गरबान ओछी बुधि ब्रजबाल—सू० सा०, १०/११२७

[10] पिय सकुचत, नहिं दृष्टि मिलावत, सन्मुख होत लजात।
श्रीराधिका निडर अवलोकति, अतिहि हृदय हरषात ॥—सू० सा०, १०/११३१

[11] ऐलयिंचि प्राणेश येंदुबोयितिवनि तोरंपुटलुकतो दूरँनोकटि—ते० भा०, १० पू० १०६३

[12] तलगिपो वुनट्टि तप्पेमिसेसिति, नधिप पलुकु धर्म मनिये नोकते „

[13] जलजाक्ष ! ननुबासि चनगनीपादंबुलेट्लाडेननि वग नेयिदे नोकते „

मानवती नायिका की भाँति व्यवहार करती हैं। एक गोपी कहती है कि हे कृष्ण! दुष्ट प्रारब्ध ने अब तक हमें तुमसे वियुक्त किया।[१] एक अन्य गोपी ने कहा कि न जाने किस तप या व्रत के फलस्वरूप तुम्हें पुनः देखने का हमें सौभाग्य प्राप्त हुआ।[२] कृष्ण को नीति का उपदेश भी देती हैं।[३] पर कृष्ण की श्रृंगार-क्रीड़ायें करने पर गोपियों का मान जैसे पहले ही अंतर्धान हो गया था। न वे मान करती हैं, न उपालंभ देती हैं।

इस उपालंभ के उत्तर में तेलुगु कवियों का कृष्ण अपनी सफाई और समाधान देता है। कभी कृष्ण कहता है कि मैं तुम्हारी परीक्षा ले रहा था।[४] कभी कहता है कि संयोग का महत्व वियोग से सिद्ध होता है, मैं इसलिये चला गया था।[५] और अन्त में अपना अपराध भी स्वीकार कर लेता है कि जिन गोपियों ने मेरे लिये सर्वस्व त्यागा, उनको त्यागकर चले जाना अपराध ही है और उसका प्रायश्चित्त भी करता है।[६] सूर का कृष्ण उपालंभ के उत्तर में नहीं, वैसे ही गोपियों को समाधान देता है। गोपियों को वह विश्वास दिलाता है कि तुम मुझे प्राण से भी प्रिय हो। मेरा अलग होना मात्र खेल था। तुम इतनी अधीर क्यों हो गयी थीं?[७] राधा और गोपियों के सामने आने में भी उन्हें लज्जा लगने लगी :— "सन्मुख होत लजात"।[८] इस सब कार्य-व्यापार से गोपियों को ऐसा लगा कि कृष्ण हम से अलग नहीं हुये।[९] इस प्रकार सूर ने इस प्रकरण को संक्षिप्त कर दिया है। तेलुगु और हिन्दी कवियों में तो तत्वगत एकता तो मिलती है, पर अभिप्राय, विस्तार और शैली में कुछ भिन्नता अवश्य है।

महारास :—भगवान कृष्ण के प्रकट होने पर महारास का वर्णन तेलुगु और हिन्दी कवियों ने किया है। वल्लभाचारी ने रस की अभिव्यक्ति करनेवाली लीला को "रास" कहा है। रस की अभिव्यक्ति के लिये उसमें नृत्य का समावेश भी आवश्यक बतलाया गया। रास शुद्ध मानसिक है। शारीरिक अनुभव से उसकी

[१,२] ते० भा०, १० पू०/१०६२

[३] वही, "अष्णमहिषी कल्याण"।

[४] वही, १० पू०/१०७८

[५] वही, १० पू०/१०७६, १०७७ ; अष्टमहिषी कल्याण", पृ० १०५

[६] वही, १० पू०/१०७८, १०७९ ; "अष्टमहिषीकल्याण", पृ० १०५

[७] सू० सा०, १०/११२८

[८] वही, ११३१

[९] वै जानति हरि संग तब हिंते, वहै बुद्धि सब वहै हियौ—सू० सा०, १०/११३०

प्राप्ति नहीं हो सकती ।[१] इसके उन्होंने दो रूप माने हैं :—आभ्यंतर और बाह्य ।[२] कृष्ण का अंतर्धान होना आभ्यंतर रमण ही है । आभ्यंतर रमण के प्रत्येक पद-विन्यास में मन के विकारों को पराजित करने की शक्ति होती है । इस अंतर-रमण के पश्चात् कृष्ण गोपियों के साथ बाह्य-रमण में प्रवृत्त होते हैं । आभ्यंतर रास बाह्यरास की पात्रता प्रदान करता है । जिस प्रकार भ्रमर रात्रि में कमलकोश में बद्ध हो जाता है और प्रातःकाल फिर प्रकट होकर कमल-कली की छवियों के साथ रासनृत्य करता है, उसी प्रकार कृष्ण गोपियों के हृदय-कमलों में प्रविष्ट हो गये थे और फिर बाह्य रमण के लिये प्रकट हो गये । रास के उपकरणों का नीचे तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है :—

इन उपकरणों से अलौकिक रासलीला संपन्न होती है ।[3] सभी कवियों ने न्यूनाधिक रूप से इन सभी उपकरणों का वर्णन किया है ।

(क) रासक्षेत्र : बृन्दावन :—पोतना ने कमलकर्णिकाकार रासमंडल की चर्चा की है ।[४] "अष्टमहिषीकल्याण" कार ने भी रासरंगमंच को मंडलाकार बताया है ।[५] पोतना पर संभवतः योग की दृष्टि का कुछ प्रभाव था जिसके कारण उन्होंने रासमंडल को कमलकर्णिकाकार कहा है । कमल के मध्य में त्रिभंगी कृष्ण स्थित हैं ।[६] रास का योगपरक अर्थ भी किया जाता रहा ।[७] इससे अधिक वर्णन तेलुगु-कवियों ने रासक्षेत्र का नहीं किया । वहाँ प्राकृतिक सौंदर्य ऋत के अनुसार अवश्य किया है ।[८] किन्तु सूर ने रासक्षेत्र बृन्दावन का अनेकत्र आध्यात्मिक रूप प्रस्तुत किया है ।[९] रास-प्रसंग में भी उन्होंने एक अवतार-कथा की कल्पना की । वेद की ऋचाओं ने

१ रसस्याभिव्यक्तिर्यस्मादिति, रसप्रादुर्भावार्थमेव नृत्यम् ।
रासक्रीड़ायाँ मनसो रसोद्गमो नतु देहस्य । —'भागवत" की सुबोधिनी टीका'
(रस-प्रकरण)

२ बाह्याभ्यन्तरभेदेन आन्तरं तु परं फलम्
—सुबोधिनी फल-प्रकरण कारिका

३ "श्रीमद् भागवत", १०/२६/१३-१६ तथा १०/३३/३०-३७

४ कमलकर्णिकाकारंबुन नडुमनिलिचि—ते० भा० १० पू०/१०८२

५ "अष्टमहिषी कल्याण", पृ० १०५

६ ते० भा० १० पू०/१०८२—"त्रिभंगियै कमलकर्णिका कारंबुन नडुमनिलिचि" ।

७ "योग की दृष्टि से भी रास का महत्व इसी प्रकार समझा जा सकता है । अनाहतनाद ही भगवान श्रीकृष्ण की वंशी-ध्वनि है, अनेक नाडियाँ ही गोपिकायें हैं, कुण्डलिनी ही राधा है और मस्तिष्क का सहस्रदल कमल ही वह बृन्दावन है जहाँ आत्मा और परमात्मा का मिलन होता है ।"
—"सूर और उनका साहित्य", डा० हरवंशलाल शर्मा, पृ० २०६

८ ते० भा० १० पू०/६६३ ने ६६६ तक

९ सू० सा० १०/१११०

भगवान से रासरस की अभिव्यक्ति की प्रार्थना की। तब श्रीकृष्ण ने अपने नित्यलीलाधाम को बृन्दावन के रूप में प्रकट किया।[१] बृन्दावन का यह आध्यात्मिक स्वरूप तेलुगु-कवियों ने प्रस्तुत नहीं किया। साथ ही सूर ने बारह कोस इसकी सीमा मानी है।[२] और मानसरोवर बंशीवट जैसे स्थानीय नाम भी दिये। इसका प्राकृतिक सौंदर्य भी उन्होंने चित्रित किया है। कल्पवृक्ष और कामधेनु भी इसकी समता में हीन ठहराये गये। बृन्दावन-महिमा का गायन "भागवत" आदि वैष्णवपुराणों में भी पर्याप्त है और बंगीय वैष्णवों ने भी इसका विशद वर्णन किया। सूर ने इन दोनों ही आधारों पर रासमंडल का निरूपण किया है। इसका आध्यात्मिक स्वरूप स्थापित करने के लिये सूर ने यहाँ तक कह दिया कि यहाँ रात्रि-दिवस का भेद भी नहीं रहता।[3] ब्रज के निवास के कारण संभवतः सूर ने इन स्थानों के प्रति अपनी भावना का विस्तार किया।

(ख) **रसिक शिरोमणि कृष्ण : नायक** :—कृष्ण के अलौकिकत्व की व्यंजना पोतना पग-पग पर करते हैं। उनके आध्यात्मिक और ऋषि-मुनि-सेव्यरूप की चर्चा आन्ध्रभागवत में अनेकत्र मिलती है। रासक्रीड़ा के उपसंहार में वे इस ओर स्पष्ट निर्देश करते हैं। ये कृष्ण भाव के वशीभूत होकर गोपियों के साथ रास करते हैं।[४] सूर ने भी कृष्ण का अलौकिक रूप ही रास के प्रसंग में रक्खा है। पर इस अलौकिकत्व को उन्होंने एक विशेष कथा-प्रसंग से युक्त किया।[५] एक बार प्रकृति पुरुष में लय हो गयी। जगत का भी प्रलय हो गया। एक वैकुंठलोक बचा और त्रिभुवनपति निराकार भगवान शेष रहे। श्रुतियों ने उनकी स्तुति की और वरदान में उन्होंने यह माँगा कि अपने त्रिगुणातीत रूप को प्रकट कीजिये। तब वेद की ऋचाओं ने गोपियों के रूप में प्रकट होकर उनके साथ वरदान माँगा :—

सुतिनि कह्यौ ह्वै गोपिका, केलि करैं तुम संग।

इस प्रकार परब्रह्म ने श्रुतिरूप गोपियों के साथ रास करने का निश्चय किया। यह भूमिका तेलुगु कवियों ने नहीं दी है। कृष्ण के रसिक रूप का वर्णन आगे दिया गया है।

(ग) **कृष्ण की आह्लादिनी राधा : नायिका** :—तेलुगु कवियों ने राधा का नाम ही नहीं लिया। इसका कारण "भागवत" में राधा कृष्ण के उल्लेख का

[१] नित्यधाम बृन्दावन श्याम, नित्यरूप राधा ब्रजधाम।
नित्यरास जल नित्य बिहार, नित्यमान खंडिताभिसार॥
—सूरसागर दशम स्कंध, रासपंचाध्यायी

[२] सू० सा०, १०/११८०

[3] वही, दशमस्कंध, रास पंचाध्यायी,—"भोर निसा कबहूँ नहिं जानत,
सदा रहति एक रंग।"

[४] ते० भा०, १० पू०/१०९८, १०८२, ११०७

[५] सू० सा०, दशमस्कंध, पद ११७५

अभाव हो सकता है। सूर के अनुसार राधा कृष्ण की शक्ति है। राधा और कृष्ण आध्यात्मिक दृष्टि से अभेद है।[1] एक स्थान पर स्वयं कृष्ण इस तत्व की व्याख्या करते हैं।[2] तेलुगु कवियों ने न राधा का ही उल्लेख किया, न प्रमुख रास-नायिका गोपी का ही आध्यात्मिक निरूपण किया। इस अवस्था में सूर की राधा के आध्यात्मिक निरूपण का विस्तार अनावश्यक होगा।

(घ) **राधा की कायव्यूहरूपा गोपियाँ** :—तेलुगु कवियों ने गोपियों के सौंदर्य, उनकी सज्जा और कृष्णजन्य संबन्ध-सौभाग्य का तो बहुत विवरण दिया है। पर उसकी आध्यात्मिक स्थिति पर कुछ नहीं कहा। पोतना ने एक स्थान पर उनको कृष्ण की प्रतिबिम्ब-रूपिणी बताकर इस ओर कुछ संकेत किया।[3] जैसा कि ऊपर बताया गया है कि सूर ने गोपिकाओं को वेद की ऋचाओं के रूप में माना है, साथ ही उनको मानवीय गुणों से भी युक्त किया है। उनकी उक्तियों में व्रज-युवतियों का सा भोलापन बड़ा आकर्षक बन गया है। "भागवत" में गोपियों को अतिप्राकृतिक बना दिया गया। सूर में दोनों का समन्वय है। सूर और तेलुगु कवियों में एक और अंतर यह है कि सूर ने कुछ ललितादि व्यक्तिगत गोपिकाओं का भी उल्लेख किया है।[4] तेलुगु-कवियों ने गोपियों का वर्णन केवल सामूहिक किया है। "भागवत" में भी सामूहिक वर्णन ही मिलता है। इसका कारण साम्प्रदायिक हो सकता है। एक और अन्तर यह है कि सूर ने भागवत के अनुसार गोपियों की चरणरज की महिमा का गायन किया है। ब्रह्मा और भृगु के संवाद के द्वारा इस तत्व को स्पष्ट किया गया है :—

गोपी-पदरज महिमा, बिधि भृगु सौं कही।
बरष सहस तप कियौ, तऊ मैं जा लही॥[5]

अंतिम भेद यह है कि गोपियों की संख्या भी सूर ने दी है :—"षट-दस सहस घोष सुकुमारी"[6] यह संख्या रूढ़ और परम्परागत प्रतीत होती है, यथार्थ नहीं।

(ङ) **नृत्य-गायन** :—जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि वल्लभाचारी ने रस की अभिव्यक्ति के लिये नृत्य को आवश्यक माना। दोनों ही क्षेत्रों के कवियों ने नृत्य की योजना की है। पर पोतना ने रास के प्रकारों और नृत्य की मुद्राओं की विस्तृत चर्चा की। रासो के इतने प्रकार पोतना ने गिनाये :—शंख,

[1] सू० सा०, १०/११०१
[2] वही, पद ४६१०
[3] ते० भा०, १० पू०/१०६६
[4] ललिता के वर्णन के लिये देखिये—सू० सा०, १०/११५२
[5] सू० सा०, १०/११७५
[6] वही, १०/१०४७

पद्म, वज्र, कंदुक, चतुर्मुख. चक्रवाल, चतुर्भद्र, सौभद्र, नाग, नंद्यावर्त, कुंडलीकरण, खुररीबंध।[1] रास के प्रकारों के अतिरिक्त अनेक मुद्राओं के उल्लेख भी पोतना ने किये हैं :—

समपादविनिर्वतित गनागतवलित वैशाखमंडल
त्रिभंगि प्रमुखंबु लैन तानकंबुल निलुचुचु[2]

नृत्य के साथ वाद्यों और उनकी ध्वनियों के सम्बन्ध में भी तेलुगु कवियों ने लिखा है। वीणा और मुरली का विशेष उल्लेख है।[3] सूर ने मुरलीवादन का तेलुगु कवियों की अपेक्षा अधिक वर्णन किया है।[4] इसके साथ ही तेलुगु-कवियों की अपेक्षा सूर अधिक वाद्यों का भी उल्लेख करते हैं।[5]

वाद्यों से अधिक मनोरम-वर्णन रास के लटक-झटक होनेवाले आभूषण रव का वर्णन पोतना ने किया है :—किंकिणी, मंजीर, शिंजिनी आदि का सुन्दर शब्द रासनृत्य के साथ अनुपम ताल दे रहा है।[6] सूर की गोपियों के आभूषणों के "रणन्-क्वणन्" की मिश्रित ध्वनि भी अद्भुत वातावरण उत्पन्न कर रही थी।[7] अन्यत्र भी सूर ने आभूषण झकार का विवरण दिया है।[8]

सूर ने नृत्य की मुद्राओं का नामोल्लेख तो नहीं किया, पर सामान्य रूप से कुछ मुद्राओं का उल्लेख किया है। कभी भुजाओं के खिराने का उल्लेख किया है।[9] कभी नारि और पुरुष के नृत्य का उल्लेख मिलता है। कभी पैरों के पड़कने और भुजाओं के लटकाने का भी उल्लेख है।[10] नृत्य की गति के साथ आभूषणों के हिलने और विविध हावभावों का उल्लेख भी दोनों क्षेत्रों के कवियों ने किया है। कानों के कुंडल, हार हिलते हैं, यह पोतना ने लिखा है।[11] सूर ने भी कुछ ऐसा ही वर्णन किया है।[12]

[1] ते० भा०, १० पू०/१०८२

[2] वही, /१०८२

[3] वही, १० पू०/१०८२

[4] सू० सा०, १०/१०६४, १०६६, १०६७, १०६८, १०६९, १०७०

[5] वही, १०/१०५९

[6] कनक किंकिणी मंजुल मंजीर शिंजिनंबुलु
जगज्जनकर्ण रजनंबुलै चेलंग—ते० भा० १० पू०/१०८२

[7] सू० सा०, १०/१०५८

[8] वही, १०/१०५६

[9] भाव सौं भुज फिरत जबहिं—सू० सा०, १०/१०५६

[10] पग पग पटकि भुजनि लटकि, फूंदा फरनि अनूप—सू० सा०, १०/१०५७

[11] ते० भा०, १० पू०/१०८२

[12] चंचल चलत झूमका, अंचल, अद्भुत है वह रूप।—सू० सा०, १०/१०५७

नृत्य की गति क्षण क्षण तीव्र से तीव्रतर होती जाती है। अन्त में गति इतनी तीव्र हो गयी कि आभूषण परस्पर एक दूसरे से उलझने लगे। पोतना ने गोपी के हार के उलझने का उल्लेख एक स्थान पर किया है।[१] इससे भी मधुर क्षण वह था जबकि गोपी का हार कृष्ण के पीतांबर से उलझ गया, इसके फलस्वरूप गोपी को गाढ़ालिंगन मिला।[२] सूर ने प्रिया-प्रियतम की उलझन-सुलझन का बड़ा ही रससिक्त वर्णन किया है। कुंडल से लट उलझ गई, बेसर से पीतपट उलझ गया और बनमाल में दोनों ही उलझ गये। इस उलझन का एक आंतरिक पक्ष भी है। प्राण से प्राण, नैन से नैन अटक गये।[३]

नृत्य और मुद्राओं का पशु-पक्षियों की आकृतियों के रूप में भी परिगणन किया जाता है।[४] पैर, नयन, राग और मुख की भंगिमाओं से विभिन्न सूक्ष्मभावों का अभिनय करने का शास्त्रीय वर्णन भी पोतना ने दिया है :—गटि भ्रांत दंडरचित ललाट तिलक मयूर ललित चक्रमंडल निकुंचित गंगावतरण प्रमुखंबुलैन कारणंबु लेर्रिगिंचुचु वेलिदम्मि विरुलसिरुल जेन्नु मिगुलु कन्नुलवलन दीनजनदैन्यकर्कशबुले तनरुकटाक्षदर्शन जालंबुलु जालंबुलै कामिनी जन नयनमीनंबुल नार्वरिप ललित कुंचित विकास मुकुल प्रमुखंबुलयिन चूड़कुलं देजरिल्लुचु ननेकपरि पूर्णचंद्रसाभाग्य सदनंबुलगु बदनंबुलब्रसन्न रागंबुलु प्रकटिंचुचु, नुदंचितपिंछ मालिका मयूखंबु लकालशक्र चापं बुलसोंपु संपादिंर निकुंचिता कुंचित पंपिताकंपित परिवाहित परावृत्त प्रमुखंबुलैन शिरो भावंबुलु नेर्पुचु......जरणकटिकंट रेचकंबुला चरिंचुचु नोप्पे नप्पुडारासंबु"[५] सूर आदि हिन्दी कवियों ने नृत्य आदि का इतना शास्त्रीय परिगणन नहीं किया है। केवल ब्रज की युवतियों के सुगंध-नृत्य का ही सूर ने उल्लेख किया है।[६] नृत्य के साथ जो तालमय शब्द मुँह से निकलते हैं, उस उघटन का भी सूर ने उल्लेख किया है।[७]

(च) संभोग वर्णन :—नृत्य की तीव्र गति से कृष्ण-प्रियायें परिश्रांत हो गईं। श्वेद कण अंग-प्रत्यंग पर झलकने लगे। कृष्ण को कामनृत्य-स्लथ ब्रजबालाओं पर श्रृंगार-मिश्रित दया आयी। पोतना के कृष्ण ने स्वेद कणों का सामान्य रूप से

[१] हारमुल् सुडिवड—ते० भा०, १० पू०/१०८३
[२] हारमोक्कसतिकि नूंसावृतं बैन, गांतुड्रमुर्जेचि कौगिलिंचे
—ते० भा०, १० पू०/१०६४
[३] सू० सा०, १०/११४६
[४] ते० भा०, १०/१०८२
[५] वही, १० पू०/१०८२
[६] सू० सा०, १०/१०५७, १०५८
[७] वही, १०/११४८

निवारण किया ।[1] श्वेद कणों के निवारण के लिये हवा भी करने लगे ।[2] यहाँ तक उनकी कृपा का पक्ष मुख्य है, शृंगार का गौण । थोड़ी देर में उन्होंने देखा कि प्रिया के कुच-कुंभों पर भी श्वेदकण झलमल कर रहे थे, तो चतुर कृष्ण ने अपनी कनिष्ठा अंगुली के मृदु संचार से स्वेद कणों का निवारण किया :—

"जेमरिंचि योकबाल सेरिन गोन गोर जतुरूडु कुचधर्म जलमु वापे ।।"[3]

न जाने कितने कामस्फुरणों से गोपी का मन और न जाने कितने फुलकों से उसका तन भर गया होगा । सूर ने भी प्रिया के श्रमकणों के ब्याज से प्रियतम की शृंगार चेष्टाओं का अनेक प्रकार से वर्णन किया है । पहली बार उन्होंने अपने पीतांबर से प्रियतमा का श्रमजल पोंछा और कंठालिगन लेकर अपना पारिश्रमिक भी पा लिया ।[4] जब फिर श्रमजल झलकने लगा तो अपने श्वासवायु से उसको सुखाने लगे ।[5] यही नहीं, कृष्ण प्यारी के आंचल से अपना पसीना भी पोंछते हैं :—

सूरदास प्रभु प्यारी मंडली जुवति भारी, नारी कौं
अंचल लैं ले, पोंछत हैं स्रमकन ।।[6]

पोतना से एक कल्पना सूर की विलक्षण है । कृष्ण के श्रम-निवारण-संबन्धी प्रयत्नों में शृंगार की इतनी अनुभूति छिपी हुई थी कि राधा को भी इसी प्रकार के प्रयत्न करने की इच्छा हुई । इसलिये वह कृष्ण से नृत्य करते-करते थक जाने के लिये कहती है । जिस प्रकार उन्होंने उसके श्वेदकणों का निवारण किया है, वह भी करने के लिये उत्सुक है और जिस प्रकार कृष्ण ने उनके थके हुये चरणों को चाँपा था, उसी प्रकार की अब वह नहीं कर सकती ?[7] पोतना का कृष्ण श्रमित गोपी को अपनी भुजा से सहारा देता है ।[8] सूर के कृष्ण भी थकी हुई राधा को कभी-कभी अपनी गोद में ले लेते हैं ।[9]

पोतना ने एक और भावना इस प्रसंग में रक्खी है । रास की द्रुत गति में गोपी के केशपाश और उसकी साज-सज्जा अस्तव्यस्त हो जाती हैं । कृष्ण उस सज्जा

[1] रमणीधर्म निवारियौ मदवती रास श्रमोत्तारियै ।
—ते० भा०, १० पू०/१०८९

[2] कमलाक्षुंडलरंगालिविसरें गल्याण भावंबुनन्—ते० भा०, १० पू०/१०८९

[3] ते० भा०, १० पू०/१०९४

[4] पीतबसन लै श्रमजल पोंछति पुनलैं कंठ लगाई ।। —सू० सा०, १०/११४६

[5] श्रमकण देखि पवन मुख ही कै फूंकि झरावत अंग—वही,

[6] सू० सा०, १०/१७६७

[7] वही, १०/११४७

[8] ते० भा०, १० पू०/१०९४

[9] कबहुँ लेहि उछंग बाला, कहि परस्पर बात । —सू० सा०, १०/११५३

को ठीक कर देते हैं।[१] गायन करते-करते श्रमित बाला को अधरामृत पान कराके जीवन देते हैं।[२] सूर ने भी अलकों का बिखरना, फूलों का गिरना आदि का उल्लेख किया है।[३] एक बार रास करते-करते राधा की मुक्तमाला टूट गयी और वह पृथ्वी पर गिरने लगी। पर कृष्ण ने कहा कि जो माला प्रियतमा के वक्षस्थल पर सुशोभित होती है, उसे धरती पर नहीं गिरा देना चाहिये। यह सोचकर उन्होंने उस माला को उठा लिया :—

प्रेम सहित माला कर लीन्हीं।
प्यारी-हृदय रहति यह जानी, भूपर परन न दीन्हीं॥[४]

परस्पर एक दूसरे को अपने हावभावों, कामसंकेतों आदि से आकर्षित करते हैं। सूर ने इस पक्ष का बहुत वर्णन किया है। कहीं भौंहों का मटकना,[५] कहीं कृष्ण के द्वारा उन्नत कुचों का देखना[६], कभी गोपियों द्वारा कृष्ण के विशाल भुजाओं को देखना,[७] कभी नैनों से संकेत करना[८], कभी चुंबन देना, अधरामृत देना आदि अनेक हाव-भाव और अनुभावों का वर्णन मिलता है। पोतना ने भी इनका उल्लेख किया है।[९] सूर की राधा में कामावेश इतना अधिक है कि उसकी कंचुकि कुचों की उमंग के कारण फट जाती है।[१०] पोतना ने तो ऐसा वर्णन नहीं किया है, किन्तु रास करनेवाली गोपिकाओं की मेखलायें ढीली हो जाने का इन्होंने संकेत दिया है।[११] सूर ने एक और विलक्षण बात रक्खी है कि परिश्रांत राधा की सेवा उनकी सखि ललिता भी करती है।[१२] यह बंगीय प्रभाव ज्ञात होता है।

(छ) **जल-क्रीड़ा** :—रासलीला-श्रांता व्रजवनिताओं को लेकर कृष्ण जल-विहार को जाते हैं।[१३] दोनों ही क्षेत्रों के कवियों ने रासोपरान्त जलक्रीड़ा में

[१] नलकंबु लोकयितिकळिकचित्रकरेखनंटिन ब्रियुडु वायंग दुव्वे। ते० भा० पू०/१०९४
[२] बडति योकते पाटवाडि डस्सिन नधरामृतमुन नाथुडादरिंचे। वही, /१०९४

[३] सू० सा०, १०/१०५७
[४] वही, १०/१७६४
[५] वही, १०/१०४१
[६] वही, १०/१०५३
[७] वही, १०/१०५३
[८] वही, १०/१०५७
[९] ते० भा०, १० पू०/१०९५
[१०] सू० सा०, १०/११४५
[११] मेखलल् बदल—ते० भा०, १० पू०/१०८३
[१२] सू० सा०, १०/११५२
[१३] ते० भा०, १० पू०/१०९८ ; सू० सा०, ११/५६

रुचि ली है। वास्तव में स्थलरास के पश्चात् का यह जलरास ही था। सूर ने जल और स्थल की रासलीला का स्पष्ट उल्लेख किया।[१] पोतना ने स्पष्ट रूप से जलरास का नामोल्लेख नहीं किया, पर "अष्टमहिषीकल्याणमु" कार ने स्पष्ट रूप से जलरास का नामोल्लेख भी किया है।[२] अष्टमहिषीकल्याणकार ने विधिवत नृत्य ही जल में कराया है।[३] सूर की गोपियाँ भी युगल-किशोर को अपने हाथों से बने हुये वृत्त से परिवेष्ठित कर लेती हैं।[४] पर तेलुगु कवियों ने जलक्रीड़ा के वर्णन के साथ-साथ प्रकृति का अलंकृत वर्णन भी प्रस्तुत किया। इसका संक्षिप्त परिचय पीछे दिया जा चुका है।

यमुना की प्रकृति-संपत्ति का वर्णन अष्टमहिषीकल्याणकार ने किया है।[५] पोतना ने गोपिकाओं के अंगों को सरोवर के रूप में चित्रित करके प्राकृतिक संपत्ति का सुन्दर वर्णन किया है:—गोपिकाओं के कुच, नयन, नाभीविवर, कुंतल क्रमशः उस यमुना के चक्रवाक, मीन, आवर्त, शैवाल के रूप में बिखरे पड़े हैं।[६]

एक स्थान पर और सुन्दर वर्णन अष्टमहिषीकल्याणकार ने किया है। गोपियाँ भ्रम से लहरों को कृष्ण का कर समझकर उनकी ओर बढ़ती हैं। इसी प्रकार शैवाल को श्रीकृष्णकच समझकर उन्हें पकड़ना चाहती हैं। पर तुरन्त उन्हें अपनी भूल ज्ञात होती है।[७] उनके केशों से आकृष्ट होकर भ्रमर उनके सिर पर मंडराने लगे, किन्तु उनके तैरने की तीव्रगति से डरकर भागने लगते हैं।[८] चकवा पहले गोपियों के उरोजों से भयभीत होकर चले जाते हैं, फिर गोपियों के मंदहास को देखकर लौट आते हैं। शुक भी उनके बिंबाधरों से आकर्षित हैं।[९] गोपियाँ शैवालजाल को चीरती हुई जाती हैं।[१०] गोपियों के अंगराग से रंजित होकर यमुनाजल संध्या के समान प्रतीत होता है।[११] इस प्रकार रूढ़ उपमानों के द्वारा जलक्रीड़ा का मनोरम वर्णन प्रस्तुत किया गया है। पोतना में भी इस प्रकार का वर्णन मिलता है। लहरों के संस्पर्श से गोपियाँ पुलकित हो गयीं। गोपियों के समूह से विचलित मरालमाला इधर-उधर तैरने लगी। छोटे-छोटे चक्रवाल गोपियों के

[१] सू० सा०, १०/११५७
[२] "अष्टमहिषीकल्याण", पृ० ११०
[३] वही, पृ० १०८
[४] सू० सा०, १०/११६३
[५] अष्टमहिषीकल्याण, पृ० ११०
[६] ते० भा०, १०६६
[७] "अष्टमहिषीकल्याण", पृ० १११
[८] वही
[९], [१०] वही, पृ० ११२
[११] वही, पृ० ११३

उन्नत कुचों के समान बड़े होने के लिये जैसे तपस्या कर रहे हों। चंद्र का जल-प्रतिबिंब ऐसा प्रतीत होता था मानों गोपियों के सौंदर्य से पराजित होकर वह जल में छिपता फिर रहा हो। अलिकुल गोपियों के मुख-माधुर्य से आकर्षित होकर उन पर घेरा पड़ रहा है।[१] पर सूर ने जलक्रीड़ा के समय प्रकृति का ऐसा अलंकृत वर्णन नहीं किया। यहाँ भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि तेलुगु कवि अलंकार और वर्णनप्रिय हैं।

जलक्रीड़ा का वर्णन तेलुगु-कवियों की अपेक्षा सूर में अधिक मिलता है। पोतना ने इस क्रीड़ा का वर्णन इस प्रकार किया है :—सुन्दरियाँ थोड़ा थोड़ा करके यमुना में प्रविष्ट हुईं। यमुनाजल धीरे धीरे उनके जानु, जाँघ, कटि, कुच आदि का स्पर्श करने लगा। उन्होंने हाथों को तैरने के लिये पसारा। किन्तु अपने अभिमुख आकर स्पर्श करनेवाली तंरगों से ये पुलकित हो उठती थीं। गोपियों के द्वारा जलसिक्त होते हुये कृष्ण ऐसे प्रतीत होते हैं मानों अनेक हथिनियाँ एक हाथी पर जल-धारायें बरसा रही हों। गोपियों के करकिसलय कृष्ण को आच्छादित करने लगे। जल के भीतर जब आलिंगन होने लगा तो गोपियों के कुच-कलशों के कुंकुम और अंगराग से लिप्त होकर कृष्ण उदयकालीन सूर्य के समान प्रतीत होते थे। गोपियों का मंदहास्य हो रहा था।[२] "अष्टमहिषी कल्याण" में भी वर्णन कुछ ऐसा ही है। कभी कंठालिंगन होता है।[३] कभी कृष्ण गोपियों के कुचों का मर्दन करते हैं।[४] कभी कृष्ण को वे उठा लेती हैं और कृष्ण उनके ललाट का स्पर्श करते हैं।[५] उनके जूड़े भींगकर ढीले होने से ऐसे प्रतीत होते थे मानों अलिकुल उड़ रहा हो।[६] अन्त में स्नानोपरान्त सज्जा का विस्तृत वर्णन अष्टमहिषीकल्याणकार ने किया है। विविध अंगरागों से वे युक्त होती हैं और वस्त्राभूषण धारण करती हैं।[७] पोतना और अष्टमहिषी-कल्याणकार ने गोपियों की भंगिमाओं का वर्णन किया है। सूर ने इन चित्रों को गति भी दी है। सूर की गोपियाँ भी जलक्रीड़ा में मग्न हैं। आरंभ में गोपियों का एक सुन्दर चित्र है जिसमें उनके खड़े होने की मुद्राओं का उल्लेख है।[८] फिर वे परस्पर एक दूसरे पर जल छिड़कती हैं। कुच भार से शिथिल हो जाती हैं। राधा विशेष रूप से कृष्ण पर छींटे उछालती हैं। कंचुकि के बंध छट जाते हैं। कुच-कुंकुम घुलने

[१] समस्त विवरण के लिये देखिये :—तें० भा०, १० पू० /१०९९ (दीर्घवचन)

[२],[३] तें० भा०, १० पू० /१०९९

[४] "अष्टमहिषीकल्याण", पृ० १०८

[५] वही, पृ० ११६

[६] वही, पृ० १०९

[७] वही, पृ० ११४

[८] सू० सा०, १०/११५७

लगता है। गीली लट कृष्ण को आकर्षित करने लगती है।[१] सद्यस्नाता की भाँति उनके अंगप्रत्यंग से भीगे हुये वस्त्र लिपट जाते हैं।[२] गोपियों का पानी में खड़े होने का चित्र भी मनोहर है।[3] सद्यस्नाता के आलिंगन के लोभ का, कृष्ण संवरण नहीं कर पाते।[४] जब राधा के उन्नत पयोधरों से होकर जलधारा बहती है, तब कृष्ण उनका स्पर्श कर लेते हैं। नागरी लज्जित हो जाती है और कृष्ण कामव्याकुल हो जाते हैं।[५] इस प्रकार राधा-कृष्ण और गोपी-कृष्ण की शृंगारमयी चेष्टाओं और क्रियाओं का चित्रण दोनों क्षेत्रों में समान मिलता है। स्नानोपरान्त सज्जा को सूर ने कुछ संक्षिप्त कर दिया है। वैसे उनके वस्त्रादि पहनने का उल्लेख है। अन्त में गोपियाँ अपने-अपने घर लौटकर जाती हैं तथा कृष्ण-माया से उनके घरवाले सोते हुये मिल जाते हैं।[६] इस प्रकार उनके कुल की लज्जा की रक्षा भी हो जाती है।[७]

निष्कर्ष

रासक्रीड़ा के उक्त तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि इसके आध्यात्मिक पक्ष पर सूर आदि हिन्दी कवियों ने विशेष बल दिया है। पोतना ने केवल कृष्ण के अलौकिकत्व का निरूपण किया है। रासक्षेत्र वृन्दावन, गोपी, राधा आदि के आध्यात्मिक निरूपण के द्वारा आध्यात्मिक रूपक को पूर्ण नहीं बनाया। साथ ही गोपियों के व्यक्तिगत नामों और अष्टसखियों के उल्लेख के द्वारा हिन्दी के कवियों ने कुछ साम्प्रदायिक और स्थानीय वैशिष्ठ्य प्रदान किया है। जहाँ तक काम संभोग-चेष्टाओं का प्रश्न है दोनों क्षेत्रों के कवि अधिकांश समान हैं। यदि तेलुगु कवि नृत्य आदि के शास्त्रीय निरूपण में आगे बढ़ जाते हैं तो सूर आदि हिन्दी कवि कुछ विलक्षण भावोक्तियों में। तेलुगु कवियों का अधिकांश रास-वर्णन "भागवत" पर आधारित है। हिन्दी कवियों पर ब्रह्मवैवर्तपुराण, बंगाली वैष्णवों के भक्ति-शास्त्र और कुछ स्थानीय संप्रदायों का प्रभाव भी परिलक्षित होता है जो कुछ भेद उत्पन्न कर देता है। जहाँ तक काव्य-पक्ष का सम्बन्ध है अधिकांश भावनायें और कल्पनायें समान हैं।

[१] सू० सा०, १०/११६०
[२] वही, १०/११६१
[3] वही, १०/११६२
[४] वही, १०/११६४
[५] वही, १०/११६६
[६] (क) सू० सा०, १०/११७० (ख) अ० म० क०, पृ० ११४, ११५ (ग) ते० भा० १० पू०/११०६
[७] "सूर स्याम के चरित अगोचर, राखी कुल की लाज"
— सू० सा०, १०/११७०

यदि दोनों क्षेत्रों के कवियों के रास-प्रकरण के परिमाण का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो "श्रीमद्भागवत" से तेलुगु कवियों ने कुछ अधिक विस्तार किया है। पर सूर ने पोतना और चिनतिरुवेंगळनाथ की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तार इस प्रकार का किया है। सूर ने पदों में कुछ पुनरावृत्ति भी की है। इसलिये भी कुछ परिमाणवृद्धि हो गयी। पर प्रकरणों की अपेक्षा यहाँ पुनरावृत्ति कम है। छोटे-छोटे शुद्ध मुक्तक पदों की शृंखला के पश्चात् उन्होंने कुछ लंबे-लंबे प्रसंग-पद भी रचे हैं जिनमें प्रबन्ध-सूत्र के साथ प्रसंग का विवरण दिया है। इन पुनरावृत्तियों को जोड़ देने से सूर का परिमाण अधिक हो जाता है। नीचे की तालिका से उक्त तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं :—

रासलीला	श्रीमद्भागवत		सूरसागर		श्रीमदांध्रभागवत		अष्टमहिषी-कल्याण	
	श्लोक	पं०	पद	पं०	चंपू	पंक्तियाँ	द्विपदायें	पंक्तियाँ
	२९/१-४८ ३०/१-४५ ३१/१-१९ ३२/१-२२ ३३/१-४०	३४८	१६०१- १७९६	१५१२	१० पू० ९६३- १११०	पद्य ४१० + गद्य १२६	३५८½	२२८१- २९९१
योग	१७४	३४८	१९१	१५१२	१४८	५३६	३५८½	७१७
पुनरावृत्ति	०	०	१७९७- १८०१	३२४	०	०	०	०
योग	०	०	४	३८४	०	०	०	०
पूर्णयोग	१७४	३४८	१९५	१८३६	१४८	५३६	३५८½	७१७

एक और अन्तर की ओर संकेत कर देना आवश्यक है। हिन्दी के सभी अष्टछाप के कवियों, सभी निम्बार्क संप्रदाय के कवियों, सभी राधाबल्लभी संप्रदाय

के कवियों ने रासलीला प्रकरण पर कुछ-न-कुछ लिखा है। इसलिये संपूर्ण कवियों का परिमाण तेलुगु से अधिक हो जाता है। तेलुगु-क्षेत्र में मुख्यतः पोतना ने, विष्णु-पुराण के रूपांतरकार वेन्नेलकंटि सूर्यनार्युडु ने, अष्टमहिषीकल्याणकार ने रासलीला को कुछ विस्तार के साथ लिखा है। इनके अतिरिक्त अन्य कृष्ण भक्त-कवियों ने जिनका प्रतिनिधित्व अन्नमाचारी कर सकते हैं, रासलीला का क्रमिक विवरण नहीं दिया, चाहे प्रसंग के अनुसार कहीं-कहीं कुछ उल्लेख कर दिये हों।

रासलीला के माधुर्यभाव के सम्बन्ध में हिन्दी और तेलुगु क्षेत्रों में एक अन्तर मिलता है। तेलुगु-क्षेत्र के कवियों ने स्पष्ट रूप से गोपियों को परकान्ताओं के रूप में स्वीकृत किया है। "श्रीमदांध्रभागवत" में परीक्षित शुकदेव से इस प्रकार का प्रश्न करता है और शुकदेव परकान्तारति के सम्बन्ध में श्रीकृष्ण के ब्रह्मत्व का संकेत करके उनकी परकान्तारति को अलौकिक बना देते हैं।[1] "अष्टमहिषी कल्याण" में रासो-परान्त गोपियाँ जब घर लौट चलीं तब उनके पतियों ने उनके परपुरुष-प्रेम को पहिचाना।[2] इससे भी गोपियों का परकीया भाव स्पष्ट होता है। हिन्दी क्षेत्र में राधा और गोपियों को किसी-न-किसी प्रकार स्वकीया ही सिद्ध किया गया है। सूर ने राधा-कृष्ण के विवाह का उल्लेख करके स्वकीया भाव के प्रति अपना आग्रह प्रकट किया है।[3] मानसिक स्थिति के अनुसार सूर की राधा और गोपियाँ अवश्य परकीया-सी प्रतीत होती हैं। वे कृष्ण के प्रति इसी प्रकार अभिसरण करती हैं, जिस प्रकार एक स्वकीया लुप-छिपकर परपुरुष से प्रेम करती है। साथ ही जल-विहार के अन्त में जब गोपियाँ घर लौटकर जाती हैं तो सूर ने परकीयात्व को पोतना की भाँति नहीं प्रकट किया। पर वंशीवाद को सुनकर जब वे आती हैं तो अपने पतियों को त्यागने की भी चर्चा करती हैं।[4] कृष्ण भी उनसे स्वकीय पुरुष को न त्यागने का उपदेश देते हैं। इसमें परकीया की ध्वनि है। यह प्रसंग दोनों क्षेत्रों के कवियों में समान ही है। निम्बार्क संप्रदाय और उसके कवियों ने राधा में स्वकीयाभाव ही माना है। राधा-कृष्ण के दाम्पत्य भाव का उल्लेख संप्रदाय में भी मिलता है।[5] श्रीहितहरिवंशजी ने भी राधाकृष्ण का रासलीला में दूलहा और दुलहिन के रूप में वर्णन किया है :—

खेलत रास लुहिनी दूलहु।
सुनुहु न सखी सहित ललितादिक निरखि निरखि नैननि किन फूलहु।[6]

[1] ते० भा०, पृ० १०/११०२-११०८ तक
[2] "अष्टमहिषीकल्याण", पृ० ११४, ११५
[3] रासलीला के मध्य में राधा-कृष्ण के विवाह का प्रसंग
[4] सू० सा०, १०/१०२१
[5] भगीरथ झा मैतल, "श्रीयुग्मतत्व समीक्षा", दशम मयूख, २५२
[6] "हितचौरासी", पद ६२

सूर की इन पंक्तियों से ऊपर की भावना मिलती है :—

दुल्हिनि वृषभानु-सुता, अंग-अंग भ्राज ।
सूरदास देखौ श्री, दूलह ब्रजराज ।।[१]

यहाँ स्वकीया-परकीया का दार्शनिक विवेचन अपेक्षित नहीं है । केवल इतना जान लेना ही पर्याप्त है कि तेलुगु कवियों ने गोपियों और राधा के बीच स्वकीया सम्बन्ध का उल्लेख नहीं किया, हिन्दी कवियों ने सप्रयत्न इनके सम्बन्ध को स्वकीया बनाया है चाहे वर्णन-पद्धति में परकीया का ही रंग हो । स्वकीया के साथ परकीया का यह योग प्रेम की तीव्रता के लिए प्रतीत होता है । चैतन्य-संप्रदाय में स्वकीया-भावना का पूर्ण खंडन ही है । पर हिन्दी कवि इनकी प्रेम-पद्धति से प्रभावित होते हुये भी स्वकीया भाव को पकड़े हुये रहे । तेलुगु-क्षेत्र के कवियों का परकीया-भाव चैतन्य-संप्रदाय से प्रभावित नहीं कहा जा सकता । "श्रीमद्भागवत" के स्रोत से ही उनका परकीया-भाव आया है । हिन्दी-कवियों का कृष्ण-राधा-प्रसंग ब्रह्मवैवर्तपुराण के अनुसार हो सकता है । चिंतलपूडि एल्लनार्युडु ने "राधामाधव" में ब्रह्मवैवर्तपुराण के अनुसार ही राधा-कृष्ण-विवाह के प्रसंग को रखा है । इस प्रकार तेलुगु कवियों में भी कुछ ऐसे हैं जिन्हें गोपीकृष्ण के स्वकीया-भाव अपेक्षित है ।

६·७१४. प्रेम की पोषक अन्य लीलायें

तेलुगु कवियों ने रास को माधुर्य के चरम रूप में चित्रित करके माधुर्य प्रेम के प्रसंग का समाहार कर दिया । सूर ने बृन्दावन विहार[२], मुरली-गोपी-संवाद[३] में आये सौतिया भाव[४], पनघट लीला, दानलीला, ग्रीष्मलीला, यमुनागमन और युगल समागम, मानलीला और दंपति-विहार, खंडिता प्रकरण, झूलन, बसन्तलीला आदि मधुर लीलाओं के द्वारा रास में उद्बुद्ध प्रेम का पोषण किया है और मधुरता की विभिन्न परिणतियों का उल्लेख किया है :—

[१] सू० सा०, १०/१०७४
[२] वही, १०/१८०३ से १८२५ तक
[३] वही, १०/१८३७-१९५०
[४] वही, १०/१२३६

लीला	सूर सागर	
	पद	पंक्तियाँ
१. पनघट लीला	२०१७–२०७७=६१	४२३
२. दान लीला	२०७८–२३६७=२९०	२४११
३. ग्रीष्म लीला	२३६८–२६४०=२७३	१७०७
४. यमुनागमन; युगल समागम	२६४१–२६८९= ४९	२८१
५. मान लीला :		
(क) लघु मान लीला	२६९०–२८३३=१४४	८३९
(ख) मान लीला तथा दंपति विहार	३०२९–३०९२=६४	४२०
(ग) राधा का मान	३१५२–३१८१=३०	१६१
(घ) राधाजी का मध्यम मान	३१८२–३२४७= ६६	४३२
(च) बडीमान लीला	३३५३–३४४५= ९३	७२६
(छ) दूसरी गुरु मान लीला	३४४६= १	९६
६. झूलन	३४४७–३४६१= १५	२४६
७. बसंत लीला	३४६२–३५४०= ७९	११७०
योग	११६५	८९१२

इन लीलाओं के माध्यम से सूर ने माधुय भाव की सूक्ष्म धाराओं को भी स्पष्ट किया है। इन लीलाओं का स्रोत "श्रीमद्भागवत" में नहीं है। इसलिये "श्रीमद्भागवत" के स्रोत से कृष्णलीलाओं को ग्रहण करने वाले तेलुगु कवियों में इनका वर्णन नहीं मिलता। सूर की इन लीलाओं का स्रोत अन्य पुराण या लोक-साहित्य हो सकता है। इन लीलाओं में कुछ प्रेम के शास्त्रीय पक्ष को स्पष्ट करने के लिये हैं। सूर के माधुर्य के शास्त्रीय पक्ष पर आगे विचार किया गया है।

६.७१५. संयोग का शास्त्रीय पक्ष

सूर और अन्नमाचारी दोनों ने ही नायक-नायिका-भेद के द्वारा संयोग को शास्त्रीय रूप भी प्रदान किया है। कृष्ण का दक्षिणनायकत्व तथा उससे संबद्ध मान और खंडिताप्रकरण पोतना में अधिक नहीं मिलते। सूर ने साहित्यलहरी और

सूरसागर में भी शास्त्रीय रूप पर लिखा है। इस क्षेत्र में अन्नमाचारी सूर से तुलनीय हैं। विद्यापति में भी इन सब का कामशास्त्रीय और काव्य शास्त्रीय निरूपण है। पर कृष्ण-राधा के शृंगार-वर्णन में उनकी भक्ति संदिग्ध है। सूर और अन्नमाचारी दोनों में ही भक्ति-भावना का गहरा रंग है।

क. खंडिता :—अन्नमाचारी ने खंडिता के सम्बन्ध में अनेक पदों की रचना की है। खंडिता नायिका वह है जिसका प्रिय परासक्त होता है। नायक की यह प्रवृत्ति उसके अंग-प्रत्यंग पर अंकित रति-चिह्नों से व्यक्त हो जाती है। इन चिह्नों की ओर नायिका संकेत करती है।[१] दंतक्षत की ओर भी वह संकेत करती है।[२] किसी अन्य नायिका का कंकण भी एक दिन नायिका को कृष्ण की सय्या पर मिला।[३] चंद्र रेखाओं के समान अंकित नखक्षत भी नायक के कपोल पर नायिका ने देख लिये।[४] इन चिह्नों को देखकर खंडिता-नायिका अनेक प्रकार के व्यंग्यबाणों का नायक पर संधान करती है।[५] वह नायक को अन्य प्रेमिकाओं के पास जाने के लिये कहती है।[६] अन्नमाचारी ने वेंकटेश्वर के दक्षिण-नायकत्व पर विशेष बल दिया है। नायिका बार-बार यह कहती है कि तुम अन्य के कुचों को अपने पीठ से स्पर्श करते हुये भी मुझसे अपने केशपाशों के संवाहन की इच्छा करते हो। दूसरी सखी तुम्हारी ओर हाथ बढ़ा रही है, फिर भी तुम मेरे कपोल का स्पर्श करना चाहते हो। तुम उस अन्य नायिका को सरसोक्तियों से प्रसन्न करते हो, फिर भी मुझ पर प्रेम दिखलाते हो।[७] सूर ने भी खंडिता-प्रकरण को विस्तार दिया है। सूर का कृष्ण भी दक्षिण नायक है। सभी गोपियाँ उसे अपना समझती हैं। जिस दिन जिसके यहाँ वे नहीं जाते, उस दिन वह समझती है कि वे किसी और के यहाँ चले गये। कभी कृष्ण वचन एक गोपी को दे जाते हैं पर उसके यहाँ वे नहीं आते और उसको प्रतीक्षा में प्रातःकाल हो जाता है।[८] जब प्रातःकाल आते हैं तो उनके अधर पर अंजन और कपोल पर बंदन अन्यासक्ति को प्रकट करते हैं।[१०] अन्य के साथ रति करने के चिह्नों में नखक्षत, आँखों की लालिमा, माथे पर जावक, पलक पर पीक, उलटे आभूषण और शृंगार

१ शृं० सं० की०, १३/४३७
२ वही, १३/१५२
३ वही, ३/६५२
४ वही, ३/६५७
५ वही, ३/११५
६ वही, ३/११५
७ वही, १३/५२
८ सू० सा०, पद ३०९४
९ वही, पद ३०९६
१० वही, ३१००

आदि का उल्लेख सूर ने किया है।[1] यह सब देखकर प्रिया उन्हें वहीं जाने के लिये कहती है :—

> तहंइ जाहु जहँ रैनि बसे हौ।
> काहे कौं दाहन हौं आये, अंग अंग चिह्न लसे हौ।[2]

कृष्ण अपने गाढ़ालिंगन से खंडिता के मान को दूर कर देते हैं :—

> "अंकम भरि पिय प्यारी लीन्हीं, निसि सुख बासर दीन्ह।"[3]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सूर ने ललिता, सुखदा, चंद्रावली, वृन्दा आदि सखियों का नाम लेकर खंडिता-प्रकरण रक्खा है और उसकी भूमिका में नायक का वचन देकर न आना, रात भर नायिका का नायक की प्रतीक्षा में रहना, अत्यन्त उत्कंठा का चित्रण आदि कई नवीन तत्वों को जोड़कर खंडिता-प्रकरण के शास्त्रीय पक्ष को सजीव बनाया। तेलुगु कवियों ने भी शास्त्रीय पक्ष पर बल दिया। सूर आदि में ही नहीं हिन्दी के अन्य कृष्णभक्त संप्रदायों में भी खंडिता के अनुभूतिपक्ष को अधिक स्पष्ट किया गया है। श्रीहितहरिवंशजी ने कृष्ण के रति-चिह्नों, दूसरे से पटपरिवर्तन और उनकी अटपटी वचन-रचना को लक्षित किया है।[4] एक दिन एक विचित्र घटना घटी। राधा और कृष्ण प्रगाढ़ मैथुन में रत हो गये। राधा को कृष्ण के वक्ष-मुकुर में अपना प्रतिबिंब दिखाई दिया। उसको यह लगा कि कृष्ण के हृदय में कोई अन्य सखी बसी हुई है। इतने पर ही राधा खंडिता के रूप में उपस्थित होकर मानवती हुई।[5] इस प्रकार खंडिता प्रकरण को हिन्दी कवियों ने सूक्ष्म से सूक्ष्मतर बनाया है। अन्नमाचारी जी ने तेलुगु कवियों में सबसे अधिक विस्तार इस प्रकरण को दिया है। इससे हिन्दी कवियों का इनसे प्रवृत्ति-साम्य तो मिलता ही है, साथ ही अनेक शास्त्रीय पक्षों की समानता भी प्राप्त होती है। सूर में सखियों के नाम आदि का जो वैशिष्ठ्य मिलता है, वह अन्नमाचारी में नहीं मिल सकता क्योंकि उनका खंडिता-प्रकरण भगवान श्री वेंकटेश्वर की लीलाओं से संबद्ध है।

(ख) **उत्कंठिता** :—दक्षिण-नायक की नायिकायें बहुधा उत्कंठिता होती हैं। नायक जब एक नायिका के भवन में रहता है तब अन्य नायिकायें उत्कंठाभरी प्रतीक्षा में रात-रात बिता देती हैं। उत्कंठिता विरह से व्याकुल रहती है। वह अनेक प्रकार की कल्पनाओं में उलझ जाती है। फिर इसके यहाँ भी कभी न कभी नायक आ ही जाता है।[6] अन्नमाचारी ने भी सखी द्वारा उत्कंठिता का वर्णन

---

[1] सू० सा०, पद ३११६
[2] वही, पद ३१२०
[3] वही, पद ३१४५
[4] श्रीहितचौरासी, पद ६
[5] वही, पद ७
[6] सू० सा०, पद १०/२७०६

कराया है। दूती नायक से कहती है कि तुम्हारी प्रेमिका तुम्हारी ओर ही खिंची रहती है। हे वेंकटेश्वर तुम उसका दुख दूर करो।[1]

इस प्रकार सभी नायिकाओं के लक्षण और रूप हिन्दी और तेलुगु वैष्णव कवियों के संयोग और विरह-वर्णन में मिल जाते हैं। हिन्दी में खंडिता और मानवती का जितना विस्तार किया गया है उतना तेलुगु क्षेत्र में नहीं। वैसे सभी रूपों का वर्णन वहाँ मिलता है।

(ग) **स्वाधीनपतिका** :—स्वाधीनपतिका वह है जिसके वश में उसका प्रियतम होता है। सूर आदि कवियों ने राधा को स्वाधीनपतिका के रूप में ही चित्रित किया है। गोपियाँ राधा के सौभाग्य की प्रशंसा करती हैं कि कृष्ण उनके वश में हैं। वे राधा के हैं और राधा उनकी है।[2] अन्नमाचारी ने भी पद्मावती को स्वाधीनपतिका के रूप में देखा है। एक सखी नायिका से कहती है कि हे तरुणी! तुम्हारी किस तपस्या का फल है कि तुम्हारे प्रियतम सदा तुम्हारे साथ रहते हैं और तुम्हारे प्रेम की सदैव इच्छा भी करते हैं। तुमने अपने हास-विलास, मधुर-वचन और नैन कटाक्ष से वेंकटेश्वर को अपने अधीन कर लिया।[3] स्वयं पद्मावती भी इस सौभाग्य का अनुभव करती है और इस पर गर्व भी उसे होता है।[4] सूर की राधा भी अपने नृत्य, कोक-कला आदि से कृष्ण के मन में बस गयी।[5] और स्त्रियाँ शृंगार करके भी राधा के सहज-सौंदर्य को प्राप्त नहीं कर सकतीं जिस के कारण वह अपने प्रिय को प्यारी है।[6]

(घ) **संभोग क्रिया, रतिरण आदि** :—वैष्णव कवियों ने संभोग तक का वर्णन किया है। अन्नमाचारी की नायिका श्रीकृष्ण को सामने पाकर संभोग क्रियाओं को भूल भी जाती है।[7] यह लज्जा का क्षण विगत हो जाता है और नायिका प्रौढ़ा की भाँति उक्तियाँ कहने लगती है। रतिरत नायिका अपने प्रियतम को सावधान करके कहती है कि हे प्रियतम! तुम मेरा आलिंगन इतना गाढ़ रूप से मत करो। ऐसा करने से मेरे कठिन और तीखे कुच-पर्वत तुम्हारी छाती को पार करके पीठ से बाहर निकल जायेंगे।[8] जब वेंकटेश्वर विविध कोक-कलायें

[1] शृं० सं० की०, १३/४९७
[2] सू० सा०, पद २६८३, २६८५
[3] शृं० सं० की०, १३/६६
[4] वही, १३/२७६
[5] सू० सा०, पद ३०२९
[6] वही, पद ३०६२
[7] शृं० सं० की०, ३/१८५
[8] वही, ३/५२८

प्रदर्शित करते हैं तो नायिका कहती है कि इनकी शिक्षा तुम्हें कहाँ से मिली। मेरा आंचल मत खींचो। यह पहले से ही फिसल रहा है।[1] वचन-विदग्धा नायिका की भाँति पद्मावती अपनी सखियों से अपनी भावी संभोग-योजना की चर्चा करती है :—हे सखि ! नायक ने मेरे प्रति छल किया है। मेरा क्रोध तभी शांत होगा जब अब की बार मैं उनके कपोलों को अपनी उँगलियों से खूब दबाऊँगी और उनके मुँह में ताम्बूल देकर उन्हें अपने आलिंगन में कसकर बाँध लूँगी। अपने नखक्षतों से मैं उन्हें क्षत-विक्षत भी कर दूँगी।[2] एक स्थान पर नायक नायिका के जूड़े को भी खींचता है। इससे नायिका के केशों में विन्यस्त फूल उसके कपोलों का स्पर्श करते हुये नीचे गिरते हैं।[3] कभी-कभी सखियाँ नायक से उसकी संभोग-क्रिया के विषय में बातचीत करती हैं :—हे वेंकटेश्वर ! तुमने उसके आंचल को खींच लिया, उनकी कंचुकि और साड़ी शरीर से हट गये, उस वेचारी को अपने केशपास से लज्जा की रक्षा करनी पड़ी। तुमने एकटक तिरछी चितवन से नायिका को देखा, उसे लज्जा से पलक बंद करना पड़ा। तुमने उसके उरोरुहों का स्पर्श किया, नायिका को अपने हाथों से उन्हें छिपाना पड़ा। तुमने उसके अधर का अपने अधर से चुंबन करना चाहा तो बेचारी नायिका को पान के पत्ते से अपने अधर को आच्छादित करना पड़ा।[4] एक स्थान पर अन्नमाचारी की नायिका कहती है कि मेरी चितवन रूपी पाश में बंधकर ही तुम्हारा गर्व चूर हो सकता है। जब तक तुमको अपने कुच पर्वतों से टकरा न दूँगी तब तक तुम्हारा चांचल्य नष्ट नहीं हो सकता।[5] सूर की राधा इस प्रकार की वचन-विदग्धा या प्रगलभवचना नहीं है। संभोग के पक्ष का उद्‌घाटन तो हुआ है पर राधा इस प्रकार की उक्तियाँ नहीं कहतीं। अन्नमाचारी ने संभोग का जितना विस्तार किया है, सूर ने उस से कम नहीं किया। सूर सागर में मुख्यत: तीन स्थलों पर संभोग-समागम का वर्णन है :—(१) सुखविलास[6], (२) यमुनागमन-युगलसमागम[7] और (३) मानलीला तथा दंपति विहार।[8] दृष्टिकूट पदों में तो संभोग के अत्यंत गुह्य चित्र मिलते ही हैं। सुख-विलास सक्षिप्त है। इसमें वन-विहार का वर्णन हुआ है। गोपाल और नवेली राधा परस्पर रस लूट रहे हैं। दोनों के

[1] शृं० सं० की०, ३/५६०
[2] वही, ३/६४५
[3] वही, १२/५२
[4] वही, ३/११७
[5] वही, ३/२८१
[6] सू० सा०, पृ० ५०० से ५०३ तक
[7] वही, पृ० ८२६ से ८३६ तक
[8] वही, पृ० १०१५ से १०३० तक

कपोल पान की पीक में रंजित हैं ।[१] राधा अपने कंठहार को भी उतार रही है जिससे आलिंगन में व्यवधान न हो ।[२] आलिंगन, अधरामृतपान, कुच-स्पर्श आदि सभी होते हैं । लघुमान भी हो जाता है और प्रियतम उसके पैरों में पड़कर मानिनी को मना भी लेते हैं ।[३] राधा कृष्ण को सहेट स्थल पर बुला जाती है ।[४] मिलने की आशा में वह विविध-प्रकार से अपना शृंगार भी करती है ।[५] वह अपने आप रुचिपूर्वक सेज बनाती है और अनेक संभोग अभिलाषाओं में डूबती उतराती कृष्ण की प्रतीक्षा में है ।[६] प्रियतम के आने पर सलज्ज राधिका कुछ ठिठकती है, तब कृष्ण उसे अपने उत्संग में ले लेते हैं ।[७] तत्पश्चात् अधर से अधर, नयन से नयन मिल जाते हैं ।[८] चोली के बंधन टूट जाते हैं ।[९] इस प्रकार सहेट-स्थल पर राधा और कृष्ण का पूर्ण संभोग होता है ।

संभोग की अंतिम स्थिति की पृष्ठभूमि में मान है । कृष्ण के बार बार समझाने पर भी मानमोचन नहीं हुआ । सखियाँ राधा के त्रिलोकजित सौंदर्य का वर्णन करती हैं ।[१०] अंत में सखियाँ कृष्ण की काम-पीड़ा को व्यक्त करती हैं ।[११] बिलकुल यही बात हितचौरासी में भी मिलती है ।[१२] तब राधा प्रिय-समागम के लिये आ जाती है । फिर आलिंगन-चुंबन का क्रम चल पड़ा । राधा ने भी संकोच छोड़ दिया और प्रिय के चुंबन का प्रत्युत्तर दिया ।[१३] यहाँ संग्राम के रूप में सूर ने संभोग का वर्णन किया है । कृष्ण की आँखों में रोष भी है । शरीर में श्वेदजल भी है । दोनों ही कोककला-प्रवीण भी हैं ।[१४] सूर ने विपरीत-रति तक का भी वर्णन किया है । संभोग में विद्यापति ने भी विपरीत रतिरमण का वर्णन किया है ।[१५] विद्यापति

[१] सू० सा०, पद १३०४
[२] वही, पद १३०५
[३] वही, पद १३०७
[४] वही, पद २६४३
[५] वही, पद २६४५
[६] वही, पद २६४७
[७] वही, पद २६४९
[८] वही, पद २६५०
[९] वही, पद २६५२
[१०] वही, पद ३०६५ से ३६०९ तक
[११] वही, पद ३०७०
[१२] हितचौरासी, पद ३७
[१३] सू० सा०, पद ३०७७
[१४] वही, ३०८०
[१५] विद्यापति-पदावली, पृ० २७१

ने संभोग के अवसरों पर भी वृद्धि की है। सोई हुई राधा के पास कभी कृष्ण आते हैं।[1] कभी सास के पास सोई हुई राधा के पास आकर छेड़ते हैं।[2] स्पष्ट है कि कामशास्त्रीय चेष्टाओं का वर्णन हिन्दी और तेलुगु कवियों ने समान रूप से किया है। विद्यापति ने संभोग के अवसरों की खोज करके उसकी भूमिका में वैविध्य उपस्थित किया। जहाँ अन्नमाचारी ने संभोग का चित्र महलों के भीतर रक्खा है, वहाँ सूर की राधा का संभोग कभी वन में, कभी जमुना-तट पर और कभी कुंज-कुटीर पर होता है। राधा-सहेट-स्थल का संकेत भी करती है। संभोग को हिन्दी कवियों ने मान के द्वारा पुष्ट किया। संभोग का मान के द्वारा पोषण तेलुगु साहित्य में प्रायः नहीं मिलता। विपरीत-रति आदि संभोग पद्धतियों का उल्लेख भी हिन्दी कवियों ने पर्याप्त किया है। मान-खंडन के समय सखियाँ राधा का कामोद्दीपक रूप-वर्णन तेलुगु कवियों से अधिक करती हैं। अन्नमाचारी ने पद्मावती की उक्तियों और सखियों के कार्यकलापों का विशेष विस्तार किया है। दोनों ही क्षेत्रों के कवि संभोग के बीच कुछ अलौकिकता की व्यंजना भी करते हैं। सखियाँ पद्मावती से कहती हैं कि गोवर्धन-पर्वत को अपनी उँगली पर धारण करने वाले तुम्हारे प्रियतम, तुम्हारे कुचों को देखकर क्यों पराजित हो जाते हैं?[3] एक स्थान पर सखियाँ नायक से कहती हैं कि नायिका तुम्हारे प्रेमालिंगन को इसलिये त्याग देती है कि कहीं तुम्हारे भीतर व्याप्त ब्रह्मांड डावाँ-डोल न हो जाय। वह तुम्हारे नेत्रों को अपने हाथों से आँख-मिचौनी के लिये बंद करना चाहती है, पर इसलिये नहीं करती कि समस्त ब्रह्माण्ड में अंधकार छा जायेगा।[4] सूर केवल राधा और ब्रजनारियों को धन्य-धन्य कह देते हैं।[5] पर अलौकिकता की यह भावना अन्नमाचारी की भाँति नायिका के हृदय में नहीं दिखाई गई है। ऐसा करने से संभोगरस बाधित होता है। कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि दोनों क्षेत्रों के कवियों ने अश्लील संभोग तक अपनी कल्पना-शक्ति का विस्तार किया है। फिर भी अलौकिकता की एक ऐसी छाया संभोग पर छायी रहती है जिसमें श्लील और अश्लील के मौलिक नियमों का तिरोभाव हो जाता है।

६.७२. वियोगपक्ष

६.७२१. प्रवास

प्रवास विरह का गहनतम रूप है। विरह के अन्य रूप न स्थायित्व में और न विकासशीलता में ही इसके समान हो सकते हैं। जिस प्रकार मान का उद्देश्य

[1] विद्यापति-पदावली, पृ० २१८

[2] वही, पृ० २१९

[3] शृं० सं० की०, ३/३३३

[4] वही, २/४५

[5] सू० सा०, पद ३०९२

रतिभाव की उद्दीप्ति और नायिका की प्रतिष्ठा की सुरक्षा जैसे तत्व होते हैं, उसी प्रकार दिनांत-विरह या पलक-पतन का क्षणिक विरह हृदय में व्याप्त भावना की तीव्रता और उत्तेजना की अभिव्यक्ति के लिये नियोजित होते हैं। इनमें सबसे अधिक दीर्घता मान की होती है। पर मान की भी अति दीर्घता को शास्त्रों ने निषिद्ध ठहराया है। रामभक्ति शाखा में तो मान को कोई स्थान प्राप्त नहीं हुआ। इस पर पहले विचार किया जा चुका है। प्रवास अधिक स्वाभाविक, मनोवैज्ञानिक और दीर्घ-विरह है। इसमें प्रियतम स्थानांतरित होता है। कभी उसके प्रत्यागमन की अवधि सुनिश्चित होती है और कभी अनिश्चित। इनमें से प्रथम में आशा के स्वर्ण-सूत्र से झिलमिल अवधि विरह के पारावार का किनारा बनी रहती है। इस प्रयास-विरह में गहराई तो पर्याप्त होती है, पर विरह का अंधकार समस्त क्षितिजों को आवृत्त किये हुये नहीं रहता। कम से कम एक क्षितिज की चित्रपटि पर भावी-मिलन के अर्धनिश्चित और अस्फुट चित्रकलाप चलता रहता है। दूसरे में विरह जहाँ अतल होता है वहाँ दुरंत या अनंत भी। आध्यात्मिक दृष्टि से मधुरोपासना में भी मान आदि विरह-स्थितियों की संगति मधुरोपासक भक्त से कठिनाई से ही बैठ पाती है। पर प्रवास-विरह में मधुरोपासना और इष्ट-युगल का विरह-व्यापार समान हो जाते हैं। यदि जीवात्मा का स्थूल बंधनों में आबद्ध होना आध्यात्मिक विरह माना जाय तो उसकी विरह-साधना प्रिय-मिलन की साधना कही जा सकती है। विरह के पूर्व का मिलन भी लौकिक और अलौकिक दोनों ही पक्षों में घटित हो जाता है। इस प्रकार प्रवास-विरह आलोच्य युग के कवियों के लिये विशेष आकर्षक बना रहा। जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट होता है कि तेलुगु क्षेत्र में विरह के रूपों का वैविध्य हिन्दी के कवियों के समान नहीं है। किन्तु प्रवास-विरह के अवसर पर हिन्दी और तेलुगु कवियों के हृदय में जो स्पंदन दिखाई पड़ता है, उसमें पर्याप्त गतिसाम्य है।

प्रवास-विरह रामाश्रयी और कृष्णाश्रयी दोनों ही धाराओं में है। रामकथा में राम की स्थिति कृष्ण से भिन्न है। जब राम प्रवासार्थ गमन करते हैं, तब अयोध्या के नर-नारी विकल तो हैं, पर वह विकलता कहीं भी रति-प्रेरित नहीं है। इसलिये मधुर विरह के लिये एक अद्वितीय अवसर उत्पन्न होते हुये भी वह विरह उत्पन्न नहीं हुआ क्योंकि सीताजी राम के साथ चली गईं और उर्मिला उपेक्षित रही। रति-प्रेरित प्रवास-विरह सीता के अपहरण का परिणाम है। इस समय भी प्रवास-विरह के पूर्व अलौकिक सीता का अग्नि-प्रवेश आदि अभिप्रायों ने इसकी चरमोन्मुख गति को बाधित ही किया है। फिर भी उभयपक्षीय प्रवास-विरह का एक उपयुक्त अवसर सीता-हरण के पश्चात् उपस्थित हो जाता है। यदि उर्मिला के प्रवास-विरह को ध्यान में रखा जाय तो भी १४ वर्ष की अवधि निश्चित थी।

कृष्णभक्ति शाखा में प्रवास-विरह की स्थिति बड़ी मार्मिक है। इसका आरंभ कृष्ण के मथुरा-गमन से ही हो जाता है, जबकि रामकाव्यों में वनवास गमन

से भी इसका आरम्भ नहीं होता। साथ ही यहाँ कोई अवधि निश्चित नहीं है। यद्यपि कृष्ण का कभी कभी यह संदेश आता था "आवैगे दिन चारि पाँचि में हम हलधर दो भय्या"[1] फिर भी यह अवधि-कथन नहीं कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त एक निश्चित अवधि के पश्चात् सीता और राम मिल जाते हैं, जबकि व्रजांगनाओं के जीवन की नौका कभी मिलन के किनारे तक नहीं पहुँच पाती। अंत में कृष्ण और गोपियों के मिलन की संक्षिप्त चर्चा हिन्दी और तेलुगु कवियों ने की है। सूर ने कुरुक्षेत्र में ब्रजवासियों का कृष्ण से मिलन कराया।[2] उसमें इस मिलन का कारण रुक्मिणी की जिज्ञासा है। पर प्रेम की दृष्टि से यह यथार्थ मिलन नहीं था क्योंकि राधा स्वयं वहाँ के मिलन के पश्चात् यह कहती है :—"हरि जू वै सुख बहुरि कहाँ ?"[3] और राधा इतनी लज्जा-जड़ित हो गयी कि संयोग नहीं हो पाया।[4] सूर आदि कृष्ण भक्त कवि यहाँ के राधामाधव-मिलन के प्रति उदासीन रहे।[5] पोतना के कृष्ण मिलनोत्सुक गोपियों को अन्य जनों से पृथक करके अपने परिरंभण से तृप्त करने की विफल चेष्टा करते है।[6] गोपियों में कोई कामोत्तेजना नहीं दीखती है। वे तो मानसिक आलिंगन की शरण लेती हैं।[7] अथवा एक दास की भाँति वे अपने हृदय में मुनिवंदित चरणों की स्थापना की कामना करती हैं।[8] अंत में कृष्ण वेदांत की शरण लेकर इन उलझे हुये क्षणों से मुक्ति पाने की चेष्टा करते हैं। गोपियाँ भी जैसे बाह्यतः मुक्त हैं पर उनके प्रेमविह्वल हृदय में जैसे विलोडन हो रहा था।[9] सूर के कृष्ण भी इसी वेदांत की शैली में राधा से कहते हैं "विहंसि कह्यौ हम तुम नहिं अंतर यह कहिकै उन ब्रज पठई"[10] पोतना की गोपियाँ भी प्रेम-व्यापारों को भूलकर कुछ हत-संज्ञ सी हो जाती हैं।[11] सूर की राधा भी कुछ कर नहीं पाती

[1] सू० सा०, पद ४०५९

[2] वही, पद ४८९४-४९१४

[3] वही, पद ४९०८

[4] वही, पद ४९१२

[5] सूर ने केवल एक पद में "राधा माधव भेंट भई" लिखकर प्रसंग को समाप्त कर दिया है और कृष्ण दोनों में अभेद की बात कहकर राधा को बिदा करते हैं। सू० सा०, पद ४९१२

[6] ते० भा०, १० उ/१०६९

[7] वही, १० उ/१०६८

[8] वही, १० उ०/१०७४

[9] वही, १० उ०/१०७०-१०७३

[10] सू० सा०, पद ४९१२

[11] ते० भा०, १० उ०/१०७३

जैसे समस्त केलि-कलाप को भूल गयो हो ।[१] पर अंतर इतना है कि योग-वेदांत की मिश्रित पृष्ठभूमि पर पोतना शांत रस की अवतारणा कर देते हैं। पर सूर शृंगार की सीमाओं में शांत-रस की एक क्षीण-धारा को भी सहन नहीं कर सकते। तात्पर्य यह है कि दोनों ही क्षेत्रों के कवियों ने विरहोत्तर संयोग के अवसर के रूप में इस प्रसंग को नहीं रक्खा। विरह-वारिधि में उठने वाला यह बुदबुद् संयोगाभास कराकर एक क्षण में इसकी लहरों के अंतराल में विलुप्त हो गया।

कृष्ण के मथुरागमन के समय प्रवास-विरह की जो धारा कृष्ण की लोक कल्याणकारी लीलाओं की प्रस्तर शिलाओं के नीचे अंतर्धारा बन गयी थी वह उद्धव के दौत्य के समय फिर गगनचुंबी लहरें उठाने लगती हैं। दौत्य-विरह का एक प्रमुख अभिप्राय रहा है। रामकाव्य में हनुमान भी दूत-कर्म करते हैं। पर उद्धव और हनुमान के दौत्य में अंतर है। हनुमान जी का उद्देश्य सीताजी की खोज और राम के बल और संकल्प के कथन के द्वारा संतोष देना था। सीता के मन में इस द्यौत के पश्चात् किरणोज्ज्वल मिलन-आशा प्रोद्भासित हो उठती। इसके विपरीत उद्धव गोपियों को प्रेमपथ से विमुख करने के उद्देश्य से आये और परिणाम यह हुआ कि गोपियों को भावी-मिलन के प्रति घोर-निराशा भी प्राप्त हुई। प्रवास-विरह के ये ही मुख्य अवसर हैं। जिन पर हिन्दी और तेलुगु कवियों ने लिखा। नीचे इनके ऊपर पृथक रूप से तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जा रहा है :—

कृष्ण का मथुरा गमन :—कृष्ण का मथुरा-गमन एक जटिल व्यापार है। एक ओर यथार्थ माता-पिता का प्रश्न है, दूसरी ओर लोकमंगल का तत्व। एक ओर क्रूर अक्रूर है तो दूसरी ओर कुटिल विधाता। यशोदा के "जुगन-मगन" जा रहे हैं तो गोपियाँ अपने प्रियतम की इस जटिल स्थिति के प्रति एक विकल्पात्मक प्रतिक्रिया करती हैं।

पोतना की गोपियाँ कृष्ण के केलिकलापों, उनके रूप-वैभव और मधुर संभाषण आदि क्रियाओं की स्मृति से विह्वल हो जाती हैं और इन सब के समाप्त हो जाने की संभावना से काँप उठती हैं।[२] अष्टमहिषीकल्याण में भी गोपियाँ कृष्ण के काममंडित अंग-प्रत्यंगों, हाव-भाव-परिरंभण आदि रसक्रियाओं के स्मरण से व्याकुल हो जाती हैं।[3] सूर की गोपियाँ भी इस प्रकार के विकल्पों में डूबती-उतराती हैं। वे परस्पर कहती हैं कि कृष्ण का स्पर्श, उनके, मधु-वचन, उनका चंद्र-मुख क्या फिर भविष्य में प्राप्त हो सकेंगे।[४] वे अपनी कामाग्नि का भी उल्लेख करती हैं।[५] यहाँ तेलुगु और हिन्दी के कवि प्रवृत्तितः समान हैं।

[१] सू० सा०, पद ४६१२
[२] ते० भा०, १० पू०/१२१०
[3] अष्टमहिषीकल्याण, पृ० १२७, १२८
[४] सू० सा०, पद ३५८४, ३६०३
[५] वही, पद ३५८६

दूसरी प्रतिक्रिया विधाता या प्रारब्ध के प्रति है। पोतना ने बड़ी सुन्दर शैली में इस प्रतिक्रिया को अंकित किया है। वे परस्पर कहती हैं कि हम सब मिलकर सरस्वती से विधि की निष्ठुरता के संबंध में प्रार्थना करें और उनसे कहें कि हमारे प्रारब्ध में प्रवास-विरह की जो रेखायें खींची गई हैं, उनसे हमें मुक्ति दिलाइये।[1] अष्टमहिषीकल्याण में ये विधाता को एक अन्य प्रकार से कोसती हैं। उनका कहना है कि ब्रह्मा को हमारे हृदय में प्रेम उत्पन्न ही नहीं करना चाहिये था। जब प्रेम उत्पन्न ही कर दिया तो फिर विरह का विधान नहीं करना चाहिये था।[2] पर सूर की गोपियाँ भाग्य या विधाता को इस प्रसंग में दोषी नहीं ठहरातीं।[3]

फिर अक्रूर गोपियों की दृष्टि में आता है। उसके नाम में उन्हें एक व्यंग्य दिखलाई देता है। जिसका नाम अक्रूर है उसके क्रूरतम कार्य को देखकर वे आश्चर्य-चकित हो जाती हैं।[4] अष्टमहिषीकल्याण में उसको घियातोरै (नेतिबीरकाय) के उपमान से विभूषित करती हैं। इसका नाम तो घी हैं, वैसे इसमें घी का लेशमात्र भी नहीं है। इसी प्रकार नाम तो उनका अक्रूर है पर उनमें क्रूरता कूट कूट कर भरी है।[5] सूर की गोपियाँ भी कहती हैं कि चाहे सबके लिये यह अक्रूर है, पर हमारे लिये तो यह अत्यंत क्रूर है जो हमारे जीवन को ले जा रहा है।[6] अक्रूर के प्रति प्रतिक्रिया में और उक्ति-वैचित्य में दोनों कवि समान ही हैं।

पोतना की गोपियाँ कृष्ण से यह आशा नहीं करती थीं कि इतने प्रगाढ़ संबंध को वे एक क्षण में तोड़ देंगे। वे कहती हैं कि कृष्ण अक्रूर से यह क्यों नहीं कह देते कि ये गोपियाँ मुझसे प्रेम करती हैं, और बिना मेरे वे काम की शिखाओं में धू-धू कर जल उठेंगी।[7] यदि कृष्ण नहीं कहते तो गुरुजन तो अक्रूर को समझा सकते हैं।[8] "अष्टमहिषीकल्याण" में भी गोपियाँ कृष्ण की उदासीनता पर खेद प्रकट करती हैं।[9] पर सूर की गोपियों को कृष्ण से अब यह आशा नहीं थी। जहाँ यशोदा कृष्ण की उदासीनता में ब्रह्मत्व देखने लगीं[10], वहाँ गोपियाँ भी इस तथ्य

[1] ते० भा०, १० पू०/१२१२
[2] अष्टमहिषीकल्याण, पृ० १२८
[3] किन्तु इस विरह के संबंध में अपने प्रारब्ध को कठोर अवश्य बताती हैं। सू० सा०, पद ३६०३
[4] ते० भा०, १० पू०/१२१५
[5] अष्टमहिषीकल्याण, पृ० १२८
[6] सू० सा०, पद ३५८६
[7] ते० भा०, १० पू०/१२१४
[8] वही, १० पू०/१२१४
[9] अष्टमहिषीकल्याण, पृ० १२८
[10] सू० सा०, पद ३६०४

को समझ गयी थीं कि कृष्ण इन समस्त बंधनों से निर्लिप्त हैं। ये परस्पर परामर्श करती हैं कि जगत-जीवन की आशा को छोड़कर गुरुजन के संकोच की चिंता न करके एवं परिस्थिति के निष्ठुर रूप को ध्यान में रखते हुए हमें कृष्ण से प्रार्थना करनी चाहिये।[१] तेलुगु भागवतों में भी गोपियाँ कृष्ण को रोकने के लिये उनके चरणों में गिरना चाहती हैं।[२] पोतना और चिनतिरुवेंगळनाथ दोनों की गोपियाँ अक्रूर से भी प्रार्थना करना चाहती हैं[३] और अन्य देवताओं की मनौती पर भी उनका ध्यान जाता है।[४] सूर की गोपियाँ जैसे अक्रूर और देवों में अपने विश्वास खो बैठी हैं।

पोतना की गोपियों का अश्रु-प्रवाह कपोलतटों पर है और वे अपने कपोल पर अपने कोमल हाथ रखकर कृष्ण को पुकारती हैं।[५] चिनतिरुवेंगळनाथ ने अश्रुकणों को गोपियों के उरोरुहों पर दिखलाया है।[६] गोपियों के उन्नत और स्निग्ध अंगों पर अश्रुओं में जहाँ हृदयगत वेदना व्यंजित है वहाँ अंगों के उभार में और अश्रुओं से उनके संपर्क में श्रृंगारिकता की एक झलक। सूर ने गोपियों के ढलते हुये आँसुओं का सामान्य वर्णन करके[७] श्रृंगारिकता की झलक को आने से रोका है। अश्रुओं के साथ साथ गोपियों की उद्विग्नता का सभी कवियों ने वर्णन किया है। सूर की गोपियाँ चित्रलिखित सी हो गयीं। उनके ज्ञानेन्द्रियों ने काम ही छोड़ दिया।[८] चिनतिरुवेंगळनाथ ने भी गोपियों की विरहजन्य जड़ता की विशद-कल्पना की है।[९] पोतना ने लिखा है कि गोपियों को अपने शरीर-वस्त्रादि की चिन्ता नहीं रही और वे कामज्वर से प्रज्ज्वलित होने लगीं।[१०] सूर ने भी इससे मिलता-जुलता वर्णन किया है।[११] बात-विच्छिन्न लता की भाँति गोपियों की कल्पना पोतना ने की है।[१२] सूर की गोपियाँ भी अपने को न संभाल सकीं और वे प्रज्ज्वलित लताओं की भाँति धरती पर गिर पड़ीं।[१३] विरहिणियों की इस अवस्था का चित्रण

[१] सू० सा०, पद ३६०२
[२] वही, १० पू०/१२१९ ; अ० म० क०, पृ० १२९
[३] वही, १० पू०/१२१९ तथा अ० म० क०, पृ० १२९
[४] वही, १० पू०/१२१९, अ० म० क०, पृ० १२९
[५] वही, १० पू०/१२२०
[६] अष्टमहिषीकल्याण, पृ० १२८
[७] सू० सा०, पद ३५८१, ३५८२ आदि
[८] वही, ३५७९
[९] अष्टमहिषीकल्याण, पृ० १२९
[१०] ते० भा०, १० पू०/१२२०
[११] सू० सा०, पद ३५८१
[१२] ते० भा०, १०पू०/१२२०
[१३] सू० सा०, पद ३६०४

सामान्य रूप से दोनों ही क्षेत्रों में मिलता है जिसमें रोने-विलखने, अश्रु-प्रवाह और दीर्घ निश्वास आदि का वर्णन सम्मिलित हैं। गोपियों की समस्त योजनायें असफल हो गईं और कृष्ण अक्रूर के रथ में बैठकर जाने ही लगे। पोतना की गोपियाँ बहुत देर तक तो दूर से दूरतर जाते रथ को देखती रहीं। जब वह भी अदृश्य हो गया, तब रथ से उठी हुई धूल को देखती रहीं। जब धूल भी अदृश्य हो गई तब निराशा के अतिरिक्त वहाँ कुछ नहीं था।[१] सूर की गोपियाँ भी प्राणप्रिय को ले जाने वाले रथ को देख रही हैं और जब रथ अदृश्य हो जाता है तब उनकी आँखें व्याकुल होने लगती हैं।[२] रथ में बैठे हुए कृष्ण की वैजयंतिमाला को गोपियाँ देखतीं हैं।[३] सूर की गोपियाँ पहले कृष्ण के पहराते हुए पीतांबर को देखती हैं। तब धीरे-धीरे अदृश्य होते हुए रथ का एक गत्यात्मक चित्र सूर ने दिया है।[४] इस प्रकार कृष्ण के किसी उपकरण के दर्शन से धूल से अदृश्य होने का क्रमिक चित्र हिन्दी और तेलुगु कवियों में समान रूप से मिलता है।

ऊपर कृष्ण की विदाई के समय की विरहावस्था के चित्रण में मिलने वाले साम्यों को देखा गया है। पर कुछ विशेषतायें भी हैं जो कि दोनों क्षेत्रों के कवियों को अलग करती हैं। "श्रीमदांध्रभागवत" और "अष्टमहिषीकल्याण" में गोपियों का मथुरा की स्त्रियों के प्रति हुई प्रतिक्रिया का भी वर्णन है। उनको उनसे ईर्ष्या होने लगती है। पोतना की गोपियाँ एक विधि विडम्बना की ओर संकेत करती हैं:—मथुरा की जिन नागरिकों ने कभी उनको देखा तक नहीं उनसे उनका संयोग होगा और हम जो बाल्यकाल से उनके साथ रहीं, उनसे वियुक्त हो जायेंगी।[५] सूर की गोपियाँ पीछे कभी कुब्जा पर तो व्यंग करती हैं, पर इस अवसर पर उन्होंने ऐसी बातें नहीं कहीं। अष्टमहिषीकल्याण और तेलुगु भागवत में गोपियाँ एक और बात से भी आन्दोलित हैं:—कामकला निपुणा मथुरावासिनियों के प्रेम में पड़कर कृष्ण संभवतः हमारा स्मरण नहीं करेंगे।[६]

सूर में गोपियों की उक्त मनःस्थिति का उल्लेख नहीं मिलता पर कृष्ण के चले जाने के पश्चात् वे अपनी भूलों पर पश्चात्ताप अधिक करती हैं। सबसे पहले गोपियों को यह पश्चात्ताप है कि उन्होंने चलते समय कृष्ण को ठीक तरह से देखा नहीं।[७] एक सखी विदा होते समय कृष्ण को नहीं देख पायी और यह बुद्धिहीन

[१] ते० भा०, १० पू०/१२२२
[२] सू० सा०, पद ३६२०
[३] ते० भा०, १० पू०/१२२२
[४] सू० सा०, पद ३६१७
[५] ते० भा०, १०/पू० १२१८
[६] (क) वही, १० पू०/१२१६, १२१७ (ख); अष्टमहिषीकल्याण, पृ० १२८-१२९
[७] सू० सा०, पद ३६१४

गृहकार्य में लगी रही। अपनी इस भूल पर यह पछताती है।[1] वे अपनी आँखों से कहती हैं कि आज से तुम्हारा बड़प्पन समाप्त हो गया। न तुम खंजन के समान उड़ कर उनके साथ जा सकीं और न उनके रूप-दर्शन के बिना मछली के समान तड़प कर मर ही सकीं।[2] विदा होते समय उन्होंने उनका रथ क्यों नहीं पकड़ लिया।[3] एक गोपी ने कहा कि अब तो हम पश्चात्ताप करती हैं, किन्तु चलते समय हम उनकी फेंट को भी पकड़ कर रोक नहीं सकीं।[4] "आन्ध्र-विष्णु-पुराण" में इस प्रकार की भावना अवश्य मिलती है। गोपियाँ गुरुजनों की लज्जा के कारण कृष्ण के दुपट्टे को पकड़ कर रोक न सकीं और अपनी विरह-व्यथा कह न सकीं। इसका उन्हें पश्चात्ताप रहा।[5] वे अपनी छाती को कोसती हैं जो इस अवसर पर विदीर्ण नहीं हो गई।[6] और अपने निर्लज्ज प्राणों को गाली देने लगीं, जो अब भी बने हुए हैं।[7] उनके पश्चात्ताप की भावना के साथ कुछ अभिलाषायें भी सजग हैं। उनका कहना है कि उनके रथ के अंग भी हम नहीं बन सकीं जो इसी बहाने उनके साथ चली जातीं। यदि हम धूल भी होतीं तो उनके चरणों से लिपट कर मथुरा तक उनके साथ चल सकती थीं।[8] इस प्रकार हिन्दी के कवियों ने गोपियों के मन में उठने वाली पश्चात्तापमयी अभिलाषाओं की उठती हुई लहरों का उल्लेख करके उनके मर्म को प्रत्यक्ष करना चाहा है। पर तेलुगु कवियों में यह प्रवृत्ति नहीं मिलती।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि कृष्ण के मथुरा-गमन के समय ब्रजांगनाओं की मानसिक स्थिति का चित्रण करने में दोनों क्षेत्रों के कवियों में साम्य अधिक है और वैषम्य कम। जहाँ तक अनुभावों और गोपियों की बाह्य प्रतिक्रियाओं का सम्बन्ध है, तेलुगु के कवियों ने विशेष रुचि ली है। उनमें नारी-सुलभ सपत्नी-भाव की व्यंजना भी है। इस व्यावहारिक पक्ष के द्वारा तेलुगु कवियों ने परिस्थिति को यथार्थ बनाने की चेष्टा की है। हिन्दी कवियों की वृत्ति घनीभूत होकर व्यवहार-पक्ष की ओर नहीं चलती। वह गोपियों के मर्मोद्घाटन में लग जाती है। यहाँ गोपियों के मन में ईर्ष्या के स्थान पर पश्चात्ताप है जिसमें ज्वलन अंतर्भुक्त है। इस वर्णन में तेलुगु कवि कुछ तटस्थ-सा दिखलाई देता है और सहानुभूतिपूर्ण निरीक्षण को सांग बनाने के लिये तत्पर है। हिन्दी कवि तटस्थ नहीं रह पाता है और वह

[1] सू० सा०, पद ३६१६
[2] वही, पद ३६१५, ३६१६
[3] वही, ३६१६
[4] वही, पद ३६२०
[5] आंध्र विष्णु-पुराणमु, ७/३५८
[6] सू० सा०, पद ३६२२, ३६२४
[7] वही, पद ३६२५
[8] वही, पद ३६१८

अपने को विरह व्याकुल ब्रजवासियों से मिला देता है। इसमें अनुभावमय चित्र चाहे इतना पूर्ण न बने पर एक निजीपन के साथ उस विरह-व्यथा के अनुभूति-पक्ष को अधिक मार्मिक अवश्य बना देता है। जहाँ तक विस्तार का सम्बन्ध है, उसका अंतर नीचे की तालिका से द्रष्टव्य है :—

श्रीमदांध्र भागवत		अष्टमहिषीकल्याण		सूरसागर	
पद	पंक्तियाँ	द्विपदायें	पंक्तियाँ	पद	पंक्तियाँ
१०पू०/१२०६-१२२२ =१४	४५	३५	३३११–३३८१ =७२	३५७८–३५६१ : ३६००–३६०८ =[illegible]२	१४१
१४	४५	३५	७२	२२	१४१

उक्त तालिका से जो मात्रागत अंतर स्पष्ट हो रहा है, वह अधिकांश पुनरावृत्तिमूलक है और कुछ विशिष्टाओं पर भी आधारित है। जहाँ तक वर्णन के तत्त्वों का संबंध है, उनके साम्य पर पहले विचार किया जा चुका है। श्रीमदांध्र-भागवत की तुलना में अष्टमहिषीकल्याणमु ही कुछ अधिक विस्तृत दिखलाई देता है। फिर भी शब्द संख्या पोतना मे ही अधिक हो गयी। सूर में विस्तृति निश्चित ही इनमें से अधिक है।

६-७२२ उद्धव प्रसंग

भ्रमरगीत दूतकाव्य के अन्तर्गत ही जाता है। पर दौत्य शुद्ध साहित्यिक नहीं है। उसके साथ प्रेम तथा ज्ञान-योग के संघर्ष का अभिप्राय भी जोड़ा गया है। प्रसंग-विधान इस प्रकार है :—१. कृष्ण का ब्रज की स्मृति (संचारी) से उद्दीप्त विरह। २. उद्धव का दूतरूप :—अन्य प्रेम-काव्यों में दूत का जो कार्य है उससे विपरीत कार्य इस दौत्य कर्म में है। क्योंकि अन्यत्र प्रेम की पुष्टि और सिद्धि के लिये दूत सचेष्ट रहता है। किन्तु इसमें प्रेम-मार्ग का खंडन ही अभिप्रेत है। साथ ही दूत रूपांतरण भी करता है अर्थात् उद्धव गोपियों की दृष्टि में भ्रमर बन जाता है। इस भ्रमर में कृष्ण की भी झलक है। इस प्रकार प्रेमी और दूत में रूप-साम्य स्थापित हो जाता है। अन्त में पराजित होकर प्रेमिकाओं का दूत बनकर लौटता है। यही भ्रमरगीत

का वैचित्र्य है। ३. उद्धव-गोपी-संवाद :—इसमें विरह की व्यंजना है और प्रेम का विजयघोष भी। ४. विरह का महत्वांकन :—इसमें विरह के साधनागत रूप का स्पष्टीकरण होता है। दूत के द्वारा इसकी स्वीकृति होती है।

इस समस्त प्रसंग की परिमाणगत तालिका इस प्रकार है :—

श्रीमद् भागवत		सूरसागर		श्रीमदांध्र-भागवत १०पू०		अष्टमहिषी-कल्याण		भागवत दशमस्कंध (मथुराकांड)	
श्लोक	पं०	पद	पं०	छंद	पं०	द्विपदायें	पं०	द्विपदायें	पं०
४६/१-४९ ४७/१-६९ =११८	२३६	४०३०-४७७८ =७४९	२६०४	१४३१-१४३४ =५४	१७८	८२	३९०९-४०७२ =१६४	३२८-४२९ =१०२	२०४

उक्त तालिका से यह स्पष्ट होता है कि श्रीमद्भागवत की प्रवृत्ति के सब से अधिक समीप सूर है। भागवतकार प्रसंग को विस्तार अवश्य देना चाहता है, पर वह पुराण की सीमाओं से निबद्ध है। जो सूत्र अपने विस्तार के लिये भागवत में छटपटा रहा है, सूर में वह सूत्र संतोष पा रहा है। इस सूत्र की यह प्रवृत्ति तेलुगु कवियों में नहीं पनपी। इस परिमाण के विभाजन के संबंध में भी अंतर है। कहीं विरह-व्यापार को अधिक विस्तार दिया गया है, कहीं सिद्धांत पक्ष को। इसका स्पष्टीकरण आगे के विवेचन में हो जायगा।

(क) **कृष्ण का विरह**—कृष्ण गोपियों की स्मृति से प्रेरित होकर कुछ विरह-कातर हो जाते हैं। उद्धव के दूतकर्म की भूमिका में कृष्ण की ब्रज-स्मृति तो है ही, हिन्दी क्षेत्र के ज्ञान और भक्ति की प्रतियोगिता का सूत्र भी पृष्ठभूमि में है। तेलुगु और हिन्दी कवियों की भाव-भूमिका में यही अंतर है। पोतना ने कृष्ण की विरह-कातरता का मर्मस्पर्शी विवरण दिया है। कृष्ण गोपियों के विषय में कल्पना करते हैं कि मेरे ध्यान में वे सतत निमग्न रहती होंगी। प्रतिक्षण मेरी प्रतीक्षा में रहती होंगी आदि।[1] यह सोचकर उन्होंने उद्धव को बुलाया। उद्धव के विशेषणों से यह ज्ञात होता है कि वह परम ज्ञानी और सिद्ध था।[2] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पोतना के कृष्ण केवल गोपियों की विरह-विकल स्थिति को स्मृति-पथ में लाते हैं। अष्टमहिषीकल्याणमु में

[1] ते० भा०, १० पू०/१४३२
[2] वही, १० पू०/१४३३

कृष्ण केवल गोपियों का ही स्मरण नहीं करते, वे नंद और यशोदा के लिये भी संदेश भेजते हैं।[1] विनतिरूवेंगळनाथ ने गोपियों की कातर दशा का वर्णन प्रायः पोतना के समान ही किया है। कृष्ण कहते हैं कि गोपियां मेरे विरह में किस प्रकार जीवन को धारण करती होंगी। वे सतत मेरे ही ध्यान में रत होंगी, आदि ।[2] पोतना के कृष्ण भी गोपियों के जीवन धारण करने पर शंकित हैं।[3] मडिकि सिंगना के कृष्ण अकेली गोपिकाओं की नहीं, नंद-यशोदा आदि की स्मृति में भी झूम उठते हैं।[4] फिर भी अष्टमहिषीकल्याण और द्विपदाभागवत में एक अंतर परिलक्षित होता है। प्रथम में कवि की कल्पना में गोपियों का मुख्य स्थान है और कृष्ण गोपियों के लिये विशेष और अन्यों के लिये सामान्य संदेश भेजते हैं।[5] दूसरी रचना में गोपियों के लिये कोई विशिष्ट संदेश नहीं है, सभी व्रजवासियों के लिये एक सामान्य संदेश भेजते हैं।[6] सूर ने इन तत्वों को तो ग्रहण किया ही है। सबसे पहले गुरुगृह में कृष्ण को व्रजबासियों की याद आती है।[7] यही नहीं एक एक लता, वृक्ष और कुंज उनकी स्मृति में झूम उठते हैं।[8] जब कृष्ण इन स्मृतियों में उतरा रहे थे उसी समय उद्धव आ जाते हैं। उनके आने पर कृष्ण उनके ज्ञान-योग-सिद्धान्त और अद्वैतवादी दर्शन का स्मरण करके मन ही मन दुःखी होते हैं[9] और एक पंथ दो काज की दृष्टि से उद्धव को व्रज भेजना चाहते हैं।[10] प्रकट रूप से वे अपने व्रज-प्रेम को व्यक्त करते हैं।[11] पोतना और अन्य तेलुगु कवियों की भाँति वे भी उद्धव को विरहविकला व्रजांगनाओं का उन्हें परिचय देते हैं। गोपियाँ यद्यपि कामाग्नि से दग्ध हैं पर निरन्तर अश्रुप्रवाह से वह अग्नि कुछ शान्त रहती है।[12] पर एक विशेष बात यह है कि सूर गोपियों के उल्लेख से अधिक कृष्ण की दशा का ही कथन करते हैं। सूर के कृष्ण को उद्धव के ज्ञान-सिद्धान्त की पराजय भी उद्दिष्ट है।[13] इस प्रकार हम देखते हैं कि तेलुगु कवियों

[1] अ० म० क०, पृ० १५०
[2] वही, पृ० १५०
[3] ते० भा०, १० पू०/१४३४
[4] द्विपदा भागवतमु, (मथुरा कांड), पृ० ३१
[5] अ० म० क०, पृ० १५०
[6] द्विपदा भागवत, (मथुराकांड), पृ० ३१
[7] सू० सा०, पद ४०३०
[8] वही, पद ४०३५
[9] वही, पद ४०३८
[10] वही, पद ४०७१
[11] वही, पद ४०३१, ४०४२
[12] वही, पद ४०४६
[13] वही, पद ४०३२

की अपेक्षा इस प्रसंग के सूत्रों का विस्तार हिन्दी कवियों ने अधिक किया है। तेलुगु-कवियों ने कृष्ण-स्मृति में गोपियों के प्रति उनकी सहानुभूति और दयाभाव के तत्त्वों पर ही अधिक बल दिया है।[1] जबकि सूर के कृष्ण की ब्रज-स्मृति में उनके अपने मन की कसक रो पड़ती है। सूर के कृष्ण अकेली गोपिकाओं के लिये ही नहीं, सभी के लिये पृथक-पृथक संदेश भेजते हैं। इस दृष्टि से सूर, चिनतिरुवेंगळनाथ और मडिकि सिंगना तीनों ने कृष्ण के द्वारा यह संदेश भिजवाया है कि मैं सभी के संताप को दूर करने के लिये ब्रज आऊँगा।[2] सूर के कृष्ण भी इसी प्रकार माता-यशोदा से कहलवाते हैं :—

> "नीकैं रहियौ जसुमति मैया।
> आवैंगे दिन चारि पाँच में, हम हलधर दोउ भैया॥"[3]

इस प्रकार हिन्दी और तेलुगु कवियों का मूलाधार समान है। पर सूर ने संदेश को विस्तृत बनाया है। सूर की योजना इस प्रकार है। कृष्ण गोपियों के लिये कोई बना बनाया संदेश नहीं देते। उद्धव से सामान्यतः कह देते हैं कि उनके प्रेम को मिटाकर, योग और ज्ञान का संदेश उनको देना।[4] फिर कृष्ण यशोदा और नंद के लिये अलग संदेश देते हैं। इसमें वात्सल्य भाव के उद्दीपन की शक्ति है।[5] वे अपने सखा आदि को भी संदेश में नहीं भूलते।[6] सूर की संदेश-योजना यहीं समाप्त नहीं हुई। उद्धव के जाने की बात सुनकर देवकी और वसुदेव ने भी नंद-यशोदा को पत्र लिखा।[7] कुब्जा ने भी ब्रज युवतियों और राधा के लिये संदेश भेजा। इसमें गोपियों के विरह और सपत्नी भाव को जागृत करने की शक्ति है। पहले दो संदेशों से माधुर्य-भाव का विशेष संबंध नहीं है। पर कुब्जा ने माधुर्य भाव और विरह को अवश्य उद्दीप्त कर दिया। तेलुगु कवियों ने कुब्जा के संदेश को छोड़ दिया है।

(ख) **उद्धव का ब्रज-आगमन**—पोतना की गोपियाँ उद्धव के प्रथम दर्शन के समय कृष्ण के रूप के समान ही उद्धव के रूप को पाती हैं। वैसा ही अंग-विन्यास और वैसा ही साज-शृंगार।[8] पोतना का साम्य पर आधारित उपमा-विधान सूर में भ्रांतिमान बन जाता है। सूर की गोपियों को पहले ही शकुन हो जाते हैं जिनसे उन्हें

[1] ते० भा०, १० पू०/१४३६
[2] वही, १० पू०/१४३६ ; अष्टमहिषीकल्याण, पृ० १५० ; द्विपदा भागवत, पृ० ३१
[3] सू० सा०, पद ४०५८
[4] वही, पद ४०४४
[5] वही, पद ४०५७-४०५६
[6] वही, पद ४०६१
[7] वही, पद ४०४१, ४०६२
[8] ते० भा०, १० पू०/१४४६

यह निश्चित हो जाता है कि या तो कृष्ण स्वयं आ रहे हैं या उनका भेजा हुआ दूत।[1] जब दूर से ही उद्धव का रथ दिखलाई पड़ता है और उसमें कृष्ण के ही रूप-रंग का एक व्यक्ति[2] भी, तो उनका अनुमान कुछ पक्का हो जाता है कि कृष्ण आये हैं।[3] सारा ब्रज देखने के लिये उमड़ पड़ता है। जब यह भ्रांति सिद्ध हो जाती है कि कृष्ण नहीं, उद्धव आये हैं तो गोपियों की स्थिति शोचनीय हो जाती है।[4] पर शीघ्र ही गोपियाँ सँभल जाती हैं और उन्हें आशा होती है कि एक मधुर-संदेश कृष्ण के आगमन के संबंध में हमको मिलेगा। इस प्रकार पोतना और सूर की उक्त भूमिकायें कुछ भिन्न हैं। उद्धव के आगमन पर गोपियों का अनुभूति-पक्ष सूर ने अधिक बल के साथ ग्रहण किया है।

(ग) **उद्धव-गोपी-संवाद**—ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि हिन्दी और तेलुगु कवियों ने उद्धव-गोपी-संवाद की पृष्ठभूमि भिन्न रूप से प्रस्तुत की है। दोनों ही क्षेत्र के कवियों ने उद्धव को परम पंडित के रूप में रखा है। पर उद्धव के इस दार्शनिक व्यक्तित्व का सांप्रदायिक उपयोग तेलुगु के कवियों ने नहीं किया है। हिन्दी-कवियों ने भक्ति की विजय' के अभिप्राय को उद्धव के व्यक्तित्व से संबद्ध कर दिया। इसी दृष्टि से उद्धव-गोपी-संवाद में भी कुछ अंतर आ गया है। तेलुगु क्षेत्र के कवियों ने, विशेषतः पोतना ने ज्ञान और योग के पंडित के रूप में उद्धव को अवश्य रखा है और उनके प्रेम-संदेश के साथ दार्शनिक उक्तियाँ भी समाविष्ट हैं। पर गोपियाँ न उनकी दार्शनिक उक्तियों की ओर विशेष ध्यान देती हैं, न उद्धव की स्थापनाओं का प्रत्युत्तर ही। हिन्दी क्षेत्र की गोपियाँ जहाँ अपनी विरह-वेदना और अपने मन के आक्रोश को व्यक्त करती हैं वहाँ उद्धव के दार्शनिक सिद्धांतों का भी खंडन करती हैं। नंददास की गोपियों में तो यह तत्त्व बहुत उभर कर आया है। सूर की गोपियों ने भी व्यावहारिक शैली में प्रेम-दर्शन का प्रतिपादन करते हुए उद्धव के दार्शनिक उक्तियों को धराशायी कर दिया है।

तेलुगु क्षेत्र के कवियों की गोपियाँ तीन स्तरों पर दिखलाई देती हैं। सब से पहले वे उद्धव का स्वागत करती हैं। द्वितीय स्तर तब उपस्थित होता है, जब भ्रमर आ जाता है। भ्रमर के व्याज से उनके व्यंग्य पीड़ा में डूबकर कुछ तीखे हो जाते हैं। उनकी दृष्टि में कृष्ण का प्रेम भ्रमर-वृत्ति से अभिन्न हो जाता है। तीसरे स्तर पर व्यंग्य की शिलाओं के नीचे से प्रेम का उत्स फूट पड़ता है, और वे उद्धव से पूर्व लीला-सुख की स्मृतियों के आधार पर कथन करने लगती हैं और कभी भावी संयोग की संभावना के संबंध में उनसे अटपटे प्रश्न करने लगती हैं। यह स्तर अत्यंत मृदुल

[1] सू० सा०, पद ४०७२

[2] वही, पद ४०८४

[3] वही, ४०८८

[4] वही, ४०८३

है। अंत में वे प्रियतम के द्वारा भेजे गये संदेश को स्वीकार कर लेती हैं। इस संदेश की स्वीकृति पर दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। एक तो ऐसा प्रतीत होता है कि उद्धव की ज्ञान-योग समन्वित पद्धति को स्वीकार करके गोपियाँ प्रेम के किनारे को छोड़ देती हैं। दूसरे, यह भी प्रतीत होता है कि यहाँ प्रेम की पराजय और उसके त्याग का प्रश्न ही नहीं है। प्रेमिका को अपने प्रेमास्पद पर अगाध विश्वास होता है। उसका प्रत्येक उचित अनुचित कार्य और उसकी प्रसन्नता के लिये प्रत्येक आज्ञा का पालन, सच्चे प्रेमी का धर्म बन जाता है। इस दृष्टि से गोपियों के झुकने में प्रेम का किसी प्रकार तिरस्कार नहीं हुआ। यह दूसरी प्रतिज्ञा ही अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होती है। हिन्दी कवियों की गोपियाँ योग और ज्ञान के साथ किसी प्रकार समझौता नहीं कर सकतीं। उनका प्रेम इतना दृढ़ है कि उद्धव की उक्तियाँ उनके सामने नहीं ठहर सकीं। यहाँ की गोपियों के आदर्श-प्रेम में कोई कमी नहीं है। पर वे किसी अन्य मार्ग को स्वीकार करके साधना की अनन्यता को बाधित नहीं होने देना चाहती हैं। उनके प्रेम की ऊँचाइयों में स्वयं उद्धव उलझ जाता है। जब उसे चेतना आती है तो अपने को गोपियों के प्रेम-मार्ग में दीक्षित पाता है। संक्षेप में, तेलुगु और हिन्दी उद्धव-गोपी-प्रसंग की तुलना यही है। कुछ अधिक विस्तार के साथ तुलनीय अंशों को नीचे दिया गया है।

पोतना की गोपियों को यह विश्वास है कि उद्धव को कृष्ण ने अपने माता-पिता के लिये कुछ संदेश देकर भेजा है,[1] पर सूर की गोपियाँ इस प्रकार का विचार नहीं करतीं। भ्रमर के आने के पूर्व पोतना की गोपियाँ एक व्यंग्य करती हैं कि कम से कम कृष्ण ने अपने माता-पिता को तो याद रक्खा है। सज्जन लोग प्रेम संबध स्थापित होने के उपरान्त संबंधी को विस्मृत नहीं करते।[2]

सूर ने यहाँ भी अधिक विस्तार किया है। पहले जब उद्धव गोपियों को पत्र देते हैं तो उस प्रेम-पत्र को भी प्रिय समझ कर उसे हृदय से लगाती हैं।[3] उसको पढ़ने की भी उन्हें शक्ति नहीं है। यदि उस पर दृष्टि को जमाया जाय तो आँसुओं से भींग उठती हैं। यदि हाथ से स्पर्श किया जाय तो जलने का भय है।[4] और जब उन्हें यह प्रतीत होता है कि इसमें प्रेम का नहीं, योग का संदेश लिखा है तो उनकी वह आशा भी टूट जाती है कि उद्धव से उन्हें मधुर संदेश मिलेगा। अब उनके मन का सोया हुआ संताप जागृत हो जाता है। उनको कुब्जा के भोग और अपने योग-संदेश में वैषम्य स्पष्ट हो जाता है।[5] वे केवल कृष्ण के प्रति शुभ-कामना करके सहम जाती हैं।

[1] ते० भा०, १०/१४५१
[2] वही, १०/१४५१, १४५२
[3] सू० सा०, पद ४१०६
[4] वही, पद ४१०९
[5] वही, पद ४११५

"जहाँ रहौ तहँ कोटि बरस लगि जियो श्याम सुख सोहि ।।"[1]

इसी समय भ्रमर उपस्थित होता है।

घ. भ्रमरगीत—भ्रमर एक प्रतीक के रूप में उपस्थित होता हैं। वह गोपियों पर मँडराने लगता है, तब गोपियाँ उसका निवारण करती हैं—क्योंकि भ्रमर के प्रेम का कोई विश्वास नहीं है।[2] पोतना की गोपियाँ भ्रमर को कोसती हैं कि तू वहाँ से आया है जहाँ विलास चिह्नों से संयुक्त कृष्ण हैं। तुम हमारे पैरों को मत छुओ।[3] तुम्हारा प्रेम स्थिर नहीं है, कभी इस फूल पर तो कभी उस फूल पर।[4] दूसरे ही क्षण पोतना की गोपियाँ कहती हैं कि तुम कृष्ण के गुण का गान यहाँ मत करो। क्योंकि हमारे लिये इनमें कोई रस नहीं है। अपने गीत का विस्तार मथुरा-नगरी में जाकर ही करो।[5] सूर की गोपियाँ भी उद्धव के संदेश को कटु और नीरस बताती हैं।[6] व्यंग्य में वे यह भी कहती हैं कि अपने इस उपदेश को नवेली नागरियों को ही सुनाओ। हम भोली ब्रजबालायें इसका क्या मूल्य जानें।[7] गोपियां यह भी कहती हैं कि हम तो अजान हैं और भोली भी हैं। हम में वह शक्ति कहाँ कि त्रिलोकजित सौन्दर्यशाली और लक्ष्मी के आराध्य को मुग्ध कर सकें।[8] सूर की गोपियाँ अपने को अजान तो कहती हैं।[9] पर यह कथन इस संदर्भ में नहीं, उद्धव के गूढ़ ज्ञान के संदर्भ में है। आगे पोतना की गोपियाँ अपने प्रेम का परिचय देती हैं। वे कहती हैं कि हमने श्याम सुन्दर के लिये संसार के समस्त संबंधों का परित्याग कर दिया, किन्तु कृष्ण ने विपरीत व्यवहार ही किया। क्या धार्मिक लोग इस प्रकार के व्यवहार का समर्थन कर सकते हैं?[10] साथ ही वे यह भी कहती हैं कि इस प्रकार के योग के संदेश को कोई भी उचित नहीं कह सकता।[11] सूर और पोतना दोनों ने ही दशावतार की शैली में विष्णु के अवतारों के वृत्तान्त के आधार पर यह कहा है कि उनका व्यवहार सदैव से ही निष्ठुर रहा है।[12] पोतना की गोपियाँ कहती हैं कि

[1] सू० सा०, पद ४११४
[2] तें० भा०, १० पू०/१४५४
[3] वही, /१४५५
[4] वही, /१४५६ तथा सू० सा० पद ४१२५
[5] वही, १० पू०/१४५७
[6] सू० सा०, पद ४१३७
[7] वही, पद ४१७२
[8] तें० भा०, १० पू०/१४५८
[9] सू० सा०, पद ४१७२
[10] तें० भा०, १० पू०/१४५९ तथा सू० सा०, पद ४१४९
[11] सू० सा०, पद ४१४३
[12] तें० भा०, १० पू०/१४६० तथा सू० सा० पद ४११४

जिस हंस को सांसारिक व्यवहार नहीं आता, वह भी अपनी पत्नी या पुत्र की पुकार सुनकर भाग आता है। किन्तु कृष्ण इतने निष्ठुर हैं कि हम विरह-विदग्धाओं की खबर नहीं लेते।[१] सूर ने एक अन्य उपमा का सहारा लेकर यही बात कही है।[२] गोपियाँ कहती हैं कि कृष्ण ने हमारे साथ वही व्यवहार किया जो एक आखेटक भोलीभाली हरिणियों के साथ करता है।[३] सूर ने भी एक बधिक की उपमा से यही बात कही।[४] अंत में पोतना की गोपियाँ यह कथन करती हैं कि अब कृष्ण नागरियों के प्रेमजाल में उलझ गये हैं, अब हमारी ओर उनका ध्यान क्यों जायेगा? महलों में रहने वाले श्याम को हमारे सामान्य कुटीरों का स्मरण क्यों आयेगा?—आदि।[५] सूर की गोपियों में इस प्रकार की उक्तियाँ नहीं मिलतीं। वे इस प्रकार की व्यंग्योक्तियाँ करने के पश्चात् अपनी विगत प्रेम-लीलाओं की मधुर स्मृति में डूब जाती हैं।[६] हिन्दी के कृष्ण भक्त कवियों में भी अनेक इस प्रकार की स्मृतियाँ मिलती हैं। फिर गोपियाँ उद्धव को सावधान करती हैं कि यदि मिलने में अधिक विलम्ब होगा तो हमारा प्राणांत ही हो जायेगा। हम गोपिकाओं की हत्या का अपवाद कृष्ण के सिर पड़ेगा।[७] हिन्दी के कवियों ने इस प्रकार की उक्तियाँ प्रायः नहीं लिखी हैं। विरह में मरने की बात तो कही है।[८] किन्तु हत्या लगने की बात नहीं कही गयी। उनको शीघ्र बुलाया भी गया है। पोतना की गोपियाँ चाहती हैं कि कम से कम कृष्ण एक बार तो आ जायँ जिससे हम उनसे पूछ सकें कि क्या आपका व्यवहार उचित है? इसीलिये उद्धव से पूछती हैं कि क्या हमको यह अवसर मिल सकता है? आदि।[९] सूर आदि में गोपियाँ कृष्ण को शीघ्र भेजने के लिये उद्धव से कहती हैं।[१०] पर उपालंभ की वात नहीं कहती हैं। पोतना की गोपियाँ अनेक बार उद्धव से यह भी पूछती हैं कि क्या कृष्ण हमारा कभी स्मरण करते हैं।[११] सूर के यशादा और नंद समस्त ब्रजवासियों की ओर से ही बात पूछते ।[१२]

[१] ते० भा०, १० पू०/१४६१

[२] बरु ऐ बदरा बरषन आये।
चातक पिक की पीर जानि के, तेउ तहाँ तैं धाये॥

[३] ते० भा०, १० पू०/१४६२ ; [४] सू० सा०, पद ३८०४

[५] ते० भा०, १० पू०/१४६४

[६] वही, १० पू०/१४७५–१४७८

[७] वही, १० पू०/१४७९

[८] सू० सा०, पद ४५९१

[९] ते० भा०, १० पू०/१४८१

[१०] सू० सा०, पद ४५९१

[११] ते० भा०, १० पू०/१४७६-१४७८, १४८१

[१२] सू० सा०, पद ४०९१

अंत में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि तेलुगु कवियों ने गोपियों की जिन विविध भावसंकुल उक्तियों को काव्यबद्ध किया है, वे हिन्दी के कवियों में भी मिलती हैं। पर हिन्दी के कवियों ने इस प्रसंग का इतना विस्तार किया है कि अनेक नवीन उक्तियाँ और भाव-छायायें ऐसी मिलती हैं जो आलोच्य-युग के तेलुगु साहित्य में नहीं हैं। तुलनीय न होने के कारण उन पर विस्तृत विचार अनावश्यक ही है।

६.७२३. वियोग का शास्त्रीय-पक्ष

मान

उभय प्रान्तों के कवियों ने विरह का भी पर्याप्त वर्णन किया है। गोचारण के लिये गये हुए कृष्ण की रूप-माधुरी का स्मरण करके गोपियाँ व्याकुल हो जाती हैं। पलक-पतन जैसा अल्प व्यवधान भी उन्हें विरहोत्पादक होता है।[1] यह भाव की सघनता की परिचायक भूमि है। इसी प्रकार मान-विरह भी मधुर रस के क्षेत्र में एक प्रमुख तत्त्व है। मान की यथार्थ स्थिति तब उत्पन्न होती है—जब नायक किसी अन्य नायिका के रात्रिकालीन रति-चिह्नों से युक्त होकर नायिका के समक्ष आता है। मान-वर्णन में केवल अन्नमाचारी ही तेलुगु वैष्णव साहित्य में उल्लेखनीय कवि हैं। नंदि तिम्मना कृत "पारिजातापहरण" में मान अपने चरम पर है अवश्य, तथापि यह शुद्ध-वैष्णव-काव्य नहीं है। 'पारिजातापहरण" की यह मानकथा तेलुगु क्षेत्र में बहुत ही लोकप्रिय हुई, पर हिन्दी क्षेत्र में इस कथा की लोकप्रियता नगण्य ही है। इसका कारण यह है कि तेलुगु क्षेत्र में अष्टमहिषियों के प्रसंग अधिक लोकप्रिय रहे और हिन्दी-क्षेत्र में ब्रज-क्षेत्र के। जहाँ तक ब्रज-क्षेत्रीय प्रेम प्रसंगों के मान का संबंध है, हिन्दी क्षेत्र के समक्ष तेलुगु क्षेत्र के कवि प्रायः शून्य हैं। अन्नमाचारी ने दक्षिण-नायक और खंडिता के प्रसंगों में मान की व्यंग्योक्तियाँ करायी हैं। अन्नमाचारी के मान-पद श्रीवेंकटेश्वर से सम्बद्ध होने पर भी उनका तादात्म्य श्रीकृष्ण से प्रायः दिखलाई पड़ता है। इन मान के गीतों में केवल नायिका की उक्तियाँ ही हैं। उदाहरण के लिये एक पद में नायिका के ये वचन द्रष्टव्य हैं :—तुम हमसे प्रेम ही नहीं करते, अतः चुप ही रहो। जब तुम किसी और के वश में हो तो हमसे कोई सम्बन्ध ही मत रखो।[2] इस प्रकार अन्नमाचारी में केवल एकांगी मान के दर्शन हैं। कृष्ण की प्रियायें अपनी उक्तियों में जैसे प्रिय के ऐश्वर्य और महत्व का ध्यान रखती हैं, न तो उनकी उक्तियाँ ही इतनी कटु हैं और न प्रिय के द्वारा मानवती नायिका को मनाने का ही अधिक चित्रण है। वैसे वे कभी नायिका की ठोढ़ी पकड़ कर अनुनय करते हैं, कभी उनके पैरों पर भी गिरते हैं। नायिका बाहर से मान प्रदर्शित करती हुई भी

[1] ते० भा०, १०पू०/१०५० ; यह भावना राधावल्लभ सम्प्रदायों के कवियों में भी मिलती है।

[2] शृं० सं० की०, ३/२६२, और भी द्रष्टव्य हैं :—१३/१०, १३/५२, १३/११७, १३/४७१

भीतर ही भीतर प्रसन्न हो जाती है।[1] एक स्थान पर वह यह भी कहती है कि तुम्हारा छल-कपट अब सभी को ज्ञात हो गया है। यह झूठी विनय अब मत दिखाओ। अपनी चहेती-प्रिया के पास चले जाओ। किन्तु दूसरे ही क्षण वेंकटेश्वर की उक्तियों से उसके मान का भंग हो जाता है। यहाँ तक कि वह अपनी रोपोक्तियों पर पश्चात्ताप करती है।[2] दूती प्रेमी-प्रेमिकाओं के बीच प्रेम की अभिवृद्धि करने का साधन तो है, पर मान के प्रसंग पर उनके व्यापार को अन्नमाचारी ने प्रायः नहीं दिखाया। अंत में यह कहा जा सकता है कि अन्नमाचारी मान के प्रसंग में नायिका की पूर्ण-प्रतिष्ठा रखने में भगवान के ऐश्वर्य से अभिभूत होने के कारण अपने को असमर्थ पाते हैं। मान का प्रसंग इसीलिये इतना कठोर नहीं हो पाता जितना हिन्दी के कवियों में।

हिन्दी के क्षेत्र में इस समय दो धारायें थीं। एक में कृष्ण का अधिक महत्व था (जैसे वल्लभ संप्रदाय में); और दूसरी में राधा का (जैसे राधावल्लभ संप्रदाय में)। प्रथम में भी धीरे-धीरे राधा की प्रतिष्ठा बढ़ने लगी। दूसरी में राधा कृष्ण की भी आराध्या के रूप में चित्रित है। इसी भाव से राधा के मान में कृष्ण की आराधना का तत्त्व आ गया है। श्रीहितहरिवंश ने लघु और दीर्घ—दोनों मानों का चित्रण किया है। सखियाँ मानिनी राधा को रास के लिये लेने जाती हैं। वे राधा से कृष्ण की दुर्दशा का वर्णन करती हैं।[3] कृष्ण की अत्यंत दयनीय विरह-विह्वल-स्थिति को सुनकर राधा का मान समाप्त हो जाता है और वह कृष्ण के पास चली जाती है। यहाँ मान का कारण प्रिय की पररति नहीं है। रूपगर्विता राधा रास-मंडल में अपनी अनिवार्य स्थिति पर गर्व करके ही मान करती है। इसीलिए मान दीर्घकालीन नहीं होता। इस प्रकार के मान की स्थिति सूर में भी है जहाँ राधा कृष्ण की प्रिया होने का गर्व करती है।[4] कृष्ण रूठकर बिना राधा से मिले ही लौट गये।[5] राधा पश्चात्ताप और विरहाग्नि में जलने लगी।[6] तब सखियाँ राधा के रूप-सौंदर्य का वर्णन करके कृष्ण को राधा की ओर आकर्षित करती हैं।[7] इससे राधा-कृष्ण का मिलन होता है। दूसरे मान-विरह की स्थिति वह है जब राधा संभोग करते हुए कृष्ण के वक्ष पर कोई रतिचिह्न देख लेती है।[8] राधा-मान को दूर करने के लिये

[1] शृं० सं० की० १२/१३५

[2] वही, १२/७७

[3] श्रीहित चौरासी, पद ३७,८३

[4] सू० सा०, पद २६९१

[5] वही, पद २६९१

[6] वही, पद २६९४-२७२६

[7] वही, पद १७२७-१७३७

[8] वही, पद३०३१

कृष्ण की ओर से एक सखी गयी और कृष्ण के विरह का मार्मिक वर्णन करती है।[१] अंत में राधा-कृष्ण का संयोग संपन्न होता है।[२] एक अन्य अवसर पर राधा ने कृष्ण को एक गोपी के घर से निकलते हुए देखा।[३] राधा ने मान किया।[४] कृष्ण सखी का रूप धारण करके राधा के मानमोचन के लिये गये।[५] तब जैसे तैसे मान समाप्त हुआ। इस प्रकार सूर के मान-प्रसंग में मान का संक्षिप्त कारण—राधा के रूठने के अनुभाव, सखियों के मान-मोचन-प्रयत्न, कृष्ण का अनुनय-विनय और अंत में दंपति विहार रहते हैं। वस्तुतः मान की यही उपयोगिता है कि प्रिय और प्रियतमा—दोनों के मन में कामोद्दीपन हो, जिससे मान के पश्चात् के विहार में घनीभूत रतिरस की प्राप्ति हो सके। विद्यापति की राधा से सखी अपना मूल्य बढ़ाने के लिये मान करने की शिक्षा देती है।[६] यहाँ पर मान का संबंध नायिका की प्रतिष्ठा से है। सूर की भाँति विद्यापति की राधा भी कृष्ण के अंगों पर रतिचिह्न देखकर[७] मान करती है। सखियाँ कृष्ण के विरह को राधा से ज्ञापित करती हैं।[८] विद्यापति ने मान का दूसरा पक्ष भी लिया। श्रीकृष्ण राधा से मान करते हैं, मान का कारण अज्ञात है।[९] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हिन्दी के प्रायः सभी कवियों ने मान को महत्व और विस्तार दिया। नंददास ने तो "मान-मंजरी" की ही रचना कर डाली। तेलुगु-क्षेत्र के लौकिक प्रेम-काव्यों में मान के शास्त्रीय रूपों की व्यंजना मिलती है। पर भक्ति के क्षेत्र में केवल अन्नमाचारी ने उसकी विभिन्न अवस्थाओं का उल्लेख किया है। तेलुगु के मान की स्थितियाँ और उसका स्वरूप शास्त्रोक्त है, पर हिन्दी क्षेत्र में उसे अधिक मनोवैज्ञानिक बनाने की चेष्टा की गयी है।

विरहिणी की दशा—दोनों क्षेत्रों के कवियों ने विरहिणियों का वर्णन किया है। विरहिणी के वर्णन की शैली दोनों क्षेत्रों में प्रायः एक-सी ही है। नायिका इस आशा में अपने सुखोपभोग का परित्याग कर देती है। मनोरंजन के समस्त उपकरण छूट जाते हैं। सौंदर्य-प्रसाधनों से विरक्ति हो जाती है और अश्रुप्रवाह आदि अनुभाव दिखलाई पड़ते हैं। उद्धव ने राधा की इसी दशा का वर्णन कृष्ण से किया था।

---

[१] सू० सा० पद ३०५८
[२] वही, पद ३०६१
[३] वही, पद ३३५४
[४] वही, पद ३३७५
[५] वही, पद ३४४५
[६] विद्यापति की पदावली, १४/१,३,४
[७] वही, १४/५,६,७
[८] वही, १४/१०
[९] वही, १४/२४

उसके अंग-प्रकंपित थे, और उसका हृदय धड़क रहा था।[१] उसने तेल, ताम्बूल, भूषण, वस्त्र सब छोड़ रखे हैं। उसका कंठ अवरुद्ध रहता है।[२] उनकी आँखों से आँसुओं की यमुना बहती रहती है। उनका शरीर विरहाग्नि से तप्त है।[३] सूर ने इस प्रसंग का बहुत अधिक विस्तार किया है। अन्नमाचारी ने अपनी "शृंगार मंजरी" में नायिका की विरहावस्था का पूर्ण वर्णन किया है। नायिका वीणावादन नहीं करती, सखियों से उसका हास्य-विनोद भी छूट गया है। शुक से भी वह वार्तालाप नहीं करती। कभी-कभी कुछ अस्फुट प्रलाप सुनाई पड़ता है। वह अपने कुचों को वस्त्र से ढकना भी भूल जाती है। कस्तूरी आदि अंग-रागों और पुष्प आदि शृंगार को भी उसने त्याग दिया है। विरहाग्नि में वह जलती रहती है—आदि।[४]

मीरा का विरह

मीरा ने स्वयं अपने को गिरिधर की विरहिणी बना दिया है। उसे विरह में भूख और नींद नहीं रही, न मुख से वह कुछ बोल पाती है। वह केवल प्रियतम से आने के लिये उत्कंठापूर्ण अनुनय-विनय करती है।[५] वह अपने प्रवासी प्रियतम को पत्र भी नहीं लिख पाती। ज्यों ही वह पत्र लिखने बैठती है, उसका तन-मन काँपने लगता है और हृदय भी स्तब्ध हो जाता है :—

"पतियाँ मैं कैसे लिखूँ लिख ही न जाई।
कलम धरत मेरो तन मन कांपता, हिरदो रह्यो धर्राई॥"[६]

मीरा की विरहाभिव्यक्ति एक ओर सूफी साहित्य से प्रेरणा लेती है, दूसरी ओर निर्गुण संतों से। कभी कभी शब्दावली भी उन्हीं की प्रयुक्त होती है। यह वैष्णव विरह-वर्णन में मीरा का योगदान समझना चाहिये। न हिन्दी के सूर आदि कृष्णभक्त कवियों में यह शैली मिलती है, न तेलुगु कवियों में। केवल कबीर और जायसी इस शैली के प्रयोक्ता हैं। मीरा की शैली इन सभी का समन्वित रूप है। उसकी मिली-जुली-शैली की झाँकी निम्नलिखित उद्धरण में द्रष्टव्य है :—

"हेरी मैं तो प्रेम-दिवाणी मेरो दरद न जाणे कोई।
घायल की गति घायल जाणे और न जाणे कोई।
सूली ऊपर सेज हमारी किस विध सोणा होई।
गगन मंडल पर सेज पिया की मिलणा किस विध होई।"[७]

[१] सू० सा०, पद ४७२२
[२] वही, पद ४७२६
[३] वही, पद ४७२७
[४] दि मैनर वर्क्स आफ अन्नमाचारी एण्ड हिस सन्स, वाल्यूम—१, पृ० १०-११
[५] मीरा की प्रेम-साधना—माधव, पृ० ११५ पर उद्धत
[६] वही, पृ० १४५
[७] वही, पृ० १४५

जहाँ एक ओर गिरिधर गोपाल से कृष्ण के प्रति मधुर भक्ति अभिव्यंजित होती है, वहाँ जोगी नाम के आने से योगी और योगिनी की परस्पर विरहासक्ति मिलती है। योगी के आधार पर वैष्णव-विरह की अभिव्यक्ति मीरा की एक विशेषता है जो आलोच्य-युग के सभी वैष्णव कवियों से इसे अलग करती है :—

"जोगी मत जा, मत जा, मत जा, पाऊँ परूँ मैं चेरी तेरी।"[1]

मीरा के गीतों में राजस्थान और ब्रज के लोकगीतों की झलक शैली को और भी सजीव बना देती है। यह ग्रामीण झलक सूर आदि कृष्ण-भक्त कवियों में कुछ कुछ मिल जाती है। पर तेलुगु के कवियों में विरह की अभिव्यक्ति अधिकांश शास्त्रीय धरातल पर ही रहती है। मीरा निर्गुण और सगुण शैली को जोड़ने वाली एक कड़ी है। क्योंकि परिस्थितियों ने जहाँ उन्हें गिरिधरगोपाल की चेरी बनाया वहाँ किसी निर्गुण संत के मार्ग में उसे दीक्षित भी कराया। इसीलिये कभी उसका विरह-निवेदन गिरिधर गोपाल के प्रति होता है। कभी ऐसा प्रतीत होता है कि गिरिधर गोपाल निर्गुण-साधना का "असीम" बनता जा रहा है और कभी यह विरह निवेदन योगी के प्रति है। इन्हीं कारणों से मीरा का विरह सभी कवियों से विशिष्ट हो गया है।

विरह का ऊहात्मक वर्णन

विरह की ऊहात्मक शैली का प्रयोग शास्त्रीय शैली की प्रमुख विशेषता रही। वैसे भक्त कवियों ने इस शैली का कम प्रयोग किया है। श्रीकृष्णदेवराय ने आमुक्तमाल्यदा में कुछ ऐसी उक्तियों का प्रयोग किया है। सूर्य दक्षिणायण से उत्तरायण की यात्रा कर रहा है। इस प्राकृतिक घटना के आधार पर कवि यह कल्पना करता है कि दक्षिण में गोदादेवी निवास करती है। उसका विरह-ताप उस देश में व्याप्त होकर सूर्य को भी जलाने लगा। अतः वह उत्तर के हिम-पर्वत-प्रदेश की ओर जाकर अपने जलन को शान्त करना चाहता है।[2] एक और स्थान पर कवि ने मोती और चूने की रासायनिक एकता के आधार पर यह उक्ति कही :—गोदादेवी सखी के साथ सरोवर-स्नान करने गयी। उसने अपने मुक्ताहार को सखी के गले में डाल दिया। जब सखी भी स्नान करने गयी तो वह हार चूर-चूर हो गया, क्योंकि वह हार गोदा के विरहसंतप्त वक्ष के संपर्क से बहुत अधिक गरम हो गया था।[3] गोदा के विरहाग्नि से एक दिन वह लता भी जलकर टूट गयी जिस पर वह झूल रही थी।[4] एक स्थान पर कृष्णदेवराय ने अपनी उन्मुक्त कल्पना के आधार पर दशावतार शैली में विरह-वर्णन किया है। गोदादेवी निष्ठुर हरि को उपालंभ देती

[1] मीरा का प्रेम-साधना—माधव, पृ० २२३
[2] आमुक्तमाल्यदा, ५/६७
[3] वही, ५/६१
[4] वही, ५/५३

हुई कहती है कि तुमने पूर्व-युग में उन गोपियों को विरह में जलता हुआ छोड़ दिया जो तुम्हारे ऊपर पूर्ण रूप से मुग्ध थीं। उन स्त्रियों के आँसू बहने लगे। उनकी आंखों के सदृश मछली रूप से तुम्हें जल में भ्रमण करना पड़ा। यही तुम्हारा मत्स्यावतार है। अपने प्रेम से स्त्रियों के शरीर पर पुलक-सात्विक तुमने उत्पन्न किया, उसी के फलस्वरूप तुम्हारे शरीर पर तीखे रोम उत्पन्न हो गये। वराहवतार इसके अतिरिक्त क्या है? और जब यही रोमावली गले पर घनीभूत हो गयी तो यही नरसिंहावतार कहलाया।[1]

अन्नमाचारी में भी विरह-संबंधी कुछ अतिशयोक्तियाँ मिलती हैं। नायिका के दीर्घोच्छ्वास से पवन भी गरम हो गया।[2] सदैव पानी में रहनेवाले कमल पानी से वियुक्त हो गये क्योंकि आंसू बहाते नायिका के नेत्रकमल संतप्त होकर बाधा उत्पन्न कर रहे हैं।[3] पर अन्नमाचारी की ऐसी उक्तियाँ आमुक्तमाल्यदा की उक्तियों के समान पूर्ण ऊहात्मक नहीं हैं, उनमें अनुभूति का भी स्पर्श है। सूर में भी कुछ ऊहात्मक उक्तियां मिलती है। उदाहरण के लिये राधा अपनी सखी से वीणावादन बंद करने के लिये कहती हैं। क्योंकि वीणानाद को सुनकर चंद्र के रथ के मृग मोहित हो गये और चंद्रमा अस्ताचल की ओर ही चल रहा है।[4] कृष्ण का पत्र पढ़ते समय गोपियां इसलिये उसका स्पर्श नहीं करतीं कि विरहाग्नि से जलती हुई उंगलियों के स्पर्श से यह जल न जाय और आंसुओं की धारा से वह गल न जाय।[5] पर पोतना की उक्तियों की भाँति इनकी विरहोक्तियाँ भी भी रससिक्त है।

विरह में प्रकृति की विपरीत दशा

विरहवर्णन की यह शैली अत्यंत लोकप्रिय रही। अन्नमाचारी की विरहिणी के लिये चंद्रमा गीष्म की भाँति संतापकारी हो गया।[6] सूर की गोपियां भी चंद्रमा की शीतलता समाप्त होने की चर्चा करती हैं।[7] इसी प्रकार सूर ने अन्य ऋतुओं का भी दुखदरूप प्रस्तुत किया है। यह शैली इतनी प्रसिद्ध है कि इसके विस्तार की अधिक आवश्यकता नहीं हैं। जहां कहीं विरह का वर्णन आया वहां प्रकृति की विपरीत दशा का वर्णन दोनों क्षेत्रों के कवियों ने किया है। अन्नमाचारी ने सत्य ही

---

[1] आमुक्तमाल्यदा, ५/४४
[2] शृं० सं० की०, १२/१२
[3] वही, १२/११०
[4] सू० सा०, पद ३९७६
[5] वही, ४१०९
[6] शृं० सं० की०, १३/१८९
[7] सू० सा०, पद ६९७०

कहा है कि जब दैव ही विपरीत हो जाता है, तब सब के सब विपरीत ही चलते हैं।[1]

विरह का महत्त्व

भक्त कवियों ने विरह को साधना के रूप में ग्रहण किया है। विरह वह पद्धति है जिससे प्रेम समस्त चेतना में व्याप्त हो जाता है। यह प्रेम का शुद्धतम रूप है, क्योंकि ऐंगिक स्पर्श के न होने से प्रेम वासना-रहित हो जाता है। इसलिये सूर की गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि जिस प्रकार किसी रंग को गहरा करने के लिये कुछ लाग (पुट) चाहिये, उसी प्रकार प्रेम को गहरा बनाने के लिये भी विरह की आवश्यकता है। विरहाग्नि में ही विकार जल जाते हैं और प्रेम शुद्ध हो जाता है।[2] इसी प्रकार अन्नमाचारी ने भी विरह के महत्व का कथन किया है। उनकी नायिका अपनी सखी से कहती है कि विरह-वेदना भी अत्यंत वांछनीय है। यदि यह न होता तो मैं संयोग-सुख से अपरिचित ही रह जाती।[3] सूर्य की किरणों से संतप्त होने वाला ही शीतलता और छाया का महत्व जान सकता है। अन्नमाचारी ने विरह के सिद्धांत पक्ष को और भी पुष्ट किया है। नायिका कहती है कि पति से मिलकर परवश होने की अपेक्षा विरह में उनसे अलग रहने में ही सुख है। क्योंकि विरहावस्था में नायक के हर एक गुण-विलास, आदि का स्मरण करने से अनुक्षण नवीन आनंद प्राप्त होता है।[4] विरह-काल में चाहे जागरण हो चाहे स्वप्न, चतुर्दिक प्रियतम के ही रूप-दर्शन होते हैं।[5]

विरह में प्रियतम के प्रति शुभ-कामना

विरहिणी प्रियतम के द्वारा दिये हुए विरह से संतप्त रहने पर भी प्रिय की न निन्दा सह सकती है और न उसके प्रति दुर्भावना ही रख सकती है। यदि वह ऐसा करती है तो प्रेम की मर्यादा भंग हो जाती है। अन्नमाचारी की नायिका (अलिवेलिमंगा) अपनी सखी से कहती है कि तू प्रिय की निन्दा क्यों कर रही है? प्रियतम को निष्ठुर कहकर मैं दोषी बन जाऊँगी।[6] जहाँ कही रहें वे मेरे हैं और मैं उनकी हूँ। मेरी इच्छा बस यही है कि वे सकुशल रहें। उनकी भलाई में ही मेरी भलाई है।[7] सूर की गोपियाँ भी उद्धव से यही बात कहती हैं कि कृष्ण कहीं भी रहें, भगवान उन्हें करोड़ों वर्ष का जीवन दे और वे सुख से रहें।[8]

[1] शृं० सं० की०, पद १२/११०
[2] सू० सा०, पद ४६०४
[3] शृं० सं० की०, ३/५५
[4] वही, ४/१७
[5] वही, १२/४२
[6] वही, ३/१५४
[7] वही, ३/१७०
[8] सू० सा०, पद ४११४

६. ८. शृंगार रस

परिणयाश्रित शृंगार

गोपी-राधा और कृष्ण का प्रेम विवाह-निरपेक्ष प्रेम है। विवाह की चर्चा यदि है भी तो गंधर्व विवाह की, और यह भी आनुषंगिक। पर हिन्दी क्षेत्र के कवियों को विवाह-निरपेक्ष प्रेम ही विशेष आकर्षित करता रहा। इसका कारण सांप्रदायिक है और स्थानीय भी। जो प्रेम ब्रज में पल्लवित हुआ, उसका विस्तार हिन्दी कवियों के द्वारा स्वाभाविक ही है। तेलुगु क्षेत्र के कवियों ने प्रत्येक विवाह के अवसर पर अपनी विशेष रूचि दिखलाई है। हिन्दी के सभी भक्त कवियों से इन विवाह-प्रसंगों का परिमाण तेलुग कवियों में अधिक है। यह नीचे की तालिका से प्रमाणित है :—

१. रुक्मिणी-कल्याण

	पंक्तियाँ
श्रीमद् भागवत (दशम स्कंध), श्लोक ५२/२१-४४ ; ५३/१-५७ ; ५४/१-६० =१४१	२८२
सूरसागर पद ४७८६-४८०६=२१ ; पुनरुक्ति ४८०७= १	२८८+७६ =३६४
श्रीमदांध्रभागवत छंद १६७८-१७८९=११२	४४२
अष्टमहिषी कल्याण द्विपदायें ५१८½	४५११-५५४७ =१०३७
द्विपदा भागवत (कल्याणकांड) १-२७२=२७२	५४४

२. जांबवती और सत्यभामा का विवाह

श्रीमद् भागवत (दशमस्कंध) श्लोक ५६/१-४५=४५	९०
सूरसागर पद ४८०९=१	२८
श्रीमदांध्रभागवत छंद ४४-८२=३९	१०७
अष्टमहिषीकल्याण द्विपदायें ३९९½	५५८६-६३८४ =७९९
द्विपदा भागवत (कल्याणकांड) ३३४-४१८=८५	१७०

३. श्रीकृष्ण के अन्य पाँच विवाहों की कथा

श्रीमद् भागवत (दशम स्कंध) श्लोक ५८/१-५८=५८	११६
सूरसागर पद ४८११=१	१४
श्रीमदांध्रभागवत छंद १०३-१४८=४६	१४७
अष्टमहिषीकल्याण द्विपदायें ४९०½	६३८५-७३६५ =९८१
द्विपदा भागवत (कल्याणकांड) ४६६-५५०=८५	१७०

४. **उषा कल्याण**

श्रीमद् भागवत ६२/१-३५ ; ६३/१-५३=८८ १७६
सूरसागर पद ४८१६=१ ८५
श्रीमदांध्रभागवत छंद ३११-४५३=१४३ ५६९
अष्टमहिषीकल्याण ० ०
द्विपदा भागवत (कल्याणकांड)७५६-१०५३=२९८ ५९६

५. **सांब का विवाह**

श्रीमद् भागवत (दशमस्कंध) श्लोक ६८/१-५४=५४ १०८
सूरसागर पद ४८२८=१ ५१
श्रीमदांध्रभागवत छंद ५६०-५९७=३८ ९०+४८=१३८
अष्टमहिषी-कल्याण द्विपदायें ० ०
द्विपदा भागवत (कल्याणकांड) २५३-३३०=७८ १५६

६. **सुभद्रा कल्याण**

श्रीमद् भागवत (दशमस्कंध) श्लोक ७६/१-१२=१२ २४
सूरसागर पद ४९२२-४९२३=२ २३
श्रीमदांध्र भागवत छंद ११६५-११७६=१२ ४५
अष्टमहिषीकल्याण द्विपदायें ०
द्विपदा भागवत (कल्याणकांड) ०

७. **रुक्मिणी भक्ति-परीक्षा**

श्रीमद् भागवत (दशमस्कंध) श्लोक ६०/१-५९=५९ ११८
सूरसागर पद ४८१४=१ २४
श्रीमदांध्र भागवत छंद २२७-२७५=४९ १९६
अष्टमहिषी-कल्याण द्विपदायें ० ०
द्विपदा भागवत (कल्याणकांड) ६५७-७०६=५० १००

उक्त तालिका से यह स्पष्ट होता है कि सूर ने केवल भागवत के प्रसंगों का निर्वाह मात्र किया है। विवाह-निरपेक्ष प्रत्येक क्षेत्र में सूर ने अपनी मौलिक कल्पना से जितना विस्तार किया है, उसका दशांश भी उक्त कल्याण-काव्यों के विस्तार में नहीं किया। यहाँ तक कि भागवत में जितना विस्तार है, उतना भी सूर ने नहीं किया। सूर की प्रतिभा ब्रज के करील-कुँजों को छोड़कर अन्यत्र नहीं रम सकी। भागवत की अपेक्षा अधिक विस्तार सभी तेलुगु कवियों ने किया है। उक्त तालिका से यह भी स्पष्ट होता है कि रुक्मिणी-कल्याण और उषा-कल्याण तेलुगु कवियों के लिये विशेष आकर्षक रहे। सत्यभामा के मान और पारिजातापहरण वाले प्रसंगों का तो तेलुगु कवियों ने बहुत विस्तार किया। उन पर स्वतंत्र ग्रन्थों की भी रचना हुई और जन-जीवन में भी वे प्रसंग अत्यंत लोकप्रिय रहे। पर सत्यभामा-कल्याण को

तेलुगु कवियों ने इतना अधिक महत्व नहीं दिया। वस्तुतः उक्त सभी काव्य प्रेमकथाओं के रूप में हिन्दी-साहित्य में बहुत प्रचलित रहे। किन्तु हिन्दी-क्षेत्र में प्रेम-कथा या तो सूफी कवियों द्वारा पुनरुज्जीवित हुई, अथवा भक्ति-निरपेक्ष कवियों ने इन प्रसंगों पर प्रेम-कथाओं की रचना की। भक्त कवियों ने प्रेम-कथाओं के रूप में इनका विस्तार तो नहीं किया, पर कल्याण-काव्य के रूप में उन्होंने इन प्रसंगों को प्रश्रय दिया। कल्याण-काव्य में काव्य की अपेक्षा अनुष्ठान का तत्त्व महत्वपूर्ण हो जाता है। इसलिये हिन्दी-भक्त कवियों को इनका काव्यात्मक विस्तार अपेक्षित नहीं था। रुक्मिणी कल्याण के प्रसंग में तो सूर ने कुछ प्रेमानुभूतियों को पदबद्ध किया ही है, पर अन्य विवाहों में कथा की अस्फुट रेखायें ही मिलती हैं। अन्त में यह कहा जा सकता है कि कृष्ण की ब्रजलीलाओं को काव्यबद्ध करने से न हिन्दी कवियों को अवकाश था कि उक्त प्रेम-प्रसंगों को विस्तार करें और न कल्याण-काव्य की दृष्टि से उनका विस्तार ही अपेक्षित था। लोकप्रवृत्ति और स्थानीयता के आग्रह ने भी उनको इन प्रसंगों के विस्तार करने से रोका।

पोतना ने नायिका रुक्मिणी की बाल्यावस्था, वयःसंधि और यौवनागम का सरस-स्वाभाविक वर्णन किया है। यौवनागम पर रुक्मिणी के मन में कृष्ण का प्रेम बढ़ने लगता है। इस प्रेम की वृद्धि के साथ ही यौवन भी विकसित होता है।[1] इसके पश्चात् प्रेम में बाधा बनकर रुक्म आता है जो रुक्मिणी की इच्छा के विरुद्ध शिशुपाल के साथ उसका विवाह प्रस्ताव करता है। यहाँ त्रिसूत्री प्रेम की स्थिति बन जाती है। रुक्मिणी अपनी सहायता के लिये एक ब्राह्मण की शरण लेती है और कृष्ण के पास प्रेम-पत्र भेजती है। इस प्रेम-संदेश का भी पोतना ने पर्याप्त विस्तार किया है।[2] इस पत्र-प्रसंग को सूर से भी कुछ बढ़ाया। पोतना और सूर—दोनों ने ही अहर्निश कृष्ण का जप करती हुई रुक्मिणी की समर्पणमय स्थिति का वर्णन किया है।[3]

तेलुगु कवियों ने रुक्मिणी के सौंदर्य का भी विशद चित्रण किया है।[4] संदेशवाहक ब्राह्मण भगवान कृष्ण को रुक्मिणी के रूप-वैभव की विशद-झाँकी संभवतः रुक्मिणी की ओर आकर्षित करने के लिये कराते हैं। रुक्मिणी का नखशिख शैली में यह अंगांग-वर्णन हिन्दी के कवियों में प्राप्त नहीं होता। सूर ने रूप के आधार पर कृष्ण को आकर्षित नहीं करना चाहा है। रुक्मिणी के प्रेम की पीड़ा

[1] ते० भा०, १० पू०/१६६०

[2] वही, १० पू०/१७०६

[3] (क) नी पदांबुज ध्यायिनियैननन्नु (ते० भा०, १० पू०/१७०४); ते० भा०, १० पू०/१०७२

(ख) कुंडिनपुर की कुँवरि रुकमिनी जपति तिहारे नामहि—सू० सा०, पद ४७८८

[4] द्विपदा भागवत, पृ० ६६

और उसके अनन्य भाव को ही कहा गया है। मडिकि सिंगना इस दृष्टि से सूर के समकक्ष है। उन्होंने ने भी रुक्मिणी के नखशिख वर्णन के स्थान पर रुक्मिणी के अनन्य प्रेम का ही विस्तृत उल्लेख किया है।[1]

रुक्मिणी की विरहावस्था का वर्णन पोतना ने विस्तार के साथ किया है। रुक्मिणी के मन में जो आंदोलन है, उसको वह व्यक्त नहीं कर सकती। उसका विमल हास अब दिशाओं को उज्जवल नहीं बनाता। वह मुखकमल के सौरभ से आकर्षित भ्रमरों का भी निवारण नहीं कर सकती। उसके उरोजों के मध्य हार परस्पर लिपट गये है और वह उन्हें सुलझा नहीं पाती।[2] कृष्ण की प्रतीक्षा में वह व्याकुल है और अपने समस्त शृंगार-प्रसाधन से विरक्त हो गयी है।[3] पोतना के चमत्कारपूर्ण वर्णन से यह प्रसंग सज गया है। मडिकि सिंगना की द्विपदा-भागवत में संदेशवाहक ब्राह्मण रुक्मिणी की विरहावस्था का वर्णन कृष्ण के सम्मुख करता है :—वह कामपीड़िता रुक्मिणी तुम्हारी रूप-सुधा पान के लिये चकोरी के समान लालायित है।[4]

तेलुगु कवियों ने विरह-वर्णन का एक और अवसर खोज निकाला है। इन्होंने रुक्मिणी के संदेह और विकल्पों को साहित्यिक रूप प्रदान किया है। ब्राह्मण के चले जाने के पश्चात् शिशुपाल आदि स्वयंवर में आ जाते हैं और कृष्ण तब तक आ नहीं पाते। इस समय रुक्मिणी विकल्पों में उलझ जाती है।[5] पोतना ने इस स्थल पर रुक्मिणी के विरह-द्वन्द का मार्मिक और विस्तृत वर्णन किया है।[6] वह एकटक कृष्ण के मार्ग को देखती रहती है। अश्रुमोचन के लिये भी उसको अवकाश नहीं है। नित्य की भाँति वह शुक-पिक से भी नहीं बोलती। उन्होंने अन्न-जल को भी छोड़ दिया। अपने साज-सज्जा का ध्यान वह विलोडन के इन क्षणों में कैसे कर सकती है? प्रकृति की सुखद उद्दीपन सामग्री भी दुखद बन जाती है, आदि। सूर ने रुक्मिणी के विरह का इतना विस्तार तो नहीं किया जितना पोतना ने, पर उसकी नितांत उपेक्षा भी नहीं की। सूर की रुक्मिणी यह अभिलाषा करती है कि यदि मेरे पंख होते तो मैं अभी उड़ जाती और जहाँ कहीं भी हो, वहाँ से कृष्ण को ढूँढ़कर

[1] द्विपद भागवतमु, पृ० ६६-६८
[2] ते० भा०, १० पू०/१७२९
[3] ते० भा०, १० पू०/१७३०
[4] द्विपद भागवत, पृ० ६७
[5] (क) अष्टमहिषिकल्याण, १९४
(ख) द्विपदभागवत पृ० ७०,७१
(ग) ते० भा०, १० पू०/१७२३-१७३३
[6] ते० भा०, १० पू०/१७२८-१७३२

लाती ।[१] वह भी कृष्ण-पथ को अपलक देख रही है । विवाह के लिये मंडप आदि बन गये हैं । पर इन सब को देखकर वह प्रकंपित है । उसे ऐसा प्रतीत होता है कि मानो चतुर्दिक अग्नि प्रज्जवल्तित हो रही हो । विवाह के वाद्य सिंह-गर्जन के समान भयंकर हो गये हैं । सखियों में बैठना भी उसे सुहाता नहीं ।[२]

रुक्मिणी का संदेश सुनकर कृष्ण की क्या प्रतिक्रिया हुई ? इसे भी प्रेम-भाव की पूर्णता की दृष्टि से देख लेना समीचीन होगा । पोतना के कृष्ण कहते हैं :—मैं रुक्मिणी के गाढ प्रेम से परिचित हूँ । रुक्मिणी को आश्वासन देना कि मैं ससैन्य आकर बलात् रुक्मिणी का हरण करूँगा ।[३] मडिकि सिंगना ने कृष्ण को रुक्मिणी के रूप-लावण्य से पहले से ही आकर्षित बताया । इसीलिये वे पहले ही उनकी रक्षा करने जाने वाले थे । ब्राह्मण ठीक समय पर पहुँचा ।[४] अष्टमहिषी-कल्याण के कृष्ण ब्राह्मण का संदेश सुनकर प्रसन्नता और हर्ष के कारण हँस जाते हैं,[५] जैसे उन्हें सब कुछ पहले से ही ज्ञात था । फिर वे रुक्मिणी के रूप-लावण्य के प्रति अपने आकर्षण की भी चर्चा करते हैं ।[६] वे यह वचन देकर ब्राह्मण को विदा करते हैं कि मैं तत्क्षण आकर समस्त विरोधी तत्वों का नाश करूँगा और रुक्मिणी का हरण करूँगा ।[७] रुक्मिणी के द्वारा भेजी हुई स्मृति-मुद्रिका को भी कृष्ण धारण कर लेते हैं ।[८] सूर के कृष्ण की प्रतिक्रिया तो संक्षिप्त है, पर उसमें व्याकुलता बहुत अधिक भरी है । वे बार-बार ब्राह्मण से रुक्मिणी के वचनों को सुनते हैं । करुणानिधान कृष्ण की आँखों में करुणा उमड़ पड़ती है । अपने भाई बलराम से दल सजाकर पीछे आने के लिये कहते हैं । वे इस संदेश के पश्चात् घर में भी प्रविष्ट नहीं होते, ब्राह्मण के साथ चल पड़ते हैं ।[९] दोनों क्षेत्रों के कवियों ने कृष्ण के आगमन पर समस्त नर-नारियों के मोहित हो जाने का उल्लेख किया है ।[१०] रुक्मिणी को जब कृष्ण के आगमन की सूचना मिलती है तो वह अपने महल पर चढ़कर कृष्ण के रूप-माधुर्य का पान करके अपनी विरहाग्नि को शांत करती है । उनकी मनसा-आरति का भी सूर ने उल्लेख किया है ।[११] कृष्ण को देखते ही इसके अंग-प्रत्यंग उभरने लगे । इसके कंचुकि के

[१] सू० सा०, पद ४७९४
[२] वही, पद ४७९५
[३] ते० भा०, १० पू० /१७१४-१७१५
[४] द्विपद भागवत, पृ० ६८
[५], [६] व [७] अष्टमहिषीकल्याण, पृ० १८८
[८] वही, पृ० १८९
[९] सू० सा०, पद ४७९६
[१०] (क) सू० सा०, पद ४७९८ ; (ख) ते० भा०, १० पू० /१७४७
[११] वही, पद ४७९९

बंध टूट गये ।[१] पोतना ने कृष्ण के गुण-रूप के दर्शन से रुक्मिणी में हर्ष की अनुपम लहर की चर्चा की है ।[२] गौरी के मंदिर में भी कुछ प्रेमानुभूतियों की अभिव्यक्ति होती है । गौरीपूजा करके उन्होंने गौरी को तृप्त किया और उनसे यदुपति की वर-रूप में याचना की ।[३] पोतना और तेलुगु के अन्य भागवतों में भी रुक्मिणी भगवान से कृष्ण की वर-रूप में याचना करती है ।[४] अंत में रुक्मिणी की प्रेम-परीक्षा का अवसर आता है । प्रेम-परीक्षा संसार की प्रेमकथाओं का एक प्रमुख अभिप्राय रहा है । रुक्मिणी की प्रेम-परीक्षा को पोतना ने केलिगृह में कराई है । केलि के समस्त उपकरण सुसज्जित हैं ।[५] रुक्मिणी के शृंगार के विस्तृत और गत्यात्मक चित्र भी कवि-कल्पना से प्रसूत हैं ।[६] रुक्मिणी जब व्यजन-सेवा में संलग्न होती है तब श्रीकृष्ण अपनी हीनता का कथन करके रुक्मिणी के साथ अपनी अनुपयुक्तता को सिद्ध करना चाहते हैं ।[७] सूर ने कृष्ण की हीनता कथन वाली युक्ति को ग्रहण नहीं किया । केवल शिशुपाल के बड़प्पन के कथन का सीधा उल्लेख किया है ।[८] पोतना के जरासंघ आदि का महत्व-कथन भी विस्तृत है । साथ ही सूर ने शिशुपाल का ही नाम लिया है, जबकि पोतना ने जरासंघ आदि विपक्ष वालों को भी । इस कथन में पोतना और सूर–दोनों ने भी कुछ अलौकिकता सूचक श्लिष्ट वाक्य कृष्ण से कहलवाये हैं ।[९] पोतना ने और भी अनेक उक्तियों द्वारा कृष्ण की अलौकिकता ज्ञापित की है ।[१०] सूर और पोतना दोनों के कृष्ण कहते हैं कि हमने तुम्हारा बलात् अपहरण स्वयंवर के किये आये हुए दुष्ट राजाओं के मान-मर्दन के लिए किया था ।[११] कृष्ण के वचनों ने रुक्मिणी की चेतना और उसके भौतिक अस्तित्व को झकझोर दिया । पोतना ने इन वचनों से संत्रस्त रुक्मिणी का विशद चित्रण किया है । शास्त्रीय परिगणन शैली में उन्होंने रुक्मिणी के केशपाश के उलझने, आभूषणों के वक्ष से

[१] सू० सा०, पद ४८०७

[२] ते० भा०, १० पू० /१७४६

[३] सू० सा० पद ४८०७, ४८००

[४] (क) ते० भा० १०पू/१७४२ ; (ख) द्विपद भागवत, पृ० ७५

[५] ते० भा०, १० पू० /२२७

[६] वही, १० पू०/२२८

[७] वही, १० पू०/२३१ से २३५ तक

[८] सू० सा०, पद ४८१४

[९] वही, पद ४८१४ तथा ते० भा०, १० पू० /२३२

[१०] ते० भा०, १० पू० /२३२

[११] (क) सू० सा०, पद ४८१४ ; (ख) ते० भा०, १०/२३५

लिपटने, वस्त्राभरणों के विस्तृत होने का शृंगारमंडित चित्र प्रस्तुत किया है।[१] इनका परिचय कृष्ण की परिचर्या से होता है। कृष्ण इन सभी अस्त-व्यस्त सज्जाओं की पुनर्व्यवस्था करते हैं।[२] पर इस अस्त-व्यस्तता में भी शृंगारिकता की झलक बनी रही और कृष्ण की परिचर्या में भी। रुक्मिणी के उपचार में कृष्ण उभरे हुए कुचकुंभों को कंचुकिगत कर देते हैं।[३] पर सूर ने इस समस्त पीड़ा-व्यापार को दो पंक्तियों में समाप्त कर दिया। पोतना के कृष्ण रुक्मिणी के व्याकुल शरीर को गाढ़ालिंगन में कस लेते हैं।[४] किन्तु सूर के कृष्ण अपनी संक्षिप्त वचनभंगिमा से रुक्मिणी को प्रकृतिस्थ कर देते हैं। कृष्ण की परिचर्या को भी पोतना ने शृंगारिक और विस्तृत बना दिया है।[५] अंत में सूर और पोतना—दोनों के कृष्ण यह कहकर रुक्मिणी को संतोष देते हैं कि यह सब मात्र परिहास था। तुम्हें इसका बुरा नहीं मानना चाहिये था।[६] पर इस साँत्वना से पूर्व पोतना की रुक्मिणी अपनी हीनता और कृष्ण की अलौकिक महानता के सम्बन्ध में विस्तृत कथन करती है।[७] इस प्रकार रुक्मिणी की प्रेमकथा का उपसंहार प्रेम-परीक्षा और उस प्रेम के पोषण में होता है। हिन्दी कवियों का यह प्रसंग तेलुगु कवियों की तुलना में कुछ भी नहीं है। अन्य पटरानियों के विवाह के प्रसंगों को तो हिन्दी कवियों ने और भी संक्षिप्त किया है। उनमें कुछ भी उल्लेखनीय नहीं है। पर तेलुगु कवियों ने उनके विस्तार में भी अपनी कल्पना और शास्त्रीय अभ्यास का काव्यात्मक उपयोग किया है। अतः शेष विवाहाश्रित प्रेमकथाओं का विस्तार अनावश्यक ही है। क्योंकि शून्य और अस्तित्व की तुलना से कोई विशेष निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

रामकथा में शृंगार

रामकथा में कई अवांतर प्रेम-प्रसंग हैं: जैसे—दशरथ और कैकेई, मेघनाथ और सुलोचना, रावण और मंदोदरी, शूर्पणखा-राम आदि। पर मुख्य प्रेम-कथा सीता-राम की ही है। वैसे तेलुगु कवियों ने रावण-मंदोदरी और मेघनाथ-सुलोचना प्रसंगों को भी विस्तार दिया है। प्रेम की विभिन्न स्थितियों को ध्यान में रखते हुए रामकथा की प्रेमानुभूतियों का स्तर-भेद इस प्रकार किया जा सकता है :—

[१] ते० भा०, १० उ० /२४१
[२] वही, १० उ० /२४१
[३] वही, १० उ० २४१
[४] वही, १० उ० २४१
[५] वही, १० उ० /२४१ से २४४ तक
[६] सू० सा०, पद ४८१४ तथा ते० भा० १० उ० /२६३
[७] ते० भा० १० उ० /२४५ से २६२ तक

रामकथा की प्रेमानुभूतियों का स्तर-भेद

	मोल्ल-रामायण	रामाभ्यु-दयम्	रामचरित मानस	राम-चंद्रिका
पूर्वराग				
दर्शन	o	o	√	o
सीता की दशा	o	o	√	o
राम की दशा	o	o	√	o
रूप-वैभव				
सीता—विश्वामित्र के द्वारा	o	√	o	o
राम के द्वारा	√	√	√	√
कवि के द्वारा	√	√	√	√
शूर्पणखा के द्वारा	√	o	√	√
ग्रामवासिनियों के द्वारा	o	o	√	√
रावण के द्वारा	√	√	o	o
राम—	√	√	√	√ नखशिख
संयोग—विवाहोपरान्त विलास	o	√	√ (गीतावली में)	o
वियोग और उसके उद्दीपक प्रसंग				
राम— सूना गृह देखना	√	√	√	√
सीता की खोज	√	√	√	√
आभूषण-दर्शन	√	√	√	√
हनुमान द्वारा वर्णित	o	o	√	√
किष्किंधा में वर्षा, शरत् और अन्य ऋतु	o	√	√	√
रामेश्वर-स्थापना के समय	o	√	o	o
सीता—हरण के समय	√	√	√	√
अशोकवाटिका में	√	√	√	√
राम के माया-सिर को देखकर	o	√	o	o
हनुमान द्वारा राम से वर्णित	√	√	√	√
राम की मुद्रिका को देखकर	o	√	√	√
नागपाश बद्ध राम-लक्ष्मण को देखकर	o	√	o	o
सीता की प्रेम-परीक्षा	√	o	√	√

उक्त तालिका से यह निष्कर्ष निकलता है कि हिन्दी-क्षेत्र के कवियों ने रामकथा के श्रृंगारिक पक्षों की खोज और उन पर प्रगल्भ शैली में रचना उतनी

नहीं कि जितनी कि तेलुगु कवियों ने। भक्तिकाल के तीन दिव्य-युग्म प्रधानतः माने जाते रहे :—शिव-पार्वती, सीता-राम, राधा-कृष्ण। इनमें से प्रथम दो के शृंगारिक व्याख्यान पर एक परम्परागत वर्जन चला आ रहा था। एक किंवदंती के अनुसार शिव और पार्वती के शृंगार-वर्णन के अपराध में कालिदास को अभिशप्त होना पड़ा। राम और सीता के अलौकिक तत्त्वों की दशा मर्यादाओं के द्वारा निश्चित हुई थी। तुलसी इस वर्जन के प्रति पूर्ण रूप से सजग थे और उनकी मर्यादावादी पद्धति को यह शृंगारिक-पक्ष स्वीकार्य नहीं हो सकता था। यही कारण है कि तुलसी तेलुगु कवियों से राम के शृंगार में पिछड़ जाते हैं। पर तुलसी के अतिरिक्त रामभक्ति-क्षेत्र में एक रसिक-धारा भी चल रही थी। "रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय" (डा० भगवती प्रसाद सिंह) में इस धारा का महत्वपूर्ण व्याख्यान हो चुका है। आलोच्य-युग में नाभादास स्वयं रसिक-भक्ति के अनुगामी थे। "नाभादास अग्रदास के शिष्य थे"।[1] प्रियादास इन्हें "नाभा अली" के नाम से पुकारते थे।[2] इसके अतिरिक्त भक्तमाल में चार माधुर्य उपासक रामभक्तों के चरित्र मिलते हैं। ये चार भक्त ये हैं :—मानदास[3], मुरारिदास[4], खेमालरतन राठौर[5], और प्रयागदास[6]। इस रसिक-सम्प्रदाय के सूत्र अधिकांश- पूर्व से आये थे। पर इसका प्रसार-क्षेत्र बिहार और पूर्वी उत्तर-प्रदेश तक हो गया था। "अठारहवीं शती के पूर्वार्द्ध तक राजस्थान ही रामभक्तों की रसभूमि बना रहा। किन्तु उसके अनन्तर अयोध्या, मिथिला और चित्रकूट के बीच संतों का आवागमन बढ़ा, जिसके फलस्वरूप उत्तर-प्रदेश, विंध्य-प्रदेश और बिहार, इस समय रामभक्ति के मुख्य क्षेत्र बन गये। इस काल के शृंगारी संतों में अधिकांश पूर्वी प्रदेशों के निवासी थे, इसलिये भी उनका उत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग और बिहार पर विशेष प्रभाव पड़ा।"[7] आलोच्य-युग में कुछ ऐसे कवि अवश्य हुए जिन्होंने राम और सीता के शृंगार-विलास के मुखर संकेत दिये हैं। पर तुलसी की मर्यादावादी धारा के सामने सामाजिक जीवन में यह धारा टिक नहीं पा रही थी।

इन कवियों ने रामकथा के जिस वर्जित भाग पर अपनी लेखनी चलाई, इसके तत्वों को हो सकता है कि बंगाल की तांत्रिक और गोपी-कृष्णगत माधुर्य भावना से रामभक्त कवियों ने संजोये हों। दक्षिण भी इस भावना से मुक्त नहीं था। गोदा

[1] रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, पृ० १००
[2] वही, पृ० १००
[3] भक्तमाल सटीक (रूपकला), पृ० ७८२
[4] वही, पृ० ७५७
[5] वही, पृ० ७३८
[6] वही, पृ० ८७०
[7] रामभक्ति में रसिक संप्रदाय, पृ० १६३

को सीता का अवतार कहा जाता है।[1] आमुक्तमाल्यदा में उनको भूदेवी का अवतार कहा गया है। नम्माळ्वार की भी माधुर्यभक्ति मानी जाती है। "सहस्रगीत" में इनकी माधुर्य-भावना ही व्यक्त हुई है। कुलशेखर ने भी वात्सल्य और दास्य के साथ माधुर्य भावना को भी रखा है। लोकाचार्य ने इस भावना को और आगे बढ़ाया। इस प्रकार दक्षिण के आळ्वार भक्तों में माधुर्य भावना प्रवाहित होती रही। तेलुगु-कवि भी सामान्यत: इस धारा से प्रवाहित हुए और राज-रुचि से प्रेरित होकर राम का माधुर्य-पक्ष चित्रित करने लगे। आलोच्य-युग के दो ही प्रधान रामकाव्य हैं :— मोल्लरामायण और रामाभ्युदयमु। इनमें से प्रथम की कवयित्री मोल्ला यद्यपि राज्याश्रित नहीं थी, फिर भी साहित्य की प्रवृत्ति-परम्परा से वह परिचित थी। 'रामाभ्युदय' के रचयिता तो अष्टदिग्गजों में से ही एक थे। अत: उनके ग्रन्थ में श्रृंगार का पक्ष सबसे अधिक प्रबल है। इस पर तो स्पष्टत: राजरुचि और शास्त्रीय श्रृंगार-प्रेम का प्रभाव है। हिन्दी-क्षेत्र के कवियों में तुलसी न राजरुचि से प्रभावित थे और न शास्त्रीय श्रृंगार के आग्रह से। केशव राज्याश्रित होते हुए भी सीता के स्थूल नखशिख-वर्णन में प्रवृत्त नहीं हुए। फिर भी तुलसी की अपेक्षा श्रृंगार का संस्पर्श 'रामचंद्रिका' में कुछ अधिक है। रामकथा के श्रृंगारिक पक्षों का उद्घाटन एक ऐसी स्पष्ट रेखा है जो तेलुगु कवियों को हिन्दी कवियों से पृथक् करती है।

जहाँ तक हिन्दी कवियों में प्राप्त श्रृंगार-संकेतों का सम्बन्ध है, उनमें मांसलता उतनी नहीं है जितनी तेलुगु कवियों में। पर माधुर्यानुभूति अवश्य स्पष्ट हुई है। स्वयं तुलसी में माधुर्य के कुछ अस्फुट संकेत हैं। सबसे पहले तुलसी में सीतापरत्व का संकेत मिलता है। माधुर्य भाव की भक्ति में सीता या राधा का महत्व बढ़ जाता है। तुलसी एक स्थान पर अपने को सीता का दास भी स्वीकार करते हैं और उनको "साहिबिनि" नाम से संबोधन करते हैं।[2] तुलसी का सीतापरत्व इससे भी स्पष्ट होता है कि वे सीता के द्वारा ही राम तक अपनी विनय को पहुँचाना चाहते हैं।[3] तुलसी ने अपने को दासी और दास—दोनों ही कहा है।[4] पंडित चंद्रबली पाँडे के अनुसार इसमें तुलसी के दास और दासी—दोनों रूप माने जा सकते हैं।[5] अष्टछाप-कवियों को भी सखा और सखी—दोनों ही रूप मान्य थे। इसमें रसिक भावना का बीज माना जा सकता है। राम का तो नहीं, पर लक्ष्मण और उर्मिला का केलिगृह में

---

[1] प्रपन्नामृत, पृ० ३०२, "रामभक्ति में रसिक संप्रदाय" पृ० ७८ पर उद्धृत।

[2] कवितावली, (उत्तरकांड), छंद १३६

[3] 'कबहुँक अम्ब अवसर पाइ, मेरियौ सुधि द्याइबी कछु करुण कथा चलाइ।'
—कवितावली (उत्तरकांड), छंद ४१

[4] कवितावली, (उत्तरकांड),

[5] नया समाज, सितम्बर, १९५३, पृ० ९०, ९१ तथा गीतावली, (बालकांड), छंद १०५

गमन करने तथा उन दोनों को वहाँ जाते हुए देखकर स्त्रियों के नेत्र सफल होने का उल्लेख तुलसी ने एक पद में किया है। अग्रदास जी ने शयनागार की झाँकी के चिंतन का परिचय अष्टयाम में दिया है।[1] गीतावली के उत्तरकांड में तुलसी ने सुरतांत अनुभाव वैभव से युक्त राम की झाँकी प्रस्तुत की है। उसमें प्रेम के रस में पगे हुए राम जंभाई ले रहे हैं।[2] चित्रकूट-प्रसंग में तुलसी ने युगल-सरकार के माधुर्य-विलास की झांकी दी है। राम और सीता को परस्पर एक-दूसरे के प्रेम की प्यास थी। राम स्वयं शय्या का विन्यास करते हैं।[3] पंचवटी-निवास के समय भी राम सीता की शृंगारचर्या में संलग्न हैं। एक दिन राम ने विविध पुष्पों से कुछ आभूषणों की रचना की और अपने हाथ से सीताजी को विभूषित किया।[4] गीतावली और बरवै रामायण में सीता-सौंदर्य की झांकी मिलती है। बरवै रामायण में सीता-सौंदर्य का चित्रण करके तुलसी ने अनेक सखियों को उनके लावण्य पर मुग्ध दिखलाया है।[5] राम का मधुर सौंदर्य भी तुलसी में मिलता है। उनको कामरूपा कहा गया है।[6] इस रूप-वैभव के प्रति सखियों का आसक्त होना माधुर्योपासना का ही रूप है। सखियाँ राम की अपेक्षा सीता के सौंदर्य को अधिक समझती हैं।[7] सखियाँ नवदंपति से हास-विलास भी करती हैं। वे सीताजी से कहती हैं कि अपने मुख को घूँघट में छिपाने का विफल प्रयत्न मत करो। यह तो चन्द्रमा के समान है।[8] जब राम और सीता निद्रा के कारण कुछ शिथिल होने लगे तब सखियाँ मृदुवचन करके दोनों को एकान्त में छोड़कर चली जाती हैं। इस प्रकार अयोध्या के राजभवन में विविध प्रकार के विलास करने वाले राम और सीता का तुलसी ने संकेत किया है।[9] सुन्दरकांड में सीता की वियोग-दशा का वर्णन हनुमानजी करते हैं जो दास्य भाव के उपयुक्त है।[10] तुलसी के समकालीन श्री अनन्यमाधव जो राम में माधुर्यासक्ति रखते थे, वे तुलसी को सखियों में शिरोमणि मानते थे।[11] अन्त में यह निष्कर्ष निकाला

[1] अष्टयाम, छंद १४७, १५१

[2] गीतावली, (उत्तरकांड), छंद २ तथा "रामभक्ति में रसिक संप्रदाय", पृ० १०७ पर उद्धृत।

[3] गीतावली, (अयोध्याकाँड), छंद ४४

[4] रामचरितमानस (अरण्यकांड), दोहा १ से पूर्व।

[5] तुलसी ग्रंथावली, (द्वितीय खंड), पृ० १९

[6] तुलसी ग्रंथावली (द्वितीय खंड) पृ० २० तथा गीतावली पद १०६

[7] वही, पृ० २०

[8] बरवैरामायण, छंद १६,१८

[9] "राजभवन सुख-विलसत सिय संग राम"—बरवै रामायण, छंद-२१

[10] "सिय-वियोग दुख केहि बिधि कहउँ बखानि। फूलबान वे मनसिज वेजत आनि।"
—बरवै रामायण, (सुन्दरकांड), छंद ४०

[11] ब्रजनिधि ग्रंथावली, पृ० २७५, २७६ (हरिपदसंग्रह)

जा सकता है कि गोस्वामी तुलसीदास रसिक रामभक्ति के व्यावहारिक एवं साधनात्मक दोनों पक्षों से अभिज्ञ थे और संभवतः इसीलिए राम से अपने अनेक "नातों" में माधुर्य सम्बन्ध को भी स्थान देते हैं।[१] तुलसी के अतिरिक्त अन्य रसिक-संप्रदाय के कवि भी माधुर्यभाव को रामभक्ति में प्रमुख स्थान दे रहे थे। इसका यहाँ विवरण देना अभीष्ट नहीं है, क्योंकि इसका पूर्ण विवेचन "रामभक्ति में रसिक-संप्रदाय" में किया जा चुका है। अग्रदास ने अपनी 'ध्यानमंजरी' के द्वारा राम-सम्बन्धी रसिक-पद्धति का भी रूप प्रस्तुत किया है।

तेलुगु क्षेत्र में मधुर भावाश्रित उपासना-पद्धति की न कोई धारा बही और न प्राप्य रामकथाओं में इसके संकेत ही मिलते हैं। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि रामकथा के शृंगारिक पक्षों का विशदीकरण नहीं हुआ। ऊपर की तालिका से रामकथा के साथ शृंगार-तत्त्व जोड़ने में इन कवियों का कितना हाथ था, यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। रामचरितमानस की भाँति परस्पर दर्शन पर आधारित पूर्वराग-प्रसंग को तेलुगु कवियों ने छोड़ ही दिया है। तुलसी ने इस प्रसंग में राम के मन में जाग्रत काम की भी सूचना दी है[२], और राम के द्वारा सीता का सौंदर्य-वर्णन कराया है।[३] सीताजी भी राम की छवि को देखकर विमुग्ध हो गई।[४] चंद्रमा के व्याज से राम लक्ष्मण के सम्मुख अपनी सौंदर्यानुभूति को अभिव्यक्त करते हैं।[५] पुष्पवाटिका का प्रसंग तुलसी की मौलिक उद्भावना प्रतीत होती है। तेलुगु कवियों ने अन्य प्रसंगों पर राम और सीता का शृंगारिक वर्णन किया है।

सीता-स्वयंवर से पूर्व विश्वामित्र राम को सीता की ओर आकर्षित करने के लिए सीता का अंगांग सौंदर्य, नखशिख शैली में बतलाते हैं। सबसे पहले चन्द्रमा के उपमान पर प्रहार है। वह सीता के मुख की समानता नहीं कर सकता।[६] तुलसी ने भी इसी प्रकार की उक्ति कही है :—"घटइ बढ़इ बिरहिनि दुखदाई। ग्रसइ राहु निज सिंधिहिं पाई।"[७] केशव का कथन भी तुलनीय है :—"पून्योई को पूरन पै आन दिन ऊनो-ऊनो, छन छन छीन होत छीलर के जल सों।"[८] रामभद्र ने मुख्यतः अनेक उपमानों के द्वारा सीता के सद्य-शुभ्र सौंदर्य पर बल दिया है। वे यह कहना चाहते

१ "रामभक्ति में रसिक संप्रदाय", पृ० ११०
२ रा० च० मा० (बालकांड), २२९/१, २३०/२
३ वही, २२९/२-३-४
४ वही, २३१/३-४, २३१/१-४
५ वही, २३७/१-४
६ रामाभ्युदयमु, ४/६४
७ रा० च० मा० (बालकांड), २३७/१
८ रामचन्द्रिका, ९/४१

हैं कि सीता का सौंदर्य हर प्रकार से अछूता है। सीता अनाघ्रात पुष्प है और उसके भुज-मृणाल हंसों के द्वारा आस्वाद्य नहीं हुए, आदि।[१] इस पर भी शास्त्रीय शृंगार-पद्धति का प्रभाव है। आगे विश्वामित्रजी सीता के शृंगार-मंडित अंगांग-वर्णन करते हैं। कामबाणों के समान तीक्ष्ण उनके चितवन, कटि-किंकिणि, रोमराजि, नाभि, जघन आदि का वर्णन करने में भी नहीं हिचकते।[२] इस प्रकार के वर्णन केशव जैसे शृंगार कवि भी नहीं कर सके तो तुलसी जैसे मर्यादावादी कवि से इस प्रकार के वर्णनों की आशा करना व्यर्थ ही है। इस सब वर्णन का उद्देश्य-कवि ने राम के हृदय में एक शृंगारमय आनन्द का संचार माना है।[3]

मोल्ला ने शूर्पणखा के द्वारा रावण के सम्मुख सीता जी का अंगांग वर्णन कराया है। मोल्ला ने दो शैलियों में सीता के रूप का वर्णन किया है। एक संदेहालंकार के माध्यम से, दूसरा यथासंख्य अथवा रूपकातिशयोक्ति के माध्यम से। उदाहरण के लिये कुछ अंगों का वर्णन संदेह की शैली में देखिये। सीताजी के पयोधर स्वर्णकुंभ हैं या चक्रवाल? इनके नितंब पुलिन हैं या काममंडप? इनके जघन ऐश्वर्य हैं या बिल?[४] दूसरी शैली में नख-शिख वर्णन की उपमान-व्यवस्था है।[५] तुलसी की शूर्पणखा जहाँ रावण के बल को धिक्कारती है[६], वहाँ सीता का सौंदर्य-वर्णन भी करती है। उसका कथन है कि राम के साथ एक सुन्दरी है। वह रूप की अधिष्ठात्री है। करोड़ों रतियों को उस पर निछावर किया जा सकता है।[७] यहाँ रावण के सौंदर्य-उद्दीपन का संकेतमात्र है। केशवदासजी की शूर्पणखा भी सीता के सम्बन्ध में कहती है कि उसके सौंदर्य के सामने मंदोदरी का सौंदर्य तुच्छ है। वह अद्वितीय सौंदर्य से युक्त मोहिनी है और उसके एक-एक रोम पर सती निछावर है।[८] केशव की शैली भी तुलसी के समकक्ष ही है। इस संकेत को मोल्ला ने सघन शृंगारिकता प्रदान की। यह प्रवृत्ति मोल्ला को हिन्दी के कवियों से पृथक् करती है। इसी प्रकार का एक शृंगारिक वर्णन सुन्दरकांड में मिलता है। तुलसी ने इसकी ओर मात्र संकेत किया है। रावण ने कहा कि मंदोदरी आदि सभी रानियों को मैं तुम्हारी दासी बनाऊँगा। केवल एक बार मेरी ओर देख भर लो।[९] पर

[१] रामाभ्युदयमु ४/६४, तथा ४/६५-७०
[२] वही, ४/६०-७६
[३] वही, ४/७७
[४] मोल्लरामायण, (अरण्यकांड), छंद २२
[५] वही, छंद २४, २५
[६] रामचरितमानस, (अरण्यकांड), २१ (ख)
[७] वही, २१/(ख) ४, ५
[८] रामचन्द्रिका, १२/५
[९] रामचरितमानस (सुन्दरकांड), ८/२, ३

रामाभ्युदयकार ने यहाँ भी रावण की उक्तियों का शृंगारिक विस्तार किया है। तुलसी के रावण की भाँति रामभद्र का रावण भी सीता से देखने के लिये कहता है। उक्ति इस प्रकार है :—कामदेव के तीक्ष्ण बाण मेरी ओर आ रहे हैं, अपने चितवन और मंदहास के बाणों से कामबाणों का प्रतिकार कर दो, आदि।[1] केशव यहाँ रावण की विरहोक्तियों के पश्चात् राम की हीनता का भी व्याख्यान करते हैं।[2] मोल्ला का रावण विरहोद्दीपक प्रकृति का उल्लेख करके अपनी विषय-पीड़ा को ज्ञापित करता है और सीता से प्रेम-याचना भी करता है।[3] आगे रावण सीता के सौंदर्य को अद्वितीय बताकर अभ्यर्थना करता है।[4] फिर वह राम की निन्दा और आत्मश्लाघ में रम जाता है। केशव का रावण सीताजी के सौंदर्य का व्याख्यान न करके केवल राम की हीनता का वर्णन करता है और एक चितवन मात्र की याचना करता है।[5] इस प्रसंग में चार अभिप्राय हैं—रावण की विरह-पीड़ा, सीताजी से प्रेम की याचना, राम की हीनता का कथन और अपने बलवैभव का सीता को प्रलोभन देना। इनमें से प्रथम को छोड़ कर शेष तीनों के विस्तार में हिन्दी और तेलुगु कवि प्रायः समान हैं। पहले अभिप्राय की विस्तृति में सीता का जगन्मातृत्व और हिन्दी के रामभक्त कवियों का मर्यादा-प्रेम बाधक बन जाते हैं।

अन्य स्थानों पर भी स्वयं कवियों के द्वारा, या स्वयं राम के द्वारा सीता के सौंदर्य को प्रस्तुत किया गया है। उसमें भी यही प्रवृत्तिगत भेद परिलक्षित होता है। राम के रूप-वर्णन के सम्बन्ध में यह असमानता नहीं मिलती। तुलसी और केशवदास दोनों ने राम का नखशिख-वर्णन किया है।[6] इस नखशिख-वर्णन में यत्रतत्र अलौकिकता भी आ गयी है, जैसे—राम के वक्ष पर भृगु-चरण का उल्लेख। पर इन कवियों के दृष्टिकोण में अन्तर दिखाई देता है। केशव ने रघुनाथजी की पाग से वर्णन का आरम्भ करके नखों पर समाप्त किया है। यह लौकिक नखशिख प्रणाली है। तुलसी ने नख से आरम्भ करके भाल तक की यात्रा की है। यह अलौकिक नखशिख-प्रणाली है। राम का रूपवर्णन तेलुगु कवियों ने भी प्रायः इसी प्रणाली से किया है।[7] तेलुगु कवियों ने अलौकिकता पर विशेष बल दिया है, जबकि हिन्दी-कवियों ने इसका जहाँ-तहाँ संकेत मात्र किया है।

[1] रामाभ्युदयमु, ६/१४८ ; विस्तृत के लिये द्रष्टव्य—६/१४८–१५१
[2] वही, ६/१५२–१५७
[3] मोल्लरामायण (सुन्दरकांड), छंद ४४
[4] वही, छंद ५५-५७ तक
[5] रामचन्द्रिका, १३/५७
[6] (क) गीतावली, पद १०६, (ख) रामचन्द्रिका, ६/४६–५८
[7] मोल्लरामायण, (सुन्दरकांड), छंद १०२ आदि

संयोग—संयोग में विवाहोपरान्त विलास का वर्णन रामाभ्युदय में विस्तार के साथ मिलता है। तुलसी ने बरवै रामायण, और गीतावली में इसकी ओर संकेत मात्र किया है। बरवै में वे कहते हैं कि "राज भवन सुख विलसत सिय संग राम।"[१] रामाभ्युदय में केलिगृह और तत्सम्बन्धी केलिकलापों का शृंगार-पूर्ण वर्णन है। रामाभ्युदयकार ने केलिगृह की सज्जा से वर्णन आरम्भ किया। सखियों ने सीता का भी अनुपम शृंगार किया। उन्होंने तो उन्हें रतिगृह तक पहुँचा तो दिया, फिर एक-एक करके किसी न किसी बहाने वहाँ से चली गयीं। कवि ने सीता-संयोगेच्छा और लज्जा के बीच अंतर्द्वन्द का सुन्दर चित्र दिया है। लज्जावनत सीता के मुख को राम चिबुक पकड़कर ऊपर उठाना चाहते हैं। राम सविनय संयोग की याचना करते हैं। आगे स्पर्श, चुंबन, कुचमर्दन, आलिंगन, नीवीमोचन, और रतिक्षण तक का कवि ने वर्णन किया। इस प्रकार का वर्णन भी हिन्दी-साहित्य में प्रायः अनुपलब्ध ही है।

वियोग—उपर्युक्त तुलनात्मक तालिका से यह स्पष्ट होता है कि राम और सीता के विरह की स्थितियाँ तेलुगू और हिन्दी कवियों में समान ही हैं। केवल रामाभ्युदय में दो-एक वियोग के स्थल अधिक हैं। वर्णन-शैली भी दोनों क्षेत्रों के कवियों में प्रायः समान है। विरह का आरंभ सीता के हरण से होता है। रामभक्ति-शाखा में विरह-रूपों का न इतना वैविध्य है और न अनुभूति के इतने स्तर ही, जितने कृष्णभक्ति-शाखा में मिलते हैं। वस्तु के अतिरिक्त शैली में भी कोई विशिष्ट शृंगार नहीं हुआ। राम के विरह-पीड़ित होने पर समस्त देवता भी रोने लगते हैं। विरही राम देवर्षि के लिये रहस्य बन जाते। वैसे विरह की यथार्थ रूपरेखा कृष्णशाखा की अपेक्षा रामभक्ति-शाखा में ही सुनिश्चित है। सीता और राम में मानावस्था तो मिलती ही नहीं है। गोपियों ने जिन अन्य प्रकार के विरह के क्षणों का सामना किया था, वे भी सीताजी के लिये अज्ञात रहे। सीता वनवास के समय विरह की एक अत्यंत करुण-अवस्था घटित होती है। उत्तररामचरित की करुणा ने संस्कृत-साहित्य को छा रखा है। पर दोनों ही क्षेत्रों के कवियों ने इस प्रसंग को छोड़ ही दिया है। इस प्रकार संयोगांत प्रेम ही रामभक्ति-शाखा में मान्य रहा। पर कृष्णभक्ति-शाखा में विरह अनंत है। यही कारण है कि दोनों ही क्षेत्रों के कवि कृष्णाश्रयी विरह की ओर ही अधिक आकृष्ट हुए।

तेलुगु और हिन्दी-कवियों में एक विशेष अंतर यह है कि तेलुगु कवियों ने विरहावस्था में भी उत्तेजक अंग-प्रत्यंगों का नामोल्लेख किया है। अश्रु की धारा भी यदि बहती है तो कुचतटों पर होकर। हिन्दी के कवियों में सामान्य रूप से ही सीता का संयोग-कालीन शृंगार उभर नहीं पाया था तो विरह-वर्णन में शृंगार

[१] रामाभ्युदयमु, ४/१५२–१७७

का प्रवेश कैसे आ सकता था ? तुलसी के विरह-वर्णन में जहाँ संक्षिप्त रूढ़ि का पालन और अनुभूति पक्ष युगपथ चले और अनुभूति पक्ष सौष्ठवशाली हुआ वहाँ तेलुगु कवियों ने उसको शृंगारिक और शास्त्रीय विशदता प्रदान की।

यदि समानताओं को देखा जाय तो सब से पहले शैली की समानता ही मिलती है। दोनों ही क्षेत्रों में विरही राम पशु-पक्षियों से, लताओं से सीता की खोज लेना चाहते हैं। उनकी विरहकातर अवस्था इसी उन्मादपूर्ण प्रक्रिया में व्यक्त होती है। विरह-वर्णन की यह शैली संस्कृत साहित्य में भी मिलती है। जहाँ हिन्दी के कवियों ने इस शली के सामान्य ढाँचे को लिया वहाँ तेलुगु कवियों ने पशु-पक्षियों के लिये प्रयुक्त विशेषणों के साभिप्राय प्रयोग और उनके नाम, रूप या गुण के आधार पर उक्ति चमत्कार द्वारा उस शैली को अधिक चमत्कारपूर्ण और संपन्न बनाया है। उस परम्परागत शैली का यह संस्कार हिन्दी के कवियों में नहीं मिलता। रामाभ्युदय के कवि तो कथा के विशिष्ट स्थानों पर एक कुशल और सिद्ध कवि की भाँति दिखलाई पड़ते हैं। मोल्ला ने भी संयोग की अपेक्षा वियोग को ही अधिक विस्तार दिया है। इसका प्रमाण यह है कि मोल्ल रामायण के सुन्दरकांड में ही कवयित्री की प्रतिभा ने उन्मुक्त विलास किया। रामाभ्युदय की अपेक्षा मोल्ला के सुन्दरकांड में विरह-वर्णन अनुभूति के किनारे से बहुत दूर नहीं चला जाता। तुलसी के अतिरिक्त माधुर्योपासक भक्त कवियों ने संयोग-पक्ष को ही विशेष रूप से लिया। पर वियोग-पक्ष की जो कुछ अनुभूतियाँ उनमें मिलती हैं, उनमें गहराई इसलिये अधिक नहीं है कि माधुर्योपासना की पद्धति जो शुद्ध भावपरक है, इन कवियों ने सिद्धान्त के रूप में ग्रहण कर ली थी।

दूत का तत्त्व भी इस शाखा में उपस्थित है :—हनुमान जैसे पवन दूत का ही अवतार हो। अपना अपार बल और बुद्धि-वैभव—दोनों से दूत का व्यक्तित्व उत्कृष्ट बन जाता है। दोनों ही क्षेत्रों के कवियों ने इस लघुरूप दूत को वृक्ष में इसलिये छिपा दिया है कि वह सीता की व्याकुल दिनचर्या को देख सके। सीता के विरह का उद्दीपन हिन्दी क्षेत्र के कवियों ने मुद्रिका के द्वारा किया है। तुलसी की मुद्रिका सीताजी में न जाने कितने प्रेममय सन्देहों को जन्म देती है। केशव मुद्रिका के प्रसंग को अलंकृत बना देते हैं। रामाभ्युदयकार ने भी इस प्रसंग को अलंकृत शैली में ही प्रस्तुत किया है। केशव वस्तुतः उन्हीं स्रोतों से प्रेरणा ले रहे थे, जिनसे रामाभ्युदयकार।

जहाँ तक ऋतुगत विरह के रूपों का प्रश्न है, तेलुगु और हिन्दी कवियों ने वर्षा और शरत् को ही चुना है। पर यहाँ भी कुछ भेद प्रकट होता है। तुलसी के राम वर्षा और शरत् में सीता के विरह में अत्यन्त व्याकुल हैं। यह इन वर्णनों से प्रकट नहीं होता। तुलसी ने विरह का यहाँ-वहाँ उल्लेख करके नीति-कथन के द्वारा चमत्कार उत्पन्न किया है। केशव ने नीति-पक्ष का संस्पर्श तो कहीं-कहीं दिया है,

पर इन ऋतुओं के वर्णनों को अधिक शिष्ट और चमत्कारपूर्ण बनाया है। यहाँ विरहानुभूति और नीति—दोनों ही शिथिल हैं, केवल अलंकरण मुख्य है। वैसे केशव के ऋतुचित्र हर बार राम के विरह से सम्बद्ध नहीं होते, उनकी स्वतन्त्र स्थिति भी है। रामाभ्युदय में इन ऋतुओं का स्वतन्त्र, विस्तृत और केशव से कम अलंकृत वर्णन मिलता है। कवि इस ऋतुचक्र के द्वारा विरहोद्दीपन को चरम पर पहुँचाकर शास्त्रीय-पद्धति का निर्वाह करते हैं। प्रकृति के स्वतन्त्र-चित्रण और राम के विरह से प्रभावित उसका उद्दीपक रूप—दोनों में ही रामाभ्युदयकार ने अलंकार वैचित्र्य के स्थान पर उक्ति वैचित्र्य को ही प्रतिष्ठित रखा है। यही इसका वैशिष्ट्य है। इस प्रकार हम कह सकते हैं :—तुलसी=यत्किंचित् विरह+नीति ; केशव=प्रकृति का स्वतन्त्र पर अलंकृत वर्णन+नीति+विरह ; अय्यलराजु रामभद्र=प्रकृति का स्वतन्त्र रूप+शुद्ध उद्दीपक रूप+उक्ति वैचित्र्य।

सीता-परीक्षा—सीता परीक्षा प्रेम-कथाओं की परीक्षा नामक अभिप्राय के समकक्ष है। एक ओर यह सीताजी के निश्छल और दीपशिखा के समान प्रेम पर व्यंग्य-सा लगता है, दूसरी ओर इसमें मर्यादा का पालन है। दोनों ही क्षेत्रों के कवियों ने मर्यादा-पालन वाली बात को ही अधिक स्पष्ट किया है। इस परीक्षा के औचित्य और अनौचित्य के प्रश्न से झुँझलाया हुआ पाठक सीता के प्रोद्भासित सती-रूप से सन्तुष्ट हो जाता है। दोनों हो क्षेत्रों में कोई न कोई देवता प्रस्तुत होकर सीता की पवित्रता का साक्ष्य देता है। पर मोल्ला ने प्रसंग को और भी अधिक ज्वलनशील चिन्गारियों से लिखा है। जिस सीता ने रावण के त्रास और विरह के पारावार में डूबते-उतराते अवधि काटी थी, उस सीता से राम कहते हैं कि मैंने तो तुम्हारा उद्धार इसलिये किया है कि कोई यह न कहे कि राम राक्षसों से सीता को मुक्त न कर सका। राम के वचनों के मर्माघात ने सीताजी के तन्तुओं को मसल दिया और वह खड़ी न रह सकी। हिन्दी के कवियों में राम का इतना उग्र रूप नहीं मिलता। इस आघात से दिव्य शक्तियाँ भी हिल जाती हैं और वे सामूहिक साक्ष्य के लिये उपस्थित होती हैं। इस साक्ष्य से पूर्व सीताजी के गिड़गिड़ाने का चित्र है जो हिन्दी के कवियों में नहीं मिलता।[१] अग्नि-परीक्षा का प्रस्ताव भी सीता की ओर से होता है।[२] राम के स्वीकृत होने पर वह अग्नि में प्रविष्ट होती हैं और उनकी पवित्रता में अग-जग लिपट जाते हैं। अपने कुल के इस उज्ज्वल दृश्य को देखने के लिये दशरथ भी प्रकट होते हैं।[३] यह मोल्ला की निजी कल्पना है। तुलसी के वर्णन में राम सीता को स्वीकार करते हैं। पर मोल्ला के प्रसंग से ऐसा प्रभाव पड़ता है कि मानो सीता की

[१] मोल्ल रामायण (युद्धकांड, तृतीय आश्वास), छंद ११६

[२] वही, छंद ११७

[३] वही, छंद १२०

पवित्रता ही राम को ग्रहण कर रही हो। मौल्ला ने तुलसी की अपेक्षा इस प्रसंग के मर्मोद्घाटन की विशेष चेष्टा की है।

६.६. अन्य रस

ऊपर दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य का तुलनात्मक विवेचन किया गया है। भक्ति-साहित्य के ये ही मुख्य भाव और रस हैं। कृष्णभक्ति-शाखा के कवियों ने इन्हीं भावों के विविध पक्षों का उद्घाटन किया है। यद्यपि कृष्ण के जीवन में अन्य भावों के अवसर भी थे, पर हिन्दी कवियों ने इनकी ओर ध्यान ही नहीं दिया है। सूरदास में यद्यपि सभी रस मिल जाते हैं, पर ये रस उक्त चार महाभावों के अन्तर्गत ही समाविष्ट हो जाते हैं। उदाहरण के लिये—हास्य-रस बालकृष्ण की उक्तियों में आ जाता है।[1] दावानल प्रसंग में जो करुण रस की व्यंजना हुई है[2] वह सख्य से पृथक नहीं है। इसी प्रकार इन्द्र का ब्रज पर कोप[3] रौद्र रस की कोटि में आ जाता है। इसका प्रेरक भाव भी ब्रजवासियों का प्रेम ही है। महाभारत में भीष्म की प्रतिज्ञा[4] वीर रस का अच्छा उदाहरण है। भयानक रस भी दावानल प्रसंग में आ जाता है।[5] श्रीकृष्ण अपने मुँह में ब्रह्मांड-दर्शन कराके अद्भुत की सृष्टि कर देते हैं।[6] विनय के पदों में शांत रस की प्रचुरता है। इस प्रकार गिनाने के लिए सूर में सभी भाव और रस हैं, पर मुख्य रूप से भक्ति के रस ही उनमें मिलते हैं। साहित्यिक रस केवल गणना के लिये गिनाये जा सकते हैं।

इसके विपरीत पोतना जैसे तेलुगु कृष्णभक्त कवि जिस प्रसंग में जिस रस की स्थिति होती है, उसी का पूर्ण परिपाक करते हैं। उनकी रुचि किन्हीं विशिष्ट भावों से बँधी हुई नहीं प्रतीत होती। उदाहरण के लिये कृष्ण और जरासंध के युद्ध-वर्णन में वीर-रस का पूर्ण रूप प्रकट होता है। सूर ने इस प्रसंग को अत्यन्त संक्षिप्त कर दिया है। शिशुपाल-वध, दंतवक्र, शाल्व आदि के वध के प्रसंगों की भी यही दशा है।

वीर

रामकाव्य में वीर रस का प्रसंग स्वभावतः है। हिन्दी कृष्णभक्त कवियों ने कृष्ण को राधा के प्रति रतिभाव का ही आश्रय बनाया है। शेष भावों का प्रायः यह आलंबन ही है। आश्रय भक्त है। राम के साथ यह बात नहीं है। राम स्वयं वीर-रौद्र आदि भावों के आश्रय हैं। दुष्ट संहारक लीलाओं में उनका वीर-रस प्रकट है।

[1] सू० सा०, पद ८६०७ आदि
[2] वही, पद १२३३
[3] वही, पद १४७०
[4] वही, पद २७०
[5] वही, १२१४
[6] वही, ८७६

तुलसी ने राम के वीर-रस की अभिव्यक्ति सेतुबन्धन[1] के समय और लंकाकांड में की है। तुलसी के राम समुद्र पर क्रोध करके लक्ष्मण से धनुष-बाण माँगते हैं और बाण चढ़ाकर समुद्र का शोषण करना चाहते हैं। इस संकल्प मात्र से समुद्र के हृदय में अग्नि प्रज्ज्वलित हो जाती है और सभी जलजंतु विकल हो जाते हैं। इसी अवसर पर भयभीत होकर समुद्र ब्राह्मण-वेश में प्रकट हो जाते हैं। मोल्ला ने भी बिल्कुल यही वर्णन दिया है।[2] रामाभ्युदय में इस प्रसंग को और भी विशद रूप दिया गया है।[3] प्रसंग का मूल ढाँचा तुलसी और मोल्ला की भाँति ही है, पर प्रत्येक तंतु का विस्तार अधिक किया गया है। जब समुद्र ने प्रार्थना नहीं मानी तब राम ने लक्ष्मण से धनुष माँगा। इस समय उन्होंने कुछ रोषपूर्ण वचन कहे :—'यह वही दुष्ट समुद्र है जिसने अभ्यागत शिव को विष पिलाया था, यही प्रलय काल में समस्त सृष्टि को निमज्जित कर देता है। इसी दुष्ट ने अपने पुत्र के लिये समस्त संसार को दुःखी किया है। यही मेरे शत्रुओं को मार्ग देता है और मेरी विनती को नहीं मानता।' राम के वीरोचित संकल्प से अतल समुद्र में हलचल मच गयी। जलजंतुओं की व्याकुलता का विस्तृत वर्णन इसमें किया गया है। समुद्रस्थ पर्वत भी चूर-चूर होने लगे आदि। लंकाकांड तो वीर, रौद्र और बीभत्स की त्रयी से युक्त है ही। तुलसी ने राम के वीर रस की अपेक्षा लक्ष्मण और हनुमान के वीर पर विशेष बल दिया है। राम प्रतिपक्षियों की बड़ी से बड़ी चुनौती पर भी हँसते-हँसते युद्ध करते हैं जैसे ये सब उनके लिये सामान्य लीला मात्र हो। तेलुगु कवियों ने भी राम की लीला का विस्तृत वर्णन किया है।

सत्यभामा का नरकासुर से युद्ध पोतना की अत्यंत वीररसात्मक उद्भावना है। इसका सूर और भागवत में उल्लेख ही नहीं है। बड़े कौशल से कवि ने सत्यभामा को श्रृंगार और वीर रस का आलंबन बनाया है। कृष्ण की दृष्टि में सत्यभामा के समस्त अनुभाव श्रृंगारमय हो जाते हैं और नरकासुर के लिये रौद्र और वीर रसों से युक्त दीखते हैं :—

> "राकेंदु बिंबमै रविबिंबमैयोप्पु नीरजातेक्षणनेम्मोगंबु
> कंदर्पकेतुवै घनधूमकेतुवै यलरु पूबोडिचेलांचलंबु
> भावजु परिधियै प्रलयार्कुपरिधियै मेरयु नाकृष्टमै मेलतचाप
> ममृत प्रवाहमै यनल संदोहमै तनरारु निंतिसंदर्शनंबु
> हर्षदायियै महारोषदायियै, परगु मुद्दुरालि बाणवृष्टि
> हरिकिनरिकि जूड नंदंद श्रृंगार, वीररसमुलोलि विस्तरिल्ल।"[4]

[1] रामचरितमानस (सुन्दरकांड), दोहा ५७ से ५८ तक

[2] मोल्ल रामायण (युद्धकांड), छंद ३६–३८

[3] रामाभ्युदय, ७/१०२ से ११३ तक

[4] ते० भा०, १० उ०/१८३

इसका विस्तृत विवेचन हिन्दी कवियों से तुलनीय न होने के कारण अपेक्षणीय नहीं है। कृष्ण की उक्तियाँ यहाँ उद्दीपन का कार्य करती हैं। जब कृष्ण अपनी उक्तियों में स्पष्ट करते हैं कि शृंगार-क्षेत्र युद्धक्षेत्र से नितान्त भिन्न है,[१] तब सत्यभामा के हृदय में उत्साह उद्दीप्त होता है। कवि ने कोमल व्यापारों के करने में भी अशक्त सत्यभामा के द्वारा कठोर युद्ध-क्रिया में प्रवृत्त होने वाला वैषम्य के द्वारा अद्भुत रस का भी आभास दिया है।[२]

जरासंध के युद्धवर्णन में भी जरासंध की उद्दीपक उक्तियों का वर्णन पोतना ने किया है। इन उक्तियों का सारांश यह है कि ब्रज की शृंगारिक और मृदु लीलाओं का आलंबन कृष्ण युद्ध भूमि में असफल ही रहेगा।[३] इन उक्तियों से कृष्ण का स्थायी भाव उद्दीप्त होता है। कृष्ण उससे बकवास न करने के लिये कह देते हैं।[४] इसी प्रकार जरासंध का प्रत्युत्तर होता है। इतने घनघोर युद्ध में भी पोतना शृंगार के उपमानों को नहीं भूलता। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि रथों की भीषण ध्वनियों से भयभीत वीर हाथियों के कुंभ-स्थलों पर उसी प्रकार गिर पड़ते हैं, जिस प्रकार मत्त मयूरों के केकीरव से विह्वल होकर कामुक युवतियों के कुचकुम्भों पर।[५] उक्त प्रसंग तो सूर में नगण्य ही है। कृष्ण के लोकरक्षक राक्षस-वध की ब्रजलीलाओं में भी सूर वीररस का उत्थापन न कर सके। सूर की दृष्टि यह रही है कि राक्षसों का वध कृष्ण के लिये लीला मात्र है। उसमें लौकिक वीर रस की स्थापना अनुपयुक्त ही है। पोतना ने इन लीलाओं में भी वीररस का समावेश किया है। उदाहरण के लिये कालियमर्दन लीला को देखा जा सकता है। जितना वीररसमय युद्ध पोतना ने दिखलाया है,[६] उतना हिन्दी के भक्त कवियों ने नहीं। अन्य राक्षस-वध लीलाओं में भी यह देखा जा सकता है। गजेन्द्र-मोक्ष के प्रसंग में जहाँ हिन्दी कवियों ने गजेन्द्र की करुणा और भगवान की भक्त-वत्सलता पर बल देकर प्रसंग को पूर्ण रूप से आदर्श बना दिया है वहाँ पोतना ने "करि-मकरि" युद्ध का ध्वन्यात्मक और वीर-रसात्मक वर्णन करके प्रसंग के यथार्थ पक्ष की भी उपेक्षा नहीं की।[७]

करुण

सूर ने इन्द्र-कोप और दावानल-पान के प्रसंगों में ब्रजवासियों की कातरता और करुणा का रूप स्पष्ट किया है। पर यह करुणा कृष्ण की लीलाओं की प्रेरणा

[१] ते० भा०, १०उ०/१५५
[२] वही, १० उ०/१८०-१८१
[३] वही, १० उ०/१५४१ १५४४
[४] वही, १० उ०/१५४६
[५] वही, १० उ०/१५५९
[६] वही, १० उ० /६६१-६६२
[७] वही, १० उ० /५१,६९

बनकर रह जाती है। पोतना ने इन प्रसंगों पर ब्रजवासियों की करुणा का वर्णन तो किया है, पर विस्तार से नहीं। गजेन्द्र-मोक्ष के प्रसंग में गजेन्द्र की करुण पुकार का उन्होंने सुरुचिपूर्ण विस्तार किया है।[१] सूर ने यहाँ करुणा का विस्तार नहीं किया है।

रामकाव्य में भी करुण रस के उल्लेखनीय प्रसंग हैं। सब से करुण प्रसंग लक्ष्मण-शक्ति का माना जाता है। यह प्रसंग हिन्दी और तेलुगु—दोनों ही क्षेत्रों में लोकप्रिय रहा है। राम को यह स्मरण होता है कि लक्ष्मण ने मेरे लिये माता-पिता को भी त्याग दिया है। यह मुझे कभी कोई दुःख होने नहीं देता था।[२] यदि मैं ऐसा जानता कि वन में तुम से बिछोह होगा तो मैं पिता की आज्ञा का भी उल्लंघन कर सकता था।[३] अब मैं किस मुँह से अयोध्या लौटूँगा। इस अपवाद को मैं कैसे सहन कर सकूँगा कि मैंने अपनी स्त्री के लिये अपने भाई को गँवा दिया।[४] माता सुमित्रा जब तुम्हारे विषय में पूछेंगी तो मैं क्या उत्तर दूंगा ?[५] राम के इस करुण-विलाप को सुनकर सब वानर शोकमग्न हो गये। इसी समय हनुमान ने आकर करुण-रस को वीर रस में परिणत कर दिया :—

"प्रभु-प्रलाप सुनि कान बिकल भये बानर निकर।
आइ गयउ हनुमान जिमि करुना महँ बीर रस।।"[६]

इस करुणा का और एक पक्ष है। तुलसी के राम को किसी की चिन्ता नहीं है। केवल विभीषण की उन्हें चिन्ता है।[७]

"गिरि कानन जैहैं शाखामृग हों पुनि अनुज संघाती।
ह्वै है कहा बिभीषण की गति, रही सोच भरि छाती।।"[८]

केशव के राम भी अत्यंत करुण विलाप करते हैं। वे कहते हैं कि बिना तेरे मैं प्राण नहीं रख सकता। साथ ही इस बात का भी उन्हें पश्चात्ताप है कि अभी विभीषण को लंका प्राप्त नहीं हुई।[९]

[१] ते० भा०, अष्टमस्कंध (गजेन्द्रमोक्ष प्रसंग)—छंद १७ से आरंभ होता है।

[२] रा० च० मा० (लंका०), ६०/२

[३] वही, ६०/३

[४] वही, ६०/६

[५] वही, ६०/८

[६] वही, दोहा ६१

[७] लक्ष्मण के अतिरिक्त मेघनाथ को कोई मार नहीं सकता था। मेघनाथ के न मरने पर राम विभीषण को अपने वचनानुसार सिंहासनासीन नहीं कर सकते थे।

[८] गीतावली (लं० का०), छंद ७

[९] रामचंद्रिका, १६/४३-४६

मोल्ला के राम मूर्च्छित लक्ष्मण को देखकर स्तब्ध हो गये। लक्ष्मण के सिर को अपनी गोद में रखकर लक्ष्मण के गुणों के द्योतक विशेषणों से राम ने विलाप आरंभ किया।[१] तुमने हर प्रकार से मेरी सेवा की। चौदह वर्ष तक निद्रा पर विजय प्राप्त करते रहे। यदि मैं तुम्हारे बिना अयोध्या जाऊँगा तो माता सुमित्रा से क्या कहूँगा। साथ ही विभीषण की ओर भी मोल्ला ने संकेत किया है।[२]

हास्य

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, सूर की बालोक्तियों में हास्य का समावेश है। कृष्ण गोपियों के साथ हास-परिहास करते हैं। इनका उल्लेख यथास्थान किया जा चुका है। पोतना ने कृष्ण की नटखट-चेष्टाओं में हास्य रखा है—जैसे कृष्ण एक गोपी के आँचल को एक बछड़े की पूँछ से बाँधकर उसे दौड़ा देते हैं।[३] तुलसी भी एक स्थान पर राम पर हास्य करते हैं :—

"विन्ध्य के बासी उदासी तपोव्रतधारी महा बिनुनारि दुखारे।
गौतम तीय तरी, तुलसी, सो कथा सुनि मैं मुनिबृन्द सुखारे॥
है हैं सिला सब चंद्र-मुखी परसे पद-मंजुल-कंज तिहारे।
कीन्हीं भली रघुनायकजू करुना करि कानन को पगु धारे॥"[४]

हिन्दी कृष्णभक्त कवियों ने रामभक्त कवियों की अपेक्षा हास्य के कुछ विशेष अवसर लिये हैं। फिर भी उसका स्वतंत्र प्रौढ़ रूप नहीं बन पाता।

तेलुगु क्षेत्र में अन्नमाचारी की हास्योक्तियाँ अधिक प्रगल्भ हैं। अन्नमाचारी अपने इष्ट से कहते हैं कि तुमको दो नारियों की चाह हुई, इसलिये चार भुजायें धारण करनी पड़ीं,[५] जिससे दो-दो भुजाओं से एक एक नारी का आलिंगन कर सके। जब दो नारियों से भी तृप्ति नहीं हो सकी तो अनेक नारियों की कामना तुमको हुई, परिणामस्वरूप तुमको अनेक रूप धारण करने पड़े।[६] तुमने नारी का वध करके जो कर्म कमाया, उसके विपाकस्वरूप नारी को हृदय में स्थान देना पड़ा।[७] एक स्थान पर वे कहते हैं कि तुम मुझे उत्कोच देकर चुप नहीं कर सकते। मैं आज तुम्हारी सारी पोल खोलने पर उतारू हूँ। तुम सुर-नागरियों से झूठ बोले, तुमने भीलिनी की झूठन खाई, लक्ष्मी के चरणों को तुमने अपने गले पर रखा। यह सब मैं आज ढिंढोरा पीटकर प्रचार कर दूँगा।[८]

---

१ मोल्लरामायण, (युद्धकांड, द्वितीय आश्वास), छं० ४६
२ वही, छंद ४७-५६
३ वात्सल्य विवेचन में इसका विवेचन किया जा चुका है।
४ कवितावली, (अयोध्याकांड), छंद २८
५ आ० सं० की०, वा० २/पद १५३
६ वही, (वा० २), पद १०५
७ शृं० सं० की०, वा० २/ पद १५७
८ आ० सं० की०, वा० २/पद २३

चेदलुवाड मल्लना और सारंगुतम्मय कृत "विप्रनारायण-चरित्र" और "वैजयंतीविलास" आलोच्य-युग में हास्य के अभाव की बहुत कुछ पूर्ति करते हैं। हास्य और शृंगार का मणिकांचन संयोग इनमें मिलता है। विप्रनारायण जब वैराग्य को त्याग कर एक वेश्या के वस्त्रों को ढोने लगते हैं, तब कवि का वर्णन हास्यमय है। यह हास्य भक्त और भगवान के बीच न होने से लौकिक प्रसंगगत है। फिर भी परिस्थिति का वैषम्य हास्योत्पादन में सक्षम हैं।

बीभत्स

शेष रस कथानक के भाग बनकर इस प्रकार आये हैं कि प्रवाह का आग्रह ही उनके मूल में दिखलाई पड़ता है जैसे युद्ध-वर्णन में बीभत्स और रौद्र का समावेश[1]। वैराग्य में भी[2] कभी-कभी बीभत्स-प्रेरक-रूप में आ जाता है। पर सूर जैसे कोमल भावों के कवि में बीभत्स आदि का चित्रण नहीं मिल सकता।[3] आमुक्तमाल्यदा में श्री कृष्णदेवराय ने एक ब्रह्मराक्षस का जुगुप्सा उत्पन्न करने वाला विवरण दिया है। वह राक्षस बहुत से लोगों को मारकर उनके शिरों के मज्जा को चूस रहा था। मज्जा को चूसकर उसने कपालों को उसी प्रकार फेंक दिया था जिस प्रकार कोई नारियल के पानी को पीकर और उसके गरि को खाकर उसे फेंक देता है। मांस को वह दाँतों से चीर-चीरकर खा रहा था, इसलिये सफेद हड्डियाँ दिखलाई पड़ रहीं थीं। शरीर के चर्म को नोंचकर उसने अलग फेंक दिया था, उन पर मक्खियाँ भिनभिनाती रहीं। उसके पास मनुष्यों के बालों का ढेर पड़ा था—आदि।[4] तुलसी ने युद्ध-वर्णन में प्रेत-पिशाचिनियों के इसी प्रकार का जुगुप्सामय चित्रण खींचा है :—

> "ओझरी की झोरी कांधे, आंतनि की सेल्ही बाँधे,
> मुंड के कमंडलु, खपर किये कोरि कै।
> जोगिनी झुटुंग झुंड झुंड बनी तापसी सी,
> तीर-तीर बैठीं सो समरसरि खोरि कै॥
> सोनित सों सानि सानि गूदा खात सतुआ से,
> प्रेत एक पियत बहोरि घोरि घोरि कै।
> तुलसी बैताल भूत साथ लिये भूतनाथ।
> हेरि-हेरि हँसत हैं हाथ हाथ जोरि कै॥"[5]

[1] ते० भा०, १० उ०/१५६६ (कृष्ण-जरासंध के युद्ध का प्रसंग) आदि ;
—कवितावली, (लंकाकांड), छंद ४९,५०

[2] आ० सं० की०, वा० ७/पद २७९ ; वा० ३/पद ११ ; वा० ३/पद ११८-आदि

[3] सूर और उनका साहित्य—डा० हरिवंशलाल, पृ० ३६९

[4] आमुक्तमाल्यदा, ६/१७

[5] कवितावली (लंकाकांड), ५०

६.९. (क) निष्कर्ष

निष्कर्ष यह है कि भाव या रस के संदर्भ स्रोतगत एकता के कारण प्रायः समान मिलते हैं। इन संदर्भों की तुलना से यह भी स्पष्ट होता है कि कभी-कभी कोई प्रसंग छोड़ भी दिया जाता है और कभी कवि अपनी रुचि के अनुसार प्रसंग के स्थूल-पक्ष का न्यूनाधिक विस्तार कर देता है। सूर आदि हिन्दी-कवियों में कुछ ऐसे भाव-संदर्भ हैं जो श्रीमद्भागवत में न होने के कारण तेलुगु में नहीं मिलते। तेलुगु कवियों द्वारा वर्णित प्रसंग प्रायः ऐसे नहीं हैं जो हिन्दी-कवियों में न मिलें। सत्यभामा का भौमासुर से युद्ध जैसे कुछ ही अपवाद इस कथन के मिलेंगे। जहाँ तक संदर्भ-योजना का प्रश्न है, हिन्दी कवि संक्षिप्त रूप-रेखा से काम चलाता है। उसकी कल्पना उसके अनुभूति-पक्ष के विस्तार में निरत हो जाती है। तेलुगु कवि संदर्भ की अपेक्षाकृत विस्तृत योजना करता है। तेलुगु कवि की संदर्भ-योजना की एक और विशेषता है। अप्रस्तुत योजना के द्वारा उसका भाव-प्रसंग देश-काल की सीमाओं का भी विस्तार करता है। यह दो प्रकार से किया जाता है :—एक तो किसी प्रसंग में दशावतार का संकेत करके वह अपने उद्देश्य की पूर्ति करता है, कभी दार्शनिक पृष्ठभूमि पर अलौकिकता की स्थापना करके भी अभीष्ट संदर्भ को आध्यात्मोन्मुख बना देता है। हिन्दी कवि इस विशेषता से रहित हैं। सूर के बालकृष्ण के साथ संलग्न मथनी आदि घटनाओं का अलौकीकरण इस कथन के कुछ अपवाद हैं।

संदर्भ-योजना के सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना चाहिये कि तेलुगु-कवि शास्त्रीय वर्णनों का संयोग करके उसे अधिक मांसल और आकर्षक बना देता है। संदर्भ में आये हुए व्यक्तियों के अंग-प्रत्यंग या घटनाओं का विस्तार उसे इसीलिये प्रिय है। हिन्दी के कवियों में इस दृष्टि से संकोचन की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। वे प्रसंग की स्थूल रूपरेखा के आवश्यक उपकरणों को लेकर भाव के विस्तार में संलग्न हो जाते हैं। यह बात इससे प्रमाणित होती है कि कृष्णाश्रयी भावसंकुल प्रसंगों का विस्तार हिन्दी-कृष्णभक्त कवियों ने तेलुगु-कृष्णभक्त कवियों की अपेक्षा अधिक किया है। जहाँ तेलुगु कवि के प्रसंग-विधान में वैविध्य या वैचित्र्य मिलता है वहाँ उसकी कल्पना हिन्दी-कवि से अधिक सृजनशील रहती है। प्रत्येक स्थल पर इस अध्याय में तालिकायें दी गयीं हैं, उनसे विस्तार या संकोच और उनके कारणों के सम्बन्ध में इसी प्रकार के निष्कर्ष निकाले गये हैं।

संदर्भ में आये हुए पात्रों अर्थात् भाव के आलंबन और आश्रय के सम्बन्ध में भी एक अन्तर दृष्टिगत होता है। तेलुगु कवि अभीष्ट व्यक्ति के स्थूल-पक्ष का उसके आकर्षक और भावोत्तेजक अवयवों का एवं उसकी कायिक चेष्टाओं का पूर्ण विवरण देता है। रूढ़ उपमानों के अतिरिक्त मौलिक उपमानों की भी उद्भावना करके वह विवरण में चमत्कार उत्पन्न करता है। हिन्दी कवियों ने नाम लेकर अंग-प्रत्यंगों के नख-शिख विवरण भी प्रस्तुत किये हैं, पर तेलुगु कवियों की अपेक्षा कम। हिन्दी-

कवियों ने समग्र रूप, उसका प्रभाव, उसकी भावोत्कर्षक प्रक्रिया को प्रमुख रूप से स्पष्ट करना चाहा है। अलंकार की बहुलता, रूप की क्रमिक परिणति में बाधक नहीं बनती।

प्रसंग और पात्रों के संबंध में यह विवेचन भावों की सारणियों की ओर भी संकेत करता है। भाव को रसरूप में परिणत करने वाले उपकरणों की योजना तेलुगु कवि सफलता के साथ करते हैं। भाव का विस्तार वे अधिकांश उक्तियों के द्वारा करते हैं। इस प्रकार शास्त्रीय विधान और उक्ति-चमत्कार भाव-व्यंजना की शैली के प्रमुख अंग बन जाते हैं। भाव-व्यंजना के ऐसे संकेत जो पाठक की कल्पना को भी झंकृत करने और उसे आंशिक रूप में सर्जक बनाकर सृजन के आनन्द का भाव के आनन्द के साथ समन्वय कर सके, तेलुगु कवियों में कम है। वे अभिव्यक्ति की पूर्णता में विश्वास करते हैं। इसके विपरीत हिन्दी-कवि सब से पहले भाव को प्रगल्भ बनाता है। फिर मुखर संकेतों से और उसकी स्वाभाविक योजना से उसका साधारणीकरण संपन्न करता है। उक्तियों के द्वारा भाव का विस्तार न करके व्यंजना के द्वारा भाव को गहरा बनाता है। यह बात विशेष रूप से हिन्दी के कृष्णभक्त कवियों में मिलती है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि तेलुगु कवि भाव को प्रगल्भ बनाने में पिछड़ जाता है। केवल भाव को आस्वाद्य बनाने की पद्धति का भेद है। जहाँ तेलुगु कवि शास्त्रीयता, उक्ति और उपकरणों के विस्तार की सहायता से भाव-विस्तार में कृतकार्य होता है, वहाँ हिन्दी-कवि भावों के स्तरों की मौलिक खोज और शास्त्रीय-पक्ष—दोनों के समन्वय से यह कार्य करता है। प्रसंग-संदर्भ के विस्तार में जिस मौलिकता का परिचय तेलुगु कवि देता है, हिन्दी कवि उसका परिचय भाव की प्रौढ़ि और विस्तृति में करता है। पात्र, प्रसंग और भाव को समान महत्व देता हुआ आलोच्य-युग का तेलुगु वैष्णव कवि एक भव्य-शिल्प का परिचय देता है। हिन्दी कवि इनको समान महत्व नहीं दे पाता। उसे जैसे भाव-सामीप्य की जल्दी है, इसलिये प्रसंग और पात्र को संक्षिप्त कर रहा है। इसकी क्षतिपूर्ति वह भाव को उनसे अधिक महत्व देकर उसकी अपेक्षाकृत अधिक गहराई से करता है। यदि हम चित्र से इस बात को स्पष्ट करें तो यह रूप इस प्रकार होगा :—

हिन्दी-शिल्प :—

[प्रसंग] —स्रोत सामग्री→ [पात्र] —संकेत→ [भाव] —→ रस
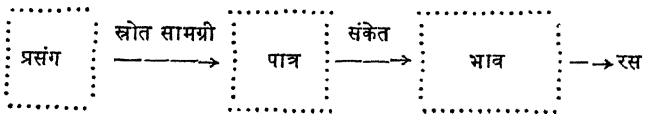
तेलुगु-शिल्प :—
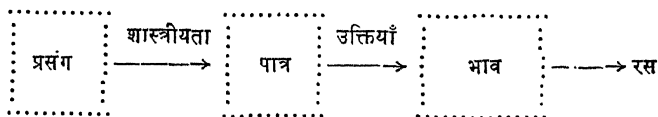
इस चित्र से यह स्पष्ट है कि तेलुगु भाव-शिल्प में प्रसंग, पात्र और भाव को समान महत्त्व मिला है। पात्र और प्रसंग को शास्त्रीयता जोड़ती है और इन दोनों को भाव से उक्तियाँ संबद्ध करती हैं। हिन्दी कवि भाव को अधिक महत्व देकर संकेतों से काम लेता है। भाव-सामग्री दोनों में प्राय: समान होते हुए भी उक्ति-वैचित्र्य की सापेक्षता तेलुगु कवियों की अधिक प्रतीत होती है। यह शिल्प तेलुगु-प्रबन्ध में ही अधिक दृष्टिगत होता है। इस शिल्प की समानता तुलसी में है। इस दृष्टि से कृष्ण-काव्य की रचना करते हुए भी पोतना तुलसी से तुलनीय हो जाते हैं।

तेलुगु क्षेत्र में अन्नमाचारी एक सबल अपवाद हैं। वे उक्ति-वैचित्र्य तो तेलुगु परम्परा से ग्रहण करते हैं, पर पात्र और प्रसंगों के प्रति सूर आदि हिन्दी-कृष्णभक्त कवियों के समान दृष्टि रखते हुए भी भाव की प्रगल्भता पर अधिक बल देते हैं। केवल संकेत और उक्ति का अन्तर सूर और अन्नमाचारी को पृथक करता है। भाव की प्रगल्भता और प्रसंग तथा पात्रों का संकोचन उन्हें सूर आदि के समकक्ष रखते हैं।

जहाँ तक भक्ति के अंतर्गत आने वाले मुख्य भावों का संबंध है, हिन्दी कवि अपवादों को छोड़कर तेलुगु कवियों से आगे हैं। इन भक्ति के भावों में दो प्रकार के भाव हैं— (१) वह है जिसका आश्रय भक्त है, और (२) वह है जिसमें आश्रय स्वयं इष्ट है। प्रथम प्रकार में दास्य, वात्सल्य और सख्य आते हैं। हिन्दी-कवियों की दृष्टि से गोपियाँ भी, केवल राधा के माधुर्य भाव का आलंबन-कृष्ण-की प्राप्ति करती हैं। दास्य का विस्तार तेलुगु कवियों ने हिन्दी कवियों से कुछ अधिक ही किया है। पर उनकी विशेष दार्शनिक पृष्ठभूमि उन्हें वात्सल्य के विस्तार में अधिक प्रवृत्त होने नहीं देती। दूसरे, हिन्दी कवियों को स्थानीयता का जो वरदान प्राप्त था, उससे तेलुगु कवि वंचित थे। इसलिये तेलुगु कवि वात्सल्य में पिछड़ गये। माधुर्य भाव में कृष्ण का आश्रयत्व भी उनके भगवदैश्वर्य से मण्डित मन को स्वीकृत नहीं हुआ। आरम्भ में गोपियाँ ही दोनों क्षेत्रों के कवियों में कृष्ण-रति की आश्रया बनती हैं। पर वहाँ राधा स्वीकार्य नहीं है, जिसके प्रति हिन्दी कवियों का कृष्ण आश्रयत्व ग्रहण किये हुए हैं। द्वारिका की पटरानियाँ भी आरम्भ में कृष्ण की ओर आकर्षित होती हैं। यह सब तेलुगु कवियों के लिये माधुर्य की नहीं, शृंगार की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है। प्रेमकथा के रूप में यह प्रसग उपस्थित

होकर कवियों की युगप्रवृत्ति और राजरुचिगत शृंगारिकता को उत्तेजित कर देता है, और शृंगार भक्तिगत संस्कार करता हुआ तेलुगु साहित्य में भर जाता है। हिन्दी में राधा-कृष्ण का रूप अद्भुत है। उसमें मात्र शृंगार की नहीं, माधुर्य की शक्तियाँ ही प्रमुख हैं। उनकी नित्य लीलाओं का धाम और उनकी दिव्य-रति आदि कृष्ण के आश्रय के कारण न जाने कितनी ऊँचाइयों में उठने लगते हैं। परिमाण की दृष्टि से तेलुगु कवि शृंगार-पक्ष में हिन्दी कवियों से आगे हैं और हिन्दी कवि माधुर्य में। एक वाक्य में यह कहा जा सकता है कि तेलुगु कवि को जहाँ कृष्ण का आरम्भिक आश्रयत्व प्राप्त होता है—वहाँ हिन्दी कवियों का वे साथ नहीं दे पाते।

भक्ति के अवांतर रसों—वीर, हास्य आदि—के विस्तार में भी तेलुगु-कवि आगे बढ़ जाते हैं। इन रसों का प्रसंग-वैविध्य भी उनमें है और विस्तार भी। प्रबन्ध की आवश्यकताओं से प्रेरित विभिन्न भावस्थलियों का समावेश करने वाले तुलसी में अन्य रसों का समावेश तेलुगु कवियों के समान ही है। परिणामगत भेद जहाँ-तहाँ हो सकता है, रस-निर्वाह का नहीं। तेलुगु के राम और कृष्ण—दोनों शाखा वाले कवि भक्ति के मुख्य रसों के अतिरिक्त अन्य रसों का समावेश भी करते हैं। हिन्दी क्षेत्र में यह प्रक्रिया केवल रामभक्त कवियों की है। कृष्णभक्त-कवियों में इन रसों के स्फुट और संक्षिप्त पद्य हो सकते हैं, पर विस्तार केवल हिन्दी के रामभक्त कवियों और तेलुगु कवियों में मिलता है।

सप्तम अध्याय

कला-पक्ष

७. १. प्रस्तावना

काव्य के संबंध में एक प्राचीन रूपक है जिसमें कविता की तुलना लावण्यवती युवती से की गयी है। शब्दार्थ उसका शरीर है, अलंकार आभूषण है, रीति अवयवों का गठन है, गुण स्वभाव है और रस आत्मा। इस रूपक में रस या भाव-पक्ष को शरीरस्थ आत्मा की तरह सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया गया है। वस्तुतः भावपक्ष काव्य का अंतरंग है जो अनुभूति और कल्पना से मुख्यतः निर्मित होता है। कला-पक्ष काव्य का बहिरंग हैं जिसके अंतर्गत भाषा, शैली, अलंकार-विधान, वर्णन आदि अनेक तत्त्व समाविष्ट हैं। यह अवश्य है कि अंतरंग-सौंदर्य का बाह्ययांग से अधिक महत्वपूर्ण है, तथापि यह नहीं भूलना चाहिये कि कलापक्ष भावपक्ष को उत्कर्षमय बनाकर उसे सार्थकता प्रदान करता है। वास्तव में सौंदर्य की प्रतीति बहिरंग और अंतरंग— दोनों के समन्वय से होती है और ये दोनों परस्पर पूरक हैं। इनके समग्र प्रभाव से ही रस-निष्पत्ति होती है। काव्यस्वरूप समग्रगत हैं, अतः कलापक्ष का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। अध्ययन की सुविधा के लिये ही उसे पृथक कर लिया जाता है। यहाँ पर दोनों क्षेत्रों के वैष्णव-साहित्यों में प्राप्त कलापक्षीय तत्त्वों का विवेचन तुलनात्मक दृष्टि से करना ही अभीष्ट है। काव्यरूप वाले अध्याय में पीछे काव्य के बहिरंग-पक्ष पर विस्तृत रूप से विवेचन किया जा चुका है। अतः यहाँ पर पुनरुक्ति-दोष से बचने के लिये भाषा, शैली, छन्द, अलंकार, वर्णन, प्रकृति-चित्रण पर मात्र ही विशेष बल देकर विवेचन किया जा रहा है :—

७. २. भाषा

तेलुगु क्षेत्र में आलोच्य-युग में और उससे पूर्व भी संस्कृत-साहित्य कवियों का उपजीव्य बना रहा। संस्कृत की अधिकांश शब्दावली तत्सम् के रूप में तेलुगु में प्रविष्ट हो गई। इसके अतिरिक्त अनेक शब्द प्राकृत में रूप-परिवर्तन करते हुए तेलुगु-शब्दकोश की संपत्ति बन गये। इस प्रकार संस्कृत-तद्भव, शुद्ध तेलुगु और देशी शब्दों से युक्त भाषा की भी एक परम्परा बनी जो जनजीवन से संपृक्त रही। दूसरी ओर संस्कृत-समास, संस्कृत-छंद और संस्कृत-वाक्यविन्यास से युक्त ग्रांथिक भाषा भी समाहृत रही। भाषा की इस द्वाभा में ही आलोच्य-युग का साहित्य

प्रफुल्लित हुआ। ग्रांथिक भाषा सामान्य-जन के लिये दुरूह थी। ग्रांथिक भाषा के प्रयोक्ता कवियों के दो भेद हैं। इनमें से एक वर्ग वाले संस्कृत के प्रचलित तत्समों का ही प्रयोग करते हैं। और इन तत्समों को भी तेलुगु-भाषा की प्रवृत्ति से मधुवेष्टन और लालित्य प्रदान करते हैं। जयदेव की भाँति संस्कृत-पदावली को ललित बनाने की चेष्टा इन कवियों ने की है। तेलुगु क्षेत्र का यह स्तुत्य साहित्यिक प्रयास है। इस वर्ग के कवियों की स्थिति दो सरीखे बिदुओं के बीच में है। पोतना वैसे भाषा-संस्कार के प्रमुख नेता हैं। इस प्रवृत्ति का दर्शन आदिकवि नन्नया से ही मिलता है। पर पोतना ने तो इस प्रवृत्ति को आगे बढ़ाया है। पोतना की भाँति श्रीनाथ का भी इस क्षेत्र में योगदान है। इनकी भाषा में माधुर्य और लालित्य तो मिलता है, पर अभिव्यक्ति की सरलता पोतना जैसी नहीं है। इस प्रकार जहाँ श्रीनाथ में भाषा का द्विसूत्री संस्कार हैं, वहाँ पोतना में सरलता, माधुर्य और लालित्य के त्रिसूत्री संस्कार के हमें दर्शन होते हैं। ग्रांथिक भाषा का एक और रूप मिलता है, जिसमें संस्कृत के प्रचलित तत्सम् शब्दों का स्थान अप्रचलित क्लिष्ट पदावली ले लेती है। माधुर्य और लालित्य भी क्लिष्टत्व में कुछ न कुछ खो देते है। यह क्लिष्टता सरस वृत्तों को भी प्रभाव की दृष्टि से सीमित कर देती है। "आमुक्तमाल्यदा" और "पांडुरंग-माहात्म्य" जैसे काव्यों में अनेक अप्रचलित शब्दों का प्रयोग मिलता है जिससे उनकी भाषा बहुत क्लिष्ट हो गई है। उदाहरण के लिये पांडुरंग माहात्म्यकार से निर्मित निम्नलिखित शब्दों की यह सूची दृष्टव्य है :—

> नीटिकेंपु १/१३ (कौस्तुभ) ; कोम्मुतेजु १/१६५ (वृषभ) ; धेनुदंडमु २/३३ (जानवरों को हाँकने के लिये प्रयुक्त लकड़ी) ; उग्रशत्रुवु २/७२ (मन्मथ) ; वीणामुनि ३/२ (नारद) ; रसवति ३/१४२ (रसोईघर) ; फलोदयमु १/२६५ (स्वर्ग) ; वरणदंतावळमु १/३१० (मेंढक) ; रातिकोडुकु १/४१४ (मेंढक) ; चक्षुश्रोतकन्यलु ४/१३६ (नाग कन्यायें) आदि।

जहाँ ग्रांथिक भाषा के उक्त दो रूप मिलते हैं वहाँ ऐसे कवि भी हैं जिन्होंने संस्कृत तत्समों से बचने की और भाषा को शुद्ध तेलुगु रखने की चेष्टा की है। तेलुगु द्विपदा-साहित्यकारों ने प्रतिक्रिया-स्वरूप अपनी भाषा को संस्कृत से बचाया है, चाहे संस्कृत शब्दों की पूर्ण अवहेलना न की हो। संस्कृत शब्दों के भी तेलुगु की प्रकृति के अनुकूल तद्भव रूप ही अधिक प्रयुक्त हुए हैं। मोल्ला आदि कुछ कवियों ने इसी प्रकार की भाषा का प्रयोग किया था। यही भाषा-विधान यक्षगानों की भी रही। जिस प्रकार द्विपदा साहित्य ने लोकभाषा के गौरव की वृद्धि की, उसी प्रकार अन्नमाचारी जी ने भी अपने गीतों से लोकभाषा-साहित्य के भंडार को समृद्ध किया। अन्नमाचारी और उनके पुत्र पेदतिरुमलाचारी ने लोकोक्तियों के बहुल प्रयोग के द्वारा लोकभाषा की शक्तियों का और भी उद्घाटन किया और इसकी शैली को जीवंत बनाया। इनके साहित्य में इतनी लोकोक्तियाँ मिलती हैं कि इनका एक स्वतन्त्र कोश भी बनाया जा सकता है। इनके साहित्य के आधार पर आगे कुछ चुनी हुई

लोकोक्तियों की सूची दी जा रही है :—बाढ़ में डुबोई हुई इमली।[1]—अपनी ही अँगुली यदि आँख में चुभ जाय तो क्रोध किस पर दिखाया जा सकता है ?[2]—भूख में आहार, धूप में छाया और जंगल में साथी बहुत प्रिय लगते हैं।[3]—संसार में जीवन व्यतीत करना जमुना की टाकू पर जीवन-यापन करने के समान खतरनाक है।[4]—हाथ में मक्खन रखकर घी के लिये खोजना।[5]—निन्दा-रहित जीवन एक दिन भी बहुत पर्याप्त है।[6]—ऋतु आने पर लता-वृक्ष फूलते-फलते हैं और सरोवर जल से भर जाते हैं, पर मन कभी परिपक्व नहीं होता···हाथी भी वश में आ सकता है, किन्तु मन नहीं।[7]—नीम वृक्ष को दूध पिलाने पर भी वह कड़ुएपन को नहीं छोड़ता···कुत्ते की पूँछ को लकड़ी से बाँधने पर भी वह वक्रता नहीं छोड़ती।[8] — जल में बार-बार भिगोने पर भी छुरी कोमल नहीं बन सकती।[9]—प्रेम से वृश्चिक को गोद में लेने पर भी वह डंक मारना नहीं छोड़ता।[10]—संशय नाव में जीवन-यापन करने के समान हानिकारक है।[11]—जो सूर्य पर धूल झोंकता है, वह स्वयं उस धूल का शिकार बनता है।[12]—यदि बकरा पहाड़ से लड़े तो उसका शिर चूर-चूर होगा।[13]—हानिकारक बन्धु से भी कुत्ता श्रेष्ठ है।[14]—वैसे शास्त्रीय प्रबन्ध काव्यों में भी लोकोक्तियाँ अवश्य मिलती हैं, पर बहुत गौण रूप से। प्रबन्ध काव्यों में प्रयुक्त कुछ लोकोक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :—प्रारब्ध के समक्ष मानव की बुद्धिमत्ता और उपायों से कोई काम नहीं चलता।[15]—मछली के जल-पान से समुद्र खाली नहीं होता।[16]

[1] आ० सं० की०, २/३४९
[2] वही, २/१५७
[3] वही, २/३८९
[4] वही, २/१८८
[5] वही, २/१९१
[6] वही, २/११४
[7] वही, २/२६७
[8] वही, ५/१९०
[9] वही, ५/१९०
[10] वही,
[11] नीतिशतक, छंद ३६
[12] वही, छन्द ६६
[13] वही,
[14] वही, छन्द ८०
[15] आमुक्तमाल्यदा, ५/१४७
[16] वही, ५/१०१

—प्यासे आदमी को दूध दिया जाय तो उनको तृप्ति नहीं होगी।[१]—फूलों की दूकान में ईंधन का बिकना[२]—आदि।

ग्रांथिक और लोकभाषा के बीच की कड़ी शतक-साहित्य की भाषा है। शतककारों ने संस्कृत शब्दों का प्रयोग तो पर्याप्त किया है, पर सरलता के सिद्धांत को उन्होंने कहीं नहीं छोड़ा। संस्कृत का सौष्ठव और लोकभाषा का सौंदर्य—दोनों ही उनकी भाषा-शैली में साथ-साथ चलते हैं। सारांश यह है कि प्रायः भाषा की एक मिश्रित शैली ही मिलती है जिसमें संस्कृत, प्राकृत और तेलुगु का मिश्रण है। कहीं प्राधान्य संस्कृत का हो जाता है तो कहीं तेलुगु का। इन तीनों भाषाओं के अतिरिक्त अन्य भाषाओं का मिश्रण नगण्य ही है। द्विपदा-साहित्य में कहीं-कहीं विदेशी शब्द मिल जाते हैं। उदाहरण के लिये "अष्टमहिषीकल्याण" में "फिरंगी"[३], "तुपाकुल"[४] (हिन्दी में तोप), "तुरक"[५], "फौजु"[६] (फौज)—आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। ग्रांथिक भाषा में विदेशी शब्दों का मिश्रण नहीं मिलता। तेलुगु भाषा का मिश्रण प्राकृत की शब्दावली को लेकर बहुत था। इसका कारण यह है कि पूर्व-युगों में प्राकृत भाषा तेलुगु क्षेत्र में आदर पाती रही। चिनतिरुमलाचारी ने अपने प्राकृत-भाषा-ज्ञान को "अष्टभाषा-दंडकमु" में व्यक्त किया है।[७] मिश्रण का भी अनुपात पंडित वर्ग में ही अधिक मिलता है, क्योंकि कवि के लिये संस्कृत और प्राकृत के काव्य का अभ्यास आवश्यक सा था।

जहाँ तेलुगु क्षेत्र का उच्च राज-वर्ग ग्रांथिक भाषा को आश्रय देता था, वहाँ हिन्दी क्षेत्र का उच्च-वर्ग फारसी से प्रभावित था। सामान्य जनता तक फारसी के बहुत से शब्द छनकर आ गये थे और उनका प्रयोग दैनिक हो गया था। संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन और संरक्षण की जितनी दृढ़ परम्परा तेलुगु क्षेत्र में थी, उतनी आलोच्य-युग में हिन्दी क्षेत्र में नहीं। परिणामतः संस्कृत के तत्सम् शब्दों को बहुत ही अल्प संख्या में हिन्दी कवियों ने प्रयुक्त किया। फारसी के बहुतांश शब्द भक्त-कवियों के साहित्य में मिलते हैं। इस प्रकार मिश्रण की दशा में हिन्दी और तेलुगु में अंतर उपस्थित हो गया है। प्राकृत शब्दावली ज्यों की त्यों समीकृत रूप में हिन्दी में बहुत कम ही आ पायी। प्राकृत शब्दावली का शब्दीकृत रूप ही तद्भव के रूप में हिन्दी में प्रविष्ट हुआ।

[१] आमुक्तमाल्यदा, ४/१६८
[२] वही, ३/२१
[३] अ० म० क०, पृ० १६०
[४] वही,
[५] वही, पृ० १६८
[६] वही,
[७] दी मैनर वर्क्स आफ अन्नमाचार्य एण्ड हीज़ सन्स, पृ० १५१

हिन्दी क्षेत्र भाषा और संस्कृति के मिश्रण के लिये सदैव से प्रसिद्ध रहा है। हिन्दी की ब्रज और अवधी बोलियाँ साहित्यिक गौरव पा चुकी थीं। ब्रज के समीप होने और बहुत कुछ मिली-जुली परम्परा के कारण राजस्थानी और ब्रज का मिश्रण हिन्दी के पश्चिमी क्षेत्र में हुआ। मीरा ने गुजराती प्रयोगों को ही अपने पदों में स्थान दिया। पूर्व में अवधि के साथ भी अन्य पूर्वी बोलियों का मिश्रण हुआ। इस मिश्रण ने इन बोलियों को एक ओर समृद्ध बनाया, दूसरी ओर विस्तृत। फिर एक ऐसी मिश्रित भाषा भी बनी, जिसमें ब्रज और अवधी दोनों ही योगदान करती रहीं। तुलसी की "बरवै रामायण" यदि शुद्ध अवधी में है तो "कवितावली" और "गीतावली" अधिकांश ब्रजभाषा में। "रामचरितमानस" में ब्रज और अवधी मिलकर एक व्यापक साहित्यिक भाषा को जन्म देती हैं। सूर ने भी मिश्रित-भाषा को अपनाया, पर अनुपाततः ब्रजभाषा अधिक रही। बुंदेलखंडी और पंजाबी शब्द भी पर्याप्त मात्रा में आने लगे। खड़ीबोली का प्रयोग तो काव्य में नहीं हुआ, पर उसके शक्तिशाली होने की सम्भावना दृढ़ होती जा रही थी। इस प्रकार की क्षेत्रीय बोलियों का मिश्रण आलोच्य युग के तेलुगु साहित्य में नहीं मिलता। मिश्रित भाषा की यह परम्परा नई नहीं थी। चंदवरदाई ने छह भाषाओं के मिश्रण की बात कही है और इस युग के पश्चात् भिखारीदास ने मिश्रित साहित्यिक भाषा के आधार पर "तुलसी गंग दोहौ भये सुकविन के सरदार", कहकर इनको मिश्रित भाषाकार माना है। भिखारीदास ने इस साहित्यिक भाषा के छह भाषा-उपकरणों का उल्लेख किया है। इन छह भाषाओं में संस्कृत प्राकृत बोलियाँ और कुछ विदेशी भाषायें आ जाती हैं। इस दृष्टि से भाषा का मिश्रण स्रोत और क्षेत्र की दृष्टि से हिन्दी क्षेत्र में अधिक है।

डा० सावित्री सिन्हा के अनुसार कृष्णाश्रयी कवियों ने संस्कृत का प्रयोग केवल व्याख्यात्मक स्थलों, कल्पना प्रधान अलंकार-विधान, आलंबन के विराट और गरिमापूर्ण रूप-चित्रण तथा स्तोत्र-पद्धति में किया है।[1] वैसे ब्रज और अवधी के देशी या विदेशी शब्दों के अतिरिक्त सभी शब्दों का स्रोत संस्कृत साहित्य में ही है। केशव ने अवश्य तेलुगु ग्रांथिक कवियों की भाँति संस्कृत के क्लिष्ट और अप्रचलित शब्दों का प्रयोग किया है। फिर भी तत्समता की वह प्रवृत्ति इनमें भी नहीं मिलती जो तेलुगु कवियों में हैं। कहीं कहीं संस्कृत-समास तेलुगु को संस्कृत में ही ढालते हुए मिलते हैं। पर हिन्दी में कुछ स्तोत्रों को छोड़कर संस्कृत की यह सामासिकता नहीं मिलती।

तेलुगु के प्रमुख कवियों की गति संस्कृत की ओर मिलती है। हिन्दी में भाषा की प्रवृत्ति लोकोन्मुख है। केशव इस के अपवाद हो सकते हैं। इनके अतिरिक्त सभी भक्तकवि भाषा को संस्कृत की ओर नहीं, "भाषा" की ओर

[1] "ब्रजभाषा के कृष्णभक्ति-काव्य में अभिव्यंजना शिल्प", पृ० ६१

ले जाना चाहते हैं। क्योंकि उनका लक्ष्य दार्शनिक और सांस्कृतिक संघर्ष से उत्पन्न जनमानस की क्लांति को लोकभाषा में रचित साहित्य के द्वारा मिटाना था। तेलुगु क्षेत्र में विशेष रूप से द्विपदकार इस उद्देश्य से प्रेरित थे।

७. ३. शैली

आलोच्य-युग से पूर्व हिन्दी में पुराण और चरित्र शैलियाँ ही प्रमुख रूप से प्रचार में थीं। इनका सम्बन्ध लौकिक और अलौकिक आलम्बनों से था। जिस अर्थ में पुराण-शैली का पुनरुत्थान तेलुगु क्षेत्रों में हुआ, उस अर्थ में हिन्दी-क्षेत्र में नहीं। वहाँ न पुराण-सामग्री को संस्कृत से भाषा में रूपांतरित करने के ही विशद उद्योग हुए और न प्रमुख चरित्रों को छोड़कर सम्पूर्ण पुराण की वार्ता ही प्रमुख रही। शास्त्रीय महाकाव्य की रचना इस युग से पूर्व हुई ही नहीं। तेलुगु क्षेत्र में जहाँ शैवगीतों और मुक्तकों की शैली को अधिक लोकप्रियता प्राप्त नहीं हुई वहाँ हिन्दी-क्षेत्र में निर्गुण सम्प्रदाय के गीतों की इतनी उपेक्षा नहीं हुई। इस प्रकार हिन्दी में गीतों की आलोच्ययुगीन-परम्परा तेलुगु क्षेत्र की अपेक्षा पूर्वयुग में अधिक प्रविष्ट हो जाती है। तेलुगु साहित्य में शैली के क्षेत्र में गीत और मुक्तकों के द्वारा इतनी स्पष्ट क्रांति दिखलाई नहीं देती जितनी हिन्दी क्षेत्र में। पुराण-शैली का शुद्ध रूप हमें लालचदास के भागवत में कुछ-कुछ दिखलाई पड़ता है। सूरसागर को तो पुराण शैली का काव्य नहीं कहा जा सकता। दशम स्कंध के पूर्वार्द्ध का भावात्मक और संगीतात्मक उभार ही कवि का लक्ष्य है। पृष्ठभूमि में आये हुए अवतारवृत्त, उद्धार-वृत्तांत और अन्य अवांतर-प्रसग आनुषंगिक मात्र है। तुलसी का रामचरितमानस एक मिश्रित महाकाव्य की शैली का परिचायक है। इसमें शास्त्रीय अनुज्ञाओं का पालन तो है, पर ये सब लोकमानस की सरलताओं से मृदुल हो गई हैं। सारांश यह है कि इस युग की वैष्णव काव्य-कला में गीत-शैली का प्राधान्य रहा और महाकाव्य-शैली गौण। आचार्य केशवदास शुद्ध शास्त्रीय शैली को लेकर अवश्य चलते हैं। पर यह प्रयत्न इतिहास में एक अपवाद है।

ई० ११ वीं शताब्दी से ई० १५ वीं शताब्दी तक के तेलुगु साहित्य को पुराण-युग के अन्तर्गत माना जाता है और ई० १६ वीं शताब्दी के साहित्य को प्रबन्ध-युग के अन्तर्गत। पुराण-युग में पौराणिक साहित्य का काव्यगत पुनरुत्थान हुआ। तेलुगु क्षेत्र में पुराणयुग के अन्तर्गत महाभारत की अत्यन्त लोकप्रियता बनी रही। प्रबन्ध-युग में पौराणिक शैली के महाकाव्य का संस्कार हुआ और वह शुद्ध शास्त्रीय महाकाव्य के रूप में परिणत हो गया। इस महाकाव्य की शैली की प्रमुख विशेषता इनका वर्णनबहुल होना, प्रस्तुत-अप्रस्तुत रूप में शृंगार रस को स्थान देना एवं आलंकारिक शैली को प्रमुखता देना है। "आमुक्तमाल्यदा" "रामाभ्युदयमु" आदि काव्य इस वर्ग में आते है। युग-प्रवृत्ति होने के कारण यह शैली पौराणिक-धारा को भी प्रभावित करती है। पोतना का श्रीमदांध्रभागवत पौराणिक शैली का काव्य है। पोतना को शुद्ध शास्त्रीय दृष्टि से महाकाव्यकर्त्ता

मानना पारिभाषिक दृष्टि से त्रुटिपूर्ण है। पर यह अवश्य है कि इन पर शुद्ध शास्त्रीय महाकाव्य-शैली का घनीभूत प्रभाव पड़ा है। जहाँ अवकाश मिलता है, वहाँ वर्णनों में वे महाकाव्यकारों से पीछे नहीं रहते। महाकाव्यकार सा औदात्य और गांभीर्य भी पोतना में है। पर इन सब के होते हुए भी इन्होंने एक पुराण की ही रचना की। पुराण से किसी आख्यान को लेकर उन्होंने एक महाकाव्य की रचना तो नहीं की। इस दृष्टि से ई० १५ वीं शताब्दी पुराण और महाकाव्यों की शैली के संगम से विशिष्ट है। तेलुगु में कृष्ण-काव्य अधिक प्रचलित मिलते हैं। कृष्ण की ब्रजलीलाओं का संबंध गीत-शैली से है और अन्य लीलाओं का संबंध महाकाव्य-शैली से। तेलुगु कवियों ने ब्रजेतर लीलाओं से कथा चुनकर अष्टमहिषी-कल्याण, उषाकल्याण जैसे उत्कृष्ट काव्य-ग्रंथों की रचना की और पृष्ठभूमि के रूप में उन्मुक्त श्रृंगार के आग्रह के कारण ब्रजलीला प्रसंग भी संबद्ध कर दिये। इस महाकाव्य शैली का प्रभाव यहाँ तक पड़ा कि श्रीमद्भागवत के दशमस्कंध की ब्रजलीलाओं का वर्णन पोतना ने यद्यपि बहुत विशद किया है तथापि उनकी रुचि और कल्पना का पूर्ण-विकास मथुरा-द्वारिका लीलाओं के कथानकों में ही हुआ। "रुक्मिणी कल्याण", "सत्यभामा का नरकासुर से युद्ध करना" आदि प्रसंग इसके लिये प्रमाण हैं। भाव-पक्ष के विवेचन में हम देख चुके हैं कि ब्रजेतर लीलाओं के प्रसंगों का विस्तार सूर आदि कवियों से कहीं अधिक पोतना ने किया है। कृष्ण की ब्रजलीलायें जिनका प्राण गीत है, पोतना में आकर वर्णनों के शिखरों से नीचे प्रवाहित हो रही हैं। इस प्रकार आलोच्य-युग की कला-चेतना पुराण और महाकाव्य के संधिस्थल पर विकसित हो रही थी। कहीं-कहीं ये दोनों शैलियाँ इतनी घुल-मिल गई हैं कि शुद्ध-महाकाव्य और पुराण के बीच स्पष्ट विभाजन की रेखा खींचना कठिन हो जाता है।

जिस आंध्र देश में प्रबन्ध को सर्वाधिक मान्यता प्राप्त होती रही, उस तेलुगु क्षेत्र में लोक-शैली का आगमन एक ऐतिहासिक घटना है। संस्कृत वृत्तों के बीच द्विपदा की स्थिति स्थिर होने लगी। अन्नमाचारी के संकीर्तन उस स्वतन्त्र गीत-शैली के स्पंदन हैं जो प्रबन्ध-धारा से मुक्त होकर भगवान को समर्पित हुये हैं। गेय-काव्य की परम्परा के प्रमुख प्रवर्त्तक श्री अन्नमाचारी का महत्व कला की दृष्टि से ऐतिहासिक है। द्विपदा अपनी छोटी, पर बलिष्ट बाहुओं में पुराण और प्रबन्धों को भी समेटने लगा। अन्नमाचारी के गीतों में श्रृंगार की शास्त्रीय परिणतियों को भी स्थान मिला। नायिका-भेद की शैली को भी इनमें अपनाया गया। पर यह शैली की शास्त्रीयता नहीं है, इसे तो वस्तुविन्यास की शास्त्रीयता ही समझनी चाहिये। द्विपदा की शैली भी शास्त्र से मुक्त है, चाहे कहीं-कहीं वस्तुविन्यास शास्त्रीय क्यों न हो जाता हो। संक्षेप में, यह कह सकते हैं कि कला की दृष्टि से तेलुगु क्षेत्र की परम्परा में प्रबन्ध का ही प्रमुख भाग है। पर उसका एकाधिकार नहीं रहा। काव्य-कला के

लोक-पक्ष में भी उभार आने लगा। इस पर विस्तृत विचार काव्य रूप वाले अध्याय में किया जा चुका है।

७. ४. अलंकार

भाव और रस की दृष्टि से अलंकार-विधान के संबंध में अनेक नियमों की चर्चा संस्कृत के आचार्यों ने की है, जैसे विप्रलंभ के समय शब्दालंकारों का प्रयोग नहीं करना चाहिये। आलोच्य-युग हिन्दी में भावोत्कर्ष का युग ही कहा जा सकता है। इसलिये अलंकृत शैली का चमत्कार हिन्दी कवि को आकर्षित नहीं कर सका। वहाँ निश्चित रूप से भावोत्कर्षक अलंकार-विधान ही मिलता है। केशव जो शुद्ध रूप से भक्त नहीं थे, अलंकार-चमत्कार में अवश्य उलझ जाते हैं। तेलुगु क्षेत्र के कवि भाव और अलंकार-विधान को एक-सा ही महत्व प्रदान करते हैं। कभी-कभी उक्तिमूलक अलंकारों का बाहुल्य हो जाता है जिससे रसानुभूति के साथ-साथ चमत्कार का भी अनुभव होता चला जाता है। "साहित्य लहरी" में चमत्कार प्रदर्शक कूट शैली अवश्य है जिसमें रूपकातिशयोक्ति का अत्यन्त दुरूह-जाल फैला हुआ है। तेलुगु कवि दो ही प्रकार से चमत्कार उत्पन्न करते हैं:—वर्णनों की पूर्णता से; और रूढ़ एवं मौलिक उपमानों पर आश्रित अलंकार-विधान से। हिन्दी भक्त कवि अलंकार-विधान अनायास करता है और अनुभूति की विस्तृतियों और गहराइयों से अध्येता को अभिभूत कर देता है। इस दृष्टिकोण के भेद से अलंकार-विधान की पद्धति में भी भेद हो गया है।

तेलुगु कवि उत्प्रेक्षा[1] और संदेह का प्रयोग इसलिये अधिक करता है कि ये उक्ति वैचित्र्य में सहायक होते हैं। रूपक और उपमा तो सभी कवियों में पर्याप्त रहते ही हैं। तेलुगु कवि भाषा के चमत्कार को भी ध्यान में रखता है। इसीलिये शब्दालंकारों की योजना करने में वह सजग रहता है। हिन्दी के कवि शब्दालंकारों का अत्यंत सीमित प्रयोग करते हैं। पोतना जैसे कवियों में अनुप्रास की छटा तो है ही, नाद-सौंदर्य और ध्वन्यात्मकता भी बहुत अधिक है। चाहे अनुप्रास का सप्रयास विधान आलोच्य-युग के हिन्दी कवियों में न मिले, नाद-सौंदर्य के दर्शन तो हो ही जाते हैं। सूर उपमा और रूपक के प्रेमी हैं। उक्तियों की दृष्टि से स्वभावोक्ति का ही विशेष प्रयोग सूर-साहित्य में मिलता है।

[1] कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं:—पांडुरंगमाहात्म्यमु २/३२ (श्रीकृष्ण दौड़कर पुंडरीक के पास जाते समय उसके चरणों के पायल झंकृत होते थे। वह ध्वनि ऐसी प्रतीत होती थी मानो वेद उसका पीछा करके यह घोषणा कर रहे हों कि हे कृष्ण ! तुम अपने कोमल चरणों को इस कठिन भूमि पर मत रक्खो) और भी द्रष्टव्य है:—पांडुरंगमाहात्म्यमु २/१४ ; २/१९३ ; ३/१४४ ; तथा आमुक्तमाल्यदा २/३२

सांगरूपक तेलुगु साहित्य में मिलते तो हैं पर अन्य-अलंकारों की अपेक्षा कम ।[1] सूर में भी इसका प्रयोग अपेक्षाकृत कम है । कुछ स्थलों पर सांगरूपक पद की सीमाओं तक फैल जाता है । पर अंग-प्रत्यंगों के परिगणन के द्वारा इस अलंकार के विस्तार की प्रवृत्ति तेलुगु कवियों में भी प्रायः नहीं मिलती और सूर में भी । तुलसी-साहित्य सांग-रूपकों के लिये प्रसिद्ध है । मुख्य अंगों के साथ भी उपमानों की संगति बिठाई जाती है। मानस में तीन सांगरूपक बड़े हैं :—बालकांड का मानस-रूपक, लंकाकांड का रथ-रूपक, और उत्तरकांड का ज्ञानदीपक और भक्ति-चिन्तामणि रूपक । तुलसी का लक्ष्य इन रूपकों में यह है कि प्रतिपाद्य विषय अपने सांग समग्र रूप में पाठक के पलक पर अंकित हो जाय । इतने बृहत सांग रूपकों की उपयोगिता प्रबंध या महाकाव्यों में ही हो सकती है, गीत या मुक्तकों में नहीं । इसीलिये हिन्दी गीतिकार और मुक्तककार इस पद्धति को न अपना सके। तेलुगु कवि "वचनमुलु" से इसकी आवश्यकता की पूर्ति करते हैं या विस्तृत वर्णनों से । सक्षेप में यह कहा जा सकता है कि तेलुगु-कवि शैली के सौष्ठव और भाषा-सौंदर्य की दृष्टि से अलंकार-विधान में प्रवृत्त हुए । उनका अलंकार-विधान उक्ति-वैचित्र्य का भी पोषण करता है । हिन्दी-कवियों का अलंकार-विधान इस दृष्टि से नहीं हुआ । यह भी नहीं कहा जा सकता है कि उन्होंने भावोत्कर्ष की दृष्टि से ही सोच समझकर अलंकार की योजना की है । वास्तविक बात यह है कि हिन्दी-कवियों का अलंकार-विधान सरल-सहज है जो सामान्य रूप से एक कवि करता ही है । वैसे कहीं शैली में और कहीं भावोत्कर्ष में भी इसका योगदान हो तो आश्चर्य की बात नहीं है ।

जहाँ तक मौलिक उपमानों का संबंध है, तेलुगु कवियों ने दो प्रकार से अलंकार-योजना में विशेषता प्राप्त की है । कुछ उपमान ऐसे मिलते हैं जो स्थानीय हैं । हिन्दी क्षेत्र के तत्कालीन जीवन से इन उपमानों का संबंध नहीं था । एक उदाहरण से यह बात पुष्ट हो जाती हैं । रामराजुरंगपराजु ने चंद्रोदय के लिये यह उपमान दिया है । तप्त शिखरों पर चांदनी उसी प्रकार बिखरी हुई थी जिस प्रकार एक तवे पर "दोसा" बनाया जा रहा हो । "दोसा" बनाते समय जो ध्वनि आती है, वही संध्या का झिल्ली-झंकार है ।[2]

[1] कुछ सांगरूपक द्रष्टव्य हैं :—जगत रूपी नाट्यशाला (वैराग्यवचनमालिकागीतालु पद-३०) संसार रूपी वृक्ष (ते० भा०, १० पू०/६१);
नायिका ने लज्जा रूपी झाड़-पौधों को खोदकर फेंक दिया है और अपने चित्त रूपी खेत को कामना की प्रथम बहार में ही जोत गयी । अब उसमें वह अभिलाषा रूपी बीज बो चुकी है । इसका फल यह मिला कि उसका घर प्रणय रूपी फसल से संपन्न हो गया (आ० सं० की०, १२/१६१.) ; और भी द्रष्टव्य है—वही, २/३५५

[2] तेलुगु साहित्यिक मास-पत्रिका "भारती" अप्रैल, पृ० १६६ में उद्धृत "सांबोपाख्यान" वाला लेख ।

दूसरी विशेषता उपमानों की मौलिक खोज की है। उदाहरण के लिये तेनालिरामकृष्ण का एक अलंकार-विधान देखिये : ग्रीष्मकाल में चींटियां अपने अंडों को लेकर बिलों से बाहर आ जाती हैं। इसके लिये एक शृंगारिक उपमान ऐसा सजाया गया है। चींटियाँ भोगी के समान प्रतीत हो रही हैं। चींटियाँ भी लाल रंग की हैं और भोगी भी। जिस प्रकार चींटियों पर कुछ कालिमा होती है उसी प्रकार भोगी भी कुछ अंगों पर चंदन-लेप करते हैं। अंडे श्वेत होने के कारण भोगी की माला के समान हैं।[१] इन्होंने एक प्रसंग में कहा है कि पार्वती ने अपने हल्दी और अंजन से सिक्त मुख को एक तौलिया से साफ किया और शिवजी उसी को प्रेम से धारण करने लगे। शिवजी का मृगचर्म इससे भिन्न वस्तु नहीं है।[२] पोतना ने दुर्ग की ऊँचाई के तथ्य को इस प्रकार व्यक्त किया है। दुर्ग के ऊपरी भाग आकाश से झगड़ा कर रहे है। इनका बीच-बिचाव करने के लिये नक्षत्रों की पंक्तियाँ बीच में आ गईं।[३] अष्टमहिषी-कल्याणकार ने एक शृंगारिक अलंकृत वर्णन इस प्रकार किया है :—जिस प्रकार चंद्रास्त के उपरान्त अस्ताचल और उदयाचल के बीच अंधकार छा जाता है, उसी प्रकार नायिका के कुचद्वय के बीच उसके प्रलंब अलकराजि विराज रही है।[४] रामभद्र कवि ने लिखा है कि युद्धक्षेत्र में उठे हुए धूल के पारावार में घोड़े नाव के समान प्रतीत होते थे और हाथी समुद्र के बीच शिखरों के समान।[५]

पोतना के अंत्यानुप्रास अत्यंत प्रसिद्ध हैं। इनके उदाहरण श्रीमदांध्रभागवत में प्रचुर मात्रा में बिखरे हैं।[६] सानुप्रास शब्द-योजना और ध्वनि विधान के सौष्ठव में पोतना महाकवि नन्नया की परम्परा में आते हैं। अनुप्रासयोजना कभी-कभी कवि की विशेष अनुरक्ति के कारण दुष्कर और दुरूह भी हो जाती है। सामान्य रूप से अनुप्रास की योजना सभी कवियों में मिलती है। पर पोतना के प्रास-सौष्ठव और शब्दालंकारों के प्रयोग के नैपुण्य से ऐसा प्रतीत होता है मानों उन्हें शब्द-ब्रह्म सिद्ध हुआ हो। तेलुगु कवियों की शब्दालंकार-प्रियता उनको हिन्दी के शुद्ध भक्तकवियों से पृथक करती है। श्लेष, यमक आदि की इसी प्रकार की छटा केशव में देखने को मिलती है। पर इनमें भी ध्वनि और प्रास का इतना चमत्कार नहीं है

[१] पाँडुरंगमाहात्म्यमु, ७/१६
[२] वहीं, २/१९३
[३] तें० भा०, १० पू०/१५९४
[४] अ० म० क०, ७१
[५] रामाभ्युदयमु, ७/२७४
[६] तें० भा० : १/३। १/६, १/११७, १/१२१, १/१४६, १/१७९, १/२००, १/४५७, ३/१२७, ३/१४८, ३/३११, ३/४९९, ३/५००, ३/५४८, ३/६४६, ३/६७७, ३/६९७, ३/८६५, १०/१४२, तथा १० पू०/२१६, तथा ४०३, ६७३ ६७५, १२३३, १५५१, १६८४—आदि।

जितना तेलुगु-कवियों में। शुद्ध भक्त कवियों में केवल सूर ने "साहित्यलहरी" में शब्दालंकारों का चमत्कार प्रदर्शित किया है।[1] क्योंकि यमक और श्लेष के प्रचुर प्रयोग के बिना दृष्टिकूट-शैली नहीं बन सकती। सूर-काव्य में अनुप्रास का प्रयोग भी अत्यंत स्वाभाविक है। जहाँ तेलुगु कवि अनुप्रास के प्रयोग से ध्वन्यात्मक चमत्कार उत्पन्न करना चाहते हैं, साथ ही वातावरण की सृष्टि भी, वहाँ सूर भी इन्हीं दो दृष्टियों से अनुप्रास का प्रयोग करते हैं।

७. ५. ध्वन्यात्मकता और नाद-सौंदर्य

तेलुगु कवियों में एक प्रवृत्ति प्रसंग के अनुकूल ध्वनि-योजना और नाद-सौंदर्य का विधान करना है। यह विशेषता पोतना में सबसे अधिक है। गज और ग्राह के युद्ध का निम्नलिखित वर्णन यह प्रदर्शित करता है कि शब्द भी एक दूसरे से संघर्ष करते हुए चल रहे हैं :—

"करिदिगुचु मकरिसरिसिकि करिदरिकिनि मकरिदिगुचु गरकरि बेरयन्
गरिकिमकरि मकरिकिगरि भरमनुचुनु नतलकुतलभटुलरुदुपडन्।"[2]

गजेन्द्र-उद्धार के लिये विष्णु लक्ष्मी के आंचल को खींचते हुए जल्दी में चले जा रहे हैं। लक्ष्मी इनसे यह कारण पूछने के लिये दो कदम आगे बढ़ जाती है, फिर संकोचवश दो डग पीछे रखती है। लक्ष्मी के मन के द्वन्द्व और उस द्वंद्व के अनुगामी पदविन्यास को ध्वन्यात्मक विधान से पोतना ने इस प्रकार स्पष्ट किया है :—

अडिगेदननिकडुवडिजनु नडिगिनदनु मगुडनुडुगडनि नेडनुड्डुगुन्
वेडवेड चिडिमुडि तडबड, नडुगिडु नडुगिड्डु जडिम नडुगिडु नेडलन्।"[3]

भगवान कृष्ण पूतना का विषाक्त दुग्धपान कर रहे हैं। उस समय की ध्वनियाँ पोतना की शब्द-योजना में इस प्रकार प्रतिबिम्बित हैं :—

बिगिचन्नुगवगेलबीडिंचिकबळिचि ग्रुक्कग्रक्ककुगुट्कुगुट्कु मनुचु।[4]

रामाभ्युदय में "कटकटा"[5] ध्वनि दशरथविलाप की हाहाकारमयी परिस्थिति को मूर्तिमान करती है :—

'गटकटा ! दाशरथि समुत्कट करींद्र, कटकलितदान धारार्द्र कटकमार्ग
गामियेट्लु चरिंचु नुत्कटकरींद्र, कटकलितदानधारार्द्र कटकतटुल ?"[6]

[1] "साहित्यलहरी की रचना संभवत: शब्दालंकारों के लिये ही हुई ... शब्दालंकारों में उन्होंने यमक, अनुप्रास, श्लेष, वीप्सा और वक्रोक्ति का विशेष प्रयोग किया है" सूर और उनका साहित्य—डा० हरिवंश लाल, पृ० २६७।

[2] ते० भा०, ८/५४

[3] वही, ८/१०२

[4] वही, १० पू०/२२५

[5] यह ध्वनि तेलुगु क्षेत्र में "हाहा" ध्वनि के समान है।

[6] रामाभ्युदयमु ५/१२

ऊपर तेलुगु कवियों के ध्वनि और नाद-सौंदर्य की चर्चा की गयी है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि हिन्दी में ऐसे स्थल मिलते ही नहीं हैं जहाँ ध्वनि और भाव में साम्य स्थापित हुए हों। प्रत्येक सिद्ध कवि इस प्रकार के साम्य को ज्ञात या अज्ञात रूप से ले ही आता है। तुलसी की "कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि" की पंक्ति अत्यत प्रसिद्ध है। इसमें जहाँ एक ओर रस के छोटे-छोटे क्षणों की गति ह्रस्व वर्णों के प्रयोग से व्यंजित है, वहाँ सीता के आभूषणों की ध्वनि भी स्पष्ट रूप से श्रव्य है। धनुर्भंग के पश्चात् वातावरण में जो एक हलचल हुई और आश्चर्य मिश्रित भय, यह सबको आक्रांत करने लगा, वह भाव तुलसी की निम्नलिखित पंक्तियों में द्रष्टव्य है :—

"डिगति उर्वि अति गुर्वि, सर्व पब्बै समुद्र सर।
व्याल बधिर तेहि काल, किल दिगपाल चराचर॥
दिग्गयंद लरखरत, परत दसकंठ मुक्खभर।
सुरविमान हिमभानु भानु संघटित परस्पर॥"[1]

दावानल का ऐसा ही ध्वन्यात्मक चित्र सूर ने भी खींचा है :—

"झहरात झहरात दवा (नल) आयौ।
घोर चहुँ ओर, करि सोर अंदोर बन, धरनि आकास चहुँ पास छायौ।
बरत बन-बांस, थरहरत कुस कांस, जदि उड़त है मांस, अति प्रबल धायौ।
झपटि झपटत लपट, फूल-फल चट-चटकि, फटत, लटलटकि द्रुम द्रुमनवायौ॥[2]

यहाँ भाषा की जड़िया नंददास को भी भुलाया नहीं जा सकता। नंददास ने नृत्य-मुद्रा, घुंघुँरू और रास में प्रयुक्त विविध वाद्यों से झंकृत वातावरण का यह ध्वन्यात्मक श्रव्य-चित्र प्रस्तुत किया है।—

नूपुर कंकन किंकिनि करतल मंजुल मुरली।
ताल मृदंग उपंग चंग ऐकै सुरमुरली।
मृदुल मुरज करतार तार झंकार मिली धुनि।
मधुर जंत्र की सार भंवर गुंजार रली पुनि॥
तैसिय मृदु पद पटशनि चटकनि करतारन की।
लटकन मटकनि झलकनि कल कुण्डल हारन की॥"[3]

प्रथम पंक्ति में एक-एक वर्ण घुंघुरुओं की झंकार और मुरली की मीढ का काम करता है। द्वितीय पंक्ति के मृदंग, उपंग, चंग इत्यादि वाद्यों के स्वर अनुप्रास के कारण ही कान में ठनकते से जान पड़ते है और अंतिम दो पंक्तियों की

[1] कवितावली, पद ११
[2] सू० सा० पद १२१४
[3] नंददास ग्रन्थावली, रासपंचाध्यायी, पृ० २१-२२, पद ६, ७, ८
—ब्रजरत्नदास।

सजीवता तो "पटकनि, चटकनि, लटकनि, भटकनि और झलकनि" के द्वारा ही बन पड़ी है।[1]

तेलुगु की और ब्रजभाषा की मूलबद्ध मधुरता[2] बहुत दूर तक ध्वनि-चित्रों को समान बनाती रही। पर भाषा के ढाँचे की भिन्नता ध्वनि-नियोजन के बाह्य-घटन को बदल देती है। तेलुगु की संस्कृतागत सामासिकता ध्वनि के संघटन को अधिक घनीभूत कर सकी। ब्रजभाषा के ढाँचे की विशेष प्रवृत्ति बाह्य ध्वनि-संघटन को वह प्रगल्भता नहीं आने देती जो तेलुगु में आ जाती है। भाषा की इस प्रकृति में तेलुगु कवियों की नादप्रियता का एक प्रेरणा सूत्र भी अवश्य है। इस प्रकार के ध्वनि-चित्रों का प्राचुर्य भी तेलुगु साहित्य में मिलता हैं।

७. ६. छंद और गीत

छन्द की दृष्टि से हिन्दी और तेलुगु के कवि पृथक हैं। तेलुगु साहित्य में मुख्य प्रवृत्ति संस्कृत वर्ण-वृत्तों के प्रयोग की है। हिन्दी काव्य की मूल प्रवृत्ति मात्रिक छन्दों की ओर है। इसका कारण यह हो सकता है कि तेलुगु कवियों ने सीधे संस्कृत से छंद-योजना ली है। हिन्दी कवियों ने अन्य स्रोतों से भी छंद की प्रेरणा ली है। सीधे संस्कृत से प्रेरणा लेने वाले अकेले केशवदास प्रतीत होते हैं। यही कारण है कि उन्होंने "रामचन्द्रिका" में संस्कृत वर्णिक छन्दों का ही प्रयोग किया है। मात्रिक छन्द वर्णिक छन्दों की अपेक्षा लचीले होते हैं। उपयुक्त शब्दों का प्रयोग करने की सुविधा-स्वतन्त्रता मात्रिक छन्दों में अधिक रहती है। जहाँ भावों का प्राधान्य हो, वहाँ मात्रिक छन्द उपयुक्त रहते हैं। इसलिये हिन्दी कवियों ने भक्ति-आंदोलन के साहित्य के साथ जहाँ अन्य लोकोपकरणों का प्रयोग किया, वहाँ मात्रिक छन्दो का भी। कई नये मात्रिक-छन्दों की सृष्टि भी हुई और पुराने भी आये। तेलुगु क्षेत्र में भी छन्दोविधान पूर्ण रूप से वृत्तरूढ़ नहीं रह पाया। वहाँ भी द्विपदा, सीस, कंद आदि देशीय छंदों का प्रयोग भक्ति की एक विशिष्ट धारा में अवश्य होने लगा। वास्तव में दक्षिण शास्त्रीयता और आचार्यत्व के लिये उस समय भी प्रसिद्ध था। हिन्दी में आचार्यत्व का स्थान शुद्ध भावुकता ले लेती है। इसीलिये शैलीगत आचार्यत्व भी तेलुगु-कवियों में हिन्दी-कवियों की अपेक्षा अधिक बना रहा।

संगीत की दृष्टि से भी हिन्दी और तेलुगु कवियों में एक अन्तर परिलक्षित होता है। तेलुगु कवियों का झुकाव गेय-शैली की ओर उतना नहीं, जितना प्रबन्ध-शैली की ओर। हिन्दी कवियों का गीत-विधान ही उनकी विशेषता है। तुलसी

[1] कृष्णभक्तिकाव्य में अभिव्यंजना शिल्प,—डा० सावित्री सिन्हा, पृ० १२५

[2] प्रकृतितः दोनों भाषाओं को मधुर माना जाता है।

जैसे प्रबन्धकार भी अन्ततः गीत की ओर झुके हुए हैं। भक्ति-साहित्य को गीत की प्रेरणा गीतगोविन्द जैसे ग्रन्थों से प्राप्त हुई। इसके अतिरिक्त देशभाषाओं में भी निर्गुण और सगुण गीत-परम्परायें चली आ रही थीं। गीत के क्षेत्र में अनेक प्रचलित राग-रागिनियों के अतिरिक्त सूर आदि कृष्ण भक्त कवियों ने स्वनिर्मित राग रागिनियों का भी प्रयोग किया है।[१] इन कवियों ने किसी भी राग-रागनी को छोड़ा नहीं है।[२] संगीत का आधार नाद-सौंदर्य है। यह नाद निर्गुण मत में साधना की वस्तु भी था। इसी नाद-साधना को नाम-गुण-लीला के श्रव्य रूप के साथ भक्त कवियों ने सम्बद्ध किया है।[३] हिन्दी कृष्णभक्त कवियों में नाद और लय का सरस सामंजस्य रहता है।[४] लय छंद से सम्बद्ध है, जो नाद-संगीत से संयुक्त होकर एक अपूर्व लयकारी स्थिति उत्पन्न कर देता है। स्वामी हरिदासजी ने भक्ति के साथ संगीततत्त्व को इस प्रकार मिलाया कि उनका साहित्य एक समाधि-साधना बन गया है।

तेलुगु कवियों में राग और संगीत की यह मान्यता नहीं मिलती। केवल अन्नमाचारी ने विविध संकीर्तनों में संगीत और लय का स्तुत्य सामंजस्य स्थापित किया है। शेष कवि नाद-सौंदर्य को शब्द-विधान तक ही सीमित रखते हैं। स्वरों के आरोह-अवरोह की सूक्ष्म सरणियों से उसका सम्बन्ध नहीं हो पाता। आलोच्य-युग के पश्चात् संगीतमय भक्ति-धारा की एक तीव्र परिणति क्षेत्रय्य, त्यागराज और रामदास जैसे कवियों द्वारा हुई। हिन्दी क्षेत्र में संगीतमय भक्ति की धारा उस समय प्रबल हुई जब तेलुगु क्षेत्र में प्रबन्ध में भक्ति के उपाख्यानों को सम्बद्ध करके भक्ति के सिद्धांत और महत्व का प्रतिपादन किया जा रहा था। इस समय तक भक्ति-साहित्य साधना का पूर्णरूपेण अंग नहीं बन पाया था। पीछे संगीत और साहित्य का समवेत रूप भक्ति-साधना की भावभूमि से सम्बद्ध हो गया। तेलुगु प्रबन्ध-काव्य में पुराणों के आख्यान, शास्त्रीय महाकाव्यों के रूप में ढलकर संस्कृत के शृंगार-मूलक मुक्तकों के उक्ति-वैचित्र्य पूर्ण शृंगार से अभिमंडित हुए। हिन्दी क्षेत्र में ये पुराणाख्यान केवल प्रमाणवत नामोल्लेख द्वारा ही प्रयुक्त होने लगे थे। शृंगार-मुक्तकों की आत्मा संगीत में ढलकर कवियों की कल्पना में समा गयी। यही रूप अन्नमाचारी में है। उनमें लीला-प्रसंग का विस्तार नहीं है। उस प्रसंग की भावभूमि का प्रस्फुटन है। यही परम्परा उत्तर युग में तेलुगु क्षेत्र में लोकप्रिय हुई।

[१] सूरसौरभ, (तृतीय संस्करण)—डा० मुंशीरामशर्मा, पृ० ३८३
[२] सूरदास, (तृतीय संस्करण)—रामचंद्रशुक्ल, पृ० २००
[३] भक्ति के आचार्यों ने अपनी भक्ति-पद्धति में नाद-सौंदर्यपूर्ण संगीत को भक्ति के अन्तर्गत एक साधन माना है।—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी (साहित्य का मर्म) पृ० ११
[४] नन्ददास ग्रन्थावली, (रूपमंजरी) ब्रजरत्नदास, पृ० १४२

७.७. वर्णन

आलोच्य-युग का तेलुगु काव्य मुख्यतः प्रबन्ध-काव्य है और हिन्दी काव्य मुख्यतः गीतिकाव्य। प्रबन्ध काव्य में वर्णन के लिये विशेष अवकाश रहता है। उसके लिये वैविध्य और विस्तार की आवश्यकता भी होती है और उपयोग भी। ई० सोलहवीं शताब्दी के तेलुगु कवियों ने एक छोटी-सी कथानक को पुराणों से चुनकर वर्णनों से उसे भर दिया है। "रामाभ्युदय" आदि काव्य इस बात के लिये प्रमाण हैं। रामाभ्युदय में कथानक तो बड़ा है, पर कवि कथा के सूत्र को अत्यन्त संक्षिप्त करता हुआ वर्णनों को जोड़ता जाता है। "आमुक्तमाल्यदा" को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि समय-समय पर किये हुए सभी वर्णनों को कथासूत्र के द्वारा कवि ने पीछे मिलाया है। यह वर्णन-प्रियता आलोच्य-युग के तेलुगु कवियों की प्रमुख विशेषता है। हिन्दी क्षेत्र के प्रबन्ध-कवियों में भी वर्णनों का यह विस्तार नही मिलता। यदि वर्णन-प्रियता मिलती है तो वह केशव में। पर केशव के वर्णन भी तेलुगु कवियों के समान विस्तृत नहीं हैं। तुलसी की वर्णन-पद्धति अत्यन्त सरल और संक्षिप्त है। तथापि स्थूल-पक्षों का वर्णन वे विस्तार के साथ नहीं करते जितना मार्मिक प्रसंगों का वर्णन। गीतिकाव्य में तो वर्णन के लिये अवकाश भी नहीं होता। वर्णन गीत में यदि होते भी हैं तो पांडित्य-प्रदर्शन के लिये नहीं, भाव की प्रेरणा से होते हैं।

नीचे तेलुगु और हिन्दी कवियों के कुछ प्रमुख वर्णनों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

७.७. (१) नगर

नगर-वर्णन में भक्त-कवियों ने अधिकांश अवधपुरी और द्वारका का वर्णन किया है। अवधपुरी का वर्णन रामभक्त कवियों ने किया है। तुलसी, केशव, रामभद्र, और मोल्ला ने इसका वर्णन किया है। केशव ने अवधपुरी के वर्णन में इन वस्तुओं को लिया है :—सरयू, कवि, कलाकार, ध्वजा, घरों की एक-सी ऊँचाई, नगर के देवालय, नगाड़ा, नगर-निवासी, चतुर्वर्ण, यज्ञ का धुवाँ, वहाँ के शील-नियम, स्वच्छता, सौभाग्यवती स्त्रियाँ आदि।[1] रामाभ्युदय के अयोध्या-वर्णन में ये वस्तुयें सम्मिलित हैं :—हाथी, रत्नादि ऐश्वर्य, खाई, उद्यान, मलयमारुत, सुन्दरियाँ, वेश्यायें, कुलवधुयें, राजकुमार, विटपुरुष, सैंधव, सेना आदि।[2] मोल्ला ने सरयू, कनकगोपुर, भवन, हाथी, घोड़ा, रथ, तोरण, सेना, गणिका, चंवर, सिंहासन, सीधे-सच्चे नगरनिवासी, विद्या-केन्द्र (शारदापीठ), वन, दुर्ग, कवि, विद्वान, पंडित, नाट्य-मनोरंजन, कर्मकांडी ब्राह्मण, प्रजा, वैश्य, कृषक (कापु), सरोवर, गौ आदि का वर्णन प्रस्तुत किया है।[3] इन तीनों वर्णनों में अलंकृत गणना-शैली मिलती है

[1] रामचद्रिका, १/३७ से ५१ तक

[2] रामाभ्युदय, १/११९ से १५३ तक

[3] मो० रा०, (बालकांड) छंद १ से १८ तक

जिसमें पर्याप्त साम्य है। मोल्ला और रामभद्र-कवि ने वेश्याओं का वर्णन विस्तार के साथ किया है। मोल्ला ने केवल उनके प्रभाव को अंकित किया है। रामाभ्युदयकार ने उनके अंग-प्रत्यंगों का वर्णन काम-शास्त्रीय नखशिख-शैली में भी किया है।[१] उक्त दोनों तेलुगु कवियों ने अप्रस्तुत में शृंगारिकता रखी है। मोल्ला ने भवनों का सुन्दरियों के रूप में वर्णन किया। पर केशव ने अयोध्या-वर्णन में न वेश्याओं का ही वर्णन किया है और न अप्रस्तुत में शृंगारिकता आने दी। तुलसी ने इस शैली को ही अयोध्या-वर्णन में नहीं अपनाया। उत्तरकांड में तुलसी ने अयोध्या का आध्यात्मिक स्वरूप प्रस्तुत किया है।[२]

कृष्णभक्त कवियों ने मथुरा और द्वारका का वर्णन किया है। गगनचुंबी प्राकार, अतल परिखायें, कोट, रत्न-जटित स्वर्ण-गृह, नगर-युवतियाँ, यज्ञधूम, मयूरवृन्द, शीशमहल, वन, सरोवर, ब्राह्मण, सत्य वाले योद्धा राजकुमार, वैश्य, हाथी, घोड़े, महाभट्ट, पूर्णकाम पुरवासि आदि का वर्णन पोतना ने द्वारका-वर्णन के साथ किया है।[३] मथुरापुरी के वर्णन में पोतना ने प्रायः इन्हीं वस्तुओं की गणना की है।[४] अष्टमहिषीकल्याण के मथुरा-वर्णन में इन वस्तुओं की गणना की गयी है :—गोपुर, परिखा, गवाक्ष, विविध पक्षी, केकीवृन्द, बाजार, द्विज, सरोवर, शृंगारोपवन, धूप आदि।[५] इस ग्रन्थ में द्वारका का वर्णन प्रायः इसी शैली में मिलता है।[६] सुन्दरियों का मादक वर्णन विस्तार के साथ दिया गया है।[७] मडिकिसिंगना ने द्विपदा-भागवत में नगर-वर्णन का संकोच कर दिया है।[८] सूर ने मथुरा का कुछ भी वर्णन नहीं किया है। केवल विशाल कंचन-कोट का उल्लेख कर दिया है।[९] द्वारका-वर्णन अवश्य तेलुगु कवियों के समान है। इसमें भवन, नगर-निवासी आदि के साथ साथ उपवन, पक्षी, वाद्य-संगीत और नगर निवासियों की कृष्णभक्ति का वर्णन है[१०] जो तेलुगु कवियों के समान है पर विस्तार कम। नगर-वर्णन के साथ स्त्री या वेश्या के शृंगारिक वर्णन या अप्रस्तुत रूप में नारी-सौंदर्य का

१ आमुक्तमाल्यदा, पांडुरंगमाहात्म्यमु, कविकर्णरसायन आदि ग्रन्थों में वेश्याओं का विस्तृत वर्णन मिलता है। इसका परिचय प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में दिया जा चुका है।

२ रा० च० मा०, (उत्तरकांड) ३/२, ३, ४

३ ते० भा०, १० पू०/१५१६ से १६१३ तक

४ वही, १० पू०/१२४४

५ अ० म० क०, पृ० १३१, १३२, १३३

६ वही, पृ० १६४-१६७

७ वही, पृ० १६४-१६५

८ द्विपदा भागवत, पृ० ५५

सू० सा० पद ३६५४

१० वही, पद ४७८४

चित्रण तेलुगु कवियों की विशेष प्रवृत्ति है। केशव में यह प्रवृत्ति कुछ-कुछ मिलती है। लंकापुरी के वर्णन में स्त्रियों का कामशास्त्रीय वर्णन केशव ने किया है।[१]

पोतना ने परिसंख्या शैली में नगर की विशेषताओं का चमत्कारपूर्ण वर्णन इस प्रकार किया है :—नगरनिवासियों में यदि आसक्ति है तो कृष्ण मुखावलोकन की, यदि चिन्ता है तो केवल हरिपाद सेवन की, यदि भय है तो दुष्कर्मों का, यदि वे परवश हैं तो विष्णुभक्ति के, यदि उनकी आँखों में अश्रु हैं तो विष्णुभक्तिजन्य ही, यदि वे पक्षपात करते हैं तो केवल विष्णुभक्त का—आदि।[२] इसी शैली में केशव ने भी अयोध्या की विशेषताओं का उल्लेख किया है :—

> "मूलन ही की जहाँ अधोगति केशव गाइय।
> होम हुताशन धूम नगर एकै मलिनाइय।
> दुर्गति दुर्गन ही जु कुटिल गति सरितन ही में।
> श्रीफल को अभिलाष प्रगट कविकुल के जी में।"[३]

इसी शैली में मोल्ला ने भी अवधपुरी का वर्णन किया है। केशव की भाँति मोल्लाने सरिताओं की वक्रगति का उल्लेख किया है। साथ ही कुछ शृंगारिक उपमान भी दिये हैं।[४]

७.७—(२) युद्ध

युद्ध वर्णन में भी तेलुगु और हिन्दी कवियों में पर्याप्त समानता मिलती है। वर्षा, नदी आदि के रूपक दोनों में हैं। कुछ विस्तार भेद हो सकता है। गणना-शैली आयुधों के वर्णन में मिलती है। हिन्दी में युद्ध-वर्णन केवल रामकाव्य में मिलता है। तेलुगु में राम और कृष्ण दोनों ही शाखाओं के कवियों ने युद्ध-वर्णन किया है। नीचे युद्ध वर्णन की प्रमुख विशेषताओं का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

रामाभ्युदय में मुख्यतः मेघनाथ, कुंभकर्ण और रावण के युद्ध उल्लेखनीय हैं। मेघनाथ के युद्ध-वर्णन में माया के तत्वों का विशेष समावेश है। मेघनाथ अपनी माया से रणभूमि को मेघाच्छन्न करके तिमिरावृत्त कर देता है।[५] माया रथारूढ होकर वह आकाश-युद्ध करता है।[६] वह अनेक रूपों में प्रकट होकर भी युद्ध करता है[७] तुलसी ने मेघनाथ के माया-युद्ध का बहुत विस्तृत वर्णन किया है। मेघनाथ

[१] रामचंद्रिका १३/५१
[२] तें० भा०, १० पू०/१६१०
[३] रामचंद्रिका १/४८
[४] मो० रा० (युद्ध, भाग २), छंद १३५
[५] रामाभ्युदय, ८/१०
[६] वही, ८/१३
[७] वही, ८/१५

पृथ्वी से जलधारायें उत्पन्न करता है। वह आकाश में चढ़कर अंगारें, खून, बाल और हड्डियाँ बरसाता है। कभी ओले बरसाता है तो कभी धूल की वर्षा से अंधकार उत्पन्न कर देता है।[1] वह माया-रथ पर से आकाश-युद्ध करता है।[2] राम को वह नागपाश-निबद्ध भी करता है[3] जिससे गरुड़ आकर उन्हें मुक्त करता है।[4] रामाभ्युदय के मेघनाथ की भाँति वह विविध रूप भी धारण करके युद्ध करता है।[5] इस प्रकार रामाभ्युदय और रामचरितमानस का मायायुद्ध पूर्णतः समान है। माल्ला का मेघनाथ भी मायायुद्ध में अंधकार फैलाने वाले बाण छोड़ता है और सब कुछ तमसावृत्त हो जाता है।[6] पत्थरों की वर्षा भी होती है।[7] इस प्रकार माया-युद्ध का सबसे अधिक विस्तार तुलसी ने किया है और सबसे कम मोल्ला ने। पर प्रवृत्ति दोनों क्षेत्रों के कवियों में समान है।

कुंभकर्ण के युद्ध में दोनों क्षेत्रों के कवियों ने कुंभकर्ण के शरीर की विशालता पर विशेष बल दिया है। रामाभ्युदय और रामचरितमानस दोनों में उसे पर्वताकार कहा गया है।[8] वानरों की सेना पर्वत-शिखरों और वृक्षों से उस पर प्रहार करती है, पर वे कुंभकर्ण से टकराकर चूर्ण-चूर्ण हो जाते हैं।[9] तुलसी ने एक और वर्णन यह किया है। वह करोड़ों वानरों को निगल जाता है। कुछ को वह मसल रहा है। उदरस्थ वानर उसके मुख, नाक और कानों की राह से निकल-निकल कर भाग रहे है।[10] रामाभ्युदयकार ने उदरस्थ वानरों के इसी प्रकार निःसृत होने का वर्णन किया है।[11] वानरों के निगलने का वर्णन मोल्ला ने भी किया है।[12] इस प्रकार कुंभकर्ण के युद्ध की शैली भी दोनों क्षेत्रों के कवियों में समान है। वृक्ष, पर्वत जैसे प्राकृतिक आयुधों के प्रयोग ने युद्ध-वर्णन में वैचित्र्य उत्पन्न कर दिया है।

[1] रा०च०मा०, (लंकाकांड) ५१/१,२
[2] वही, दोहा ७२
[3] वही, ७२/६
[4] वही, दोहा ७४
[5] वही, ७५/६
[6] मो०रा० (युद्ध भाग-१) छद १०२
[7] वही, छद ५६
[8] रामाभ्युदय ८/१४५ ; रा० च० भा० ६४/१
[9] (क) रामाभ्युदय ८/१४३ ; (ख) रा० च० मा० (लंका०) ६४/३
[10] रा० च० मा० लं० ६६/१,२
[11] रामाभ्युदय ४/१४४
[12] मो० रा० (युद्ध भाग १) छंद ५१

पोतना ने जरासंध और कृष्ण के युद्ध-वर्णन में दो बड़े सांगरूपकों का प्रयोग किया है। एक में वर्षा और युद्ध की तुलना की गई है और दूसरे में युद्ध और नदी की। हाथी पहाड़ों के समान हैं और उनसे रक्त-निर्झर प्रवाहित हो रहे हैं। कटे हुए भुजदंडों के रत्नाभूषण उस धारा में केतकी पुष्पों के समान लगते हैं। युद्ध का हाहाकार-चीतकार मेंढकों की भयंकर ध्वनि के समान है। वीरों की कटी हुई भुजायें सर्पवत उस धारा में प्रवाहित हो रही हैं। उनके कपाल कछुओं के समान तैर रहे हैं। वीरों के बाल शैवालजाल के समान प्रतीत होते हैं। वीरों के कटे हुए हाथ मछलियों के समान तैर रहे हैं। मरे हुए घोड़े मगरों के समान लगते हैं। हाथी छोटे-छोटे टापू हैं। धवल-छत्र पानी के फेन से लगते हैं। चंवर ही वहाँ कलहंस हैं। भूषण-रत्नों से ही उसके पुलिन बने हैं।[1] तुलसी ने भी युद्ध के अवसर पर इस प्रकार वर्णन किया है :—"वीरों के शरीर से रक्त इस प्रकार प्रवाहित है—जैसे किसी पर्वत से निर्झर। दोनों दल उस रक्त-सर के किनारे हैं। रथ, रेत और पहिये भवर हैं।

हाथी, घोड़े आदि सवारियाँ नदी के जलजंतु हैं। बाण, शक्ति आदि आयुध सर्पों के समान हैं। धनुष उस नदी की लहरों के समान लगते हैं और ढाल कछुये के समान। मरे हुए वीर लोग, नदी के द्वारा ढोये गये वृक्षों के समान हैं। बहुत-सी मज्जा बह रही है। वही फेन है। भूत-पिशाच उसमें स्नान कर रहे हैं। घायल योद्धा अर्धजल पड़ हैं। गीध आंतों को खींच रहे हैं मानो मछुये मछली पकड़ रहे हैं। इस नदी में बहते हुए शवों पर पक्षी बैठे हुए हैं मानों नौका-विहार हो रहा हो।[2] पोतना और तुलसी के इन सांगरूपकों में पर्याप्त समानता है। उपमेय तो प्रायः समान हैं ही, उपमानों में अंतर है। पोतना ने वर्षा के रूपक भी युद्ध के प्रसंग में दिया है।[3] हिन्दी के कवियों में इस रूपक से तुलनीय रूपक नहीं मिलता।

७. ७—(३) प्रकृति

वर्षा—ऋतुवर्णन में वर्षा **और** शरत् का वर्णन मुख्य रूप से मिलता है। वर्षा-ऋतु का वर्णन हिन्दी कवियों की अपेक्षा तेलुगु कवियों का अधिक यथार्थ और विस्तृत है। तुलसी ने किष्किंधाकांड में विरही राम के द्वारा वर्षा-वर्णन कराया है। इस वर्णन की यह विशेषता है कि यथार्थ परिस्थिति के साथ नीतिकथन की उपदेशात्मक प्रवृत्ति भी मिलती है।[4] सूर ने इस प्रकार का पृथक वर्षा-वर्णन नहीं किया है।

[1] ते० भा० १० पू०/१५५६
[2] रा० च० मा० (लंकाकांड) दोहा ८६/५ से ८७/३ तक
[3] ते० भा०, १० पू०/१५५६
[4] रा० च० मा०, (किष्किंधा) १२/४ से १५ दोहे तक

केवल विरह के संदर्भ में पावस-प्रसंग रखा है।[१] यहाँ वर्षा और अश्रु-वर्षा समान हो गई हैं। बादल, हवा, दादुर, मोर, चकोर, चातक, गर्जन, बिजली, इंद्रधनुष आदि सभी वर्षादल का विवरण सूर ने दिया है और इनका विरहिणियों पर प्रभाव भी प्रदर्शित किया है। एक स्थान पर वर्षा और युद्ध का रूपक बाँधा है।[२] कभी वर्षा में कृष्ण का रूप भी देखा गया है। इस रूपक में इंद्रधनुष को पीतांबर, बिजली को दाँत, बक-पंक्ति को मुक्तामाल, मंद्र-गर्जन को कृष्ण का स्वर माना गया है।[3] पांडुरंगमहात्म्यमु में इसी शैली को ग्रहण करते हुए तेनालिरामकृष्ण कवि राधा को पावस में कृष्ण का दर्शन कराता है। सिर का मयूरपंख ही इन्द्रधनुष है। मेघगर्जन ही पाँचजन्य का घोष है। मुक्ताहार ही उड़ती हुई बक-पंक्ति है। (सूर की भी यही कल्पना है)। बिजली ही पीताम्बर है। जलवृष्टि भगवान की करुणा-वृष्टि ही है। इसीलिये राधा कहती हैं कि ये बादल नहीं घनश्याम (कृष्ण) ही है।[४] पोतना ने इससे कुछ भिन्न शैली का अनुसरण करते हुए कृष्ण में वर्षा के दर्शन किये हैं :—"वेणुनाद ही मंद्र-गर्जन है। मंदहासद्युति में सौदामिनी ही प्रतिभासित है। मोर-मुकुट इन्द्रधनुष के समान है। उनके चितवन से होनेवाली पीयूषवृष्टि ही जलवृष्टि है। ग्वालवाल चातक हैं।[५] इस प्रकार सूर और तेलुगु कवियों में वर्षा-वर्णन की विशिष्ट पद्धति का साम्य दृष्टिगत होता है।

तुलसी ने जहाँ वर्षा-वर्णन में नीतिकथन की उक्तियों से वर्णन को संकेतपूर्ण बनाया है वहाँ तेलुगु कवियों ने बहुधा श्रृंगारोक्तियों से उसको सरस बनाने की चेष्टा की है। दो-एक उदाहरणों से इस बात को पुष्ट किया जा सकता है। कृष्णदेव राय की एक उक्ति यह है। घोर-गर्जन से भयभीत भूदेवी सरिता रूपी पुलकित बाहुओं से समुद्ररूपी विष्णु का आलिंगन करने चली जा रही हैं। और ऐसा करने में उनके कंकणों से मधुर ध्वनि (सरिता का मंद्र-गर्जन) उत्पन्न हो रही है।[६] रामाभ्युदय में एक श्रृंगारोक्ति इस प्रकार मिलती है। एक युवती और युवक रतिरण में संलग्न हैं और झटका-पटकी में उनकी मुक्तामाल और लाल गिरने लगे। ये ही वर्षा में गिरने वाले ओले और वीरवधूटियाँ हैं।[७] पोतना की एक उक्ति इस प्रकार है :—किसान खेत में हल चला रहे हैं। उनके लागल से बनी हुई रेखायें भूदेवी पर इस रूप से प्रकट हो रही हैं—मानो वर्षाऋतु रूपी भजंग ने कामातिरेक में अपनी

[१] सू० सा०, पद ३९१६ से ३९६२ तक

[२] वही, पद ३९२३, ३९२४, ३९२६

[3] वही, पद ३९३४

[४] पांडुरंगमाहात्म्यमु, ४/३१

[५] तें० भा०, १० पू०/७६१

[६] आमुक्तमाल्यदा, ४/१०१

[७] रामाभ्युदय, आश्वास ६, छंद १४

प्रियतमा के अंगों पर नखक्षत-रेखायें अंकित की हों।[1] केशव ने वर्षा में उमड़ती हुई नालियों को अभिसारिका नायिकाओं के समान बताया है। जिस प्रकार परकीया अभिसारिका स्वधर्म को मिटाती हुई चलती है, उसी प्रकार ये नालियाँ अच्छ मार्गों को नष्ट कर रही हैं।[2] इस प्रकार केवल केशव में संयोग-पक्षीय शृंगार से तुलनीय एक-दो उक्तियाँ मिलती हैं। हिन्दी के भक्त-कवियों में तेलुगु कवियों की सी शृंगारोक्तियों का प्रायः अभाव ही है। तेलुगु कवियों की यह प्रवृत्ति केशव जैसे शास्त्राभ्यासी कवि में ही मिल सकती है। तेलुगु और हिन्दी में वर्षा के ब्याज से और भी उक्ति-वैचित्र्य मिलता है। श्रीकृष्णदेवराय ने वर्षा और काली में एकता स्थापित करते हुए कहा है कि आकाश में असित वेशवाली कालिका (घनघटा) नृत्य कर रही है, उसके मुख से अग्निस्फुलिंग झर रहे हैं, वे ही वीर-वधूटियाँ हैं।[3] केशव ने भी कालिका और वर्षा में संदेहालंकार उत्पन्न करते हुए दोनों में ऐक्य स्थापित किया है।[4] अष्टमहिषीकल्याण में कवि एक वीभत्स कल्पना भी कर बैठता है। मन्मथ ने कामीजनों को टुकडे-टुकड़े कर दिया है। वही मांसखंड इन्द्रवधुओं के रूप में पृथ्वी पर दिखाई पड़ रहा है।[5] सूर इस सीमा तक तो नहीं पहुँचे। पर विद्युत की तलवार को साधे हुए कामदेव की फौज का विरहिणी के वध के लिये आने का उल्लेख एक स्थान पर अवश्य मिलता है।[6] कृष्णदेवराय ने यथार्थता का पुट देते हुए वर्षा के संबंध में एक अदभुत कल्पना ही है। अनवरत वर्षा के कारण स्त्रियों को आसपास के घरों से अग्नि लाना कठिन हो गया था। अग्नि मिल भी जाय तो उससे अग्नि प्रज्जवलित करना भी सरल नहीं है। अग्नि किसी प्रकार जल भी गई तो भात कठिनाई से पकता है और यदि किसी प्रकार पक भी जाय तो सब्जी नहीं पकती। यदि थोड़े-बहुत परिमाण में भोजन तैयार भी हो गया तो अतिथि-सत्कार नहीं हो पाता। यदि अतिथि-सत्कार हो भी जाय तो स्त्रियों को कुछ नहीं बचता। स्त्रियाँ यदि दुबारा भात बनाती हैं तो साड़ियों को तेल में डुबोकर उन्हें चूल्हे में जलाने में नहीं हिचकतीं। यह सब करते उनको बहुत रात बीत जाती है और उनकी प्रतीक्षा में उत्सुक पतिदेव विरह-वेदना में तड़पते रहते हैं।[7] अन्यत्र श्रीकृष्णदेवराय लिखते हैं कि वर्षा में नीड से चूता हुआ पानी पक्षियों के सिर पर

[1] ते० भा०, १० पू०/७५४

[2] रामचंद्रिका, १३/२०

[3] आमुक्तमाल्यदा, ४/६८

[4] रामचंद्रिका, १३/१६

[5] अ० म० क०, पृ० ६७

[6] सू० सा०, पद ३६२४

[7] आमुक्तमाल्यदा, ४/१२७

गिरा। और वहाँ से उनकी आँखों में आ गया। वे पक्षी घोंसले की लकड़ियों पर अपने पैरों को छाती से लगाये थर-थर काँप रहे हैं और उनके पंख हिलडुल नहीं पा रहे हैं।[१] तेलुगु साहित्य के ये कतिपय उदाहरण यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त हैं कि वर्षा के वर्णन में उक्ति-वैचित्र्य की विपुल संपत्ति कवियों ने व्यय की है। हिन्दी भक्त-कवियों ने उक्तियों के इस वैविध्य को अपने काव्य में स्थान नहीं दिया। यह वर्णन की शास्त्रीय पद्धति कही जा सकती है। केशव ने उक्तियों का वैविध्य कुछ रखा है।[२] पर परिमाण की दृष्टि से वह तेलुगु कवियों के समान नहीं हैं। केवल शैली की एक प्रवृत्ति-विशेष के पालन का साम्य अवश्य है।

शरत्—शरत् के संबंध में कुछ आभास रास के प्रसंग में पीछे दिया जा चुका है। यहाँ केवल शरत्-ऋतु-वर्णन की शैली को देखना ही अभीप्सित है। तुलसी और सूर ने सर-सरिता के उज्जवल होने, कमलकुल के प्रफुल्लित होने और आकाश तथा चंद्रमा के उज्जवल होने का उल्लेख किया है।[3] तुलसी ने यहाँ भी नीति कथनवाली उपदेशात्मक शैली को ग्रहण किया है। सूर ने चाँदिनी और चंद्रमा को विरहिणियों को जलाने वाले कहा हे।[४] ऋतु की स्वच्छता को कृष्णदेवराय ने कुछ और अलंकृत शैली में व्यक्त किया है :—वर्षाकाल में सूर्य और चंद्र रूपी दर्पण म्लान हो गये थे। इसलिये शरत-सुन्दरी ने पुष्प-पराग की विभूति से उनको स्वच्छ करने का उद्योग किया है।[५] सूर की भाँति पोतना ने विरह के संदर्भ में यों वर्णन किया है :—कुमुद कामबाणों के समान प्रतीत होते हैं। चकोर पंक्तियों के भोग-क्षण अत्यंत पीड़ा पहुँचाते हैं। शरदातप से समस्त दिशायें ज्वलित प्रतीत होती हैं।[६] विरहिणियों के लिये शंबरांतक विष्णुचक्र के समान घातक प्रतीत होता है।[७] पोतना ने एक स्थान पर यथार्थ और विवरणात्मक वर्णन दिया है जो हिन्दी के कवियों में प्रायः नहीं मिलता।[८] अधिकांश विरह के संदर्भ में ही दोनों क्षेत्र के कवियों ने शरत् का निरूपण किया है।

[१] आमुक्तमाल्यदा, ४/११८

[२] रामचंद्रिका, १६/१२-१७

[3] (क) सू० सा०, पद ३९६२; (ख) रा० च० मा० किष्किंधा, १५/२,३

[४] सू० सा०, ३९६३

[५] आमुक्तमाल्यदा (चतुर्थ आश्वास); ऋतु की स्वच्छता के लिये और [illegible] है—
अ० म० क०, पृ० ६७ तथा रामाभ्युदय ६/३४

[६] ते० भा०, १० पू०/९६३

[७] वही, १० पृ०/९६६

[८] वही, १० पृ०/९६५

वर्षा की भाँति शरत् के सम्बन्ध में उक्ति-वैविध्य प्राप्त नहीं होता। कहीं-कहीं शरत् को सुन्दरी के समान अवश्य चित्रित किया गया है। केशव ने कुंद के समान दंतावलि वाली, चन्द्रमुख वाली, अलिकुंतला, धनुष के समान भौंहों वाली, लाल-कमलों के हाथ-पैर वाली, चाँदनी का अंगराग लगाई हुई एक सुन्दरी के रूप में शरत् का चित्रण किया है।[1] पोतना ने तो शरत् को सुन्दरी नहीं माना। पर प्राचीदशा रूपी वधू-ललाट पर राका-शशि के द्वारा कुंकुम लगाने का उल्लेख किया है।[2]

इस विवेचन का सारांश यह है कि उभय क्षेत्रों के कवियों ने वर्षा की अपेक्षा शरत् का विस्तार कम किया है। दूसरी बात यह है कि मुख्यतः उसको विरहोद्दीपक सामग्री के रूप में ही ग्रहण किया है। ऋतु की स्वच्छता और शुभ्रता का वर्णन स्वच्छंद रूप से मिलता है। केशव तथा कुछ तेलुगु कवियों ने शरत्-वर्णन को उक्ति-वैचित्र्य से विभूषित किया है।

वसंत—वसंत साहित्य में प्रमुख स्थान पा जाता है। संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों में इसका वर्णन होता है। काम-सहायक के रूप में इसकी मान्यता रही है। इसीलिए रसराज शृंगार की उद्दीपन सामग्री ऋतुराज में पर्याप्त मात्रा में रहती है। तेलुगु और हिन्दी कवियों ने वसंत का अभिनन्दन किया है। हिन्दी कवियों की अपेक्षा तेलुगु कवियों का वर्णन विशद है। सूरदास जी ने होली की पृष्ठभूमि में वसंत का चित्रण किया है। तुलसी ने वसंत-वर्णन कामदहन के प्रसंग में रखा है। विद्यापति ने स्वतंत्र रूप से वसन्त का विस्तृत वर्णन किया है। सूर ने ऋतुराज के प्राकृतिक पक्ष का संक्षिप्त-रूढ़ विवरण दिया है। वसंत प्रेरित शृंगार-भावना से संयुक्त मानवीय केलिकलाप पर उन्होंने अधिक पदों की रचना की है। तुलसी का वर्णन अत्यन्त सामान्य है। इसके विपरीत तेलुगु कवियों ने वसंत के प्राकृतिक उपकरणों को पर्याप्त विस्तार दिया है। होली का प्रसंग वसंत के साथ तेलुगु में स्थान न पा सका। वसंत-प्रेरित शृंगार-भावना का प्रस्तुत-अप्रस्तुत वर्णन तो वसंत के साथ संलग्न है। पर इसकी पृष्ठभूमि में समस्त केलिकलापयुक्त लीलाओं का अधिक बल नहीं दिया गया है।

नीचे इस वर्णन के प्रमुख अवयवों का संक्षिप्त तुलनात्मक परिचय प्रस्तुत है :—

प्राकृतिक-पक्ष—प्राकृतिक पक्ष में शिशिर की समाप्ति की सूचना आरम्भ में दी जाती है। विद्यापति ने लिखा है कि वादी वसंत से प्रतिवादी शीत भयभीत होकर शिशिर की ओस-बूँदों में जा छिपा।[3] शिशिर-पीड़िता दिग्वधू के गर्भिणी

[1] रामचंद्रिका, १३/२४, २५
[2] ते० भा०, १० पू०/९३५
[3] विद्यापति की पदावली, (वसंत वर्णन), पद ७

होने का वर्णन रामाभ्युदय में मिलता है।[१] विद्यापति ने एक रूपक के द्वारा स्पष्ट किया है कि वसंत ने मधुमक्खियों का सैन्य सजाया और शिशिर ऋतु का सैन्य-विघटन कर दिया।[२] इसके पश्चात् वासंती बयार आती है। तुलसी ने शीतल-मन्द-सुगंध समीर को काम की अग्नि के सखा के रूप में वर्णन किया है।[३] विद्यापति ने भी दक्षिण के मलय पवन को काम का साधन कहा है। यह पवन मानवती के मान का खंडन कर देता है।[४] यह मलयानिल पुष्पराग से मदमत्त हो गया है।[५] मलयानिल ने वसन्त विजय की सूचना भी दी है।[६] रामभद्र कवि ने मलय पवन का विस्तृत वर्णन किया है। दक्षिण दिशा रूपी वधू ने मलय-पवन को जन्म दिया। वनलक्ष्मी ने उसका पालन-पोषण किया। भ्रमरों ने लोरियाँ गाईं। लताओं के झूलों में वह झूला। पुष्पराग-मकरन्द से उसने क्रीड़ा की। वसंत की आज्ञा से नवमलय-पवन मन्द-मन्द गति से चल पड़ा।[७] बालक का यह रूपक विद्यापति ने मलय-पवन के साथ तो नहीं, पर वसंत के साथ बाँधा है। कमल का पराग वसंत-शिशु पीता है, धमरी गीत गाती है। बालक वसंत तरुण होकर समस्त संसार में विचरण करने लगता है।[८]

वसंत-वर्णन के साथ कुछ पक्षियों का भी उल्लेख रूढ़ रूप से रहता है। सूर ने इन पंक्षियों का उल्लेख किया है—कोकिल, कीर, मधुकर[९], केकी, कोक, कपोत।[१०] तुलसी ने केवल कलहंस, पिक, शुक, भ्रमर का उल्लेख किया है।[११] मडिकिसिंगना ने कोकिल, शुक, और भ्रमर का उल्लेख किया है।[१२] रामभद्र ने मयूर को भी सम्मिलित किया है।[१३] विद्यापति ने वसन्त की सेना मधुमक्षिकाओं को रखा है।[१४] दो-एक को छोड़कर तेलुगु और हिन्दी के कवियों में नाम

[१] रामाभ्युदयमु, १/१६३
[२] विद्यापति की पदावली (वसंत वर्णन), पद २
[३] रा० च० मा० (बाल०). ८५/५
[४] विद्यापति की पदावली (वसंत वर्णन), पद ७
[५] वही, पद ८
[६] वही, पद १३
[७] रामाभ्युदयमु १/१६४
[८] विद्यापति की पदावली, (वसंत वर्णन), पद १
[९] सू० सा०, पद ३३६२
[१०] वही, पद ३४७२
[११] रा० च० मा० (बाल०), ८५/५
[१२] द्विपद भागवत, पृ० १६२-१६३
[१३] रामाभ्युदयमु, १/१६२
[१४] विद्यापति की पदावली (वसन्त वर्णन), पद २

समान हैं। इनमें से भी दोनों क्षेत्र के कवियों ने शुक-पिक-भ्रमर का सर्वाधिक वर्णन किया है।

पक्षियों के अतिरिक्त लतावृन्दों का वर्णन भी वसन्त का प्रमुख भाग है। विद्यापति ने इन लता-वृक्ष और पुष्पों का वर्णन किया है— धतूरा, नागेसर की कली, कमल, कदम्ब, पलाश, पीठल, चम्पा, आम्रमञ्जरी, कुंदवल्ली, पाटल, अशोक, लवंगलता।[१] सूर ने पाटल, केतकी, मालती, चम्पा, कुन्द[२], पलाश, तमाल, आम्र[३] जुही आदि का उल्लेख किया है। मडिकिसिंगना ने इन लता-वृक्ष-पुष्पों का वर्णन किया है—चामन्ती, सिंधुवारमु, पोगडलु, अशोक, तिलक पाटल, संपंगि।[४] रामाभ्युदय की सूची इस प्रकार है—कमल, किंशुक[५] आदि। इन सूचियों को देखने से प्रतीत होता है कि तेलुगु कवियों की सूची कुछ स्थानीय विशेषता रखती है। चामंती, संपंगि जैसे नाम इसके प्रमाण हैं। लता-वृक्षादि के वसन्त में विविध उपयोगों का उल्लेख विद्यापति में भी है। वनस्पतियाँ वसंत-शिशु की धाय हैं।[६] रामाभ्युदयकार ने भी मलय-शिशु की धाय के रूप में वनलक्ष्मी का वर्णन किया है। पुष्पों के वन्दनवार, पांडरी के गीत, धतूरे की तुरही, नागेश्वर की शंखध्वनि, पद्मनाल का कटिसूत्र, केशर का बघनखा, पलाशों का जन्मपत्र लिखना, किसलय और पुष्परस का उबटन, मंजरी की माला[७] पीथल का आसन, चम्पा का छत्र, आम्रमञ्जरी का किरीट, कुन्दवल्ली की पताका, पाटल का कर्कश, अशोक पत्रों के बाण, पलास पत्रों का धनुष, और लवंगलता की डोरी[८] आदि रूपकों का विद्यापति ने प्रयोग किया है। रामभद्र कवि ने रूपक-योजना इस प्रकार रखी है :—लाल खोंपले रत्न, वन रूपी वधू, विभिन्न लता रूपी आभूषण, पल्लव रूपी अधर, अलिकुल रूपी केश, हरियाली के पौधे रूपी हर्षपुलक अंगृकपुष्प रूपी साड़ी, विरह-दैत्य के दंष्टों के समान किंशुक, नूतन पल्लव रूपी बाण, तरुपंक्तियाँ रूपी वीर-सेना।[९] विस्तार में अधिक न जाकर यह कहा जा सकता है कि वनस्पतियों का रूपकात्मक प्रयोग दोनों क्षेत्रों के कवियों ने किया है।

[१] विद्यापति की पदावली, (वसन्त वर्णन) पद १-२
[२] सू० सा०, पद ३४६३
[३] वही, पद ३६६८
[४] द्विपद भागवत, पृ० १०२-१०३
[५] रामाभ्युदय, पृ० २३-२४
[६] विद्यापति की पदावली (वसन्त-वर्णन) पद १
[७] वही, १
[८] वही, पद २
[९] रामाभ्युदयमु, पृ० २३, २४

विद्यापति इस क्षेत्र में अग्रगण्य प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार पक्षियों का भी आलंकारिक प्रयोग मिलता है।

कोकिला—सूर में यह वसंत के आगमन की सूचना देती है[१] और वसंत-पत्र का वाचन भी करती है।[२] कहीं पर यह बंदीजन की भाँति कामदेव की प्रशंसा करती है।[३] कहीं कोकिला कुलवधू की भांति गीत गाती है। विद्यापति की कोंकिल कभी वसंत का नामकरण करती है।[४] कहीं वह मंत्र पढ़ा रही है[५] और शीत तथा वसंत के अभियोग में साक्षी भी देती है।[६] कभी वह कामदेव के संसार पर नवीन आधिपत्य की घोषणा करती है।[७] मडिकि सिंगना ने वसन्तागम के समय कोयल से यह कार्य कराया है :—वह विरहियों के मन की पीड़ा को व्यक्त करती है और प्रेमी-युग्मों को वसन्तागम को सूचित करती हुई कहती है कि तुम मिले रहो, अन्यथा मदन सेना सहित आकर ध्वंस कर देगा।[८] रामभद्र कवि ने भी कोकिल के स्वर में विरहियों की पीड़ा देखी है।[९]

भ्रमर और शुक—रामाभ्युदय में भ्रमर मलय-शिशु की लोरी गाता है।[१०] मडिकिसिंगना ने भ्रमर और भ्रमरी के गान में दांपत्य-गीत की ध्वनि सुनी है।[११] विद्यापति ने भ्रमर के द्वारा वसंत का पालना-गीत गवाया है।[१२] एक स्थान पर भ्रमरियाँ मंगलगान कर रही हैं।[१३] भ्रमरी वसंतोत्सव में 'घुम-घुम' कर बुलावा भी देती है।[१४] भौंरा दूत बनकर माननियों के मान की खोज भी करता है।[१५] अलिकुल की भीड़ से दिन में अंधेरा छा जाता है।[१६] सूर ने भ्रमर की मणिमाला का उल्लेख

[१] सू० सा० पद ३४६२
[२] वही, पद ३४६४
[३] वही, पद ३४६५
[४] विद्यापति की पदावली (वसंत-वर्णन) पद १
[५] वही, पद ४
[६] वही, ७
[७] वही, पद ८
[८] द्विपद भागवत, पृ० १६२-१६३
[९] रामाभ्युदय, १/१६१
[१०] वही, १/१६३
[११] द्विपद भागवत, पृ० १६३
[१२] विद्यापति की पदावली (वसन्त-वर्णन) पद १
[१३] वही, पद ४
[१४] वही, पद ६
[१५] वही, पद ८
[१६] वही, पद ९

भी किया है।[1] मडिकि सिंगना के अनुसार शुक मन्मथ की त्रिलोकविजय के अवसर पर मंत्रपाठ करते हैं।[2] शुकों के तोरण बने होने का वर्णन रामभद्र कवि ने किया है।[3] सारिकायें विरहिणियों की विरह-वेदना को भी अपनी बोली से व्यक्त करती हैं।[4] सूर का शुक वसंत पत्रिका का वाचन करता है।[5]

वसंत का समग्र वर्णन—दोनों ही क्षेत्रों के कवियों ने सांगरूपक के द्वारा वसंत का समग्र वर्णन भी किया है। विद्यापति ने वसंत के समग्र वर्णन में वसंत का जन्म[6], वसंत-सेना[7], वसंत का विवाह[8], वसन्त और शीत का अभियोग[9] के लंबे-लंबे रूपक दिये हैं। रामभद्र ने भी प्रकृति-वधू का वसंत समागम और कृषक के रूपक द्वारा वसंत का वर्णन किया है।[10] जहाँ तक वसंत के प्रभाव का सम्बन्ध है संयोग और वियोग में इसका भिन्न प्रभाव दिखाया गया है। विरहिणियों को वसंत-सामग्री जलाने वाली होती है। यह तथ्य हिन्दी और तेलुगु दोनों ही कवियों में समान रूप से मिलता है। हिन्दी-कवियों ने इन सामान्य प्रभावों के साथ-साथ मानिनियों पर वसन्त के प्रभाव का विशेष उल्लेख किया है। सूर ने एक पत्र के रूपक के द्वारा यह कहा है कि वसंत ने मानिनियों के पास मान छोडने के लिये पत्र लिखा।[11] एक स्थान पर वसन्त से पुष्ट कामदेव मान के द्वन्द्व का खंडन कर रहा है।[12] विद्यापति ने भी मानमोचन के सम्बन्ध में वसन्त के प्रभाव का उल्लेख किया है। सारांश यह है कि वसन्त का वर्णन दोनों क्षेत्रों के कवियों को प्रिय रहा। दोनों ही क्षेत्रों में परिगणन-शैली का प्रयोग किया गया है। शुक-पिक आदि पक्षियों और लता-द्रुमों की सूची हिन्दी कवियों में कुछ लम्बी है। पर लता-द्रुमों के वर्णन में तेलुगु कवि एक स्थानीय वैशिष्ट्य का परिचय देते हैं। प्रभाव की दृष्टि से संयोग और वियोग सम्बन्धी प्रभाव दोनों में समान हैं। मान-पक्षीय प्रभाव का कथन हिन्दी-कवियों की विशेषता है। सूरदास के वसन्त का पर्यवसान होली सम्बन्धी विविध

[1] सू० सा०, पद ३४६३
[2] द्विपद भागवत, पृ० १६३
[3] रामाभ्युदयमु, १/१६६
[4] (क) वही, १/१६१; (ख) द्विपद भागवत, पृ० १६२
[5] सू० सा०, पद ३४६४
[6] विद्यापति की पदावली (वसन्त वर्णन), पद १
[7] वही, पद २
[8] वही, पद ४
[9] वही, पद ७
[10] रामाभ्युदयमु, १/१६६ तथा १/१६८
[11] सू० सा०, पद ३४६४
[12] वही, पद ३४६५

लीलाओं में हो जाता है। यह लीला-प्रसंग न विद्यापति में है, न तेलुगु कवियों में है। अन्य ऋतुओं का वर्णन इनकी अपेक्षा दोनों क्षेत्रों में कम ही मिलता है। तथापि अन्य ऋतुओं का वर्णन तेलुगु कवियों का हिन्दी कवियों से अधिक है।

सूर्योदय

सूर्योदय का वर्णन केशव और पोतना ने दिया है। सामान्य रूप से यह वर्णन अन्य कवियों में भी मिलता है। केशव और पोतना के वर्णन को कुछ विस्तार से देखा जा सकता है। केशव के वर्णन ये हैं :[1]— सूर्योदय से कुमुदिनी और चकोर त्रस्त हुए। कवि ने अरुण-सूर्य को कमल, चक्रवाक के हृदय का प्रेम, सिन्दूर-मंडित मंगल-घट, इन्द्रछत्र, कापालिक का कपाल और दिग्वधू का मस्तक-माणिक्य के उपमानों से सिद्ध किया और सूर्य की किरणें जैसे कुमुदिनी को पकड़ने के लिये हाथ हैं और कमलिनी का स्पर्श करने के लिये भी ये फैले है। तारे और चकोर किरणजाल में फँसने के भय से भाग गये। लाल-सूर्य बडवाग्नि के समान दीखता है। धूप सूर्य से चूर्ण हुई पद्मराग-मणियों की धूल है। सूर्य बंदर है। आकाश रूपी वृक्ष पर वह चढ़ गया है और उसको हिलाकर तारे रूपी पुष्पों को गिरा दिया है। इस वर्णन में कवि की अलंकार-प्रियता ही विशेष रूप से द्रष्टव्य है। पोतना ने सूर्योदय के पूर्व तारों के सम्बन्ध में एक शृंगारिक उक्ति कही है। अरुण-सूर्य ने तिमिर-सुन्दरी के कुंभ-स्थलों पर नखक्षत किया है। इससे उसका मुक्ताशृंगार झर गया है।[2] आगे अपनी अलंकार-प्रियता का परिचय देते हुए पोतना ने उपमानों की एक लड़ी लगा दी है।[3] उपमानों की सूची यह है :—बालक के पालने में लटका हुआ लाल कंदुक, काल-पुजारी के हाथ का घंटा, सुवर्णकुंभ[4], पश्चिम दिशा सुन्दरी का दर्पण, ताप को दूर करने वाला गुटिका, पद्मिनियों का पुण्य-फल, त्रिमूर्तियों का मिश्रित साकार रूप।[5] उपमान-विस्तार केशव से भिन्न भी है और विस्तृत भी। पर अलंकार-प्रियता की प्रवृत्ति दोनों में समान है। आगे सूर्योदय के प्रभाव का वर्णन है। इसमें पोतना ने सूर्योदय से प्रसन्न होने वाले कमल और भ्रमर का तो वर्णन किया है[6], पर दुखी होने वाले चकोर और कुमुदिनी का नहीं। केशव ने प्रभाव-वर्णन में दोनों ही पक्षों को स्पष्ट किया है। तुलसी ने भी अरुणोदय के समय कुमुदों के संकुचित होने, तारों के मलीन होने, कमल-चकवे और भौरों के हर्षित होने का

[1] रामचन्द्रिका ५/६–१४

[2] ते० भा०, १० पू०/१३०२

[3] वही, १० पू०/१३०३

[4] यह केशव के मंगलघट से तुलनीय है।

[5] ते० भा०, १० पू०/१३०३

[6] वही, १० पू०/१३०४

वर्णन किया है।[१] आगे अलंकार-प्रियता का परिचय न देकर तुलसी ने लक्ष्मण के द्वारा सूर्योदय के ब्याज से राम के प्रताप का कथन कराया है।[२]

चन्द्रोदय

तुलसी ने सीता-स्वयंवर से पूर्व चन्द्रोदय का वर्णन किया है। चन्द्रमा को देखकर राम को सीता का स्मरण हो जाता है और उसे सीता के मुख के उपमान बनने के योग्य सिद्ध करने में लग जाते हैं।[३] इस प्रकार तुलसी इस वर्णन को राम की मनोस्थिति से सम्बद्ध कर देते हैं। चन्द्रोदय से पूर्व पोतना ने सूर्यास्त का वर्णन किया है। सूर्य रूपी आखेटक अन्धकार रूपी गजों को पकड़ने के लिये तारे रूपी अंकुर बिखराकर स्वयं पश्चिम में छिप गया है।[४] विजयलक्ष्मी ने बूढ़े सूर्य को धक्का देकर नवीन चन्द्र में अपनी आसक्ति व्यक्त की है।[५] उसको देखकर कमलिनियों ने अनन्य सूर्य-प्रेम का संकल्प प्रदर्शित किया।[६] सूर्यास्त के पश्चात् कवि ने अलंकृत शैली में नवोदित चन्द्रमा का वर्णन किया है। यह प्राचीवधू के ललाट का सिन्दूर-बिन्दु है। विरहियों के धैर्य की परीक्षा लेने के लिये मन्मथ का का चक्रायुध है। काल-किरात ने अंधकार-मृग का वध करने के लिये खड्ग उठाया है। अथवा गगनतरु पर नवकिसलय का अरुण संभार ही है।[७] इसके पश्चात् चन्द्रोदय के प्रभाव का यथार्थ वर्णन है। तुलसी के चन्द्रोदय-वर्णन की शैली से इस वर्णन की तुलना नहीं की जा सकती है। केशव ने भी चन्द्रोदय-वर्णन किया है। अलंकृत शैली की दृष्टि से केशव ही पोतना के समकक्ष आते हैं। पोतना ने जहाँ यथार्थ विवरण दिया है वहाँ केशव ने अलंकार-चमत्कार के साथ ही इसे समाप्त कर दिया। राम और सीता दोनों ही चन्द्रमा को देखकर भिन्न प्रकार की कल्पना करते हैं।[८] पोतना से मिलती-जुलती एक कल्पना यह है कि यह कामदेव का छत्र है। इससे वियोगीजनों के प्राण विदीर्ण होते हैं।[९] शेष उपमान इस प्रकार हैं :—फूलों की गैन, रति का दर्पण, कामराज का आसन, सूर्य की स्त्री के द्वारा असावधानी से छोड़ा हुआ मुक्तागुच्छ, तारा को साथ लिये वालि, आकाश-गगा का पुंडरीक, आकाश-सागर का बाघ, आकाश-गंगा का हंस, आकाश-सागर का हंस, क्षीरसिन्धु की

[१] रा० च० मा० (बाल०), दोहा २३८/१
[२] वही, दोहा २३८/१,२,३
[३] वही, २३६/४–२३७/२
[४] तें० भा०, १० पू०/१२८७
[५] वही, छन्द १२८८
[६] वही, छन्द १२८९
[७] वही, १० पू०/१२९५
[८] रामचन्द्रिका, ३०/४१–४६
[९] वही, ३०/४३

शेषसेय्या आदि। इस प्रकार केशव की वर्णन-शैली की प्रवृत्ति तेलुगु-कवियों के यहाँ भी समान है।

ऊपर प्रमुख वर्णनों के विस्तार और वर्णन-शैली पर दृष्टिपात किया गया है। और भी अनेक वर्णन यत्रतत्र बिखरे पड़े हैं। जैसे केशव के जौनार के समय की गाली, राम का नखशिख (छटवाँ प्रकाश), सीतामुख-वर्णन (९वाँ प्रकाश) भरद्वाज आश्रम का वर्णन (२० प्रकाश), नखशिख-वर्णन (३१ वाँ प्रकाश) आदि तेलुगु कवियों में भी इसी प्रकार के अनेक वर्णन मिलते हैं।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि हिन्दी के कवियों ने वस्तु या वस्तु-स्थिति के विस्तृत या चमत्कारपूर्ण वर्णनों में विशेष रुचि नहीं ली। केवल केशव ने संस्कृत से प्रभावित होने के कारण वर्णनों को विशद बनाने की चेष्टा की है। पर इनका विशदीकरण तेलुगु कवियों से भिन्न है। केशव ने संदेह, भ्रांतिमान या रूपक के सहारे वर्णन के अप्रस्तुत पक्ष अथवा अलंकार नियोजन पर बल दिया है। उन्होंने वर्णन पर इतना ध्यान नहीं दिया है। इसके विपरीत तेलुगु कवियों ने वस्तु-विस्तार और अलंकार-विस्तार दोनों को ही समान महत्व दिया है। जहाँ शैली को उन्होंने अलंकृत बनाया है तथा नवीन और रूढ़—दोनों ही उपमानों से काम लिया है वहाँ यह शैली-विधान केशव के समान ही है। कभी केशव की उपमानों की संख्या बढ़ जाती है और कभी तेलुगु कवियों की। वस्तु-विस्तार में तेलुगु-कवि शास्त्राभ्यास और निरीक्षण-दोनों का ही उपयोग करते हैं। तेलुगु कवियों की एक और विशेष प्रवृत्ति है। वर्णनों में जहाँ कहीं स्त्री या वेश्या आ जाती है, वहाँ वे मूल वर्णन के साथ स्त्री के शृंगार-वर्णन को भी निबद्ध कर देते हैं। साथ ही उपमानों की खोज में भी शृंगार-रुचि की प्रेरणा बनी रहती है। तेलुगु कवियों में भी अष्ट-दिग्गज वर्ग के जो कवि हैं उनमें वर्णनों का प्राचुर्य भी अधिक है और वर्णनों के अलंकार-पक्ष का अधिक प्रसार भी। इन कवियों में अलंकारपक्ष के अधिक प्रसार से वस्तुविस्ता-रपक्ष शिथिल पड़ जाता है। पोतना में वस्तु और शैली का संतुलन मिलता है। केशव के अतिरिक्त हिन्दी के अन्य भक्तकवि वर्णनों के प्रभाव पर अधिक बल देते हैं। अलंकार की शैली और वस्तु-विस्तार उनको अधिक आकर्षित नहीं करते।

प्रकृति के उपकरणों के माध्यम से रूप-वर्णन

आलोच्य युग में भगवान की प्रत्यक्ष भावना मिलती है। इसलिये साहित्य में प्रकृतिवाद को अधिक स्थान नहीं मिला। पर प्रत्यक्ष भगवान की रूप-सौंदर्य-योजना में प्रकृति के उपकरणों का सहारा लिया गया है। भक्ति-कवि को "अपने आराध्य के व्यक्तित्व में जिस सौंदर्य का अनन्त दर्शन होता है उसमें प्रकृति का सारा सौंदर्य अपने आप प्रत्यक्ष हो उठता है······;प्रकृतिवादी दृष्टि की तुलना रूप-सौंदर्य तक ही सीमित नहीं है, वरन् प्रकृति-चित्रण में प्रतिबिम्बित आह्लाद और उल्लास की

भावना से भी की जा सकती है।"[1] रामभक्त कवि सौंदर्य के साथ शील और शक्ति को भी समाविष्ट करते हैं। सूर के विनय सम्बन्धी पदों में भी यही बात मिलती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि शुद्ध सौंदर्य और शील सौंदर्य के समन्वित चित्र दोनों क्षेत्रों के कवियों में मिलते हैं। उदाहरण के लिये गजेन्द्र मोक्ष के प्रसंग में पोतना के विष्णु को लिया जा सकता है। सूर[2] और तुलसी[3] में भी ऐसे चित्र पर्याप्त हैं। माधुर्य भावना के आलंबन के रूप में भगवान के सौंदर्य की कल्पना ही प्रमुख है। इस सौंदर्य की कल्पना में 'प्रकृति के अनन्त रंग-रूप, उसकी सहस-सहस स्थितियाँ, उपमानों की आलंकारिक योजना में रूप को सौंदर्य दान करती है।"[4] यह अलंकृत वर्णन भक्तों के आराध्य का रहा। यह सौंदर्य कभी स्थिर उपमानों के द्वारा व्यक्त किया जाता है और कभी गतिमय उपमानों के द्वारा। इन सभी चित्रों का न्यूनाधिक प्रयोग दोनों क्षेत्रों के कवियों ने किया है। कभी रूप-सौंदर्य को असीम बनाने के लिये कवि दिव्य उपमानों का प्रयोग करता है; जैसे—काम, रति, कल्पवृक्ष, शचि आदि। कभी अलौकिकता की स्थापना के लिये इष्ट में ही प्रकृति के समस्त रूपों की स्थिति प्रदर्शित की जाती है। दोनों ही क्षेत्रों के राम और कृष्ण प्रकृति-नियंता के रूप में प्रकट होते हैं। कृष्ण के मुख में दोनों ही क्षेत्रों की यशोदायें समस्त प्रकृति-प्रसाद का दर्शन करती हैं। यह विराट-रूप की योजना है। यहाँ केवल इतना ही कहना अपेक्षित है कि इष्ट के रूप के आदर्श के स्थिर, गतिशील, दिव्य, अलौकिक, विराट—सभी पक्षों का उद्घाटन कवियों ने बहुधा प्रकृति के माध्यम से किया है। इनमें प्रकृति को केवल उपमान कहकर नहीं टाला जा सकता। उपमानों का चुनाव साधना और भावना के अनुकूल ही होता है। तेलुगु कवियों में काव्यगत आध्यात्मिक साधना का अभाव है, इसलिये उपमानों के चुनाव में काव्यत्व अधिक रहता है और साधना की अनुभूतियों के संकेत कम। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक रूप वर्णन के पौराणिक और अलौकिक या दार्शनिक विस्तार की ओर तेलुगु कवियों का विशेष आकर्षण है। हिन्दी कवि इष्ट के रूप को केन्द्र में स्थापित करके भावना की झाँकियों को प्रकृति से पुष्ट करता है। प्रकृति के आधार पर खड़ा हुआ इष्ट का रूप उसकी भाव-समाधि का ध्यान केन्द्र बन जाता है। साधना का यह छायातप तेलुगु कवियों में नहीं मिलता। वैसे मोटे रूप से देखने पर प्राकृतिक उपमानों की योजना समान ही दिखलाई पड़ती है।

[1] प्रकृति और काव्य—डा० रघुवंश, पृ० १९४

[2] सू०सा०, १/८, ३६ आदि

[3] विनयपत्रिका, पद ४५ आदि

[4] प्रकृति और काव्य—डा० रघुवंश, पृ० १९६

७. ८. निष्कर्ष

हिन्दी और तेलुगु—दोनों ही क्षेत्रों के कवि सिद्धांतः भावपक्ष पर ही अधिक बल देते थे। कलापक्ष केवल एक माध्यम था जिसके विषय में यह विश्वास था कि भक्ति-भाव कलापक्ष का भी संस्कार कर सकता है। काव्य के प्रति इस दृष्टिकोण के होते हुए भी कलापक्ष में कुछ अंतर मिलता है। आलोच्य-युग का हिन्दी कवि कलापक्ष की उन ऊँचाइयों तक प्रायः नही पहुँच पाया जिन तक तेलुगु कवि पहुँच गया था। किसी-किसी तेलुगु कवि में कलापक्ष ही प्रमुख दिखलाई पड़ता है। इसका कारण यह है कि तेलुगु क्षेत्र की पृष्ठभूमि में राज्याश्रय और अव्यक्त रूप से राजरुचि हैं। कुछ कवि जो राज्याश्रय से मुक्त हैं वे भी कला-साधना में हिन्दी कवियों की अपेक्षा अधिक बढ़े हुए हैं। क्योंकि तेलुगु के स्वच्छन्द कवि भी चाहे राज्याश्रय की उपेक्षा कर दें, पर युग की प्रवृत्ति और तत्कालीन माँग की उपेक्षा नहीं कर सकते थे। इसके विपरीत हिन्दी क्षेत्र का भक्त-कवि स्वच्छंन्द हैं और साहित्य उसकी भक्ति-साधना का एक माध्यम है। जब साहित्य भावोपासना का माध्यम बन जाता है तो कलापक्ष गौण ही होने लगता है। यह कथन तभी तक सत्य है जब तक कि कला के उत्कर्ष को हम शास्त्र पर आधारित अभिजात रुचि के प्रकाश में देखें। यदि कला की उत्कृष्टता हम भावों की सहज-सरल अभिव्यक्ति में मानें और उसके जन-जन व्यापी प्रभाव को ही मूल्यांकन की एक कसौटी समझें तो हिन्दी कवि भी कलापक्ष के सम्बन्ध में पिछड़े हुए नहीं कहे जायेंगे। इस दिशा में केवल यह कहना सत्य होगा कि शैली के उपकरणों और अन्य काव्यांगों के शास्त्रीय विधान में हिन्दी-कवि तेलुगु कवि के पीछे हैं। क्योंकि एकाध अपवाद को छोड़कर हिन्दी के कवि संस्कृत काव्य-शास्त्र और काव्य का मर्मज्ञ नहीं थे। संस्कृत के पुनरुत्थान और उसकी समस्त संपदा को भाषागत करने के उपाय हिन्दी क्षेत्र में इतने विशद रूप से नहीं हुए। इसीलिये हिन्दी कवियों के कलापक्ष में शास्त्रीयोपकरणों की अपेक्षा लोकतत्त्व प्रमुखता पाते रहे। शास्त्रीय उपकरण लोकतत्त्वों को उत्कर्ष देने के लिये माध्यम के रूप में आते थे। तेलुगु क्षेत्र में इसकी विपरीत स्थिति थी वहाँ लोकतत्व प्रायः नगण्य है। यही मूल अंतर है जो कलापक्ष के विभिन्न अंतरों के रूप में प्रतिबिम्बित होता है।

जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, ब्रजभाषा और तेलुगु में कोमलता और मधुरता सम्बन्धी पर्याप्त समानता है। स्वर और स्वरों में गोलीकृत स्वरों (जैसे "उ") की बहुलता भाषा की कोमलता का प्रधान आधार है। फिर भी तेलुगु का कवि संस्कृत-तत्सम-पदावली से इतना अभिभूत है कि व्यंजन भी कहीं-कहीं प्रमुख होने लगते हैं। तत्कालीन हिन्दी या ब्रजभाषा तत्समता की इस प्रवृत्ति से मुक्त हैं। इसीलिये संस्कृत पदावली की व्यंजन-बहुलता दिखलाई नहीं पड़ती। संस्कृत के शास्त्रीय युग के गद्यकारों और कवियों की विशेषण-बहुल सामासिकता तेलुगु को प्रिय है। यह सामासिकता हिन्दी के कवि को केवल स्तोत्र शैली में ग्राह्य है।

जहाँ तक अप्रस्तुत विधान का सम्बन्ध है, एक अंतर विशेष रूप से दृष्टिगत होता है। हिन्दी का कवि या तो रूढ़ उपमानों से काम लेगा या जीवन से सहज रूप में उपमान ग्रहण करेगा। रूढ़ उपमानों की दृष्टि से हिन्दी और तेलुगु के कवि समान हैं। तेलुगु कवि के अप्रस्तुत का दूसरा स्रोत पौराणिक साहित्य, मुख्यतः दशावतार-गाथायें हैं। हिन्दी कवि भी इस स्रोत का उपयोग करता है, पर तेलुगु कवि इस स्रोत से आगत सामग्री का जितना चमत्कारपूर्ण उपयोग करता है,[1] उतना हिन्दी कवि नहीं। तेलुगु कवि के अप्रस्तुत का तीसरा स्रोत कामशास्त्र, नारी का अंगांग सौंदर्य और नायक-नायिकागत शृंगार हैं। तेलुगु के कवि इस शृंगारिक स्रोत का इतना उपयोग करता है कि कलापक्ष शृंगारमय हो जाता है। युद्ध आदि के वर्णन में भी वह नारी की अंगदृष्टि को नहीं छोड़ता। हिन्दी के कुछ नीतिकार कवि तो शृंगारिक अप्रस्तुत के द्वारा नीति की शुष्कता को धोने का प्रयत्न करते हैं।[2] पर भक्त कवियों ने शृंगारिक अप्रस्तुत का उतना प्रयोग नहीं किया। हो सकता है कि भक्तिगत शृंगार के पारावार के प्रस्तुत रूप से संतुष्ट कवि अप्रस्तुत शृंगार की चिन्ता न करता हो। कृष्णभक्त कवियों ने शृगार की सभी छवियों का पूर्ण दर्शन किया था। शृंगार के अतिरिक्त जो भागवत-प्रसंग हैं, प्रायः उनको उसने अपनाया ही नहीं है। इसलिये अन्य प्रसंगों को शृंगारसिक्त करने की उसे आवश्यकता नहीं थी। तेलुगु-कवि मधुर-भक्ति के प्रसंगों के अतिरिक्त अन्य पुराणोक्त प्रसंगों को भी काव्यबद्ध कर रहा था। इन प्रसंगों को सरस और युग-रुचि के अनुसार अनुकूल बनाने के लिये उसे अप्रस्तुत शृंगार का सहारा लेना पड़ा। कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि अलंकार और अप्रस्तुत-विधान बहुत दूर तक हिन्दी और तेलुगु कवियों का समान है। आगे तेलुगु कवि का अप्रस्तुत-विधान अधिक पुराणोन्मुख और शृंगारिक होता जाता है।

[1] उदाहरण के लिये देखिये पांडुरंगमाहात्म्यमु, ३/१०३
इस छंद में कवि ने निगम शर्मा की चेष्टाओं की तुलना व्यंजना से भगवान विष्णु के दशावतारों से की है :—

वह पलक न गिराकर एकटक दूसरों को देखता था (मत्स्यावतार सूचित), सिर झुकाकर दुःखसागर में डूब जाता है (कूर्मावतार सूचित); भिखारी की भाँति दान की याचना करता है (वामनावतार सूचित); वह अपनी पत्नी का नाम ले-लेकर विरह विह्वल हो जाता है (राम ने भी सीता के लिये ऐसा ही किया था)— आदि ; और भी द्रष्टव्य हैं; वही, १/६६

[2] इस दृष्टि से रहीम का यह दोहा द्रष्टव्य है :—

"कहे रहीम सुख होत है बढ़ो देखि निज गोत।
ज्यों बड़री अंखियानु लखि आँखिन को सुख होत।।"

छंद-प्रयोग तो हिन्दी और तेलुगु कवियों का भिन्न है ही। जिस प्रकार भक्तिभाव की सरलता अन्य आध्यात्मिक साधनों पर विजय प्राप्त करती है। उसी प्रकार शैली की छदगत सरलता जटिलता पर भी हिन्दी क्षेत्र में विजय प्राप्त करती है। एक तो ब्रजभाषा रूप की दृष्टि से वर्णवृत्तों के कम ही अनुकूल है, यद्यपि केशव ने ब्रजभाषा में सभी छंद प्रस्तुत किये हैं। दूसरे, भाव-साधना के क्षणों में कलासाधना अंतर्मुख होकर उसके साथ ऐक्य स्थापित कर लेती हैं। जटिल छंद-विधान न आवश्यक रह जाता है और न उसके लिये अवकाश ही रहता है। तेलुगु कवि ने वर्णवृत्तों का अधिक प्रयोग किया है क्योंकि उसे अवकाश था। इसीलिये उसका काव्य एक संस्कृत और उन्नत वर्ग के लिये ही हो गया। देशी छंदों की भी प्रतिक्रिया प्रबलरूप से तेलुगु क्षेत्र में मिलती है। गेय पदों की रचना में हिन्दी-साहित्य आगे बढ़ा हुआ है। संगीत और काव्य का यह समन्वय तेलुगु में केवल अन्नमाचारी में मिलता है।

तेलुगु कवियों की एक और विशेषता है—वर्णनों का वैविध्य और उनकी पूर्णता। हिन्दी कवि वर्णन वहीं देता है जहाँ भाव का आग्रह है। मात्र शास्त्रीय औपचारिकता उसे वर्णन में प्रवृत्त नहीं कर सकती। तेलुगु कवि वर्णनों की शास्त्रीय परंपरा से परिचित होने के कारण अवसर उपस्थित होते ही दीर्घ वर्णनों को अलंकृत शैली में वह देने लगता है।

अष्टम अध्याय

उपसंहार

तुलना जीवन की एक बौद्धिक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया से एक विश्लेषणात्मक पद्धति जन्म लेती है। मोटे रूप से हमें तुलना से दो सूचियाँ प्राप्त होती हैं। समानताओं की और विषमताओं की। तुलनात्मक अध्ययन में इन सूचियों को (सांख्यिक और प्रयोगात्मक पद्धति से) पूर्ण बनाकर शोधार्थी सन्तुष्ट हो सकता है। यदि पूर्णतः वस्तुन्मुख रहकर इन सूचियों को पूर्ण बनाने की पद्धति से विशेष लगाव न होने के कारण अध्येता उसके आध्यात्मिक पक्षों की ओर चलता है तो उन्हें सूचियों के कारणभूत रूपों का दर्शन होगा। कारणों में सामाजिक सम्पर्क, सांस्कृतिक एकता तथा स्रोतगत एकता की या इनके वैभिन्य की वस्तुन्मुख व्याख्या करके भी सन्तुष्ट रहा जा सकता है। मनोवैज्ञानिक पद्धति से इनके मानसिक कारणों का निरूपण करके समानता को और भी अधिक व्यापक रूप में देखा जा सकता है। इस मानसिक समानता के साथ एक दर्शन-विशेष की दोनों क्षेत्रों में समान रूप से स्वीकृति का अध्ययन भी लक्ष्य बन सकता है। शुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि से तो कुछ विषमता है ही नहीं। फिर भी चाहे अधिक वैज्ञानिक न हो, शुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि से समानताओं और विषमताओं का अध्ययन किया जा सकता है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में कुछ निष्कर्ष एक पद्धति से निकाले गये हैं कुछ, दूसरी पद्धति से। उपलब्ध सामग्री और उस सामग्री के मूर्तीकरण की शैली की सुविधाओं के अनुपात से अध्ययन की शैली में भेद भी एक आवश्यक तत्त्व बन जाता है। संक्षेप में सूचीगत निष्कर्ष इस प्रकार है :—

दोनों ही क्षेत्रों में भक्ति की क्रांति मनीषियों को गहराई से प्रभावित कर रही थी। पर तेलुगु क्षेत्र में भक्ति सम्प्रदायों की भीड़ नहीं है। केवल श्रीसम्प्रदाय भक्तों को आधारभूत दर्शन प्रदान कर रहा था। हिन्दी क्षेत्र में दाक्षिणात्य आचार्यों के द्वारा प्रवर्त्तित या प्रभावित सम्प्रदायों के अतिरिक्त बंगाली-वैष्णव आचार्यों और राधावल्लभ तथा हरिदासी सम्प्रदाय जैसे स्थानीय सम्प्रदाय भी सक्रिय थे। इन सम्प्रदायों ने नित्य-रासलीला-धाम वृन्दावन का उद्घाटन किया और माधुर्य का पारावार उमड़ा दिया। साम्प्रदायिक दृष्टि से दोनों क्षेत्र पृथक् हैं। तेलुगु क्षेत्र में प्रचलित श्रीसम्प्रदाय का प्रत्यक्ष प्रभाव आलोच्य-युग के हिन्दी भक्त-कवियों पर

किंचित् मात्र भी नहीं है। रामानन्द प्रभृति आचार्यों का प्रभाव रामभक्त कवियों पर अवश्य है। पर ये सम्प्रदाय भी उत्तर में स्वतन्त्र रूप धारण कर चुके थे। हिन्दी क्षेत्र के प्रचलित सम्प्रदायों का भी कोई प्रभाव तेलुगु क्षेत्र पर नहीं था। सांप्रदायिक भिन्नता होते हुए भी भक्ति सम्बन्धी धारणाओं और सिद्धान्तों में एक मौलिक साम्य दृष्टिगत होता है। इस साम्य का सम्बन्ध साम्प्रदायिक भिन्नता के नीचे प्रवाहित भक्ति की सामान्य धारा से है। भक्ति-आंदोलन का मूल स्वर दोनों साहित्यों में रहा है।

जहाँ तक कवि के व्यक्तित्व का सम्बन्ध है, दोनों स्थानों पर साम्य और वैषम्य दोनों ही मिलते हैं। हिन्दी क्षेत्र में भक्त कवियों का व्यक्तित्व भावात्मक-साधना का अभिन्न अंग था। उनमें साहित्य के क्षेत्र में अपनी चमत्कृति से अमर होने की कामना नहीं मिलती। इन भक्त कवियों की कोटि में मीरा, सूर, तुलसी आदि कवि आ जाते हैं। तेलुगु क्षेत्र में इन कवियों के समकक्ष रखे जाने योग्य व्यक्तित्व पोतना और अन्नमाचारी का है। अन्नमाचारी का व्यक्तित्व एकनिष्ठ और अविभाज्य है। इस दृष्टि से सूर और अन्नमाचारी पूर्ण रूप से तुलनीय हैं। पर इन दोनों में आलम्बन सम्बन्धी एक भिन्नता भी है। आलम्बन भी नाम से ही भिन्न है, भावना से नहीं। कृष्ण और गोपियों की माधुर्य-भावना सूर और अन्नमाचारी दोनों ही में समान है। पर अन्नमाचारी ने इस भावना को श्रीवेंकटेश्वर और पद्मावती के आलम्बन-प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त किया। आलम्बन का यह भेद एक सीमा तक साहित्य को भी प्रभावित करता है; जैसे अन्नमाचारी में विरह अस्थायी है। एक ही पद में मान या संक्षिप्त विरह के पश्चात् मिलन की सूचना प्राप्त हो जाती है। सूर की गोपिकाओं का विरह कृष्ण के चले जाने पर अनन्त हो जाता है। आध्यात्मिक दृष्टि से यह अनन्त विरह परिमाणतः अन्नमाचारी के काव्य में बहुत कम है। सूर और अन्नमाचारी के व्यक्तित्व के इस आंतरिक साम्य और वैषम्य के अतिरिक्त जीवन की बाह्य परिस्थितियों और उनके प्रभाव एवं प्रतिक्रिया में भी पर्याप्त साम्य है। अन्नमाचारी सूर की अपेक्षा पांडित्य अधिक रखते थे। पांडित्य की झलक उनके काव्य को सूर के काव्य से अंशतः भिन्न कर देती है। राधा की मान्यता पद्मावती की मान्यता से भिन्न है। पद्मावती में माधुर्य और विवाहिता सती की सी दास्य-भावना का संयोग मिलता है। अन्नमाचारी अपनी भावना के उच्चतम स्तर पर माधुर्य और दास्य की प्रतिमूर्ति (पद्मावती) से तादात्म्य करते प्रतीत होते हैं। सूर का तादात्म्य राधा से होता है। राधा-भाव में दास्य-माधुर्य का विरोधी भाव माना जाता है। इस प्रकार जहाँ सूर का व्यक्तित्व अशेष रूप से माधुर्य-मंडित है, वहाँ अन्नमाचारी की चेतना दास्य और माधुर्य के पुलिनों के बीच प्रवाहित होती है। इस प्रकार काफी दूर तक सूर और अन्नमाचारी का व्यक्तित्व साम्य की दिशा में चलता है। पीछे साम्प्रदायिक परिस्थितियाँ दोनों के व्यक्तित्व को दो पृथक् मार्गों के राही बना देती हैं। इस दूसरे मार्ग पर अन्नमाचारी का व्यक्तित्व राम

रसिकोपासकों के समान हो जाता है। इस उपासना पद्धति में भी दास्य की पृष्ठ-भूमि पर माधुर्य की सज्जा हुई थी।

सूर वात्सल्य और सख्य की दृष्टि से भिन्न हैं। यहाँ पोतना ही सूर से तुलनीय हैं। पोतना ने वात्सल्य और सख्य का सूर के समान ही मनोरम रूप से चित्रण किया है। पर इनमें सूर का भावक्षेत्र ही प्रबल है। समस्त भागवत को दोनों ही कवि लोकभाषाबद्ध करना चाहते हैं। पर दोनों की प्रेरणाओं में अंतर है। सूर की प्रेरणा दशमस्कंध के आकर्षण में है। कृष्ण-लीलाओं पर ही उनकी साधना और कल्पना केन्द्रित है। पर पोतना में प्रेरणा का यह रूप नहीं है। वे अपनी शृंगार-प्रियता के कारण दशमस्कंध की कृष्णलीलाओं में रुचि तो अधिक रखते प्रतीत होते हैं, पर उनकी समस्त साधना इन लीलाओं पर केन्द्रित नहीं है। भागवत के अन्य स्कंधों और कृष्णेतर प्रसंगों पर भी वे अपनी प्रतिभा और कल्पना तक की वर्षा करते चलते हैं। रुक्मिणी और सत्यभामा के प्रसंग युगधर्म की दृष्टि से पोतना में बहुत विस्तृत हैं। इस प्रकार दोनों के प्रेरणा-रूप भिन्न ही हैं।

पोतना के व्यक्तित्व में एक और मानसिक द्वंद्व लक्षित है। दर्शन की दृष्टि से वे अद्वैतवाद की ओर झुके हुए थे। साधना की दृष्टि से उनके इष्टदेव राम थे। राम को छोड़कर कृष्ण के प्राधान्य वाला काव्य लिखना उनकी विवशता का परिणाम था। जब महाभारत और रामायण—दोनों ही उनके पूर्वयुगों में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो चुके थे, भागवत के अतिरिक्त इनके लिये बचा ही क्या था? उन्होंने स्वयं राम को श्रीमदांध्र-भागवत का स्त्रोत माना है और अपने को उनकी इच्छा का एक निमित्त यंत्र मात्र कह दिया है। इस प्रकार पोतना का व्यक्तित्व अद्वैत से भक्ति की ओर, राम से कृष्ण की ओर अग्रसर होता है। अद्वैत और राम—दोनों ने क्रमशः ज्ञानजन्य शांत और दास्य पोतना को प्रदान किया। पोतना के व्यक्तित्व का रागतत्व अवहेलित सा हो गया। उनके आहत राग ने कृष्ण को जन्म दिया और पोतना की कल्पना-लता सौ-सौ बल खाकर कृष्ण से लिपट गयी। राग का यह उद्वेलन सूर के व्यक्तित्व में नहीं मिलता। उसका कुछ रूप तुलसी के व्यक्तित्व में ही मिल सकता है। तुलसी में आरंभिक अद्वैतवादी-दर्शन और राम, शान्त और दास्य तक प्रसारित होते गये। वास्तव में उनका अवहेलित राग ही गीतावली और कृष्ण-गीतावली में तुष्टि पाता है। रसिकोचित भावनायें और प्रगीत-शैली की रागोन्मुखता उनकी इसी रागग्रंथि के परिणाम थे। पोतना में प्रगीत नहीं आया, पर रसिकोचित भावना राम के साथ सम्बद्ध होकर नहीं, कृष्ण के व्याज से उनके काव्य में समाविष्ट हो गयी। यही तुलसी और पोतना के व्यक्तित्व के साम्य और वैषम्य हैं।

मोल्ला कुछ दृष्टियों से मीरा के व्यक्तित्व के समक्ष आती हैं। दोनों ही तिरस्कार और लोकोपवाद की आग में जलती रहीं। पर उन परिस्थितियों ने मोल्ला को दास्यापन्न रामकथा की ओर मोड़ दिया और मीरा को गिरिधर गोपाल की ओर। साथ ही मीरा का स्वच्छंद और सीधा माधुर्य सम्बन्ध गिरिधर गोपाल के

प्रति स्थापित हुआ। यदि मोल्ला के व्यक्तित्व का तादात्म्य विरहिणी सीता से मान भी लिया जाय तब भी दास्यमिश्रित दाम्पत्य की ही स्थिति बनती है, माधुर्य की नहीं। मीरा के व्यक्तित्व की तुलना कृष्णदेवराय के "आमुक्तमाल्यदा" की गोदादेवी से कुछ-कुछ हो सकती है, पर गोदा प्रथम ही श्रीरंगनाथ की परिणीता बन गयी। मीरा को लौकिक पति से विमुख होकर अलौकिक पति की ओर जाकर अधिक संघर्ष उठाने पड़े। इसीलिए विरह का "दरद" और व्याकुलता गोदा से बढ़ गये। इस दृष्टि से देखने पर बहुत थोड़ी दूर तक मोल्ला मीरा से तुलनीय हैं।

उक्त भक्त-कवियों का व्यक्तित्व एक साधक का व्यक्तित्व था। पर कुछ ऐसे काव्यों को भी लिया गया है जिनकी रचना भिन्न व्यक्तित्व वाले कवियों से हुई। इनमें कृष्णदेवराय, अय्यलराजु रामभद्र, तेनालि रामकृष्ण जैसे कवि आते हैं। इनमें सैद्धांतिक रूप से भक्तिदर्शन, काव्य की दृष्टि से शृंगार का रसराजत्व और अलंकार-प्रियता का मिश्रण है। उन्होंने अपने इस मिश्रित उद्देश्य का वाहन भक्तों के आख्यानों को ही बनाया। इस दृष्टि से, उनके साहित्य के आधार पर भी कुछ निष्कर्ष निकालने की चेष्टा की गयी। इनमें साधना तत्त्व का अभाव था। इसी प्रकार के व्यक्तित्व वाले हिन्दी में केशव मिलते हैं। पर केशव की भाँति ये लक्षणकार आचार्य नहीं थे—चाहे काव्यशास्त्र का उनको पूर्ण ज्ञान हो। यही कारण है कि भक्ति-भावना का केशव के उदाहरण मुक्तकों में जो उभार मिलता है वह तेलुगु कवियों में नहीं है। तेलुगु कवियों ने पुराण-शैली का शास्त्रीयकरण प्रबन्ध-शैली में कर दिया है। इन प्रबन्धों में ये कवि भक्ति-सिद्धान्तों और शृंगार-भावना के तारतमिक चित्रों द्वारा तेलुगु भारती की नवीन सज्जा करने लगे। केशव में प्रबंध की यह रूपरेखा भी मिलती है। पर "कविप्रिया" और "रसिकप्रिया" के उदाहरणों में उनकी जयदेव की सी भक्ति-भावना प्रकट हुई है। वह तेलुगु प्रबन्धकारों में नहीं है। तेलुगु प्रबन्धकारों के व्यक्तित्व की केशव के व्यक्तित्व से तुलना की जा सकती है। परिमाण की दृष्टि से केशव उनके सामने नहीं ठहरते। साथ ही केशव अलंकार-विधान में ही विशेष लगे रहे। प्रसंग का वह तारतमिक औदात्य और उसके प्रस्तुतीकरण की प्रगल्भता केशव में कहाँ? प्रवृत्तिगत साम्य केशव और तेलुगु-प्रबन्धकारों में पूर्ण रूप से मिलता है।

शतककारों में सभी का व्यक्तित्व और काव्य भक्ति की सीमा में आने वाला नहीं है। इनमें से कुछ भक्ति-साधना परक व्यक्तित्व भी रखते हैं और कुछ लोकोन्मुख व्यक्तित्व भी। इसी प्रकार पुराणकारों का भी विभाजन किया जा सकता है। कुछ पुराणकार और कुछ शतककार राज्याश्रित भी थे।

संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि हिन्दी और तेलुगु क्षेत्र के कवियों के व्यक्तित्व समान प्रकार के मिलते हैं। केवल मीरा का व्यक्तित्व तेलुगु क्षेत्र में अप्राप्य है। मोल्ला मीरा के समान हा कवयित्री है। पर मोल्ला का व्यक्तित्व माधुर्य से

इतना भरा हुआ नहीं है जितना मीरा का। चाहे किसी भी स्रोत से हो, मीरा में योग आदि की शब्दावली भी प्राप्त होती है, जो मोल्ला में नहीं है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि आलोच्य-युग के कवियों का व्यक्तित्व उनकी भावधारा से निर्मित होता है। हिन्दी क्षेत्र की भावधारा तेलुगु क्षेत्र की भावधारा से भिन्न नहीं है, फिर भी कुछ भाव ऐसे हैं जिनमें मार्मिकता, स्थानीयता के कारण ही भिन्नता आ गयी है। जिन भावों को अपने विस्तार के लिये स्थानीयता अपेक्षित थी जैसे सख्य और वात्सल्य वे हिन्दी कवियों की कल्पना के उन्मुक्त क्रीड़ा-स्थल बने रहे। इन भावों के विस्तार की पद्धति में भी दोनों क्षेत्रों के कवि भिन्न हैं। जहाँ तक माधुर्य का सम्बन्ध है, वह भक्तियुग का सबसे अधिक व्यापक भाव कहा जा सकता है। तेलुगु क्षेत्र में माधुर्य शृंगारिक शैली में विकसित हुआ और हिन्दी क्षेत्र में स्वाभाविक परिस्थितियों और मधुर अनुभूतियों के संयोजन ने माधुर्य को विस्तार दिया। दास्य के निरूपण में कोई भेद नहीं मिलता। केवल तेलुगु के कवि पौराणिक आख्यानों का विस्तार अधिक करते हैं। इस प्रकार तेलुगु और हिन्दी कवि भावों के विकास की दृष्टि से कुछ भिन्न हो सकते हैं। पर मौलिक रूप से उनमें साम्य ही अधिक है।

जहाँ तक साहित्य की कारयित्री प्रतिभा का सम्बन्ध है, दोनों क्षेत्रों के कवियों में यह समान ही है। यहाँ प्रतिभा का न्यूनाधिक अंतर हो सकता है, फिर भी एक अन्तर विशेष रूप से दिखलाई पड़ता है और वह है शास्त्राभ्यास सम्बन्धी। तेलुगु कवियों की प्रतिभा पांडित्य से पुष्ट है और शास्त्राभ्यास से परिष्कृत और व्यवस्थित। हिन्दी के भक्त कवियों में भक्ति की तल्लीनता के कारण कलापक्ष का स्थान गौण ही रहा। पर तुलसीदासजी इस तथ्य का एक प्रबल अपवाद हैं। इनमें भावपक्ष और कलापक्ष का जो संतुलन है, वह पोतना से किसी भी दृष्टि से कम नहीं है। तुलसीदासजी के कलापक्ष के सम्बन्ध में हम हरिऔधजी की इस उक्ति से पूर्णतः सहमत हैं—"कविता करिके तुलसी न लसे, कविता लसि पा तुलसी की कला"। तुलसी ने "कवित विवेक एक नहिं मोरे", "कवि न होंउ नहिं बचन प्रवीनु" जैसे कथनों से अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है। उन्होंने "रामचरित मानस" का एक ही बल माना है—"इहि महँ रघुपति नाम उदारा" अर्थात् इसमें राम का नाम है, यही इसका गौरव है। पोतना ने भी एक स्थान पर यह कहा है कि हरिभक्ति से युक्त काव्य के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह कलात्मक वैभव से भी युक्त हो। इसके विपरीत सामान्य कलापक्ष वाला काव्य भी हरिभक्ति के कारण सम्मानित होता है। तुलसी का स्वर बिल्कुल इससे मिलता है। मोल्ला और अन्य तेलुगु भक्त-कवियों ने भी काव्य के कलापक्ष के प्रति यही दृष्टिकोण प्रकट किया। वैसे इन उक्तियों को नम्रता-प्रदर्शक उक्तियाँ कहा जा सकता है। फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से हिन्दी-कवियों ने कलापक्षीय उपलब्धियों की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। जो कुछ उपलब्धियाँ

हैं, सरल-स्वाभाविक हैं। इसके विपरीत अन्नमाचारी को छोड़कर प्रायः सभी तेलुगु भक्त कवियों के कलापक्ष में उच्चतर स्तर प्राप्त होता है। अन्नमाचारी का कलापक्ष सूर की भाँति अनुभूति से अभिमंडित है। शेष कवियों में से द्विपदकार कला-योजना को सरल तो रखते हैं पर कला-संपदा की उसमें भी कमी नहीं है। अष्टदिग्गजों में तो कला अपने समस्त साज-शृंगार के साथ है ही। पोतना में कला और अनुभूति का अष्टदिग्गजों की अपेक्षा अधिक संतुलन मिलता है। प्रबन्धकारों की चमत्कार-प्रियता और कलात्मक उड़ान यद्यपि केशव से तुलनीय हैं, फिर भी कलात्मक उपलब्धियों में तेलुगु कवि बहुत आगे हैं।

काव्यरूपों की दृष्टि से हिन्दी क्षेत्र की अपेक्षा तेलुगु क्षेत्र ही अधिक वैविध्यपूर्ण है। संस्कृत की पुराण-शैली पोतना के भागवत में, शास्त्रीय महाकाव्य या प्रबन्ध-शैली "रामाभ्युदय", "आमुक्तमाल्यदा", "पाँडुरंगमाहात्म्यमु" आदि में, संस्कृत की मुक्तक परम्परा शतकों में, अपभ्रंश की लोकोन्मुख पद्य-शैली द्विपदा में, और संस्कृत के भक्ति-साहित्य की प्रगीति शैली अन्नमाचारी में प्रतिफलित हुई है। फिर भी यह स्वाभाविक था कि तेलुगु कवियों का व्यक्तित्व प्रबन्ध की ओर अधिक आकर्षित हो। हिन्दी क्षेत्र में भक्त कवि मुख्य रूप से गीत और गौण रूप से प्रबन्ध-रचना में लगे थे। शतक वाली मुक्तक परम्परा भक्त कवियों में तो नहीं, पर गंग जैसे अन्य कवियों में मिल सकती है। श्रीमदांध्रभागवत की भाँति तुलसी के "मानस" में कुछ पौराणिकता है और भाव तथा अनुभूति के आग्रह से तुलसी कथा के विविध प्रसंगों में कभी कम और कभी अधिक रमते गये। पोतना में भी यह प्रवृत्ति मिलती है। जिन स्थलों पर उनका मन रम गया है, उनका मूल से कहीं अधिक विस्तार पोतना ने किया है। हिन्दी में केशव एक प्रबन्धकार भी हैं। तुलना की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि हिन्दी-कवि प्रगीत-शैली में कुछ अधिक भावुक और दक्ष हैं। अन्नमाचारी के गीतों का परिमाण वैसे कम नहीं है।[१] पर राग-रागिनियों तथा भावों का वैविध्य हिन्दी कवियों से कुछ कम है। अन्नमाचारी और हिन्दी के गीत-रूप में भी एक अंतर है। हिन्दी कवियों ने संगीत-शास्त्रीय शैली को ही विशेष रूप से अपना कर राग-रागिनियों का पारिभाषिक रूप से पालन किया है। अन्नमाचारी ने अनेक लोक-गीत शैलियों को भी अपनाया है। लोकगीत शैली हिन्दी कवियों में यदि मिलती है तो विद्यापति और मीरा में। इस प्रकार काव्य-रूपों के सम्बन्ध में पर्याप्त समानता तो मिलती है। पर प्रवृत्ति और झुकाव—दोनों क्षेत्रों में पृथक् हैं।

हिन्दी और तेलुगु कवियों में सामग्री-स्रोत का भी पर्याप्त साम्य मिलता है। इस काल के मुख्य स्रोत "श्रीमद्भागवत" और "रामायण" हैं। तेलुगु क्षेत्र में

[१] इनके ३२,००० संकीर्तन ताम्रपत्रों में अंकित हैं, जिनमें से ४,००० के लगभग संकीर्तन प्रकाशित हो चुके हैं।

भागवत के अतिरिक्त अन्य पुराणों से भी सामग्री-संकलन हुआ। इसका कारण यह था कि संस्कृत के पुराण-साहित्य को अपने समस्त वैभव के साथ तेलुगु में रूपान्तरित किया गया। इस रूपांतरण को कवियों की मौलिक कल्पना ने सजीवता प्रदान की। पुराण-साहित्य का यह सौलभ्य हिन्दी कवियों को प्राप्त नहीं था। अवांतर रूप से "हरिवंश" आदि का प्रयोग अवश्य किया गया है। स्रोत के साथ दोनों ही क्षेत्रों के कवियों ने मौलिक उद्भावनाओं का संयोग भी किया है। किन्तु मौलिक उद्भावना की दिशा में कुछ अन्तर है। पोतना ने सत्यभामा का भौमासुर के साथ युद्ध का प्रसंग किसी अज्ञात स्रोत से ग्रहण किया या यह प्रसंग उनकी मौलिक उद्भावना भी हो सकता है। सूर आदि कृष्ण-भक्त कवियों ने केवल कुछ ऐसी ब्रजलीलाओं का समावेश किया है जो मूल स्रोत में नहीं मिलतीं। संभवतः उनका स्रोत लोक-साहित्य या अन्य स्थानीय साहित्य रूप हो सकता है। जहाँ तक रामकाव्य सम्बन्धी मौलिक उद्भावनाओं का प्रश्न है, तुलसी ने वन-पथ पर मिलने वाले ग्रामवासियों के प्रसंग को जोड़ा है। अन्यत्र भी यहाँ-वहाँ रामकथा में क्रमादि का अन्तर भी किया गया है। मोल्ला ने मौलिक विस्तार सुन्दर कांड का किया है। उसमें कथावस्तु का अन्तर तो नहीं मिलता, पर भावात्मक विकास अवश्य ही मौलिक है। तुलसी ने मुख्यतः अयोध्या कांड का विस्तार किया है, और भरत से सम्बन्धित सभी प्रसंगों का भी। ऐसी कुछ मौलिक उद्भावनाओं और विस्तार के अतिरिक्त स्रोत और सामग्रीगत साम्य दोनों ही क्षेत्रों के कवियों में मिलता है।

उक्त समानताओं का कारण—स्रोतगत समानता और भक्ति-आंदोलन की सामान्य भाव-भूमि मानी जा सकती है। ऐतिहासिक रूप से दोनों क्षेत्रों का सांस्कृतिक सम्बन्ध आलोच्य-युग के पूर्वयुग में सिद्ध ही है। आंध्र के शातवाहन युग में सांस्कृतिक और साहित्यिक समन्वय विशेष रूप से हुआ था। आलोच्य-युग में यह सम्पर्क इतना प्रबल नहीं था, क्योंकि मुसलमानों के आक्रमणों से हिन्दी क्षेत्र आक्रांत था और मुसलमानों के प्रभाव से दक्षिण भी बचा हुआ नहीं था। आलोच्य-युग में हिन्दी क्षेत्र में तो मुस्लिम साहित्य और संस्कृति हिन्दू साहित्य और संस्कृति से विशेष सम्पर्क स्थापित कर सके, पर दक्षिण में इससे भिन्न स्थिति थी। इसलिये आलोच्य शताब्दियों में कोई विशेष जन-सम्पर्क दोनों साहित्यों में मिलने वाले साम्य के लिये उत्तरदायी नहीं है। यदि समानता को मानव की मूल प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में रखकर देखा जाय तो एक दूर की बात हो जायेगी।

साम्य के समान वैषम्य के कारणों पर भी प्रकाश डाला जा सकता है। इसका एक कारण—दोनों क्षेत्रों की परिस्थितियों की भिन्नता है। हिन्दी क्षेत्र में समस्त भक्ति-साहित्य या तो वैष्णव मंदिरों के आश्रय में रचा गया या स्वतंत्र रूप से। राज्याश्रय की छाया से ये कविपुंगव दूर ही रहे। इसलिये राज्याश्रित साहित्य के मनोरंजन, प्रगाढ़ शृंगार और अलंकृत शैली की प्रवृत्तियाँ हिन्दी क्षेत्र के कवियों में नहीं मिलतीं। यदि ये मिलती भी हैं तो सप्रयास नहीं, सहज रूप में। ये

सारी प्रवृत्तियाँ रीतिकालीन साहित्य में तो मिलती हैं, भक्ति-साहित्य में नहीं। तेलुगु साहित्य कुछ मंदिरों में भी बना और कुछ स्वतंत्र रूप से भी। पर अधिकांश साहित्य राज्याश्रय में ही बना। यही कारण है कि राज्याश्रित साहित्य की प्रवृत्ति और परम्परा तेलुगु भक्ति साहित्य में स्पष्ट रूप से परिलक्षित है। वैषम्य का दूसरा कारण कवियों के व्यक्तित्व में ही मिलता है। तेलुगु कवि का व्यक्तित्व शुद्ध कवि का व्यक्तित्व न होकर आचार्यत्व, पांडित्य और जीवन के प्रति एक यथार्थ दृष्टिकोण से समन्वित था। इसलिये उनके काव्य में हिन्दी कवियों से अधिक प्रौढ़ता और वस्तु-नियोजन की अधिक पूर्णता एवं शैली-तत्त्वों का अधिक चमत्कार मिलता है। इसके विपरीत तुलसी, केशव आदि को छोड़कर शेष हिन्दी भक्तकवि एक निर्द्वन्द्व भक्त का साधनापरक व्यक्तित्व रखते हैं। इसलिये प्रौढ़ पांडित्य और शास्त्रीय विधान की प्रगल्भता उनमें नहीं मिलती। वैषम्य का तीसरा कारण—स्थानीयता का वैशिष्ट्य हो सकता है। कृष्ण की व्रजलीलाओं के प्रति हिन्दी कवियों का अलौकिक दृष्टिकोण उस सीमा तक नहीं है जिस सीमा तक तेलुगु कवियों का। हिन्दी कवि स्थानीयता-जन्य आत्मीयता से प्रेरित होकर कृष्ण के रूप, उनके कथन और उनकी लीला के विधान में लौकिकता की अधिक व्यंजनता करके अलौकिकता के प्रति एक आश्चर्य-मिश्रित अद्भुत भाव उत्पन्न करता है। यशोदा या कृष्ण-सखाओं का जो व्यवहार कृष्ण के प्रति हिन्दी कवियों ने बतलाया है, उसमें सामान्य सम्बन्ध अधिक मुखर हैं। सखा कृष्ण से लड़ते भी हैं। इष्ट के प्रति यह व्यवहार तेलुगु कवियों ने कम ही बतलाया है। यह स्थानीय विशेषता सभी लीलाओं के निरूपण में मिलती है। स्थानीयता से उत्पन्न एक और वैषम्य है। जहाँ तेलुगु साहित्य में प्राधान्य दास्य-भक्ति या दास्य से सम्बन्धित प्रसंगों से है वहाँ हिन्दी कवियों में वात्सल्य, सख्य और माधुर्य की ही प्रधानता मिलती है। इस प्रकार वैषम्य के कारणों में परिस्थितियों की भिन्नता, व्यक्तित्व का स्वतंत्र घटन और स्थानीयता मुख्य रूप से आते हैं।

यदि साम्य और वैषम्य का आनुपातिक रूप प्रस्तुत किया जाय तो वैषम्य की अपेक्षा साम्य का विस्तार ही अधिक मिलता है। वैषम्य साहित्य के बाह्य संविधान से इस रूप से संबद्ध है। जहाँ तक मूल आध्यात्मिक प्रतिक्रिया और भावना की प्रवृत्तियों का सम्बन्ध है, साम्य ही विशेष रूप से मिलते हैं। वैषम्य साम्य को किसी भी स्थान पर पराजित करता प्रतीत नहीं होता। वह समानता को अधिक सुनिश्चित कर देता है। जो वैषम्य मिलता है, वह हिन्दी और तेलुगु कवियों में परस्पर भी प्राप्त होता है। वैषम्य से कवियों के मौलिक प्रयास की ही सूचना विशेष रूप से मिलती हैं। इससे विचारगत या भावगत पार्थक्य व्यक्त नहीं होता। अनेक स्थलों पर विषमताओं से प्राप्त निष्कर्ष अधिक विस्तार के साथ निरूपित किये गये हैं, क्योंकि उनसे समानताओं की ही पुष्टि होती है।

दोनों क्षेत्रों के कवियों की भाव-प्रभाव-परंपरा का भी तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, तेलुगु क्षेत्र में यह पुराण-युग और प्रबन्ध-युग का संधिकाल था। पुराण की परंपरा तो ई० सोलहवीं शताब्दी में तो शिथिल पड़ गयी थी। परिनिष्ठित शैली के प्रबन्ध-ग्रंथों ने पुराणों का स्थान ले लिया था। साथ ही प्रबन्ध की द्विपदा शैली भी अधिक से अधिक लोकप्रिय होती जा रही थी। शतक-ग्रंथ भी भक्ति-भाव का वहन करने लगे थे। प्रगीत शैली की धारा भी तेलुगु क्षेत्र में प्रकट होते ही विस्तृत होने लगी थी। एक ओर यक्षगान शैली भी लोकप्रिय होती जा रही थी। आलोच्य-युग के पश्चात् इन सभी विधाओं का पूर्ण विकास हुआ। परिनिष्ठत प्रबन्धों की धारा शिथिल पड़ने लगी और भावी युग में खंडकाव्य, द्विपदा और मुक्तकों की लोकप्रियता के सामने वह अधिक न ठहर सकी। आलोच्य-युग में ही इन लोकोन्मुख काव्य-धाराओं की भावी लोकप्रियता की सूचना मिलने लगती थी। वे अधिक से अधिक आकर्षक होते गये। जिस पद-शैली को अन्नमाचारी ने जन्म दिया वह क्षेत्रय्य, त्यागराज, रामदास आदि के द्वारा पूर्ण विकास को प्राप्त हुई। विषयवस्तु आलोच्ययुग के कवियों की ही प्रायः बनी रही, पर कवियों के दृष्टिकोण में अंतर आ गया। आलोच्य-युग के कवि जहाँ भक्ति-भावना से प्रेरित थे, वहाँ आगे के कवि शृंगारिकता और लोकगत भावना से अनुप्राणित। इस प्रकार आलोच्ययुग के सभी उपकरण, सभी शैलियाँ और प्रायः सभी कथानक अपने आंतरिक मूल्य और महान् कवियों की प्रातिभ साधना से पुष्ट होने के कारण कई शताब्दियों तक चलते रहे। तेलुगु की भाँति हिन्दी भक्ति-साहित्य की परम्परा भी रीतिकालीन साहित्य की परम्परा में विकसित हुई। भक्ति का स्थान यहाँ भी शृंगार ने और लोकशैली का स्थान शास्त्रीय शैली ने लिया। राधाकृष्ण वे ही बने रहे, पर उनके प्रति भक्ति-भावना न रही। वे केवल "सुमिरन के बहाने" बने रहे। अंतर इतना रहा कि जहाँ तेलुगु साहित्य में प्रबन्ध-परंपरा किसी न किसी रूप से आलोच्य-युग के पश्चात् भी चलती रही, वहाँ हिन्दी क्षेत्र में यह परम्परा रीतियुग के आते-आते प्रायः शून्य हो गई। इसका कारण यह हो सकता है कि आलोच्य-युग में तेलुगु में प्रबन्ध-धारा जितनी प्रबल थी उतनी हिन्दी क्षेत्र में नहीं। जिस प्रकार अलौकिक आलंबनों के माध्यम से तेलुगु क्षेत्र में पीछे के कवि घोर शृंगार की व्यंजना करते रहे, उसी प्रकार हिन्दी के रीतियुग के कवि भी।

इस विवेचन से यह नहीं समझ लेना चाहिये कि शुद्ध भक्ति-साहित्य सूख ही गया था। वास्तव में दोनों ही क्षेत्रों में यह धारा कभी छिपती हुई, कभी प्रकट होती हुई चलती रही। केवल प्रवृत्ति की दिशा बदल गयी। भक्ति-साहित्य की यह सुदीर्घ परम्परा ही उसके आंतरिक मूल्य को प्रमाणित करती है। ऊपर जिन समानताओं की चर्चा की गयी है, वे हिन्दी और तेलुगु-साहित्य के सामीप्य को प्रमाणित करती हैं।

सहायक ग्रंथों की सूची

हिन्दी-ग्रंथ (अकारादि क्रम से)

१. "अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय" (भाग १, २)—डा० दीनदयाल-गुप्त, प्रथम संस्करण सं० २००४ वि०, प्र० हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

२. "अष्टछाप परिचय"—प्रभुदयाल मीतल, द्वितीय संस्करण, सं० २००६ वि०, प्र० अग्रवाल प्रेस, अग्रवाल भवन, मथुरा।

३. "कीर्तन-संग्रह" (भाग १ और २ एक जिल्द में)—सं० लल्लुभाई छगनलाल देसाई, संस्करण सं० १९९३ वि०, (भाग ३ का संस्करण सं० १९९६ वि०), प्र० भक्तिग्रंथमाला, रीची रोड, अहमदाबाद।

४. "कीर्तन-रत्नाकर" संस्करण सं० १९२० वि०—त्रिभुवनदास पीतांबरदास शाह, नडियाद।

५. "कृष्णकाव्य की रूपरेखा"—उपाध्याय वेदमित्र, "व्रती", द्वितीय संस्करण सन् १९४८ ई०, प्र० ओरियेंटल बुक डिपो, दिली।

६. "चौरासी वैष्णवन की वार्ता"—प्र० वेंकटेश्वरा प्रेस।

७. "तुलसीदास"—माताप्रसादगुप्त, द्वितीय संस्करण, सन् १९४६, प्र० प्रयाग विश्वविद्यालय, हिन्दी परिषद्, प्रयाग।

८. "तुलसीदास और उनका युग"—डा० राजपति दीक्षित, प्रथम संस्करण सं० २००९ वि०, प्र० ज्ञानमंडल लिमिटेड, बनारस।

९. "तुलसी ग्रंथावली" (दूसरा-खंड), तुलसीदास—सं० रामचंद्रशुक्ल, भगवानदीन, व्रजरंतदास, चौथा संस्करण, सं० २०१५ वि०, प्र० नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

१०. "भक्तमाल" (टीका-टिप्पणी सहित)—नाभादास, द्वितीय संस्करण, सन् १९२६ ई०, प्र० नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ।

११. "भागवत-संप्रदाय"—बलदेव उपाध्याय संस्करण सं० २०१० वि०, प्र० नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

१२. "मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ"—सावित्री सिन्हा, संस्करण सन् १९५३ ई०, प्र० : आत्मराम एण्ड सन्स, बुक डिपो, दिल्ली—६।

१३. "मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन"—डा० सत्येन्द्र प्र० विनोद पुस्तक मंदिर, हॉस्पिटल रोड, आगरा–३ ।

१४. "मिश्रबंधुविनोद'—मिश्रबंधु, प्रथम संस्करण, सं० १९७० वि०, प्र० हिन्दी ग्रन्थ प्रसादक मंडली ।

१५. "मीरा : एक अध्ययन"—श्रीपद्मावती "शबनम", प्रथम सस्करण, सं० २००७ वि०, प्र० लोकसेवक प्रकाशन, बनारस ।

१६. "मीरा की प्रेम-साधना" माधव, संस्करण सन् १९५७ ई० प्र० अजंता प्रेस लिमिटेड, पटना—४ ।

१७. "मुग़लकालीन भारत" (ई० १५२६ से ई० १८०६ ई० तक)—डा० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, तृतीय संस्करण, सन् १९५९ ई० प्र०, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी (प्राइवेट लिमिटेड), पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता, आगरा ।

१८. "राजर्षि अभिनदन ग्रंथ"—सं० विजयेन्द्र स्नातक और गोपालप्रसाद व्यास, संस्करण १९६०, प्र० दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, दिल्ली ।

१९. "राधावल्लभ सम्प्रदाय—सिद्धांत और साहित्य"—विजेयेन्द्र स्नातक, प्रथम संस्करण, सं० २०१४ वि०, प्र० नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली ।

२०. 'रामचरितमानस" (सटीक)—गोस्वामी तुलसीदास, दसवाँ संस्करण, सं० २०१५ वि०, प्र० गीताप्रेस, गोरखपुर ।

२१. "रामभक्ति में रसिक संप्रदाय"—डा० भगवती प्रसाद सिंह, प्रथम संस्करण सं० २०१४ वि०, प्र० अवध साहित्य मंदिर बलरामपुर ।

२२. "वैष्णव-धर्म", परशुराम चतुर्वेदी, संस्करण सन् १९५३ ई० प्र० विवेक प्रकाशन, इलाहाबाद ।

२३. "श्रीहित सुधा-सिन्धु", संस्करण सं २०१४ वि०, प्र० श्रीरामलाल श्यामसुन्दर चतुर्वेदी—श्रीनित पुस्तकालय, पुराना शहर, वृन्दावन ।

२४. "सूर और उनका साहित्य"—डा० हरिवंशलाल शर्मा (संशोधित संस्करण), प्र० भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़ ।

२५. "सूर की झाँकी"—डा० सत्येन्द्र, प्रथम संस्करण, सं० १९५६ वि०, प्र० शिवलाल अग्रवाल एण्ड कं० (प्रा० लिमिटेड, प्रकाशक तथा पुस्तक विक्रेता, आगरा ।

२६. "सूरदास" (जीवनी और काव्य का अध्ययन)—डा० व्रजेश्वर वर्मा, संस्करण सन् १९५९, प्र० हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग ।

२७. "सूर-निर्णय"—द्वारकादास परीख तथा प्रभुदयाल मीतल, द्वितीय संस्करण, सं० २००८ वि०, प्र० अग्रवाल प्रेस, मथुरा ।

२८ "सूरसागर" (पहला खंड)—सं० नंददुलारे वाजपेयी, तृतीय सस्करण, सं० २०१५ वि०, प्र० नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी ।

२९. "सूरसागर" (दूसरा खंड)—सं० नन्ददुलारे वाजपेयी, संस्करण सं० २०१८ वि०, प्र० नागरी प्रचारिणी सभा, वारणासी ।

३०. "सोलहवीं शती के हिन्दी और बँगला वैष्णवकवि" (तुलनात्मक अध्ययन)—रत्नकुमारी, संस्करण सन् १९५६, प्र० भारतीय साहित्य मंदिर, फव्वारा, दिल्ली ।

३१. "हिन्दी-अनुशीलन"—धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक, सन् १९६० ई० में प्रकाशित, प्र० भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग ।

३२. 'हिन्दी-अनुशीलन"—सं० रघुवंश, रामस्वरूप चतुर्वेदी, टीकमसिंह तोमर, (जनवरी-मार्च, अप्रैल-जून १९६३ ई०) प्र० ब्रजेश्वर वर्मा, भारतीय हिन्दी-परिषद्, प्रयाग-विश्वविद्यालय, प्रयाग ।

३३. "हिन्दी-साहित्य"—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, संस्करण सन् १९५५ ई० प्र० उत्तरचन्द कपूर एण्ड सन्स—दिल्ली, अंबाला, आगरा, नागपुर, जयपुर ।

३४. "हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास"—डा० रामकुमार वर्मा, चौथा संस्करण, प्र० रामनारायण लाल, प्रकाशक तथा पुस्तक विक्रेता, इलाहाबाद—१ ।

३५. "हिन्दी-साहित्य का इतिहास"—आचार्य रामचंद्र शुक्ल, (ग्यारहवाँ सस्करण), सं० २०१४ वि०, प्र० नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।

३६. "हिन्दी-साहित्य की भूमिका"—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी (पाँचवाँ संस्करण), सन् १९५४ ई०, प्र० नाथुराम प्रेमी, हिन्दी ग्रंथ-रत्नाकर, कार्यालय, हीराबाग, गिरगाँव, बम्बई—४ ।

तेलुगु-ग्रन्थ (अकारादि क्रम से)

१. आध्यात्म संकीर्तनलु-वाल्यूम २ (१९३६ ई.); वा० ५ (१९५० ई०) वा० ६ (१९५१ ई०): वा० ७ (१९५१ ई०) वा० ८ (१९५२ ई०) वा० ९ (१९५२ ई०); वा० १० (१९५२ ई०); वा० ११ (१९५५ ई०) कवि:—ताळ्ळपाक अन्नमाचारी, प्रकाशक :—तिरुपति-तिरमलै देवस्थानम् कमिटी, तिरुपति ।

२. "अन्नमाचार्य-चरित्रमु"—ताळ्ळपाक तिरुवेंगळनाथ, सं० वेटूरि प्रभाकर शास्त्री, संस्करण १९४९ ई०, प्र० टी० टी० डी० कमिटी, तिरुपति ।

३. अष्टमहिषीकल्याणमु"—ताळ्ळपाक तिरुवेंगळनाथ, संस्करण १९३६ ई० प्र० टी० टी० डी० कमिटी, तिरुपति ।

४. "आंध्र कवयित्रुलु"—ऊटुकूरि लक्ष्मीकांतम्म, प्रथम संस्करण, सन १९५३ ई० प्र० श्रीबत्तुल कामाक्षम्मगारु। आंध्रयुवती संस्कृत कलाशाल, राजमहेंद्रवरमु।

५. "आंध्र कवि तरंगिणि" वाल्यूम ४ (ई० १९४८); वा० ५ (ई० १९४९); वा० ६ (ई० १९४९); वा० ७ (ई० १९५०); वा० ८ (ई० १९५१); वा० ९ ई० १९५२); वा० १० (ई० १९५३); वा० ११ (ई० १९५४); वा० १२ (ई० १९५८) लेखक:—चागंटिशेषय्य प्र०, हिन्दू-धर्मशास्त्र-ग्रंथ निलयमु, कपिलेश्वरपुरम, ईस्ट गोदावरी।

६. आंध्र कविसप्तशति"—बुलुसु वेंकटरमणय्य, संस्करण सन् १९५६ ई०, प्र० बुलुसु वेंकटरमणय्य, नंबर ३३, सिगराम्परि स्ट्रीट, तिरुवल्लिक्केणी, मद्रास—५।

७. "आंध्र महाभागवतोपन्यासमुलु"—विविध-विद्वानों के भाषणों का संग्रह), प्रथम संस्करण सन् १९५७ ई०, प्र० आंध्र सारस्वत परिषद, तिलक रोड, हैदराबाद।

८. "आंध्र वचनरचना परिणाममु"—गोव्वूरि वेंकटानंद राघवरावु, संस्करण सन् १९६१, प्र० अड्डेपल्लि एण्ड सरस्वती पवर प्रेस, राजमहेंद्रवरमु।

९. "आंध्र वाग्गेयकारचरित्रमु"—वि० रजनीकांतराव, संस्करण सन् १९५८, प्र० विशालांध्रप्रचरणालय, विजयवाड़ा।

१०. "आंध्र वाङ्मयचरित्रमु"—काशीनाथुनि नागेश्वरराव, संस्करण सन् १९४७ ई० प्र० आँध्रग्रंथमाल, पोस्ट बाक्स नंबर २१२, मद्रास—१।

११. "आंध्र वाङ्मय चरित्र"—डा० दिवाकर्ल वेंकटावधानि।

१२. "आंध्र वाङ्मयारंभदश"—(प्रथम वाल्यूम) डा० दिवाकर्ल वेंकटावधानि, संस्करण सन् १९६० ई०, प्र० उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद।

१३. "आंध्र श्रीविष्णुपुराणमु"—श्री वेन्नेलकंटिसूरनार्य, संस्करण, ई० १९५५, प्र० वाविल्ळरामस्वामि शास्त्रुलु एण्ड सन्स, २९२, एस्प्लनेड, मद्रास।

१४. "आंध्र सांधिकचरित्र" श्रीवरमुप्रतापरेड्डि (द्वितीय संस्करण), सन् १९५० ई० प्र० आंध्र सारस्वत परिषद्, तिलक रोड, हैदराबाद।

१५. "आंध्रुल चरित्र-संस्कृति"—आचार्य खंडवल्लि लक्ष्मीरंजनमु (द्वितीय संस्करण), सन् १९५७ ई०, प्र० तेलुगु भाषा समिति, विश्वविद्यालय भवनमुलु, मद्रास—५।

१६. "आमुक्तमाल्यदा पर्यवलोकनमु"—वेलदंड प्रभाकरामात्य (द्वितीय संस्करण), प्र० साहित्य निकेतनमु, २४८, मल्लेपल्लि, हैदराबाद—१।

१७. "आमुक्तमाल्यदा" (व्याख्यासहित)—श्रीकृष्णदेवरायलु, संस्करण सन् १९५४ ई० प्र० वि० रामस्वामिशास्त्रुलु एण्ड सन्स, मद्रास।

१८. "उषाकल्याणमु", ताळ्ळपाक चिनतिरवेंगळनाथ संस्करण सन् १९३८ ई०,
प्र० टि० टि० डी० प्रेस, १३-१४, सेकिंड लैन बीच, मद्रास ।

१९. "कविकर्णरसायनमु"—संकुसाल नृसिंह कवि, संस्करण ई०, १९२५,
प्र० वी० रामस्वामि शास्त्रुलु एण्डसंस, मद्रास ।

२०. "कविजीवितमुलु"—गुरूजाड श्रीराममूर्ति, (पंद्रहवाँ संस्करण) सन् १९५५ ई०,
प्र० वि० रामस्वामि शास्त्रुलु एण्ड सन्स, मद्रास ।

२१. "चाटुपद्यमणिमंजरि"—सं० वेटूरि प्रभाकर शास्त्री, संस्करण सन १९२४ ई०,
प्र० वि० रामस्वामि शास्त्रुलु एण्ड सन्स, मद्रास ।

२२. 'Tirupati Devasthanam Tallapakam Telugu Works'—Vol. 1.
(The Minor works of Annamacharya and his sons) Edited 1935
A. C., Pub. T. T. D. Committee, Tirupati.

२३. "तेलुगु छंदोविकासमु"—संपत्कुमार, संस्करण सन् १९६२, प्र० कुलपति समिति,
वोरुगल्लु ।

२४. "त्यागराजकीर्तनलु" (व्याख्या सहित)—सं० कल्लूरि वीरभद्र शास्त्री, संस्करण
सन् १९४८ ई० ।

२५. 'The Complete works of Rao Bahadur', Vol X (Telugu Poets,
Part I), K. Veeresalingam Pantulu, Edited 1917 A. C , Published
in Rajahmundry.

२६. "दि हिस्टरी आफ़ तेलुगु लिटरेचर"—चंगूरि सुब्बाराव, संस्करण
सन् १९२० ई०, प्र० आंध्र प्रदेश इन्स्टीट्यूट, पितापुरम ।

२७. "दि यक्षगान इन तेलुगु"—एस० बी० जोगाराव, आंध्र विश्वविद्यालय से
स्वीकृत शोध प्रबंध (ई० १९५६), हस्तलिखित प्रति ।

२८. "द्विपद भागवतमु" (दशम स्कंध)—मडिकि सिंगना, संस्करण सन् १९५०,
प्र० एस० गोपालन, टि० एम० एस० एस० एम० लैब्ररी, टांजोर ।

२९. "पांडुरंगमाहात्म्यमु"—तेनालि रामकृष्ण कवि, संस्करण सन् १९५२ ई०,
प्र० वि० रामस्वामि एन्ड सन्स, मद्रास ।

३०. "पारिजातापहरणमु" (व्याख्या सहित)—नंदितिम्मनाचार्युलु, संस्करण सन्
१९५३ ई० ।

३१. "परमयोगीविलासमु"—ताळ्ळपाक तिरुवेंगळनाथ, संस्करण सन् १९३८ ई०,
प्र० टि० टि० डी० कमिटि, तिरुपति ।

३२. "प्रबंधनायिकलु"—पुट्टपर्ति नारायणाचार्युलु, संस्करण सन् १९४५ ई०,
प्र० राजशेखर बुक डिपो, आल्लगड्ड, कर्णूल जिला ।

३३. "पोतना एण्ड हिस वर्क्स—वी० राजेश्वरी, आंध्र विश्वविद्यालय से स्वीकृत शोध प्रबंध (ई० १९६०), हस्तलिखित प्रति ।

३४. "बालभागवतमु"—दोनूरिकोनेरुनाथ कवि (प्रथम संस्करण), सन् १९५४ ई०, प्र० बोर्ड आफ़ ट्रस्टीस, टी० टी० डी० तिरुपति ।

३५. "भारति" (अक्तूबर, ई० १९५६) ; (नवम्बर, ई० १९५६) ; (फरवरी, ई० १९५७) ; तेलुगु साहितियिम मासपत्रिका, सं० शिवलेंक शंभूप्रसाद ।

३६. "राधामाधवमु"—चितलपूडि एल्लनार्युडु, (प्रथम संस्करण), प्र० श्री बुलुसु बच्चि सर्वारायुडु, कपिलेश्वरपुरमु ।

३७. "रामकृष्णुनि रचनावैखरि" (पुट्टपर्ति नारायणचार्युलु के १९५७-१९५८ के दिये हुये व्याख्यानों का संग्रह) ।

३८. "रामदासुचरित्रमु"—भद्राचलरामदासु' संस्करण सन् १९६१ । प्र० एम० वि० गोपाल एण्ड कं० ६३, कृष्णप्प नायकन् गुंटवीधि, पोस्टबाक्स नं० ७४, मद्रास—१ ।

३९. "रामाभ्युदयमु"—अय्यलराजु रामभद्रकवि, संस्करण ई० १९३१, प्र० वि० रामस्वामि शास्त्रुलु एण्ड सन्स, मद्रास ।

४०. "रामायणमु" (मोल्ल रामायणमु)—आतुकूरिमोल्ल, संस्करण सन् १९६१ ई० प्र० वाविळ्ळरामस्वामिशास्त्रुलु एण्ड सन्स, मद्रास ।

४१. "विप्रनारायणचरित्रमु"—चेदलुवाडमल्लय (प्रथभ संस्करण), ई० १९१५, प्र० आंध्र साहित्य-परिषद् ।

४२. "विष्णुमायानाटकमु", चिन्तळपूडि एल्लनार्युडु, संस्करण, ई० १९३७, पीतापुरमु से प्रकाशित ।

४३. विज्ञानसर्वस्वमु—वाल्यूम ३ (ई० १९५९) ; वा० ४ (ई० १९६१) ; वा० ६ (१९६१), प्र० तेलुगुभाषा समिति, मद्रास, विश्वविद्यालय भवन, मद्रास—५ ।

४४. "वैजयंतीविलासमु"—सारंगुतम्मय, स्कालर्स एडिसन सन् १९०९ । प्र० वाविल्लरामस्वामि शास्त्रुलु एण्ड सन्स, मद्रास ।

४५. "शतककवुलचरित्रमु"—पं० वंगूरि सुब्बारावु पंतुलु, संस्करण सन् १९५७ ई० प्र० कमलकुटीर प्रेस एण्ड पब्लिकेशन्स, नरसापुर ।

४६. श्रीमदांध्रभागवतमु (दो जिल्दों में) संस्करण सन् १९६१ प्र० वाविल्ल-रामस्वामि शास्त्रुलु एण्ड सन्स, मद्रास ।

४७. श्रीवाविळ्ळ वेंकटेश्वर शास्त्रुलुवारि सम्मान संपुटमु संस्करण, सन् १९४१ । प्र० त्रिलिंग रजतोत्सव सभलु, मद्रास ।

४८. शृंगार संकीर्तनलु—वाल्यूम ३ (ई० १६३७) ; वा० १२ (ई० १६५६) ; वा० १३ (ई० १६६०) ; वा० १४ (ई० १६६१) । कवि :—ताल्लपाक अन्नमाचारी । प्रकाशक : टि० टि० डी० कमिटी, तिरुपति ।

४६. संग्रहांध्रविज्ञानकोशम—वाल्यूम १ (ई० १६५८) ; वाल्यूम २ (ई० १६६०), प्र० संग्रहांध्रविज्ञान कोश समिति, हैदराबाद ।

५०. "सप्ततंतुवु"—डा० एस० बी० जोगाराव, संस्करण सन् १६५६ ई०, प्र० एम० एस० आर० मूर्ति एण्ड कं०, बुक सेल्लर्स, वाल्टेर—२

५१. "सुभद्राकल्याणमु"—कवयित्री ताल्लपाक तिम्मक्क, सं० श्री वेटूरि प्रभाकर शास्त्री, प्र० टि० टि० डी० प्रेस, तिरुपति ।

५२. "क्षेत्रय्यपदमुलु"—सं० डा० गिडिगु वेंकटसीतापति, संस्करण, सन् १६५२ ई० ।

संस्कृत-ग्रंथ (अकारादि क्रम से)

१. "उ नीलमणि", लेख गोस्वामी ।

२. कृष्णकर्णामृत आफ लीलाशुक (अंग्रेजी अनुवाद के साथ) संस्करण सन् १६५८, प्र० वि० रामस्वामि शास्त्रुलु एण्ड सन्स, २६२, एस्प्लनेड, मद्रास—१ ।

३. देवर्षि नारद रचित भक्तिसूत्र—हिन्दी व्याख्याताकार हनुमान प्रसाद पोद्दार, दसवाँ संस्करण, सं० २०१७, वि० प्र० गीताप्रेस, गोरखपुर ।

४. मुकुंदमाला (आंध्र टीका सहित)—कुलशेखर आल्वार संस्करण, सन् १६६२ ई०, प्र० वाविल्ल रामस्वामि शास्त्रुलु एण्ड सन्स, मद्रास ।

५. वेदांतसार—भगवद् रामानुज, संस्करण सन् १६५३ ई०, संपादक—वि० कृष्णमाचार्य (अंग्रेजी व्याख्या सहित), प्र० दि अडयार लाइब्रेरी, मद्रास ।

६. श्रीमद्भागवत-महापुराण—महर्षि वेदव्यास, सचित्र सरल हिन्दी व्याख्या सहितम् (द्वितीय खंड ; तृतीय संस्करण), सं० २०१३ वि०, प्र० गीताप्रेस, गोरखपुर ।

७. श्रीमद्भगवद्गीता, (तमिल से तेलुगु में रूपान्तरित) कर्त्ता—कीळात्तेरू श्रीनिवासाचार्य, संस्करण सन् १६४६ ई०, प्र० वेदव्यासाश्रम, एपेंडु पोस्ट आन्ध्र प्रदेश ।

८. हरिभक्तिरसामृतसिंधु, लेखक—रूपगोस्वामी, (प्रथम संस्करण), सं० १६८८ वि०, प्र० श्रीगोस्वामी दामोदरशास्त्री, अच्युत ग्रंथमाला, काशी ।

अंग्रेजी के सहायक ग्रंथों की सूची

1. 'A forgotten empire' (Vijayanagar), Sewell Robert.
2. 'An outline of the Religious Literature of India', J. N. Farquhar (1920 A. C.)
3. 'Cambridge History of India', Part III.
4. 'Comparative Litetature', Vol I (1959 A. C.), Edited by Werner, Friederich, U. N. C. Studies in Comparative Literature Number 23, Chapel Hill N. C.
5. 'Early History of Vaishnavism in South India', Shri Krishnaswamy Iyengar (1929 A. C.), Pub :—Oxford University Press.
6. 'Encyclopaedia of Religion and Ethics', Vol. 12. Editor : James Hastings.
7. Epigraphia of Carnatica, Vol. VIII.
8. Epigraphia of India, Vol. IV.
9. 'History of India', Vol. IV. Elliot.
10. 'History of Medieval India, Eswari Prasad.
11. 'India Through the Ages,' Jadunath Sarkar.
12. 'Journal of Sri Venkateswara Oriental Institute' (July 1950), Editor : P. V. Ramanujaswami. Published in Tirupati.
13. 'Medieval India', Havid, Vol. III
14. 'Mogul Administration', Dr. Jadunath Sarkar.
15. 'Primitive Culture', E. B. Taller.
16. 'Social & Political Life in the Vijayanagar Empire', Vol. II. Dr. Saletore. Pub :—B. G. Paul & Co.. Publishers 12, Francis, Joseph Street.
17. 'Telugu Culture', Telugu Bhasha Samithi, University Buildings, Madras.
18. 'Temples and Legends of Andhra Pradesh', N. Ramesan (1962 A. C.). Pub : Bharatiya Vidya Bhavan, Chaupathy, Bombay.
19. 'The Complete works of Swami Vivekananda' Vol. VI. (First Edition, 1951 A. C.). Pub :—Advaita Ashrama, Mayavati, Almora, Himalayas.
20. 'The Cultural Heritage of India'. Vol. I. (1937 A. C.) Pub :—Swami Avinashananda, Sri Ramakrishna Centenary Beluru Muth, Calcutta.

21. 'The Cultural Heritage of India' Vol. II. (1337 A. C.), Pub:—Sri Ramakrishna Centenary Committee. Belur Math, Calcutta.

22. 'Thus Spake Srı Ramakrishna' (5th Edition 1948 A. C.), Piled by Swami Suddha Satwanada.

23. 'Travellers in Mogul Empire', Vol. II., Francis Bernier, (Translated into English by Irvin & Brock) Pub :—R. C. Lepage & Co., Printers & Publishers, Calcutta.

24. 'Vaishnavism, Saivism and other Minor Religious Systems', R. G. Bhandarkar. (1928 A. C.). Pub :—Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona.

25. 'Vijayanagar Sex-centenary Commemoration, Volume ; (1936 A. C.)

नामानुक्रमणिका